



MATS
UNIVERSITY

NAAC
GRADE **A⁺**
ACCREDITED UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

प्राचीन भारतीय इतिहास

बैचलर ऑफ़ आर्ट्स (बी.ए.)

प्रथम सेमेस्टर



SELF LEARNING MATERIAL

COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE

- 1- Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh
- 2- Dr. Sudhir Sharma , Subject Expert ,HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai
- 3- Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh
- 4- Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh
- 5- Dr. Rajesh Kumar Dubey , Subject Expert, Principal , Shahid Rajeev Pandey Government College ,Bhatagaon , Raipur ,Chhattisgarh
- 6- Dr. Shashikala Sinha , Government Mata Shabri Naveen Girls College, Bilaspur, Chhattisgarh

COURSE COORDINATOR

Ms.Surbhi Singh Assistant Professor , MATS University Raipur Chhattisgarh

COURSE /BLOCK PREPARATION

Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh

March, 2025

ISBN-978-93-49916-48-7

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-
(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed & Published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

Disclaimer-Publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from contents of this course material, this is completely depends on AUTHOR'S MANUSCRIPT.
Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

अनुक्रमणिका

माड्यूल	विषय — भारत का इतिहास	
माड्यूल 1	इकाई-1 भौगोलिक पृष्ठ भूमि	5-37
	इकाई-2 हड़प्पा सभ्यता	38-64
	इकाई-3 भारत में लौह एवं महापाषाण युगीन संस्कृतिया	65-78
माड्यूल 2	इकाई-4 वैदिक सभ्यता	79-136
	इकाई-5 क्षेत्रीय प्रादेशिक राज्यों का उद्भव	137-168
	इकाई-6 जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म	169-202
माड्यूल 3	इकाई-7 मौर्य साम्राज्य उद्भव , विस्तार एवं प्राशसनिक व्यवस्था	203-242
	इकाई-8 शुंग , पश्चिमी क्षेत्र और सातवाहन	243-273
	इकाई-9 कुषाणवंश	274-292
माड्यूल 4	इकाई-10 दक्षिण भारत साहित्य , समाज एवं राजनय	293-302
	इकाई-11 संगमकाल	303-311
	इकाई-12 त्रिपक्षीय संघर्ष , पाल, प्रतिहार एवं राष्ट्रकूट	312-351
माड्यूल 5	इकाई-13 गुप्त साम्राज्य एवं प्रशासन	352-406
	इकाई-14 गुप्तकालीन समाज एवं अर्थव्यवस्था	407-433
	इकाई-15 अरबों एवं गजनवियों के समय समाज एवं राजनीति	434-444

Acknowledgement

The Material (Pictures and images) we have used is purely for educational purpose. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Sould any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future of this book.

इतिहास

(प्राचीन भारतीय इतिहास)

(बी. ए. प्रथम सेमेस्टर)

अनुक्रमणिका

माड्यूल – 1

इकाई 1

भौगोलिक पृष्ठभूमिपरिचय

भारत की भू-आकृति तथा उसके प्राकृतिक क्षेत्र

साहित्यिक साधन, धर्मग्रन्थ, ब्राह्मण-धर्मग्रन्थ, अन्य बौद्ध ग्रन्थ

ऐतिहासिक एवं समसामयिक ग्रंथ

विदेशियों के विवरण

भारत की भौगोलिक विशेषताएँ

हड़प्पा सभ्यता

परिचय

सभ्यता का विस्तार क्षेत्र, सभ्यता का काल, सभ्यता के निर्माता नगर एवं भवन निर्माण, धार्मिक विश्वास, परम पुरुष की उपासना, परम नारी की पूजा, प्रजनन शक्ति की पूजा , प्रतीक मुद्रा, धार्मिक प्रथाएँ, आर्थिक जीवन, कृषि, पशुपालन, घरेलू उद्योग-धन्धे व्यापार वाणिज्य, तोल और माप के साधन ,सामाजिक जीवन, समाज का स्वरूप, परिवार, नारी का स्थान, रहन-सहन, खान-पान, आमोद-प्रमोद, मृतक संस्कार, शिक्षा, लिपि, कला

राजनीतिक संगठन, समकालीन सभ्यताओं से सम्बन्ध, सिन्धु सभ्यता का विनाश, सिन्धु सभ्यता और वैदिक सभ्यता, आधुनिक हिन्दू धर्म की देन

इकाई – 3

भारत में लौह एवं महापाषाण युगीन संस्कृतियाँ

परिचय

भारत की लौहयुगीन संस्कृतियों का वर्गीकरण

उत्तर भारत की लौहकालीन चित्रित घूसर मृद्भाण्ड संस्कृति

उत्तर भारत की लौहकालीन उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति चित्रित

घूसर मृद्भाण्ड परम्परा की संस्कृति

उत्तर भारत की लौहकालीन कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति

पात्रों के प्रकार एवं आकार

उत्तर काली चमकीली मृद्भाण्ड परम्परा की संस्कृति

भारत की महापाषाणयुगीन समाधि संस्कृतियाँ

दक्षिण भारत की महापाषाणयुगीन समाधियाँ

उत्तर भारत की महापाषाणयुगीन संस्कृति

इकाई 4

वैदिक सभ्यता



Notes

प्राचीन भारतीय इतिहास

ऋग्वैदिक सभ्यता

आयो का मूल स्थान

61–80

विभिन्न मतों की समीक्षा, वैदिक काल, भारत में आर्य संस्कृति का प्रसार, वैदिक सभ्यता और संस्कृति, राजनीतिक संगठन, प्रमुख जन, राजा के अधिकार तथा कर्तव्य, प्रमुख अधिकारी, सभा और समिति न्याय व्यवस्था, युद्ध – विधि, सामाजिक जीवन, परिवार, वेशभूषा, खान-पान, मनोरंजन, शिक्षा लेखन कला, पशु-पालन, घरेलू उद्योग-धन्धे, व्यापार-वाणिज्य, धार्मिक जीवन, देव समूह पूजा-उपासना विधि

इकाई 5

उत्तरवैदिक सभ्यता

परिचय

उत्तरवैदिक सभ्यता – भौगोलिक विस्तार, आर्य जनपद,

राजनीतिक जीवन – राज्य, राजा, प्रमुख अधिकारी, सभा और समिति, न्याय-व्यवस्था, युद्ध – विधि

सामाजिक जीवन संयुक्त परिवार प्रथा, स्त्रियों की स्थिति, भोजन, वस्त्र, आभूषण, मनोरंजन, वर्ण-व्यवस्था,

आश्रम व्यवस्था

आर्थिक जीवन– कृषि, पशुपालन, उद्योग-धन्धे, व्यापार-वाणिज्य, सिक्के जाना चाहिए।

धार्मिक जीवन – बहुदेववाद, यज्ञवाद – कर्मकाण्ड, पंच महायज्ञ और तीन ऋण, संस्कार,

वैदिक साहित्य – यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थ उपनिषद्,

पुनर्जन्म और कर्मवाद

इकाई 5

क्षेत्रीय (प्रादेशिक) राज्यों का उद्भव

परिचय

सोलह महाजनपद, गणराज्यों की शासन प्रणाली, केन्द्रीय प्रशासन, सभा, सभा की कार्यवाही,

मन्त्रिपरिषद्, परिषा, न्याय प्रशासन, प्रशासनिक अधिकारी एवं कर्मचारी, प्रान्तीय प्रशासन, गणराज्यों के पतन के

कारण

मगध साम्राज्य का अभ्युदय, मगध का आरम्भिक इतिहास, मगध के उत्कर्ष के कारण, हर्यक वंश, साम्राज्य विस्तार, बिम्बिसार के अन्तिम दिन

सम्राट् अजातशत्रु (492 ई. पू. से 459 ई. पू. तक), साम्राज्य विस्तार, शिशुनाग वंश, नन्द वंश,

इकाई 6

जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म

परिचय

धार्मिक क्रान्ति के उदय के कारण

जैन-धर्म, शिक्षायें एवं सिद्धान्त, जैन-धर्म के सात तत्व, अनेकान्तवाद और स्याद्वाद मोक्ष प्राप्ति के साधन, अणुव्रत एवं महाव्रत, जैन-धर्म का प्रसार, जैन-धर्म के सम्प्रदाय जैन धर्म के स्थायित्व के कारण, जैन संगीतियाँ, जैन धर्म की विश्व को देन बौद्ध धर्म, धर्म चक्र प्रवर्तन, महापरिनिर्वाण, बौद्ध धर्म की शिक्षाये क्षणिकवाद, अनात्मवाद, पुनर्जन्म, बौद्ध धर्म का विभाजन, हीनयान – महायान बौद्ध संगीतियाँ, बौद्ध धर्म ग्रन्थ, जैन-धर्म और बौद्ध धर्म की तुलना, समानताएँ बौद्ध धर्म के प्रसार के कारक

इकाई 7

मौर्य साम्राज्य— उद्भव, विस्तार एवं प्रशासनिक व्यवस्था

परिचय

धार्मिक साहित्य

ब्राह्मण साहित्य, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य

मौर्य शासन का उद्भव, मौर्य साम्राज्य की स्थापना: चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार अशोक के उत्तराधिकारी एवं मौर्यशासन का पतन,

मौर्य प्रशासन

मौर्य युगीन समाज, अर्थव्यवस्था, कला तथा अशोक का धम्म (धर्म)परिचय

इकाई 10

मौर्य युगीन समाज— वर्णाश्रम व्यवस्था, विवाह, स्त्रियों की दशा, दास प्रथा, जन-जीवन खानपान, वस्त्राभूषण मनोरंजन, कृषि, पशुपालन, उद्योग-धन्धे, व्यापार एवं वाणिज्य, मुद्रा, कला, राजसी कला

राजप्रासाद, पाषाण स्तम्भ, शैल गुहायें, लोक कला, अशोक का धम्म,नगर योजना

इकाई 8

शुंग, पश्चिमी क्षत्रप और सातवाहन

परिचय

शुंग वंश की स्थापना, शुंग कौन थे ? पुष्यमित्र शुंग, विदर्भ-युद्ध, यवन-युद्ध ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार, पुष्यमित्र और बौद्ध धर्म, कण्व वंश, सातवाहन वंश शक- विजय, अन्य विजयें, यूनानी इण्डो- बेक्ट्रियन, डेमेट्रिअस, भारतीय-यूनानी सम्पर्क के प्रभाव शक, शक क्षत्रप, पश्चिमी भारत के क्षत्रप, पहव (पार्थियन)

इकाई 9

कुषाण वंश

परिचय

कुषाणों का प्राचीन इतिहास, सम्राट कनिष्क, कनिष्क को दिग्विजय, कनिष्क का साम्राज्य कनिष्क का धर्म, बौद्ध संगीति, महायान सम्प्रदाय का विकास, गान्धार कला



प्राचीन भारतीय इतिहास

मथुरा कला— शैली, कनिष्क के उत्तराधिकारी, कुषाण साम्राज्य का पतन
इकाई 10

साहित्य, समाज एवं राजनयपरिचय

संगमकाल अभिप्राय, प्रथम संगम (मूढल संगम), द्वितीय संगम (इण्डसंगम)
तृतीय संगम (कूडल संगम) संगम साहित्य रचना काल, संगमकालीन साहित्य,
पत्तुप्पाट्टु अथवा पत्तुपात्तु, पदिनेकिल्कणक्कु, शिलप्पदिकारम्
मणिमेकलै जीवक चिन्तामणि, संगमकालीन समाज, ब्राह्मण, राजन्यवर्ग (अरसर),
व्यापारी वर्ग (वेनिगर), भू—स्वामी एवं कृषक (वेल्लाल), अन्य व्यावसायिक
जातियाँ

इकाई 11

संगमकाल

विदेशी जातियाँ, विवाह, सती प्रथा, स्त्रियों की स्थिति आवास, खानपान,
मनोरंजन, वेशभूषा एवं श्रृंगार, अन्धविश्वास, मृतक संस्कार, संगमकालीन राजनय
राजा, मन्त्रि परिषद, नगर सभा तथा ग्राम सभान्याय—व्यवस्था, सैन्य व्य
वस्था, राजस्व व्यवस्था

इकाई 12

त्रिपक्षीय संघर्ष — पाल, प्रतिहार एवं राष्ट्रकूटपरिचय

त्रिपक्षीय संघर्ष के जानकारी के स्रोत, कन्नौज की तत्कालीन स्थिति

संघर्ष में भाग लेने वाली तीनों शक्तियों का परिचय

कान्यकुब्ज (कन्नौज) का महत्त्व, आयुध वंश की दुर्बल राजनीतिक स्थिति

गंगा—यमुना दोआब क्षेत्र की समृद्धता का आकर्षण, शक्ति संतुलन तथा साम्राज्य
की सुरक्षा हेतु

शासकों की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ, वणि डिण्डोरी अभिलेख, क्या है।

त्रिपक्षीय संघर्ष का अन्त ६ समापन, त्रिपक्षीय संघर्ष के परिणाम

चालुक्य प्रशासन, चोल प्रशासन

इकाई 13

गुप्त साम्राज्य एवं प्रशासनपरिचय

कुषाण वंश के पतनोन्मुख काल में भारत, गुप्तों का परिचय,

दक्षिण के राजाओं का संघ, आर्यावर्त पर द्वितीय आक्रमण

आटविक नरेश, सीमान्त राजाओं पर विज

प्रत्यन्त (सीमान्त) नृपतियों का आत्मसमर्पण, प्रत्यर्पण की नीति

अश्वमेध यज्ञ, समुद्रगुप्त का चरित्र, रामगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

शक क्षत्रपों का अन्त, कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य, पुष्यमित्रों का आक्रमण

स्कन्दगुप्त, हूणों के साथ संघर्ष, गुप्तों का अवसान काल, नरसिंहगुप्त बालादित्य

गुप्त साम्राज्य की समाप्ति, गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण

फाह्यान, गुप्त शासन प्रबन्ध, नगर— शासन

इकाई 14

गुप्तकालीन समाज एवं अर्थव्यवस्थापरिचय

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सामाजिक जीवन, धार्मिक जीवन, आर्थिक जीवन कृषि एवं

राजस्व व्यवस्था, उद्योग धन्धे, व्यापार, साहित्य एवं विज्ञान ललित कलाएँ, संगीत कला, अभिनये कला, चित्रकला, स्थापत्य एवं मूर्तिकला ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म का पुनरुत्थान,

इकाई 15

अरबों एवं गजनवियों के समय समाज एवं राजनीतिपरिचय

सिंध में मुसलमानों का आगमन

मुहम्मद बिन कासिम के आगमन के पूर्व का सिंध

मुहम्मद बिन कासिम का आगमन व उसका विजय अभियान

सिंध में छोटे अरब शासन घरानों की उत्पत्ति

अरबों की सिंध विजय के आर्थिक व सामाजिक प्रभाव

सिंध में इस्माइली मौजूदगी

पश्चिमी दक्षिण व भारत में अरब विस्तार

भारत में गजनवियों का आगमन व उनके अभियान

हिंदूशाही व गजनवी

उत्तरी भारत के राजपूत राज्य व गजनवी

10वीं शताब्दी में भारतीय समाज पर अलबरूनी के विचार

अध्याय – 1

भौगोलिक पृष्ठभूमि

इस अध्याय में

परिचय

भारत को भू-आकृति तथा उसके प्राकृतिक क्षेत्र साहित्यिक साधन, धर्मग्रन्थ,

ब्राह्मण धर्मग्रन्थ, अन्य

बौद्ध ग्रन्थ

ऐतिहासिक एवं समसामयिक ग्रंथ

विदेशियों के विवरण

भारत की भौगोलिक विशेषताएँ

अध्ययन उद्देश्य ?

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

भौगोलिक पृष्ठभूमि, भारत को भू-आकृति तथा उसके प्राकृतिक क्षेत्र

भारत की भौगोलिक विशेषताएँ

प्राचीन भारतीय इतिहास

प्राचीन भारतीय इतिहास

10

भौगोलिक पृष्ठभूमि

परिचय

भारत के इतिहास को बिना इसके भौगोलिक पहलुओं के जाने नहीं समझा जा सकता है। सर्वप्रथम हम इस दिशा में कुछ सामान्य तत्वों की ओर संकेत कर सकते हैं जिसका महत्त्व काफी हद तक स्पष्ट ही है। मिसाल के तौर पर यह



कहा जा सकता है कि भारत के उत्तर में लम्बी पर्वतमाला तथा देश की लम्बी समुद्र तट रेखा ने भारतीय इतिहास को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है जिस पर सीमा के पार की घटनाओं का काफी हद तक कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। साथ ही अनेक पहाड़ी दुर्ग तथा उपयुक्त समुद्री तटों की वजह से भारत एकदम अलग-थलग नहीं पड़ गया, अपितु सच पूछा जाय तो इनसे विविध जन-समुदाय को इस उपमहाद्वीप में प्रवेश करने में सुविधा हुई लेकिन वे विविध जन समुदाय एक बार इस उपमहाद्वीप की सीमाओं में प्रविष्ट हुई नहीं कि यहीं के हो गए तथा अपना देश छोड़कर यहीं के जनमानस में मिलजुल गए। इस प्रकार के ऐतिहासिक दावे अपनी जगह पूरी तरह सही हैं लेकिन वे और गहरे जा कर यह संकेत नहीं करते कि भारतीय उपमहाद्वीप के भौगोलिक कारक और इतिहास एक-दूसरे को कैसे प्रभावित करते हैं।

इसके बाद एक पद्धति यह हो सकती है कि हम यह बताएँ कि जलवायु और दूसरे प्राकृतिक परिवर्तनों और घटनाओं का इतिहास की गति पर क्या प्रभाव पड़ता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि निर्जलीकरण की प्रक्रिया ने किस प्रकार मध्य एशिया की कुछ जातियों को भारत की उत्तरी सीमाओं की ओर जाने को मजबूर किया एवं कैसे उनमें से एक-एक जाति (कुषाण) जबरदस्ती भारत में घुसपैठ कर गई और अन्त में उसने अपना विशाल साम्राज्य स्थापित किया, जिसमें भारत और मध्य एशिया दोनों शामिल हैं।

विभिन्न प्रकार के कच्चे माल के वितरण के आधार पर यह विचार किया जा सकता है कि उन पर नियन्त्रण पाने की कोशिशों ने किस प्रकार आर्थिक और राजनीतिक घटनाक्रम को प्रभावित किया उदाहरणार्थ – कुछ इतिहासकारों ने यह विचार व्यक्त किया है कि दक्षिण दिशा में मौर्य साम्राज्य के विस्तार का कारण यह था कि मौर्य साम्राट दक्षिण में स्थित कोलार के स्वर्ण क्षेत्र को अपने अधिकार में करना चाहते थे। यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार की परिकल्पनाएँ सभी परिप्रेक्ष्यों में सत्य हों, लेकिन इतिहासकारों को इन भौगोलिक दृष्टियों को ध्यान में रखना होता है ताकि वे ऐतिहासिक घटनाओं एवं प्रक्रियाओं को अच्छी तरह समझ सकें। इसी परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक अध्ययन के दौरान विचित्र प्राकृतिक संचार मार्गों पर गौर करना आवश्यक हो जाता 1

इतिहासकारों को पिछले युगों की भौगोलिक संकल्पनाओं का अध्ययन करना पड़ता है और प्राचीन ऐतिहासिक अभिलेखों से जो विभिन्न भौगोलिक लक्षणों तथा स्थानों का उल्लेख आया है, उनकी आधुनिक भौगोलिक लक्षणों एवं स्थानों से संगति बिठानी पड़ती है। उदाहरणार्थ, प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में प्राचीन स्थानों यथा कौशाम्बी, तक्षशिला, राजगृह (बिहार) आदि स्थानों के साथ-साथ पर्वत, नदी-तन्त्र जैसे लक्षणों की पहचान की एक भूमिका है और इस समस्या पर पर्याप्त शोध कार्य भी हुआ है।

उपर्युक्त विषयों के अलावा दूसरे कई भौगोलिक विषय हैं जो ऐतिहासिक अध्ययन में लाभदायक हो सकते

इस परिप्रेक्ष्य में एक अति महत्वपूर्ण विषय है। एक निश्चित कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में मानव संस्कृति और जीवोम एवं आवास के दोनों पक्षों एवं जलवायु (मिट्टी) के मध्य आपसी सम्बन्ध। यह दावा किया जाता है कि किसी निश्चित कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में कोई भी मानव संस्कृति एक दूसरे को प्रभावित करने वाले तीन कारकों के बीच संतुलन कायम करती है। ये तीन कारक हैं— जीवोम, आवास और स्वयं मानव संस्कृति। इस संतुलन में कोई गंभीर बाधा आने पर परिवर्तन आने शुरू हो जाते हैं तथा पुनः एक अभिनूतन संतुलन स्थापित होता है। इस नाते मानव संस्कृतियों का जो अध्ययन किया जाता है

उसे पारिस्थितिक दृष्टिकोण कहते हैं। इस लिहाज से आधुनिक प्रागैतिहासिक अध्ययनों को गंभीर रूप से प्रभावित किया है।

भारत की भू-आकृति तथा उसके प्राकृतिक क्षेत्र

भू-प्राकृतिक भाग हैं— (1) उत्तर में प्रायद्वीपतोर पर्वत श्रेणी (2) गंगा का कछारी भारत के प्रमुख तीन मैदान, और (3) प्रायद्वीप

प्रायद्वीपेतर पर्वत श्रेणी का प्रतिनिधित्व करते हैं हिमालय तथा उससे जुड़ी हुई पूर्व एवं पश्चिम की अन्य पर्वत श्रेणियाँ। हिमालय पर्वत श्रेणियों से पर्वत निर्माण क्रिया का जो संकेत मिलता है, वह भूवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत अधिक प्राचीन नहीं है। भूविज्ञान के मध्य जीव महाकल्प के दौरान हिमालय के स्थान पर समुद्र था जो भूवैज्ञानिक साहित्य में टैथिस सागर (ज्मजीले'म) के नाम से प्रसिद्ध है। भूवैज्ञानिक साहित्य के अनुसार पर्वत निर्माण की क्रिया अल्प, नूतन युग से शुरू होकर उत्तर अति-नूतन युग तक चलती रही।

गंगा का कछारी मैदान आसाम में ब्रह्मपुत्र घाटी से सिंधु में सिन्धु नदी के डेल्टा तक फैला हुआ है। भू-वैज्ञानिक दृष्टि से ये मैदान बहुत प्राचीन नहीं हैं और भू-आकृतिक दृष्टि से परस्पर काफी मिलते-जुलते हैं। इस क्षेत्र में सिन्धुघाटी सभ्यता पाई गई तथा वैदिक साहित्य की रचना एवं वैदिक संस्कृति भी इसी क्षेत्र की उपज है।

भारतीय प्रायद्वीप भूपटल के स्थायी तथा भूवैज्ञानिक दृष्टि से अति प्राचीन खण्ड का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें कुछ पुराने पर्वतीय समूह सम्मिलित हैं। यह क्षेत्र मूल भारत कहा जा सकता है। इस प्रायद्वीप की उत्तरी सीमा को एक ऐसी रेखा के रूप में देखा जा सकता है जो कूच से शुरू होकर अरावली पर्वत श्रेणियों के पश्चिमी पार्श्व के किनारे-किनारे दिल्ली के नजदीक तक और वहाँ से मोटे तौर पर गंगा-यमुना के समानान्तर राजमहल पहाड़ियों तथा गंगा नदी के डेल्टा तक चली गई है।

कुछ विद्वानों ने भारत के विभिन्न प्राकृतिक क्षेत्रों को ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण तीन प्रमुख भागों में बाँटा है— आकर्षण क्षेत्र, अपेक्षाकृत अलग-थलग क्षेत्र और अलग-अलग क्षेत्र। प्रमुख कृषि क्षेत्रों को जो हमेशा से ही प्रमुख ऐतिहासिक साम्राज्यों का केन्द्र रहे हैं, आकर्षण क्षेत्र के अन्तर्गत रखा गया है जिसमें किसी प्रदेश की जनसंख्या का वह बचा-कुचा भाग है, जिसे विभिन्न आक्रमणकारियों द्वारा मैदानी भाग से खदेड़ दिया जाता था। इन दोनों के बीच



प्राचीन भारतीय इतिहास

की भौगोलिक स्थिति वाले भूभाग को अपेक्षाकृत अलग-अलग क्षेत्र – नाम दिया गया है। निःसन्देह इस प्रकार के विभाजन से विभिन्न क्षेत्रों की ऐतिहासिक भूमिका स्पष्ट होती है।

इस प्रकार, उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत की भौगोलिक स्थिति की पृष्ठभूमि भारत के प्रागैतिहास का एक अहम अध्याय है जो अभी शोध का विषय है।

प्रस्तावना

यह सत्य है कि प्राचीन भारत ने हैरोडोटस पैदा नहीं किया, जो हिस्ट्री जैसा ग्रंथ लिखता। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्राचीन भारत के लोगों की इतिहास में रुचि नहीं थी। वस्तुतः उनकी इतिहास विषयक अवधारणा आज के सन्दर्भ में सर्वथा भिन्न थी। इसी कारण आधुनिक अर्थ में इतिहास लिखने का प्रयास करने वाले विद्वानों को प्राचीन भारत का इतिहास लिखने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है क्योंकि भारत के प्राचीन साहित्य में आख्यान, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, वंश – विस्तार आदि अनेक विषयों का समावेश होता है। भारतीय दृष्टिकोण मुख्यतः आध्यात्मिक रहा है, बल्कि यँ कहना चाहिए कि अधिकांशतः भौतिक घटनाओं के लेखे-जोखे का महत्त्व अलग से नहीं पहचाना गया है। इसे हम साहित्य में एक सामूहिक दृष्टिकोण का नाम दे सकते हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इतिहास जानने के साधनों का पूर्णतः अभाव है। सत्य तो यह है कि हमारे पास विश्व का सबसे विशाल साहित्य है, जो हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। उसी में से ऐतिहासिक सामग्री अलग करनी पड़ती है। परवर्ती काल में हमारी बहुत-सी साहित्यिक सामग्री आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट कर दी गई थी।

इसके अतिरिक्त हमें इस बात की जानकारी मिलती है कि भारत में अलग से भी इतिहास लिखने के प्रयास किए गए थे। सातवीं शताब्दी में भारत का परिभ्रमण करने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने उल्लेख

प्राचीन भारतीय इतिहास

12

किया है कि अच्छी-बुरी घटनाओं का वृत्तांत लिखने के लिए एक अलग अधिकारी होता था। कश्मीरी लेखक कल्हण ने भी लिखा है कि वही गुणवान कवि प्रशंसा का पात्र है जो राग-द्वेष से ऊपर उठकर एकमात्र सत्य का निरूपण अपनी भाषा में करता है। यहाँ लेखक कल्हण का संकेत एक अच्छे इतिहासकार की ओर ही है। इसी से हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारत के निवासियों में इतिहास के प्रति अभिरुचि एवं चेतना दोनों विद्यमान थीं, वस्तुतः वे भारतीय मनीषी इतिहास को एक व्यापक सन्दर्भ में देखते थे। प्राचीन भारत के इतिहास के साधनों को अध्ययन के लिए निम्न ढंग से वर्गीकृत किया जा सकता साहित्यिक साधन

जैसा कि पूर्व उल्लिखित हो चुका है कि प्राचीन भारतीय साहित्यिक सामग्री अपनी व्यापक परिभाषा में भी इतिहास विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। अध

ययन की सुविधा के लिए साहित्यिक सामग्री को भी धर्मग्रन्थ, ऐतिहासिक एवं समसामयिक ग्रन्थ और विदेशी यात्रियों के वृत्तांत शीर्षक में विभक्त किया जा सकता है

धर्मग्रन्थ प्राचीन भारत के धार्मिक ग्रन्थों में जो कि प्रचुर संख्या में उपलब्ध होते हैं, धार्मिक एवं आध्यात्मिक विषयों पर विवेचन के साथ-साथ राजनीतिक सामाजिक व्यवस्था में वंश एवं गोत्र तथा शराजाश अथवा शसम्राट् के पद की महिमा बढ़ती गई, साहित्यिक सामग्री में भी उनके क्रिया-कलापों का लेखा-जोखा अधिक विस्तार से आने लगा। इन ग्रन्थों को भी उनके धर्म या मत विशेष से सम्बन्धित होने के आधार पर पुनः एक बार वर्गीकृत कर सकते हैं और उनका विवरण इस प्रकार है—

ब्राह्मण-धर्मग्रन्थ

यह हमारी विशाल साहित्यिक निधि है जिसमें सर्वप्रथम स्थान वेदों का है। वेद का अर्थ है, ज्ञान। ज्ञान कभी एक जाति, काल अथवा देश का नहीं होता। इसीलिए वेदों को सार्वभौम, अनन्त, अपौरुषेय, दैवी और शाश्वत कहा गया है। वेद — ब्राह्मण साहित्य में सबसे प्राचीन ऋग्वेद है। इस ग्रंथ से प्राचीन आर्यों के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इसमें आर्यों को प्राचीनतम ऋचाओं का संकलन है। ऋग्वेद में 10 मण्डल हैं जिनमें 1028 सूक्त हैं। अन्य तीन वेद हैं, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद। इनमें उत्तर वैदिककालीन आय (1500 ई.पू. से 600 ई.पू.) के जीवन पर प्रकाश पड़ता है। यजुर्वेद कर्मकाण्ड प्रधान है। सामवेद के अधिकतर मंत्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। अथर्ववेद में अनेक विषय हैं जैसे— ब्रह्मज्ञान, धर्म, औषधि, रोग निवारण आदि। अथर्ववेद में हमें धार्मिक अन्धविश्वास भी दिखाई देते हैं। सभी वेदों के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रंथ हैं। कर्मकाण्डों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के कारण इनका निर्माण किया गया। इन आदि ग्रन्थों के अभाव में संभवतः आर्यों के विस्तार का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है। उपनिषद् भी इसी काल की रचनाएँ हैं। इनमें हमें प्राचीन आर्यों के दार्शनिक विचारों का ज्ञान होता है। जैसे कि सृष्टि की रचना किसने की? जीव क्या है? मृत्यु के बाद जीव का क्या होता है? ईश्वर का स्वरूप क्या है— आदि। बहुदेववाद के स्थान पर एक ब्रह्म की स्थापना करना इनका उद्देश्य है। उपनिषदों में ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डूक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, मैत्रायणी और काषीतको महत्त्वपूर्ण हैं।

वेदांग

वैदिक काल के अन्त में वेदों का अर्थ ठीक प्रकार से समझने के लिए वेदांगों की रचना हुई वेदांग छः हैं— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष। वैदिक स्वरों का शुद्ध उच्चारण करने के लिए शिक्षा शास्त्र का निर्माण हुआ। ऐसे सूत्र जिनमें विधि और नियमों का प्रतिपादन किया गया है कल्पसूत्र कहलाते हैं। कल्पसूत्रों के तीन भाग हैं— श्रौतसूत्र, गृह्य सूत्र और धर्मसूत्र। श्रौत सूत्रों में यज्ञ सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। गृह्य सूत्रों में मनुष्यों के लौकिक

प्राचीन भारतीय इतिहास

तथा पारलौकिक कर्तव्यों का विवेचन है। धर्मसूत्रों में धार्मिक एवं राजनैतिक कर्तव्यों का उल्लेख है। व्याकरण ग्रन्थों में सबसे महत्त्वपूर्ण पाणिनि कृत अष्टाध्यायी है। यास्क ने निरुक्त की रचना की। इसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बताई गई है। वेदों में अनेक छंदों

का प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि वैदिककाल में ही छंदशास्त्र का बहुत विकास हो चुका था।

स्मृति ग्रंथरू

सूत्र साहित्य के बाद स्मृति ग्रंथों की रचना हुई इनकी संख्या निश्चित नहीं है। इनमें पाँच स्मृतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति और कात्यायन। सबसे प्राचीन स्मृति मनु की है। इसका रचनाकाल .पू. 200 से ई.पू. 100 के बीच माना जाता है, याज्ञवल्क्य (100 ई.—300 ई.) नारद (100 ई. 400), बृहस्पति (300 ई. — 500 ई.) और कात्यायन (400 ई — 600ई.) की स्मृतियों से प्राचीन भारतीयों की धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक स्थिति का आभास होता है।

मनु व याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ, वर्तमान हिंदू विधि के प्रमुख स्रोत हैं। इसके अलावा नारद, बृहस्पति एवं कात्यायन की स्मृतियों में प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था व कानूनी पक्ष पर प्रकाश डाला गया है साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि सामाजिक एवं धार्मिक स्थितियों पर जितना स्मृतियों में लिखा गया उतना अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं।

महाकाव्य

महाकाव्यों में रामायण व महाभारत महत्त्वपूर्ण हैं। अपने वर्तमान रूप में रामायण सम्भवतः दूसरी शती ईसवी के अन्त में विद्यमान थी। महाभारत का रचनाकाल 400 ई.पू. से 400 ई. के बीच माना जाता है। रामायण वाल्मीकि द्वारा रचित है और महाभारत वेदव्यास द्वारा। भगवद्गीता महाभारत का ही एक भाग है, जिसकी उपादेयता समस्त विश्व में स्वीकार की गई है। भारतीयों की आध्यात्मिक व दार्शनिक अवधारणाओं का इसमें सुन्दर व स्पष्ट चित्रण किया गया है। रामायण एवं महाभारत दोनों से तत्कालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति का उत्तम विवेचन प्राप्त होता है। इतिहास तिथि क्रमानुसार प्राप्त नहीं होती

पुराणरू पुराण अठारह हैं। इनमें मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड, वायु, विष्णु, भागवत और मत्स्य प्राचीन पुराण हैं, शेष बाद की रचनाएँ हैं। प्राचीन भारत का इतिहास लिखने के लिए पुराण बहुत उपयोगी हैं। पुराणों के विषय धर्म, इतिहास, आख्यान, विज्ञान आदि हैं। पुराणों में दी गई राजवंशावली प्रागैतिहासिक काल से ही महाभारत युद्ध के बाद परीक्षित के काल तक जाती है। छठी सदी ई.पू. से लेकर आंध्र में सातवाहन वंश के पतन तक के राजवंशों और उनके राजाओं के नाम पुराणों में मिलते हैं। वस्तुतः पुराणों से इतिहासकारों को सर्वथा यह असंतोष रहा है कि वे तिथिपरक नहीं हैं और साथ ही काल्पनिक घटनाओं, कथाओं एवं गप्पों से भी परिपूर्ण हैं।

बौद्धसाहित्य रु

बौद्ध एवं जैन धर्मों के ग्रंथों के प्रणेताओं का उद्देश्य भारत का इतिहास लिखना नहीं था तथापि उन्होंने अपने ग्रंथों में अनायास ही बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्री का समावेश कर दिया है। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि सम्पूर्ण बौद्ध एवं जैन साहित्य बाद के कालों में लेखनीबद्ध किया गया, किन्तु इस आधार पर उनमें प्राप्त होने वाली ऐतिहासिक सामग्री को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि प्राचीन भारत में सम्पूर्ण ज्ञान की ओर विशेषकर धार्मिक ज्ञान को गुरु परम्परा के द्वारा सुरक्षित रखा जाता था। बौद्ध धर्म के आरम्भिक ग्रंथ पाली भाषा में प्राप्त होते हैं। किन्तु बाद में संस्कृत मिश्रित संस्कृत, तिब्बती और चीनी भाषाओं में प्राप्त होते हैं।

बौद्ध साहित्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान त्रिपिटकों का है। विनय पिटक, सुत्त पिटक और अभिधम्म पिटक को त्रिपिटकों के नाम से जाना जाता है। विनय पिटक – बौद्ध संघ, भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के लिए आचरणीय नियम विधान विनय पिटक में प्राप्त होते हैं। विनय पिटक निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त हैं—

1. सुत्त विभंगा
2. खन्धक।
3. परिवार अथवा परिवार पाठ द्य

प्राचीन भारतीय इतिहास

स्व-प्रगति का परीक्षण करें रु

1. विनय पिटक कितने भागों में विभक्त है?
2. अभिलेख से आप क्या समझते ?
3. भारत की ताम्रभाषिक संस्कृतियों से आप क्या समझते हैं।

13 प्राचीन भारतीय इतिहास

14 सुत्तपिटक में भगवान बुद्ध के धर्मोपदेश मिलते हैं। गौतम बुद्ध तथा उनके धार्मिक प्रचार का विशेष विवरण सुत्तपिटक में मिलता है। सुत्तपिटक निम्नलिखित पाँच निकायों में विभक्त है

(1) दीग्ध निकाय – इतिहास निर्माण में सहायक के रूप में गद्य एवं पद्य में लिखी यह रचना विशेष है, क्योंकि इसमें छठी शताब्दी पूर्व के भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित एवं उनके सम्पर्क में आये व्यक्तियों का विशेष विवरण है।

(2) संयुक्त निकाय

इस ग्रन्थ से छठी सदी ई. पू. के राजनीतिक जीवन पर प्रकाश पड़ता किन्तु सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था को जानने की दृष्टि से इसका अधिक महत्त्व

(3) मज्झिमनिकाय इसमें बुद्ध को दैविक शक्तियों से युक्त एक अद्भुत व्यक्ति बताया गया

प्राचीन भारतीय इतिहास

हैं, जो बौद्ध धर्म में आये परिवर्तनों के अध्ययन में सहायता देता है।

(4) अंगुत्तर निकाय – छठी सदी ई. पू. के सोलह महाजन पदों की सूची इस ग्रंथ में मिलती

(5) खुद्दक निकाय यह वास्तव में लघु ग्रन्थों का संग्रह है, जिसमें कुछ छिटपुट बिखरे प्रसंग मिलते हैं। जिनके न होने पर छठी शताब्दी ई. पू. से मौर्यकाल तक का इतिहास अधूरा रह जाता है।

(6) अभिधम्मपिटक इसमें बौद्ध धर्म के दार्शनिक पक्ष का विवेचन मिलता है।

अन्य बौद्ध ग्रन्थ

मिलिन्द पन्हों इस ग्रंथ में यूनानी राजा मिलिन्द (मिनेण्डर) और बौद्ध भिक्षु नागसेन के वार्तालाप का विवरण है। सम्भवतः इस ग्रन्थ का मूल अंश ई. पू. द्वितीय शताब्दी में स्वयं नागसेन द्वारा तैयार किया गया। दीपवंश – संभवत पाँचवी शताब्दी ई. पू. में लिखे इस ग्रन्थ से कपोल कल्पित कहानियों के पश्चात मौर्यकालीन इतिहास निर्माण में सहायता मिलती है।

महावंश – इसका भी काल और स्वभाव शदीपवंश जैसा है, परन्तु मौर्यकालीन इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

महाबोधिवंश – पाली भाषा में लिखे इस ग्रन्थ से मौर्यकालीन इतिहास की सूचनाएँ प्राप्त होती है। महावस्तु इसमें बुद्ध के जीवन को बिन्दु बनाकर छठी शताब्दी ई. पू. के इतिहास को प्रस्तुत किया गया है।

ललित विस्तार मिश्रित संस्कृत के गद्य-पद्यात्मक इस ग्रंथ में भगवान बुद्ध की ऐहिक लीलाओं का वर्णन है। यह महायान सम्प्रदाय से संबन्धित है।

निदान कथा पाली भाषा में लिखे इस ग्रन्थ में भगवान बुद्ध के अतिरिक्त बोधि तत्त्वों के विषय में भी विवरण मिलते हैं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ बौद्ध ग्रन्थों पर लिखी गई टीकाओं से भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इनमें उल्लेखनीय हैं— सुमंगेल विलासिनी, समन्त पासादिका और महावंश टीका ।

दिव्यावदान इतिहास की दृष्टि से उल्लेखनीय इस ग्रन्थ में अशोक एवं उसके उत्तराधिकारियों सहित पुष्यमित्र शुंग के विषय में विवरण मिलता है।

मंजुश्री मूलकल्प संस्कृत भाषा में लिखे इस ग्रन्थ में मौर्य के पूर्व तथा हर्ष तक की राजनीतिक घटनाओं का बीच-बीच में उल्लेख मात्र कर दिया गया है पर ऐतिहासिक दृष्टि से ये सूचनाएँ महत्वपूर्ण है।

जैन ग्रंथ जैन-धर्म के ग्रंथ आगम अथवा सिद्धान्त के नाम से ज्ञात है। जैन आगम साहित्य के अन्तर्गत बारह अंश, बारह उपांग, दस प्रकीर्ण, छः छेदि सूत्र, नन्दि, अनुयोग द्वारा और चार मूल सूत्र आते हैं।

ग्रंथों में भगवान महावीर स्वामी की शिक्षाओं के साथ-साथ उनके समय की ऐतिहासिक परम्पराएँ भी मिलती हैं।

मगध साम्राज्य के उत्कर्ष के इतिहास पर सर्वाधिक प्रकाश जैन ग्रंथ डालते हैं। जैन ग्रंथों में उल्लिखित ऐतिहासिक राजा श्रोणिक, कामिद, प्रद्योत, बिम्बिसार,

उदयन, नन्दवंश के राजा, चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार, अशोक, दशरथ, सम्प्रति आदि हैं।

जैन परम्परा के अनुसार महावीर स्वामी की शिक्षाएँ मूलतरु चौदह पूर्वी (प्राचीन ग्रन्थों) में संकलित थी, परन्तु समयक्रम में इनका ज्ञान खो गया। तदुपरान्त महावीर स्वामी के निर्वाण के 160 वर्षों पश्चात् पाटलीपुत्र में प्रथम जैन समिति बुलाई गई जिसमें बारह अंगों का संकलन किया गया। पर आने वाले वर्षों में फिर इस प्रकार के प्रयासों की आवश्यकता पड़ी जिसके फलस्वरूप 300—313 ई. के मध्य मधुरा व वल्लभी में दो अलग-अलग समितियाँ बुलाई गई। जिसका एक परिणाम यह भी निकला कि जैन ग्रंथों के दो-दो पाठ हो गए और अन्ततः इसमें समन्वय लाने के लिए 553 अथवा 566 ई. में एक और समिति की बैठक वल्लभी में बुलाई गई जिसमें सभी जैन ग्रन्थों को एकरूपता में लिपिबद्ध करने का प्रयास किया

गया।

इन ग्रन्थों में न केवल महावीर स्वामी की शिक्षाएँ मिलती हैं बल्कि अपने समय के इतिहास की झलक भी मिलती है। इस दृष्टि से परिशिष्टपर्वण उल्लेखनीय है। श्वभद्रवाहुचरित्र में जैनाचार्य भद्रवाहु के साथ-साथ चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त ष्कथाकोष, ष्पुष्याश्रव-कथाकोष, ष्पुष्याश्रव — कथाकोष, लोक विभाग, ष्त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, ष्आवश्यक सूत्र, ष्भगवती सूत्र, ष्कालिका पुराण आदि अनेक जैन ग्रंथ भारतीय इतिहास को सामग्री प्रस्तुत करते हैं। कल्पसूत्रों से जो कुछ सामग्री प्राप्त हो सकी है, उसकी उपयोगिता निर्विवाद है।

ऐतिहासिक एवं समसामयिक ग्रंथ —

इसमें मुख्यतः संस्कृत भाषा के ग्रंथ आते हैं।

अष्टाध्यायी — डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाणिनी के प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ अष्टाध्यायी का रचनाकाल पाँचवीं सदी ई. पू. के मध्य निर्धारित किया है, जिसको लगभग सभी विद्वान स्वीकार करते हैं। इस ग्रंथ में अनेक प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है, जिसमें सर्वाधिक उल्लेखनीय उस समय के गणराज्य हैं।

अर्थशास्त्र इसमें मौर्यकालीन इतिहास की जानकारी मिलती है। इसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमन्त्री आचार्य कौटिल्य ने की थी। यद्यपि इसके रचना अवधि और प्रामाणिकता को लेकर काफी विवाद है। लेकिन ज्ञान की वर्तमान अवस्था में इसे मौर्ययुग से ही संबद्ध करना सकी चीन है। इस ग्रंथ में सामान्य प्रशासन के साथ-साथ शासन से संबन्धित सामान्य सिद्धान्तों का ज्ञान भी प्राप्त होता है।

पतंजलि का महाभाष्य पाणिनी की अष्टाध्यायी की तरह दूसरी सदी ई. पू. में लिखित पतंजलि का महाभाष्य इतिहास निर्माण में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान करता है। भारतवर्ष पर होने वाले यूनानी आक्रमण का उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ



प्राचीन भारतीय इतिहास

है। इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ से यह भी सूचना मिलती है कि पुष्यमित्र शुंग ने यज्ञ (सम्भवतः अश्वमेध) किया था जिसमें पौरोहित कर्म पतंजलि ने किया था। गार्गी संहिता भारत भर होने वाले यूनानी आक्रमण का थोड़े विस्तार से विवरण इस ग्रंथ में हुआ है।

मालविकाग्निमित्र— कालिदास विरचित इस नाटक का कथानक ऐतिहासिक है। इस नाटक से शुंगवंश तथा उसके पूर्ववर्ती राजवंशों की समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों का बोध होता है। राजपरिवारों के आन्तरिक जीवन का यह दर्पण है।

मुद्राराक्षस — विशाखदत्त द्वारा विरचित मुद्राराक्षस भी एक नाटक है। उसका कथानक भी ऐतिहासिक है। इस नाटक में राजनीति की महत्ता प्रदर्शित की गई है। इस नाटक का कथानक नंदवंश के अन्त एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण से सम्बन्धित है और इसका एक महत्वपूर्ण पात्र चाणक्य है जो राज्य में सुव्यवस्था

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै-

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

15

प्राचीन भारतीय इतिहास

14

स्थापित करने तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन को सुरक्षित करने के लिए असीम कूटनीतिक सूझ-बूझ का परिचय देता है।

स्थानीय लेखन राजतरंगिणी बारहवीं सदी ई के कवि कल्हण की राजतरंगिणी सच्चे अर्थों में इतिहास ग्रंथ है। इसमें कल्हण ने प्रारम्भ से लेकर अपने समय तक का काश्मीर का इतिहास लिखा है। उसने इतिहास लिखने की परम्परा का सूत्रपात किया, जिसे उसके शिष्यों ने चालू रखा। इसके अलावा स्थानीय भाषाओं में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई।

गुजरात ने अपने वीरों के गुणगान तथा उनकी स्मृतियों को नवीन रचनाओं में ढालने की परम्पराएँ प्रारम्भ की। इस ओर प्रयास करने वाले लेखकों में सोमेश्वर मुख्य हैं। जिसकी रचनाएँ पद्मसमाला ८ एवं पद्मतीर्तिकौमिदी ८ स्थानीय इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। इसके अतिरिक्त अरिसिंह के सुसंकृति संकीर्तन, राजशेखर के प्रबन्ध कोष ८ जयसिंह के ८ हम्मीर मदमर्दन ८ मेरुतंग के प्रबन्ध — चिन्तामणि तथा बालचन्द्र का ८ बसन्त-विलास ८ इस दृष्टि से उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

इसी भाँति रामचरित्र में बंगाल के राम पाल का वर्णन दिया गया है। इसके लेखक संध्याकर नन्दी है। आनन्दभट्ट की बल्लालचरित्र बंगाल व बिहार के सेन

राजवंश के इतिहास पर प्रकाश डालती है। राजस्थान के प्रसिद्ध सम्राट पृथ्वीराज पर अनेक रचनाएँ हैं। जगनिक ने पृथ्वीराज विजय लिखा जो कि चौहान नरेश की शौर्य गाथा से परिपूर्ण है। इस कारण सावधानी से इसका उपयोग करना आवश्यक है। चन्दवरदाई कृत पृथ्वीराज रासौ भी इसी कोटि की रचना है। इसमें पृथ्वीराज चौहान व गौरी की लड़ाइयों का विशद विवरण है। कवि विल्हण की रचना देवचरित कल्याणी के चालुक्यों के इतिहास पर प्रकाश डालती है।

उपर्युक्त अधिकांश रचनाएँ पूर्णतया साहित्यिक हैं और उनके इसी स्वभाव के कारण इन्हें विशुद्ध साहित्य की कोटि में रखा जा सकता था, किन्तु ये ऐतिहासिक चरित्रों की जीवनियाँ भी हैं और कालचक्र को भी समेटे हुए हैं। इस कारण स्वतः ही इनका एक पृथक् वर्ग बन जाता है।

विदेशियों के विवरण

समय-समय पर अनेक विदेशियों ने भारत की यात्रा की एवं अपने विवरण भी लिपिबद्ध किए। परन्तु उन वृत्तान्तों में कुछ खो गए, कुछ मिश्रित हो गए कुछ भारतीय परम्पराओं को ठीक से न समझने के फलस्वरूप भ्रामक बातें लिख बैठे। इन दोषों के होते हुए भी तुलनात्मक अध्ययन के लिए विदेशी विवरण बहुत उपयोगी है। हम विदेशी विवरण देने वालों में उन्हें भी सम्मिलित करते हैं जो भारत कभी नहीं आए परन्तु अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही भारत के बारे में जानकर अथवा किसी सम्पर्क माध्यम से समृद्ध होकर अपनी टिप्पणियाँ लिपिबद्ध कर सकें।

यूनानी साधारणतया यह मान्यता रही है कि विदेशी विवरण भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के साथ अथवा फलस्वरूप प्रभाव में आया है, ऐसा नहीं है। विशेषकर यूनानी लेखक जो सिकन्दर के पूर्वकाल के हैं, में लेक्स हिकेटिअस, मिलेटस, हेरोडोटस तथा केसिअस के नाम उल्लेखनीय हैं। पर इन सबकी अधिकतम जानकारी सिन्धु प्रांत तक ही थी। इतिहास के जनक हेरोडोटस ने अपनी पुस्तक हिस्टोरिका में भारत के सम्बन्ध में जानकारी दी है। इन सभी का भारतीय दर्शन के प्रति विशेष आकर्षण था, परन्तु इनके विवरण प्रामाणिक नहीं हैं तथा इनका लाभ किसी अन्य शास्त्रीय अध्ययन के साथ ही उठाया जा सकता है।

यह सत्य है कि सिकन्दर के साथ भी कुछ ऐसे व्यक्ति आये थे जिन्होंने अपने भ्रमण का वृत्तान्त लिपिबद्ध किया है। उनमें अरिस्टोकुलस, निआर्कस, चारस, यूरेनिस आदि प्रमुख हैं। इन्होंने सिकन्दर के भारत आक्रमण का सजीव चित्रण किया है। दुर्भाग्य है कि इन लेखकों के मूल ग्रंथ प्राप्य नहीं हैं, हमें इनके विवरण के सम्बन्ध में परवर्ती लेखकों के ग्रन्थों से ही जानकारी मिलती है।

सिकन्दर के बाद के लेखकों में मेगस्थनीज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह यूनानी शासक सेल्यूकस की ओर से चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में राजदूत था और उसने अपने प्रवासकाल को अपनी पुस्तक

प्राचीन भारतीय इतिहास

प्राचीन भारतीय इतिहास

18

प्राचीन है परन्तु प्रतीत होता है कि मुहम्मद बिन कासिम के भारत पर आक्रमण के पश्चात् तो अरब लेखकों ने प्रसंगवश भारत के बारे में काफी लिखना प्रारम्भ कर दिया था। उन लेखकों में सुलेमान सिलसिला, अलमसूदी, अलबहादुरी फुतुअल-बल्दान आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पर इस श्रृंखला में हर्षोत्तरकालीन भारत की अवस्थाओं पर उत्तम विवेचन करने वालों में लेखक अल्बेरुनी सदैव स्मरणीय है। अल्बेरुनी की भारतीय दर्शन एवं कला कौशल के प्रति रुचि उदाहरणीय है। यहाँ के वृत्तांत को लिखने में उसने बहुत ही परिश्रम तथा धैर्य से काम लिया। उसकी पुस्तक शतहकीके हिन्दू भारतीय समाज एवं उसकी मान्यताओं का एक समीक्षात्मक विवरण है, जिसका उपयोग परवर्ती इतिहासकारों ने खूब किया है। आश्चर्य यह है कि जब महमूद गजनवी अपनी भौतिक एवं साम्राज्यवादी लिप्साओं में व्यस्त था तब उसका यह दरबारी अल्बेरुनी भारतीय मस्तिस्क का मर्म समझने का यत्न कर रहा था। लेखक ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विषय में जितना लिखा है यदि उतना ही महत्त्व समकालीन इतिहास को भी दे देता तो उससे इतिहास के पारम्परिक ज्ञान को भी बहुत लाभ पहुँचता।

1.

अनुभागीय सारांश

प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साहित्यिक सामग्री स्पष्टतः इस बात की ओर इंगित करती है कि भारतीय इतिहास के प्रति सचेत थे। वैदिक साहित्य से राजतरंगिणी तक की जो साहित्यिक यात्रा है वह भारत में इतिहास लेखन के विकास की प्रक्रिया को दर्शाती है। प्रारम्भ में जहां धार्मिक साहित्य में इतिहास ढूँढ़ना पड़ता था वहीं 10वीं एवं 11वीं शताब्दी तक आधुनिक सन्दर्भ के इतिहास लेखन की नींव पड़ चुकी थी। धार्मिक साहित्य मुख्यतः ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन साहित्य में विभक्त था जो विदेशी यात्रियों के एक पक्षीय विवरण के साथ मिलकर भी एक विश्वसनीय वृत्तान्त का निर्माण नहीं करता था। अन्तिम वर्षों में तो स्थानीय भाषाओं में भी साहित्य एवं इतिहास की सर्जना प्रारम्भ हो चुकी थी। परन्तु इन सभी के विवरणों पर पूर्ण विश्वास करना भूल है। ये एक पक्षीय दोष से ही ग्रस्त नहीं हैं बल्कि क्रमबद्धता का अभाव एवं कपोल कल्पित घटनाक्रम से आश्चर्यचकित करने वाले हैं।

पुरातात्विक साधन

पुरातत्व का महत्त्व इतिहास के अध्ययन में दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। यही कारण है कि यह विषय स्वतन्त्र अध्ययन बन गया है। भारतीय इतिहास में अनेक संदिग्ध स्थलों का निर्धारण करने में इस सामग्री का योगदान प्रशंसनीय रहा है। पुरातत्व इतिहास की दो तरह से सहायता करते हैं। एक प्रतिपादक रूप में अर्थात् जानकारी के सर्वथा नए साधन प्रस्तुत करके तथा दूसरे समर्थ रूप में

अर्थात् ज्ञात तथ्यों की पुष्टि करके ।

इस महत्वपूर्ण सामग्री को अध्ययन की सुविधा के लिए तीन भागों में विभाजित किया जा सकता

1. अभिलेख
 2. स्मारक
 3. मुद्राएँ
- अभिलेख

अभिलेखों का प्रचलन सम्राट अशोक के काल से अथवा उससे पूर्व काल में भी हो चुका था, विवाद का विषय बन सकता है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारत के इतिहास को प्रकाशित करने में अशोक कालीन तथा अशोक के पश्चात् के अभिलेख ही विशेष उल्लेखनीय हैं। अशोक ने अपनी राजाज्ञा और घोषणाओं को स्तम्भों तथा शिलाओं पर उत्कीर्ण कराया। इससे अशोक के धर्म और राजा के आदर्श पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इससे हमें उसके राज्य की सीमाओं का ज्ञान भी होता है। अशोक के अभिलेख ब्राह्मी व खरोष्ठी लिपि में हैं। अशोक के पश्चात् के अभिलेखों में जिनमें कुछ प्रशस्तियों के नाम से भी विख्यात हैं, में हरिषेण अथवा प्रयाग प्रशस्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गुप्तवंश के प्रतापी सम्राट समुद्रगुप्त की दिग्विजयों तथा उसके वैयक्तिक गुणों पर पूर्ण प्रकाश डालने वाली सामग्री इस प्रशस्ति के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। इसी प्रकार महरौली (दिल्ली) के लौह स्तम्भ पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कीर्ति का उल्लेख है और इसी से ज्ञात होता है कि उसने सिन्धु नदी को पारकर वाहलीक देश को विजय किया। हमें अनुदानों की स्वीकृति सम्बन्धी अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो समाज के वर्गीकरण के अध्ययन में बहुत सहायक हैं। मुहरों तथा मुद्राभिलेखों की संख्या को तो हम निश्चित रूप से एक बहुत भारी, अतर्क असंख्य कह सकते हैं। इसी शृंगला में उड़ीसा में कटक के निकट एक गुफा की दीवारों पर खुदाय जिसे हाथीगुम्फा अभिलेख कहते हैं, कलिंग के यशस्वी राजा खारवेल के जीवन और उसकी सफलताओं पर एक नया प्रकाश डालता है। ग्वालियर की प्रशस्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें प्रतिहार शासक राजा भोज की अर्जित सफलताओं का उल्लेख है। इसी प्रकार ऐहोल अभिलेख से हमें दक्षिण के चालुक्य सम्राट पुलकेशिन द्वितीय द्वारा कन्नौज के सम्राट हर्ष पर विजय का उल्लेख प्राप्त होता इस प्रकार असंख्य दानपत्र, समर्पण-पत्र तथा स्मारक पत्र के रूप में अभिलेखों का निर्माण हुआ। राजस्थान एवं मध्य भारत में प्रस्तर पत्रों पर उच्चकोटि के नाटकों के अंश उत्कीर्ण हैं। पुदुकोट्टय या दुदुकोत्तई (तमिलनाडु) में संगीत के नियमों का उल्लेख किया गया है।

इसके अतिरिक्त विदेशों में भी कुछ ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो भारतीय इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। इसमें एशिया माइनर में बोगजकोई के लेख में वैदिक देवताओं का उल्लेख किया गया है। पासपोलस तथा नवशेरुस्तम (ईरान)

प्राचीन भारतीय इतिहास

के अभिलेखों से प्राचीन भारत एवं ईरान के पारस्परिक सम्बन्धों का बोध होता है। इस प्रकार ये अभिलेख इतिहास की कड़ियाँ जोड़ने में बहुत सहायक हैं। ये न केवल शासन प्रबन्ध पर प्रकाश डालते हैं, बल्कि प्रमुख व्यक्तियों के चरित्र का मूल्यांकन करने में भी सहायक हैं। इससे तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थितियों का बोध होता है और साथ ही कला के भी अद्वितीय नमूने हैं। भारत में हुई विज्ञान एवं तकनीकी प्रगति का अनुमान भी इनसे सहजता से लगाया जा सकता है। ये अभिलेख संस्कृत, प्राकृत अथवा मिश्रित, तमिल, तेलगू, कन्नड़ आदि भाषाओं में खुदे हुए हैं, जिससे हमें समृद्धशाली एवं प्रचलित भाषा की लोकप्रियता का भान होता है, साथ ही साहित्यिक शैली एवं साहित्य की प्रगति का भी बोध होता है।

स्मारक

स्मारक के अन्तर्गत कितनी वस्तुएँ आ सकती हैं, यह कहना कठिन है। वास्तव में पुरातत्व सम्बन्धी वर्गों में अभिलेख, मुद्रा तथा ललितकला सम्बन्धी वस्तुओं को छोड़कर, जो कुछ भी धरती के नीचे या ऊपर कला की वस्तु हो या एक ऐसी वस्तु होय जिसके देखने से हमें अपने प्राचीन की याद आ जाए वह प्राचीन स्मारक मानी जायेगी। स्मारकों से हमें अपनी सभ्यता के जीते जागते उदाहरण मिलते हैं। ये पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, धातु के बने हैं। सिंधु घाटी के स्थलों ने हमारी बहुत-सी मान्यताओं को बदल दिया है। मोहनजोदड़ो हड़प्पा की खुदाइयों ने तो इतिहास में एक नया परिच्छेद ही जोड़ दिया है। तक्षशिला, पाटलिपुत्र, नालन्दा, देवगढ़, राजगिरी, मथुरा, सारनाथ, भरहुत, कसिया, लक्ष्मणेश्वर, खजुराहो, लालगढ़, चितल, दुर्ग, स्तम्भ, पत्तदकल आदि से कई तथ्य उजागर हुए हैं। खुदाइयों के अतिरिक्त धरती के ऊपर के भवन मन्दिर, स्तम्भ आदि भी प्राचीन समारक के रूप में ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करते हैं। ऐसी सामग्रियों का भारत में बाहुल्य है जो तत्कालीन धार्मिक विश्वासों, कला की विभिन्न शैलियों, वाणिज्य व्यापार आदि असंख्य समस्याओं के समाधान के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। सारनाथ का घण्टाकार स्तम्भ – मस्तक उस प्राचीनकाल की नक्काशी कला का उत्कृष्टतम उदाहरण है। अजन्ता तथा एलोरा की गुफाएँ अपने काल की भित्ति चित्रकला का श्रेष्ठ नमूना प्रस्तुत करती हैं। झाँसी का देवगढ़ मन्दिर, भीतरगाँव का मन्दिर, नालन्दा की महात्मा बुद्ध की ताम्रमूर्ति आदि भारतीय कला की उच्च रेखाओं का स्पष्ट बोध कराते हैं। कभी-कभी इन पर उत्कीर्ण तिथियाँ इतिहास के कालक्रम के निर्माण में सहायक बन जाती हैं। मन्दिरों, स्तूपों और बिहारों से तत्कालीन धार्मिक विश्वासों का पता चलता है। दक्षिण-पूर्वी एशिया और मध्य एशिया में जो मन्दिरों और स्तूपों के अवशेष मिले हैं, उनसे भारतीय संस्कृति के प्रसार पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है। उन स्थलों में जावा, कम्बोज, मलाया, स्याम, बोर्नियो, कोचीन, चाइना, कोम्बे आदि मुख्य हैं। जावा का स्मारक प्बोरो बुदूरु इस बात का प्रमाण है कि नवीं शताब्दी में वहाँ महायान बौद्ध धर्म बहुत लोकप्रिय हो गया था। इस प्रकार अंगकोरवाट तथा अंजकोरलाभ से भी प्राचीन स्मारक चिन्ह उपलब्ध हुए हैं, जिनसे भारतीय

औपनिवेशिक प्रसार एवं भारतीयों की कला का बोध होता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

19

मुद्राएँ पुरातात्विक सामग्री में मुद्राओं का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन सिक्कों पर लिखे लेख और चिन्ह महत्वपूर्ण होते हैं। सिक्कों से कई महत्वपूर्ण राजनीतिक एवं आर्थिक जानकारियाँ मिलती हैं।

हिन्दू यूनानी शासकों के सिक्के भी महत्वपूर्ण स्रोत हैं। भारतीय गणतंत्रात्मक राज्यों की जानकारी भी सिक्कों से मिलती है। पांचाल, मालव व यौधेय गणतंत्रों का इतिहास सिक्कों से ही अधिक प्राप्त होता

इसी प्रकार सातवाहन कुल का इतिहास भी मुद्राओं से ही प्रकाशित होता है समुद्रगुप्त की मुद्राओं के आधार पर ही हम यह स्पष्ट करते हैं कि वह वैष्णव धर्म का अनुयायी था उसकी मुद्राओं पर उत्कीर्ण वीणा के आधार पर ही हम उसे संगीत कला का उपासक कहते हैं। प्राचीन भारतीय सिक्के सोने, चाँदी, ताँबे के होते थे। मुद्राशास्त्र का उपयोग आर्थिक इतिहास लिखने में महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। दक्षिण भारत में प्राप्त रोमन सिक्कों के आधार पर ही भारत एवं रोम के मध्य व्यापार की बात कही जाती है। स्वर्ण धातु के सिक्कों में जब मिलावट दिखाई देती हैं तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय राज्य की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। गुप्तकालीन सिक्के बहुत कलात्मक हैं, इनसे शासक वर्ग एवं जनता की साहित्य और कला में रुचि दिखाई देती है। इस प्रकार पुरातात्विक साक्ष्य की सहायता से हम प्राचीन भारतीय इतिहास को पहले की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत ढंग से समझ सकते हैं।

सारांश प्रस्तुत इकाई में हमने प्राचीन भारतीयों की इतिहास विषयक अवधारणा व इतिहास के स्रोतों का उल्लेख किया है। प्राचीन भारतीयों की इतिहास में गहन रुचि थी। लेकिन यह इतिहास वर्तमान की तरह हमें क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध नहीं होता है। यत्र-तत्र प्रसंगवश ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख हमें मिल जाता है। धर्म का वर्णन करते हुए भी धर्म प्रचारकों ने महत्वपूर्ण घटनाओं की जानकारी दे दी है। पुरातात्विक साक्ष्यों में अभिलेख, स्मारक व मुद्राएँ आती हैं, जिनसे हमें प्राचीन इतिहास की जानकारी मिलती है। प्राचीनकाल में अभिलेख उत्कीर्ण कराने की परंपरा निहित थी। विशेष अवसरों पर ये लिखे जाते थे। इसके अलावा प्राचीन स्मारक से भी हमें लोगों के रहन-सहन की जानकारी हो जाती है। मुद्राएँ भी महत्वपूर्ण जानकारी देती हैं। उन पर लिखे हुए वाक्यों से प्राचीन भारत की राजनीतिक, धार्मिक स्थिति का आभास हो जाता है। साहित्यिक व पुरातात्विक साधनों से ही इतिहास को जाना जा सकता है।

प्रस्तावना प्राचीन भारत के इतिहास को सामान्यतः मगध के उत्कर्ष एवं जैन तथा बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव से प्रारम्भ किया जाता है क्योंकि इस समय तक लेखन कला का विकास हो चुका था, लेकिन प्राचीन भारतीय इतिहास की आध

प्राचीन भारतीय इतिहास

प्राशिला विभिन्न पाषाणकालीन और ताम्र तथा लौहयुगीन संस्कृतियों के निवासियों ने रखी थी प्रस्तुत इकाई में पाषाणकालीन और हड़प्पा संस्कृति से इतर ताम्र पाषाण कालीन संस्कृतियों को समझने का प्रयत्न किया जाएगा कि मानक ने वर्तमान से लगभग पाँच लाख वर्ष पूर्व कैसे पाषाण उपकरणों को निर्मित कर आखेटक आहार संग्राहक, आहार उत्पादक के विभिन्न चरणों की यात्रा पूर्ण करते हुए भारतीय ग्राम्य संस्कृति की नींव रखी।

भारत की भौगोलिक विशेषताएँ

किसी भी देश का इतिहास उस देश की भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम होता है। प्राक् एवं आद्यइतिहास के सम्बन्ध में यह उक्ति बहुत अधिक सीमा तक प्रभावी होती है, क्योंकि प्रारम्भिक मानव की विकास यात्रा पृथ्वी तल पर घटित होने वाली घटनाओं से बहुत अधिक प्रभावित थीं। क्योंकि उस काल के मानव के भौतिक और सांस्कृतिक उपादान बहुत कम थे जिनसे वह भौगोलिक प्रभावों को अपने जीवन में कम कर सके। इसलिए तत्कालीन जीवन को समझने के लिए उस समय की वनस्पति, जीवजन्तु तथा पृथ्वीतल पर प्रवाहित होने वाले जल की मात्रा का अध्ययन पुरातत्व के सन्दर्भ में अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उसने प्रारम्भिक मानव के सान्निवेश को बहुत अधिक प्रभावित किया था।

जैसा कि आप सभी इस तथ्य से परिचित हैं कि भारत एक विविधताओं से परिपूर्ण राष्ट्र है। भौगोलिक दृष्टि से भारत को प्रधान रूप से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। (1) हिमालय, उत्तरपूर्वी और पश्चिमी सीमा के पर्वत (2) सिंधु और गंगा के उत्तर भारतीय मैदान (3) विंध्य मेखला (4) दक्षिण इनमें सब प्रकार की विविधता है। कहीं ऊँचे पहाड़ हैं और कहीं सपाट मैदान, कहीं हरा-भरा प्रदेश है और कहीं निर्जल मरु भूमि, आर्द्रतम और शुष्कतम ठण्डे से ठण्डे और गर्म से गर्म सभी प्रकार की जलवायु, नाना प्रकार के वृक्ष-वनस्पति और पशु-पक्षी यहाँ मिलते हैं। (जहाँ तक भारत की भौगोलिक सीमाओं की व्याख्या का प्रश्न है तो विष्णु पुराण के अनुसार जो गुप्तकालीन संग्रह माना जाता है, के उत्तर में हिमालय है तथा दक्षिण में समुद्र है ।)

भारत

भारत में वानस्पतिक दृष्टि से चार मुख्य क्षेत्र हैं जो वार्षिक औसत वर्षा पर आधारित हैं। भारत को मुख्य रूप से (1) उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत क्षेत्र कश्मीर लद्दाख, पंजाब (2) इण्डो-गंगा विभाजक, गंगा घाटी, आसाम, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु, आन्ध्र, उड़ीसा (3) मध्य प्रदेश तथा (4) उत्तर-पूर्व के पर्वतीय क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है।

भारत की पूर्व पाषाणकालीन संस्कृतियाँ

प्रस्तर युग का प्राचीनतम काल पुरापाषाण काल कहा जाता है। इसको पुरापाषाण काल से संबोधित करने का कारण उसके द्वारा प्रस्तर उपकरणों को निर्मित करने की आदिम तकनीक है, जिसमें शनैः-शनैः अपरिष्कृत व अनगढ़ तकनीक से परिष्कृत व सुगढ़ तकनीक का विकास होता गया। इस आधार पर पुरातत्ववेत्ताओं ने पुरापाषाणकाल को पुनरु तीन अवस्थाओं निम्न पुरा प्रस्तर युग, मध्य पुरा

प्रस्तर युग तथा उच्च पुरा प्रस्तर युग में विभाजित किया है। इस विभाजन का आधार प्रस्तर युगीन मानव द्वारा पाषाण उपकरण निर्माण की तकनीक है जिसमें क्रमशः विकास दृष्टिगोचर होता है।

प्रायः सभी पुरातत्त्ववेत्ता इससे सहमत हैं कि भू-भौतिक काल के चतुर्थक काल के प्रतिनूतन काल में मानव का उद्भव हुआ। वर्तमान से लगभग बीस से पच्चीस लाख वर्ष पूर्व और दस हजार मध्य माना जाता है। मानवों की शाखा के विकास का इतिहास इस समय अनेक परिवर्तनों के दौर से गुजरा और विकास की एक अवस्था में पहले प्राट्रेलोपिथेकस और उपरान्त होमो जीनस के मानव का विकास हुआ, जिसमें होमो एरेक्टस, होमो सेपियन्स सेपियन्स निप्रण्डर्थलेनिसस तथा विकास हुआ। प्राधुनिक मानव वस्तुतः

होमो सेपियन्स माना जाता है। होमो सेपियन्स के अवशेष 1868 में फ्रान्स के शिलाश्रय से प्राप्त हुआ था। इसे क्रोमान्यों कहा जाता था इसलिए इस काल का नाम क्रोमान्यों पड़ गया। यह लम्बे कद का सौधा खड़े होकर चलने वाला सुगठित शरीर का प्राणी था। यह आखेटक पाषाण तथा पशु अस्थियों के बहु प्रयोजनीय उपकरण बनाता था, पहली बार उस मानव ने अपने मृतकों का अंतिम संस्कार करना प्रारम्भ किया। वह गुफाओं में रहकर कला की अभिव्यक्ति करता था।

इस प्रतिनूतन कालीन मानव को अनेक पारिस्थितिकीय परिवर्तनों से भी होकर गुजरना पड़ा था। जलवायु की दृष्टि से यह काल अत्यधिक परिवर्तन का था। इस समय पृथ्वी के पर्वतीय भाग में हिम व हिमाप्रत्यावर्तन युग विद्यमान थे तो उष्ण कटिबंधीय प्रदेशों में अतिवृष्टि व अल्प वृष्टि के काल आए थे। यूरोप में हिम युगों पर हुए कार्यों के आधार पर यह माना जाता है कि इस अवधि में चार हिमप्रत्यावर्तन युग आए थे। ऐसा ही अध्ययन अफ्रीका महाद्वीप के उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में किया गया है जिस आधार पर यह माना जाता है कि इस अवधि में चार अतिवृष्टि चक्र आए थे तथा दो अतिवृष्टि कालों के मध्य अल्पवृष्टि चक्र भी आया था। इस तरह से समस्त पुरा प्रस्तरयुगीन संस्कृति का इतिहास पाँच हिमयुगों में विस्तार पाए हुए था तथा अन्तिम हिम युग के अन्तिम दो चरणों में होमोसेपियन्स सेपियन्स द्वारा निर्मित पुरा पाषाणकालीन संस्कृतियों के अवशेष प्राप्त होते हैं। ऐसा माना जाता है कि वर्तमान से लगभग दस हजार वर्ष के स्थान का प्रयोग होना चाहिए जब पूर्व नूतन युग प्रारम्भ हुआ था तथा इस समय जलवायु में एक स्थिरता उत्पन्न हो गई थी।

भारत की पुरा पाषाणकालीन संस्कृतियाँ

पुरातत्व में अभी तक संपादित हुई खोजों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में अभी तक कोई भी ऐसा पुरास्थल प्राप्त नहीं हुआ है जहाँ से पुरा पाषाणकालीन मानव के अस्थि अवशेष प्रकाश में आए हों, अतः भारत में इस काल का मानव कैसा था, इस सम्बन्ध में कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं है लेकिन उसके द्वारा निर्मित उपकरण उसकी तत्कालीन उपलब्धियों को समझने में बहुत बड़ी सीमा



प्राचीन भारतीय इतिहास

प्राचीन भारतीय इतिहास

11

तक सहायक होते हैं, भारत में प्रथम पाषाण उपकरण खोजने का श्रेय राबर्ट ब्रूस फ्रुट को दिया जाता है, जिन्होंने 1863 में पल्लवरम् (तमिलनाडु) नामक स्थान से इसे खोजा था। यह उपकरण फ्रांस की एशूलियन तकनीक से बना विदलक था। 1935 में येल व केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों के एक दल ने भारत के उत्तर पश्चिमी पर्वतीय नदी घाटियों (शिवालिक), मध्य प्रदेश में नर्मदा की घाटी तथा मद्रास के निकट कोल्यार नदी घाटी का सर्वेक्षण कर भारत में पुरापाषाणकाल के अध्ययन की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि निर्मित की। इस अध्ययन का यह लाभ हुआ कि भारत में प्रतिनूतन काल के सांस्कृतिक अवशेष तो प्राप्त हुए ही साथ ही तत्कालीन जलवायु व पशु जगत की जानकारी भी प्राप्त हुई।

इन खोजों के आधार पर भारत में निम्न पुरापाषाणकाल के स्थलों को भौगोलिक परिवेश के आधार पर चार वर्गों में विभाजित किया गया है।

(1) प्राकृतिक गुफा या शैल गृहों के स्थल द्य

(3) उपकरण बनाने के स्थल ।

(2) घाटियों में स्थित खुले आवास स्थल द्य

(4) नदियों के जमाव वाले स्थल द्य

विभिन्न खोजों के परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि निम्न पुरापाषाणकालीन उपकरण बड़े व खुरदरे प्रस्तरों पर बने हैं जिनको नदी की घाटियों में गुहिकाओं या पर्वतों की ढाल से पाषाण खण्डों के रूप में प्राप्त किया जाता था। अभी तक अभी तक सम्पन्न खोजों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निम्न पुरापाषाणकालीन मानव स्वयं द्वारा निर्मित पाषाण उपकरणों से पहचाना गया है तथा इस काल में तत्कालीन मानव ने भारत के सभी क्षेत्रों में विस्तार पा लिया था। विभिन्न पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा किए गए सर्वेक्षण एवं उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर अब यह निश्चित हो गया है कि निम्न पुरापाषाणकालीन मानव ने कश्मीर और कौंगड़ा घाटी से लेकर राजस्थान और कच्छ के शुष्क और अर्ध शुष्क भाग आसाम जैसे अतिवृष्टि वाले क्षेत्र बिहार के घने जंगलों के साथ ही कोंकण, सौराष्ट्र और तमिलनाडु तक अपनी संस्कृति का विस्तार कर लिया था।

निम्न पुरापाषाणकालीन संस्कृति के मानव द्वारा विभिन्न प्रकार के प्रस्तर उपकरण उपयोग में लाए जाते थे, जो संभाषित किए जाने वाले कार्य के आधार पर नामित किए गए हैं, जिनके प्रमुख नाम निम्न हैं –

हस्तकुठार यह अण्डाकार उपकरण होता है तथा इसको बारीक तराशा जाता था तथा यह तराश का कार्य दोनों धरातलों पर पाया जाता है।

निम्न पुरापाषाणकालीन कुल्हाड़ी के आकार का उपकरण जिसका प्रयोग लकड़ी आदि के टुकड़े काटने के लिए किया जाता था।

कुट्टव्यक गुटिका पर बना एक घरातल से तराश खुदल धार वाला उपकरण (पानी के बहाव द्वारा पाषाण के घिसे टुकड़े को गुटिका कहा जाता है)।

छोलनी

एक या अधिक धार वाले उपकरण जिनसे खुरचने का काम लिया जाता था। छिद्रक लम्बी नोक वाले उपकरण (जिनको बाँधने के लिए प्रयुक्त किया जाता था नुकीले शीर्षक तीखी नोक वाले तिकोने उपकरण शल्क अथवा चिप्पड़ छोटा टूटा पाषाण खण्ड निम्न पुरापाषाणकाल के सर्वाधिक प्रमुख उपकरण हस्तकुठार उपकरण थे जो सम्पूर्ण प्रायद्वीपीय भारत में पाए जाते हैं। ये उपकरण विभिन्न आकारों में उपलब्ध हुए हैं तथा इनको लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई के आधार पर विभाजित किया जा सकता है। इन उपकरणों को प्रकार विन्यास के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत अनगढ़ अथवा अपरिष्कृत प्रकार से निकाले गए लगते हैं क्योंकि इन उपकरणों की सतह पर अनियमित गर्त या निशान दिखाई देते हैं तथा इनका आकार अत्यंत मोटा व अनियमित है, जबकि दूसरे वर्ग के हस्तकुठार की सतह चिकनी व समतल है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन उपकरणों को निर्मित करते समय खण्डक (पाषाण खण्ड जिसमें से तराश कर चिप्पड़ प्राप्त किए जाते हैं) से चिप्पड़ नियन्त्रित विधि से निकाले गए हैं।

—

निम्न पुरापाषाणकालीन संस्कृति के समग्र अध्ययन हेतु इसे भौगोलिक क्षेत्रों में विभाजित किया गया है प्रमुख क्षेत्र हैं —

शिवालिक सोहन घाटी के हिमायनों तथा प्रागैतिहासिक पुरावशेषों के लिए विख्यात ।

पश्चिमी क्षेत्र राजस्थान तथा गुजरात प्रान्त के पुरावशेष द्य राजस्थान में मारवाड़ तथा मेवाड़ विशेष रूप से राजस्थान के पश्चिमी क्षेत्र में बूनी तथा मेवाड़ क्षेत्र में बेराच, बामन, गम्भीरी, कादमली और बनास नदियों का क्षेत्र, गुजरात में सावरमती, माही तथा ओरसंग का क्षेत्र द्य

पश्चिमी महाराष्ट्र तथा कर्नाटक का क्षेत्र, गोदावरी, प्रवरा, कृष्णा, तुंगभद्रा ।

नदियों का विस्तृत क्षेत्र

दक्षिण का पठारी क्षेत्र

तमिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश विशेषतया पठारी क्षेत्र ।

मध्य क्षेत्र — मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश का दक्षिणी पठारी भाग, नर्मदा एवं ताप्ती चम्बल, महानदी, स, केन, पयस्वनी आदि नदियों का क्षेत्र द्य

पूर्वी क्षेत्र पूर्वी बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा उड़ीसा का क्षेत्र, गंगा, घाघरा, गंडक, कोसी आदि का क्षेत्र ।

भारत में निम्न पुरापाषाणकाल में मानव प्रवास के प्रमाण अपवादों को छोड़कर देश के अधिकांश भागों में प्राप्त होते हैं। आरम्भिक पुराविदों के अनुसार पुरापाषाणिक संस्कृति के उपकरणों के दो स्थूल विभाजन किए गए हैं— अर्थात् उन्हें चापर चापीग पेबुल उपकरण तथा हेण्ड एक्स उपकरणों के अनुसार सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान किया गया है। समप्रति अन्वेषणों के अनुसार उक्त विभाजन

प्राचीन भारतीय इतिहास

सारगर्भित प्रतीत नहीं होता।

मध्यपुरापाषाणकालीन संस्कृतियाँ पुरापाषाणकालीन संस्कृति की इस अवस्था को फलक ब्लेड स्क्रैपर संस्कृति के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि अधिकांश उपकरणों का निर्माण फलक-ब्लेड पर हुआ एच.डी. सांकलिया द्वारा 1954 में प्रवरा (महाराष्ट्र) में नेवासा नामक स्थान से प्रथम बार इस संस्कृति के अवशेषों को खोजा गया था। सांकलिया ने यहाँ से प्राप्त फलको द्वारा निर्मित उपकरणों को द्वितीय सीरीज और के.डी. बनर्जी ने नेवासियन कहा है। सांकलिया को नेवासा से नुकीलेगीर्शक, छोलनी जैसे उपकरण मिले थे जो चिप्पड़ पर बने थे तथा इन पाषाण उपकरणों को बनाने में सिलिका युक्त प्रस्तरों जैसे चर्ट, चेल्सीडोनी, अगेट तथा जेस्पर से बनाया गया था। गत वर्षों में की गई अनेक खोजों से अब यह ज्ञात हो गया है कि मध्य पुरापाषाणकालीन संस्कृति महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा गुजरात के अलावा केरल, मेघालय, पंजाब और कश्मीर के भागों में भी आंशिक रूप से छोटे-छोटे स्थलों में विद्यमान थी। अभी तक कृष्णा और गोदावरी नदियों के मुहानों में और संभवतः तमिलनाडु के दक्षिणी भूभाग में इस संस्कृति के अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं।

महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश और मध्य प्रदेश से प्राप्त मध्यकालीन पुरापाषाणकालीन संस्कृति के अवशेषों के आधार पर यह प्रकाश में आया है कि इस काल में निम्न पुरापाषाणकाल की तुलना में जनसंख्या में वृद्धि हो गई थी। अब तक उपलब्ध मध्यपुरापाषाणकालीन संस्कृति के स्थलों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता

(1) गढ़न स्थल

(2) शैल गृह

(3) नदी की घाटियों में स्थित स्थल

इस संस्कृति के गढ़न स्थल निम्न पुरा पाषाणकाल की तुलना में कम प्राप्त हुए हैं। अभी तक हुई खोजों के आधार पर अभी तक इस अवस्था में 9 गढ़न स्थल उत्तर प्रदेश की बेलन घाटी के समीपवर्ती पर्वत ढलानों से ही प्रकाश में आए हैं। इसके अलावा भीम बैठका से भी इस अवस्था के गढ़न स्थल प्रकाश में आए हैं। मध्यपुरापाषाणकाल का दूसरा वर्ग शैलगृह है, इसके प्रमाण भी निम्न पुरा पाषाण की तुलना

में कम ही शैलगृहों के स्थल भौम बैठका व आदमगढ़ से प्रमुख रूप से प्राप्त होते हैं, जो ठीक निम्न पुरापाषाणकाल के ऊपर हैं। इसके अवलोकन से यह आभास होता है कि निम्न पुरापाषाणकालीन एशूलियन परम्परा से ही मध्य पुरापाषाणकाल का विकास हुआ होगा। इस संस्कृति का तीसरा वर्ग नदी घाटियों में स्थित स्थल है। इस वर्ग के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश की बेलन घाटी से उपलब्ध प्रमाण अधिक उल्लेखनीय हैं। बेलन घाटी से तीन वर्ग के मध्य पुरापाषाणकालीन उपकरण प्राप्त हुए हैं। इन तीन वर्गों में सबसे निचले स्तर में प्राप्त उपकरण मुख्यतः क्वार्टजाइट से बनाए गए हैं, जबकि मध्य वर्ग के उपकरण क्वार्टजाइट

व चर्ट से भी निर्मित हैं और तीसरे वर्ग के उपकरण केवल चर्ट से ही निर्मित किए गए हैं। इन उपकरणों की एक विशेषता इनका निम्न पुरापाषाणकालीन उपकरणों से आकार में छोटा होना है। इस सांस्कृतिक अवस्था के मुख्य उपकरण हैं, जिनमें अनेक आकारों वाली धार बनाई गई हैं। जैसे— सीधी, घुमावदार, खाँचेदार व आरीदार। इसके अलावा मध्यपुरापाषाणकालीन मानव द्वारा पोईन्ट और बोर भी बनाए गए थे। इस अवस्था का सर्वाधिक उल्लेखनीय उपकरण चिप्पड़ से बनाया गया चाकू। मध्य पुरापाषाणकाल को उत्तर प्रतिनूतन काल की संस्कृति माना जाता है। इस अवस्था को 17000 से 39000 वर्ष पूर्व की अवधि की संस्कृति माना जाता है। पैठान से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि संभवतः इस संस्कृति का जन्म 40000 वर्ष पूर्व ही हो गया था। इस संस्कृति के संदर्भ में सम्पन्न हुई खोजों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल का मानव प्राकृतिक गुफाओं में निवास करने के अलावा जानवरों के चमड़ों के तम्बुओं का भी निर्माण करने लगा था तथा संभवतः वह जादू-टोने आदि का भी ज्ञान रखता था।

उच्च पुरा पाषाण कालीन संस्कृतियाँ

वर्तमान में अभी तक सम्पन्न हुई खोजों के पश्चात् यह माना जाता है कि यूरोप और पश्चिम एशिया में उच्च पुरापाषाणकाल का प्रारम्भ अंतिम हिम युग के उत्तरार्ध में वर्तमान से अलग 40,000 वर्ष पूर्व हुआ था तथा संस्कृति की इस अवस्था में मानव का बहुत तीव्र गति से तकनीकी विकास हुआ था तथा उसमें कल्पना शक्ति और कलात्मक चेतना की भी अभिवृद्धि हुई। उच्च पुरापाषाणकाल की भारतीय उपमहाद्वीप में खोज का श्रेय प्रो. गोवर्धन राय शर्मा को प्रदान किया जाता है। उन्होंने सर्वप्रथम बेलन घाटी का सर्वेक्षण कर पुरापाषाणकाल की इस अवस्था को प्रकाश में लाने का कार्य किया था। प्रो. शर्मा की खोज से पूर्व पुरातत्त्ववेत्ता यह मत बना चुके थे कि भारतीय उपमहाद्वीप में उच्च पुरापाषाण युग का अस्तित्व ही नहीं था।

प्रो. शर्मा को मिर्जापुर और इलाहाबाद जिले में स्थित बेलन नदी की घाटी में छुरीफल पर बने हुए उपकरण पुरातात्विक खोज के पश्चात् प्राप्त हुए थे। ब्लेड अथवा छुरीफल समानान्तर धारों वाले लम्बे व सेंकरे चिप्पड़ को कहा जाता है। गत दशकों में अनेक पुरातत्त्ववेत्ताओं के प्रयासों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में उच्च पुरापाषाणकाल गुजरात और राजस्थान के रेत के दूहों से लेकर पर्वतीय क्षेत्रों की गुफाओं और मध्य भारत तथा आंध्र प्रदेश के घने जंगलों तक विस्तार पाए हुए था तथा उच्च पुरापाषाणकालीनमानव चिप्पड़ पर निर्मित छुरीफल तथा छुरीफल एवं तक्षणी तथा केवल छुरी जैसे पाषाण उपकरण निर्मित करने लगा था। ब्यूरेन तथा तक्षणी एक छोटी विशेष धार वाला उपकरण होता है, जो कुरेदने के काम में लाया जाता है। इस काल में चिप्पड़ पर बने छुरीफल इस तथ्य को प्रदर्शित करते हैं कि उच्च पुरापाषाणकालीन मानव ने छुरी बनाने की तकनीक विकसित कर ली थी, लेकिन अभी वह पूर्ण रूप से छुरीफल और तक्षणी को कुशलता से निर्मित करना नहीं सीख पाया था

प्राचीन भारतीय इतिहास

एवं अभी भी वह दोलनी, नुकीले शीर्षक ही प्रधानता से प्रयुक्त कर रहा था। ऐसे अनेक स्थल बिहार के घेकूला, प्रतापपुर तथा मरबनिया से प्राप्त हुए हैं। यह सभी स्थान सिंहभूमि क्षेत्र में पाए गए हैं। इस अवस्था के उपकरणों के अनेक प्रमाण मध्य प्रदेश के महेश्वर से भी प्राप्त हुए हैं।

उच्च पुरापाषाणकाल के मानव द्वारा निर्मित छुरीफलों में बृहदाकार तथा लघु दोनों आकार के छुरीफल बनाए गए, इसके अलावा वह तक्षणी, दोलनी, नुकीले शीर्षक तथा सुआ बनाना भी सीख गया था। इस

काल के मानव ने अपने उपकरणों को बनाने में चर्ट, जेस्पर, अगेट तथा चेल्सीडेनी पाषाण खण्डों को ही प्रयुक्त किया था, यद्यपि यदा-कदा उसने क्वार्टजाइट तथा क्वार्ज को भी पाषाण उपकरण निर्मित करने में प्रयोग किया था। पुरातात्विक सर्वेक्षणों एवं उत्खननों के आधार पर पुस्तकवेत्ताओं की यह धारणा निर्मित हुई है कि छुरी बनाने के लिए इस अवस्था के मानव द्वारा बूढ़ा पुष्कर में क्वार्टजाइट और क्वार्टज को प्रयुक्त किया गया था तथा गुजरात के विसांडी से प्राप्त प्रमाणों से यह भी ज्ञात होता है कि उच्च पुरापाषाणकालीन मानव द्वारा क्वार्टज प्रस्तर को छुरी और तक्षणी बनाने में भी प्रयुक्त किया गया था। उच्च पुरापाषाणकालीन खोजों की दृष्टि से आर. बी. फ्रूट तथा एच. बी. फ्रूट का कुरनूल जिले के बिल्ला सुरगम गुफाओं में किया गया कार्य अत्यन्त महत्त्व का है। फ्रूट ने 1885 में इस अवस्था के अनेक अस्थि उपकरण खोजे थे तथा उन्होंने इनकी तुलना फ्रांस के मेग्डालिनियन नामक स्थान से प्राप्त उपकरणों से की थी। अभी कुछ दशक पूर्व मुच्छला चिंतामणी गावी नामक स्थान में किए उत्खनन से भी अस्थि उपकरणों के प्रमाण प्रकाश में आए हैं जिनके साथ प्रस्तर उपकरण भी मिले हैं। इस अस्थि उपकरणों में दोलनी, छिद्रक, छेनी, बेलचा, तीर आदि प्रमुख हैं। उच्च पुरापाषाणकालीन तकनीक को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि समयार्थव पाषाण खण्ड से छुरीफल का निर्माण करना था।

अभी तक संपन्न हुई खोजों से भारत में ऐसा पुरातत्त्व विशेष नहीं प्राप्त हुआ है जिससे तत्कालीन मानव की कलात्मक अभिरुचि परिलक्षित हो सकती है। केवल एक शुतुरमुर्ग के अण्डे का छिलका जिस पर आड़ी-तिरछी रेखाओं जैसी संरचना बनाई गई है, कलात्मक अभिरुचि का ज्ञान कराता है। इसके अलावा बेलन घाटी से अस्थि पर बनी आकृति प्राप्त हुई है जिससे संदिग्ध रूप से मातृदेवी माना गया है। बेलन, पाटने तथा बड़ा पुष्कर से तत्कालीन पर्यावरण की जानकारी अवश्य प्राप्त होती है। पुरापर्यावरणविदों के अनुसार इस काल में संभवतः नदियों के पानी का स्तर एक ही गति से वर्ष पर्यन्त प्रवाहित होता था। इसके अलावा उच्च पुरा पाषाण कालीन जीव-जन्तुओं के जो प्रमाण कुरनूल से मिले हैं उसके अन्तर्गत अनेक स्तनपायी प्रजाति के पशुओं जैसे गैंडा, नीलगाय, चिंकारा, काले नर खरगोश, चार सींग वाला हिरण, सांभर तथा चीतल आदि के अवशेष प्रमुख हैं। इसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस समय पशु जीवन अत्यन्त समृद्ध था तथा घने आच्छादित वन थे तथा हरे-भरे

घास वाले मैदानों की प्रचुरता थी। यह उसी अवस्था में संभव हो सकता था जब नदी नालों में पर्याप्त पानी की मात्रा बनी रहती हो। इस आधार पर इस काल के पर्यावरण को पर्याप्त नमीयुक्त माना जा सकता है। विभिन्न पुरास्थलों से प्राप्त अनेकानेक प्रमाणों के आधार पर पुरातत्त्ववेत्ता इस काल को 18000 से 22000 की अवधि के मध्य निर्धारित करते हैं।

उच्च पुरापाषाणकालीन संस्कृति को समझने की दृष्टि से बागौर प्रथम से प्राप्त प्रमाण चौंकाने वाले हैं। यहाँ से लघु आकृति वाले खण्डित पाषाण के टुकड़ों का एक चबूतरा प्राप्त हुआ है जिसका व्यास 85 सेमी. हैं। इसके समीप से ही एक प्राकृतिक प्रस्तर खण्ड भी प्राप्त हुआ जो 15 सेमी. ऊँचा, 6.5 सेमी. चौड़ा और समान मोटाई का है। इसके समीपवर्ती भूभाग में चर्ट के पुरावशेष प्राप्त हुए हैं जो उच्च पुरापाषाणकालीन आखेटक और संग्राहक के आवास की पुष्टि करते हैं।

उच्च पुरापाषाणकाल पर किए गए शोधकार्यों से यह स्पष्ट होता है कि इस काल का मानव जल के निकट निवास करता था, क्योंकि इस अवस्था के सभी पुरास्थल प्राकृतिक जल स्रोतों के निकट थे तथा वृक्षों की जड़ें और कंद आदि उसका मुख्य भोजन थे। दिलीप चक्रवर्ती के शब्दों में पुरापाषाणकालीन मानव वास्तविकता में भारतीय स्थल प्रकृति के प्रथम खोजकर्ता थे।

भारत की मध्य पाषाणकालीन संस्कृतियाँ

मध्य पाषाणकालीन संस्कृति, पाषाणकाल के अन्तर्गत उस अवस्था की द्योतक है जब मानव ने लघु आकार के प्रस्तर उपकरणों का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया था। भारतीय उपमहाद्वीप में लघु पाषाण उपकरणों वाली इस संस्कृति की खोज सर्वप्रथम ए.सी.एल. कार्लाइल ने 1867-68 में की थी। कार्लाइल के पश्चात् ब्रूस फ्रूट, ए. एल. का मियाड़े ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया। उन्होंने उत्तरी गुजरात का विधिवत सर्वेक्षण किया। मध्यपाषाण काल का प्रारंभ प्रतिनूतन काल के समापन व नूतन काल के प्रारम्भ से जुड़ा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि आज से लगभग दस हजार वर्ष पूर्व, पृथ्वी की उत्पत्ति के चतुर्थ चरण का अंतिम युग, नूतन युग प्रारंभ हुआ। आज हम इसी युग में हैं। इस संदर्भ में यह भी मान्यता है कि तब से आज तक पृथ्वी के स्थल में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुए हैं, जिस कारण से मध्यपाषाणकालीन संस्कृति के अवशेष पर्याप्त संख्या में काफी सुरक्षित रूप से प्राप्त होते हैं। इस कारण भी मध्यपाषाण काल के अनेक स्थल प्रकाश में आए हैं और उनका उत्खनन भी संभव हो सका है। इस काल का महत्त्व इस दृष्टि से अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि इस काल की हमारे पास 24 कार्बन तिथियाँ उपलब्ध हैं, जो छः स्थानों से प्राप्त हुई हैं।

इस काल के लघु पाषाण उपकरण अपनी 1 से 5 सेमी. की विशिष्ट आकृति के कारण सुगमता से पहचाने जा सकते हैं जो समानान्तर पार्श्व वाले फलक हैं। इनको चर्ट, चेल्लीडोनी, क्रिस्टल, जेस्पर व अगेट से बनाया गया है। इस काल पर अभी तक किए गए पुरातात्विक शोध से एक तथ्य स्पष्ट होता है कि भारत में पाषाण संस्कृति की यह अवस्था गंगा के मैदानी भूभाग, आसाम और पश्चिमी



समुद्री तट को छोड़कर संपूर्ण भारत में समान रूप से फैली हुई थी तथा गुजरात के मैदानों, मारवाड़ और मेवाड़ में इस अवस्था के पुरास्थलों का घनत्व अधिक था। मध्यपाषाण काल के सम्बन्ध में यह मान्यता भविष्य में किए जाने वाले शोधकार्यों से परिवर्तित भी हो सकती है। उदाहरण के लिए गत वर्षों में गोदावरी और महानदी के बीच का भूभाग जो मध्यपाषाण की दृष्टि से रिक्त माना जाता था, में इस सांस्कृतिक अवस्था के सौ से अधिक स्थान प्रकाश में आए हैं।

मध्यपाषाणकालीन संस्कृति को अध्ययन की दृष्टि से अधोलिखित भौगोलिक क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है

—

1. गुजरात और मारवाड़ के रेत के थूहे इनमें गुजरात में वह रेत के थूहे, जहाँ से मध्यपाषाणकालीन संस्कृति के स्थल प्राप्त हुए हैं, उथले पानी के सरोवर के निकट हैं जिनसे तत्कालीन मानव को सुगमता से भोजन उपलब्ध हो जाता था। जबकि मारवाड़ में ऐसे रेत के थूहे वर्षपर्यन्त पानी की उपलब्धता वाले सरोवरों के निकट हैं।

2. शैलाश्रय जैसा कि हम जानते हैं कि विंध्य, सतपुड़ा और कैमूर के पर्वत शैल गुहा की दृष्टि

से अत्यन्त समृद्ध है। मध्यपाषाणकालीन मानव ने इस शैल-गुहाओं को अपना आवास बनाया। प्रमाण भीम बैठका, आदमगढ़ से प्राप्त हुए हैं।

3 जिसके जलोढ मैदान नदियों से बहाकर लाई गई मिट्टी रेत से बनी भूमि आदिकाल से मानव के आकर्षण का केन्द्र रही हैं अतः ऐसे स्थलों को भी तत्कालीन मानव ने अपने आवास के उपयुक्त समझा और आवास स्थल बनाए।

4. चट्टानी मैदान राजस्थान के मेवाड़ के चट्टानी मैदान भी मध्यपाषाणकालीन मानव को रुचिकर प्रतीत हुए थे तथा उन्होंने इन स्थानों पर भी अपने आवास स्थल बनाए। तत्कालीन मानव के आवास स्थल मेवाड़ के चट्टानी मैदानों के अलावा दक्खन के पठार में भी प्रकाश में आए हैं।

5. सरोवरों के तट गंगा घाटी में विशेषकर नदियों के मार्ग परिवर्तित करने के कारण निर्मित सरोवरों

के तटों पर भी मध्यपाषाणकालीन स्थल प्रकाश में आए हैं।

6. समुद्रतटीय पर्यावरण तिरुनेवेली से समुद्रतट के निकट भी मध्यपाषाणकालीन स्थल प्रकाश में

आए हैं।

पुरापर्यावरणविदों द्वारा की गई खोजों के आधार पर अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मध्यपाषाणकालीन में पश्चिम भारत की जलवायु अपेक्षाकृत अधिक नमीयुक्त थी तथा यह तत्कालीन मानव के अनुकूल थी। राजस्थान में साँभर और डीडवाना की नमकीन झीलें, वर्तमान से 10000 वर्ष से 3500 वर्ष की अवधि में मीठे पानी की झीलें थीं। इसके अलावा बागोर, तिलवाड़ा

तथा लंघनाज से भेड़, मृगछौना, चीतल और नीलगाय जैसे पशुओं के अवशेषों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्यपाषाण काल में इस भू-भाग में काँटेदार वृक्षों की बहुतायात थी।

मध्यपाषाणकालीन संस्कृति के निवासी अत्यंत लघु समानान्तर पाश्वर्य वाले पाषाण फलक बनाते थे। इनका उत्पादन विस्तृत पैमाने पर किया जाता था। इन समानान्तर पार्श्व वाले फलकों को फिर तराशा जाता था और तराश करके भोथरे आधार वाले फलक, तिरछा काटकर छोटा किनारे वाले फलक, नुकीले शीर्षक, त्रिकोण व अर्धचन्द्राकार पाषाण उपकरण बनाए जाते थे। भारत में अभी तक किसी भी पुरास्थान से हथ्ये के प्रमाण नहीं मिले हैं, लेकिन विश्व के अन्य भागों से अस्थि अथवा लकड़ी के बने हथ्यों के प्राप्त होने के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन लघु पाषाण उपकरणों को गोंद अथवा रेजीन की सहायता से चिपकाकर मध्यपाषाणकालीन मानव बाण, भाले, चाकू व दरौंती जैसे उपकरण निर्मित करना सीख गया था।

मध्यपाषाणकालीन संस्कृति के किसी भी स्थल से अभी तक वनस्पति के प्रमाण प्राप्त नहीं हुए हैं लेकिन तिलवाड़ा, बागोर और भीमबैठका में उथले सिलबट्टों का प्राप्त होना इस ओर संकेत करता है कि तत्कालीन मानव विभिन्न वनस्पतियों को भोजन की भाँति प्रयुक्त करता था। इस काल के मानव के जीविकोपार्जन के सम्बन्ध में जानकारी का स्रोत पशुओं के अवशेष हैं। बागोर से पशुओं के अवशेष सर्वाधिक प्रचुर संख्या में प्राप्त हुए हैं जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये मांस को भूनकर खाते थे। बागोर से प्राप्त अस्थियाँ खण्डित व चोरी हुई प्राप्त हुई हैं, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन मानव को मज्जा के महत्त्व का ज्ञान हो गया था। इसके अलावा इस संस्कृति का मानव पशु भी पालने लगा था।

मध्यपाषाणकालीन मानव ने मृतकों को दफनाना सीख लिया था तथा वे आवास स्थल पर मृतक को दफनाते थे, ऐसे प्रमाण सराय नाहरराय तथा बागोर से प्राप्त हुए हैं। मृतक के साथ रखी गई विभिन्न जीविकोपार्जन की वस्तुओं को रखना इस ओर इंगित करता है कि इनका मृत्यु पश्चात् जीवन में विश्वास था।

मध्यपाषाणकालीन कला

मध्यपाषाणकालीन कला को खोज सर्वप्रथम ए. सी. एल. कार्लाइल ने पूर्वी विंध्य में की। भारत में मध्यपाषाणकालीन कला का खजाना भीम बैठका है जो भोपाल से 45 किमी. दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। भीम बैठका में लगभग दस ऐसे स्थल खोजे गए हैं, जिनमें 642 शैलाश्रय हैं तथा जिनमें से 55 प्रतिशत पर चित्र निर्मित किए गए हैं। भीम बैठका के अलावा इस संस्कृति अवस्था की कला के प्रमाण रेयासेन, पंचमढी, मिर्झापुर व राबर्ट्स गंज से प्राप्त हुए हैं। इस सभी चित्रों की आभा लोहित, जामुनी, भूरी व नारंगी है। यह चित्र मुख्यतः रेखा प्रधान है। इनके मुख्य विषय—वस्तु जंगली पशुओं से सम्बद्ध हैं जिसमें गाय, भैंस, हाथी, चीता, जंगली सूअर, सांभर, चीतल, नीलगाय, चिंकारा, लोमड़ी, सियार,

प्राचीन भारतीय इतिहास

कुत्ता, साही, चूहा आदि प्रमुख हैं। जानवरों को विभिन्न मुद्राओं में जैसे खड़े हुए, चलते हुए तथा चरते हुए चित्रित किया गया है। इसके अलावा मानव आकृतियों का चित्रण सांकेतिक है क्योंकि विभिन्न दृश्यों में उनकी उपस्थिति रेखाओं व बिंदुओं की संयोजना से अंकित की गई है। इन चित्रों में मानव चित्र पशुओं की तुलना में कम सशक्त हैं।

□

मध्यपाषाणकालीन मानव ने चित्रण करते समय सर्वाधिक महत्त्व आखेट के दृश्यों को प्रदान किया है। आखेट के इन दृश्यों में एक ही पशु या पशु-समूहों का शिकार मानव-समूहों द्वारा दर्शाया गया है। आखेट के अलावा तत्कालीन मानव में स्त्री-पुरुषों के समूह द्वारा नृत्य करने, दौड़ने तथा खाद्य सामग्री को एकत्र करने के दृश्यों को भी चित्रित किया है। इन चित्रों के माध्यम से तत्कालीन मानव की दिनचर्या व उसके व्यवहार को समझने में सहायता प्राप्त होती है।

भारत की नवपाषाणकालीन संस्कृतियाँ

गत पाँच दशकों में अनुभव एवं प्रयोग पर आधारित ज्ञान के आधार पर, जो नवपाषाणकालीन पुरावशेषों का विश्लेषण कर किया गया है, यह कहा जा सकता है कि संस्कृति के प्रारंभिक चरण में आखेटक तथा आहार संग्राहक अवस्था से मानव समुदाय क्यों और कैसे आहार उत्पादक बना। इस दृष्टि से ब्रेडवुड और होम द्वारा किया गया कार्य अत्यंत महत्त्व का है। इन्होंने अपने अध्ययन के पश्चात् यह मत प्रतिपादित किया कि आखेटक और आहार संग्राहक से आहार उत्पादक होने की अवस्था मानव समुदायों में सांस्कृतिक भेद

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंप

7

प्राचीन भारतीय इतिहास

एवं विशेषज्ञता की परकाष्ठा पर पहुँचने का परिणाम थी। इस परिकल्पना को आधार बनाकर अभी तक जो अध्ययन किए गए हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि संभवतः अधोलिखित कारणों ने तत्कालीन मानव समुदायों को कृषक अथवा आहार उत्पादक होने की ओर प्रेरित किया होगा।

छव्जै

1.

2.

3.

—

इस अवस्था में जनसंख्या में काफी वृद्धि हुई थी। इस बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण संभवतः एक स्थान पर निवास करने की बाध्यता आवश्यक हो गई थी। नवपाषाणकाल तक आते-आते नूतन काल की सौम्य जलवायु प्रारम्भ हो गई

थी। इसके परिणामस्वरूप वर्तमान वार्षिक ऋतु चक्रों की श्रृंखला प्रारंभ होने के कारण भी जीवन में स्थायित्व आया होगा।

इस काल में विशिष्ट प्रकार की ऐसी तकनीक का विकास हुआ जिससे प्राकृतिक संपदा का दोहन अधिक सुगमता से संपन्न हो सकता था। अतः यह कहा जा सकता है कि नवपाषाणकाल में दो प्रमुख परिवर्तन व्यापक रूप से हुए। इनमें प्रथम परिवर्तन अर्थव्यवस्था की दृष्टि से महत्वपूर्ण था तो द्वितीय परिवर्तन तकनीक पर आधारित उपलब्धि थी। इस काल में विभिन्न मानव समुदायों द्वारा प्राकृतिक रूप से उपलब्ध खाद्यान्न जैसे अनाज की खेती तथा जंगली पशुओं को पालने की प्रथा प्रारम्भ हुई। सामान्यतः यह माना जाता है कि नवपाषाणकाल में छः प्रकार की वानस्पतिक तथा पाशविक जातियाँ थीं जिनका प्रारंभ में चयन किया गया। ये जातियाँ गेंहूँ, जौ, बकरी, सूअर और मवेशी थे। मानव ने इन छः को जंगली अवस्था से अलग कर कृत्रिम परिवेश में जीवित रखा और उनका उत्पादन बढ़ाने का प्रयास किया और इस प्रयोग में वह सफल रहा और इस तरीके से मानव के जीवन में स्थायित्व आवश्यक हो गया और वह आहार उत्पादक बन गया।

नवपाषाणकाल में पशुओं का पालतूकरण कैसे हुआ होगा इसका भी पुराविदों ने अध्ययन कर कुछ निष्कर्ष निकाले हैं जो निम्न हैं—

—

1. मानव और पशु जगत के मध्य अस्थायी संपर्क
2. पालतू बनाने के लिए बंधक बनाना
3. चयनात्मक नस्ल ही केवल उत्पन्न होने देना
4. प्रारंभिक अवस्था का पालतूकरण
5. नस्लों का नियोजित विकास तथा
6. जंगली प्रजातियों का क्रमिक विनाश। इसी प्रकार से संस्कृति की इस अवस्था में वनस्पतियों का

भी क्रमिक चयन किया गया और उन्हें मानव उपयोगी बनाया गया।

मानव के एक स्थान पर ही आवासन ने उसके लिए यह आवश्यक बना दिया कि वह ऐसी तकनीक को भी विकसित करे जो उसके चारों ओर उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का अधिकाधिक उपयोग कर सके। इस दृष्टि से खेती प्रारंभ करने से पूर्व यह आवश्यक हो गया कि नवपाषाणकालीन उन उपकरणों का विकास करे जो विभिन्न प्रकार कीय जैसे दोमट और जलोढ़ मिट्टी पर कार्य कर सकने में सक्षम हो। इन सभी दृष्टियों को आधार बनाते हुए भारत में नवपाषाणकालीन सांस्कृतिक चरण को अधोलिखित क्षेत्रों में विभाजित किया गया है—

(37)

8 क

(ब)

(स)

(द)



मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

(य)

28

(र)

पाकिस्तान – यहाँ पाकिस्तान को इन्डो-पाक उपमहाद्वीप के रूप में लिया गया है जिसके अन्तर्गत ब्लूचिस्तान, स्वात और ऊपरी सिंध घाटी का समीपवर्ती क्षेत्र सम्मिलित किया जाता है। उत्तरी पश्चिमी भूभाग के अन्तर्गत कश्मीर भी सम्मिलित है।

पूर्वी भाग इसके अन्तर्गत आसाम, चटगांव तथा दार्जिलिंग सहित उप हिमालयी क्षेत्र आते हैं। छोटा नागपुर का पठार तथा उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल के मैदान।

मध्यपूर्व के अन्तर्गत बिहार का सरन जिला।

प्रायद्वीपीय भारत।

उपर्युक्त भौगोलिक क्षेत्रों के अलावा इलाहाबाद जिले का कोल्डीहवा, जो बेलन नदी के किनारे पर स्थित है, नवपाषाणकालीन सांस्कृतिक विशिष्टताओं का एक अन्य महत्वपूर्ण भूभाग है। गत वर्षों में गुजरात के लंघनाज से प्राप्त प्रमाण इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि भविष्य में गुजरात और राजस्थान में भी नवीन शोध होने पर नवपाषाणकालीन संस्कृतियों के स्थल खोजे जा सकते हैं।

नवपाषाण काल में आहार संग्राहक से आहार उत्पादक अवस्था में विकास कैसे संपन्न हुआ इसका सबसे अच्छा प्रमाण बुर्जहोम (कश्मीर) से प्राप्त हुआ है। बुर्जहोम कश्मीर में नवपाषाण काल की दो अवस्थाओं का निर्धारण पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा किया गया है। यहाँ से प्राप्त अवशेषों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रथम अवस्था के निवासी आहार संग्रहण और मछली पकड़ने के साधनों पर निर्भर थे। उसी प्रकार इस अवस्था के अन्तर्गत प्राप्त पाषाणनिर्मित कुल्हाड़ी, बसूला, फली (अंग्रेजी के आकार धातु का टुकड़ा जो लकड़ी फाड़ने के कार्य में आता है) तथा बरमा आदि का प्राप्त होना उनकी जीवन-पद्धति को समझने में सहायक होते हैं। बुर्जहोम की प्रथम अवस्था के नवपाषाणकालीन मानव समुदाय पृथ्वी के अंदर गर्त निर्मित कर निवास करते थे। यह पूर्णरूप से हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड प्रयोग में लाते थे, इनके मृद्भाण्डों की भीतरी ओर चटाई के चिन्ह प्राप्त हुए हैं। इस अवस्था से प्राप्त अन्य अवशेषों से यह भी ज्ञात होता है कि यह अधिकतर हिरण का शिकार करते थे।

बुर्जहोम की नवपाषाणकाल की द्वितीय अवस्था से छिट्रित पाषाण छल्ले (जो संभवतः गदाशीर्ष के रूप में प्रयोग किए जाते थे) चौड़ी धार वाले घर्षित पाषाण उपकरण का प्राप्त होना यह संभावना व्यक्त करते हैं कि इस अवस्था के निवासी वनस्पतियों की प्रारंभिक खेती में किसी न किसी प्रकार से संलग्न थे। इस अवस्था में दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आया कि अब नवपाषाणकालीन मानव पृथ्वी के ऊपर आवास निर्मित करने लगा था। इस अवस्था में चाक का भी ज्ञान तत्कालीन मानव को हो गया था और वह अब चाक के मृद्भाण्ड निर्मित करने

लगा था, इसके अलावा धातु का ज्ञान भी उसको हो गया था, यद्यपि शिकार और मछली पकड़ने का कार्य भी उसके जीवनयापन का अंग बने हुए थे।

1.

संक्षेप में नवपाषाणकाल की प्रमुख विशिष्टताओं को अधोलिखित बिंदुओं द्वारा चिन्हित किया जा सकता है—

नवपाषाणकाल में पॉलिश की गई कुल्हाड़ियों का निर्मित होना इस काल की एक प्रमुख विशिष्टता इस पॉलिश अथवा बिसने की प्रक्रिया में अनेक बार उपकरणों की सतह चिकनी होने के साथ चमकदार भी हो जाती थी। ये कुल्हाड़ियाँ चौड़ी धार वाली लगभग तिकोनी होती थी तथा इनके दोनों किनारे मोटे, धार तीक्ष्ण व मूठ भारी होती थी।

छ

3.

भारत में गुफकराल (कश्मीर) के अलावा नवपाषाण काल में मृद्भाण्डों का अस्तित्व लगभग सभी नवप्रस्तरकालीन स्थलों से प्राप्त होता है। यह केवल मृद्भाण्ड निर्मित करना सीखे ही नहीं थे अपितु पात्रों की उपयोगिता के साथ ही यह उनको अलंकृत भी करने लगे थे। इन मृद्भाण्डों का प्रयोग मुख्यतः खाना पकाने व खाने हेतु किया जाता था क्योंकि उत्खनन के दौरान प्राप्त मृद्भाण्डों में मुख्यतः कटोरा, तवा तथा होडिया प्रमुख रूप से मिली हैं। नवपाषाणकाल में डोरे की छाप वाले मृद्भाण्डों का प्राप्त होनाय इस काल की एक विशिष्टता है। ऐसे पात्र उत्तरप्रदेश, बिहार व आसाम में मुख्य रूप से प्राप्त हुए हैं। इसी तरह से खुरदरी सतह वाले मृद्भाण्ड भी नवपाषाणकाल की एक विशिष्ट पहचान है, इस वर्ग के अन्तर्गत सादे कटोरे, टोंटीदार कटोरे, मर्तबान प्रमुख रूप से मिलते हैं। इस प्रकार कि मृद्भाण्ड उत्तर प्रदेश के गांगेय व दक्षिण के पठारी भाग में प्रमुखता से मिलते हैं। नवपाषाणकाल में मार्जिन लोहित मृद्भाण्ड भी प्राप्त हुए हैं। इसके अन्तर्गत टोंटीदार और सादे कटोर, तथा हांडी प्राप्त होते हैं। ये मृद्भाण्ड कश्मीर घाटी, उत्तर प्रदेश व बिहार के मैदानी भाग तथा दक्षिण भारत में प्रमुखता से प्राप्त हुए हैं।

अस्थि उपकरण भी नवपाषाणकालीन की एक महत्वपूर्ण पहचान हैं जो कश्मीर की घाटी में तथा बिहार के मैदानी भाग में अधिक प्राप्त होते हैं। अस्थि उपकरणों में छैनी, नुकीले अस्त्र, सुइयाँ तथा मत्स्य भाले प्रमुखता से प्राप्त हुए हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

29

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

4. नवपाषाण का मानव पशुओं को पालतू बनाना भी सीख गया था, इसके

प्राचीन भारतीय इतिहास

प्रमाण मास्की, उत्तनूर, टी. नरसीपुर, संगनकल्लू हल्लूर, कोडेकल, तथा आदमगढ़ से प्राप्त हुए हैं। इन स्थलों से प्राप्त अवशेष के आधार पर कहा जा सकता है कि इन काल के मानव ने गाय, बैल, भेड़, बकरी को सामान्य रूप से पालना सीख लिया था। नवपाषाणकालीन स्थलों से प्राप्त अस्थि अवशेषों में 80 से 85 प्रतिशत अस्थियाँ गाय बैल की हैं जो इस ओर संकेत करती हैं कि पशु संसाधन का प्रबंधन उनकी अर्थव्यवस्था का प्रधान तत्व था। इस काल से चीरी हुई और जली हुई अस्थियों के अवशेषों का प्राप्त होना काफी महत्वपूर्ण है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मांस इनके भोजन का मुख्य अंश था।

5.

6.

7.

नवप्रस्तर मानव ने संभवतः चावल, रागी व काले धान की खेती से परिचय कर लिया था और वह श्सागौन तथा खजूर

से भी परिचित था। चिरांड से यह भी ज्ञात होता है कि नवपाषाण कालीन मानव को गेहूँ, जौ, चावल व मसूर की दाल का भी ज्ञान हो गया।

भारत में अभी तक नवपाषाणकाल पर जो भी शोध कार्य हुआ है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में नवपाषाणकालीन संस्कृति का कोई एक नाभिकीय क्षेत्र नहीं था जहाँ से इस संस्कृति का अन्य क्षेत्रों में विस्तार हुआ। भारत में नवपाषाणकाल की जो तिथियाँ प्राप्त हुई हैं वे 2550–1400 ई. पू. तथा 1200 ई. के मध्य निर्धारित की गई हैं, जबकि पाकिस्तान में यह तिथियाँ 3775–2250 ई.पू. तथा 1200 ई. के मध्य निर्धारित की गई हैं।

कश्मीर की बुर्जहोम घाटी से नवपाषाण कालीन शव क्रिया के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त होता है, जहाँ से मानवों और पशुओं दोनों के शवागार प्राप्त होते हैं। मानव शवागार आवास स्थल की फर्श को खोदकर ही बनाए गए हैं जो ऊपर से सँकरे और आधार में चौड़े हैं। इन शवों के साथ राख, प्रस्तर के टुकड़े तथा मृद्भाण्ड रखे गए हैं। शव को उत्तर पूर्व से दक्षिण-पूर्व दिशा में रखा गया है तथा शिशुओं के शव का पूर्व-पश्चिम में रखा गया है।

भारत की ताम्रपाषाणिक संस्कृतियाँ

जब किसी संस्कृति में ताँबे के उपकरणों के साथ ही पाषाण के बने हुए उपकरण भी मिलते हैं तो उस संस्कृति को ताम्रपाषाणकालीन संस्कृति कहते हैं। भारत में विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में ताम्रपाषाणकालीन संस्कृति का उद्भव एवं विकास हुआ। अधिकांशतः ये सभी संस्कृतियाँ ग्राम्य संस्कृतियाँ थीं। अभी तक यह माना जाता था कि इन ताम्रपाषाणकालीन संस्कृतियों का उदय द्वितीय शताब्दी ई. पू. में हुआ था लेकिन गत एक दशक में सम्पन्न हुई खोजों से अब यह सिद्ध हो गया है कि इनमें से कुछ ताम्रपाषाणकालीन संस्कृतियों का विकास तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. में या इससे भी पहले हो गया था, ऐसी एक प्रमुख संस्कृति राजस्थान के दक्षिण पूर्वी भू-भाग में विस्तार पाए हुए थी जिसे आहाड़ संस्कृति के नाम से जाना जाता अनेक पुरातत्वेचाओं ने उत्खननों से प्राप्त उपलब्ध

पुरावशेषों के आधार पर भारत की प्रमुख ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों का अनुक्रम निम्नलिखित प्रकार से निर्धारित किया गया है—

1. कायथा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति

३

2. आहाड़ की ताम्रपाषाणिक संस्कृति

छर्वी-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

30

3. मालवा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति

4. जोबे की ताम्रपाषाणिक संस्कृति

कायथा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति नर्मदा और उसकी सहायक ताप्ती एवं माही और यमुना की सहायक चम्बल तथा बेतवा द्वारा संचित मालवा के पठार में फैली हुई थी। इस संस्कृति की खोज का श्रेय प्रो. वी.एस. वाकणकर को जाता है। इस संस्कृति का पहला पुरास्थल कायथा था जिसमें 1964 में उत्खनन कराया गया था। इस संस्कृति के निवासी भूरे रंग के मजबूत तथा पतली गर्दन वाले मृद्भाण्डों के अलावा पाण्डुरंग के एवं सादे लाल मृद्भाण्ड प्रयुक्त करते थे। आहाड़ संस्कृति दक्षिणी पूर्वी राजस्थान में प्रसार

पाए हुए थी तथा इस संस्कृति की खोज 1953-54 में श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल ने की थी। उसके बाद सन् 1959 में डॉ. बी. बी. लाल और डॉ. बी. के. थापर ने मिलुण्ड में, 1962-63 में डॉ. सांकलिया ने पुनः आहाड़ में, सन् 1993-94 से सन् 2000 तक बालाथल में डॉ. वी.एस. मिश्र, डॉ. वी.एस. शिन्दे, डॉ. आर. के. मोहन्दी, डॉ. ललित पाण्डेय और डॉ. जीवन खरकवाल ने उत्खनन कराया। सन् 1999-2000 में एक बार पुनरु डॉ. जी. एल. पोसेल, डॉ. वी. एस. शिन्दे तथा डॉ. ललित पाण्डे ने गिलुण्ड में उत्खनन कराया। इसके अलावा ओझियाना में डॉ. बी. आर. मीणा ने उत्खनन कराया। इन सभी उत्खननों से यह ज्ञात होता है कि इस संस्कृति में काले एवं लाल मृद्भाण्डों का प्रयोग करते थे तथा इस संस्कृति का उद्भव तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. में हो गया था।

ताम्रपाषाणिक संस्कृति का तीसरा महत्वपूर्ण भौगोलिक क्षेत्र मालवा था। पुरातत्ववेत्ता इस संस्कृति को नवदाटोली ताम्रपाषाणिक संस्कृति के नाम से भी पुकारते हैं। इस संस्कृति की खोज सन् 1952-54 में हुई थी तथा यहाँ पर डेकन कॉलेज, पूना तथा एम. एस. यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा, वडोदरा द्वारा उत्खनन कराया गया था। इस संस्कृति के निवासी चार प्रकार के मृद्भाण्ड प्रयुक्त करते थे। यह मृद्भाण्ड हल्के लाल से गुलाबी रंग के अलावा श्वेत रंग वाले, दूधिया रंग वाले तथा गहरे लाल रंग के होते थे। ताम्रपाषाणिक संस्कृति का एक अन्य केन्द्र जोर्वे भी था। जोर्वे संस्कृति आधुनिक महाराष्ट्र में फैली हुई थी। इसकी सबसे पहले जानकारी अहमद नगर में स्थित जोर्वे नामक पुरास्थल से हुई थी। इस संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थल ईनमा गाँव है जहाँ डॉ. एम. के. ढवलीकर ने निरंतर दस वर्षों तक उत्खनन कराया था। जोर्वे संस्कृति की मुख्य मृद्भाण्ड परम्परा, जिससे इस संस्कृति को पहचाना जाता है, लाल रंग के



प्राचीन भारतीय इतिहास

प्रलेशख वाले मृद्भाण्ड हैं। इन मुर्दभाण्डों को रगड़ कर चमकाया जाता था। प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

सारांश (नउउंतल)

ऊपर वर्णित स्थलों के अलावा ताम्रपाषाणिक संस्कृति के प्रमाण आंध्र प्रदेश के अनेक स्थलों से भी प्राप्त हुए हैं जिनमें सिंगनपल्ली और रामपुरम प्रमुख हैं। यहाँ से चाक पर निर्मित काले लाल मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार से पूर्वी भारत में उड़ीसा, उत्तर पूर्व के राज्यों तथा पश्चिमी बंगाल एवं बिहार से भी ताम्र संस्कृतियों के प्रमाण प्राप्त होते हैं। ताम्र संस्कृतियों की दृष्टि से उत्तर प्रदेश का भी महत्वपूर्ण स्थान है उत्तर प्रदेश को ताम्र संस्कृति की दृष्टि से पूर्वी उत्तर प्रदेश, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा ऊपरी गंगा घाटी में विभाजित किया जा सकता

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि भारत का नवपाषाणिक एवं ताम्रपाषाणिक काल भारतीय इतिहास का वह महत्वपूर्ण कालखण्ड था जिस पर आधुनिक भारत के ग्रामों की नींव स्थापित हुई आज भी भारत में क्षेत्रीय ग्रामीण संस्कृति की विशिष्टताएँ देखी जा सकती हैं जो इस काल में विकसित हुई थीं।

स्व प्रगति परीक्षण के उत्तर

1. विनय पिटक निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त हैं—

(i) सुत्त विभाग।

(ii) खन्धक

(iii) परिवार अथवा परिवार पाठ

2. अभिलेख

अभिलेखों का प्रचलन सम्राट अशोक के काल से अथवा उससे पूर्व काल में भी हो चुका था, विवाद का विषय बन सकता है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारत के इतिहास को प्रकाशित करने में अशोक कालीन तथा अशोक के पश्चात् के अभिलेख ही विशेष उल्लेखनीय हैं। अशोक ने अपनी राजाज्ञा और घोषणाओं को स्तम्भों तथा शिलाओं पर उत्कीर्ण कराया। इससे अशोक के धर्म और राजा के आदर्श पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इससे हमें उसके राज्य की सीमाओं का ज्ञान भी होता है। अशोक

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

31

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

3.

श्र

के अभिलेख ब्राह्मी व खरोष्ठी लिपि में हैं। अशोक के पश्चात् के अभिलेखों में जिनमें कुछ प्रशस्तियों के नाम से भी विख्यात हैं में हरिषेण अथवा प्रयाग प्रशस्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गुप्तवंश के प्रतापी सम्राट समुद्रगुप्त की

दिग्विजयों तथा उसके वैयक्तिक गुणों पर पूर्ण प्रकाश डालने वाली सामग्री इस प्रशस्ति के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। इसी प्रकार महारौली (दिल्ली) के लौह स्तम्भ पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कीर्ति का उल्लेख है और इसी से ज्ञात होता है कि उसने सिन्धु नदी को पारकर बाहलीक देश को विजय किया। हमें अनुदानों की स्वीकृति सम्बन्धी अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो समाज के वर्गीकरण के अध्ययन में बहुत सहायक हैं। मुहरों तथा मुद्राभिलेखों की संख्या को तो हम निश्चित रूप से एक बहुत भारी, अतः असंख्य कह सकते हैं। इसी श्रृंगला में उड़ीसा में कटक के निकट एक गुफा की दीवारों पर खड्गदाय जिसे हाथीगुम्फा अभिलेख कहते हैं, कलिंग के यशस्वी राजा खारवेल के जीवन और उसकी सफलताओं पर एक नया प्रकाश डालता है। ग्वालियर की प्रशस्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें प्रतिहार शासक राजा भोज की अर्जित सफलताओं का उल्लेख है। इसी प्रकार ऐहोल अभिलेख से हमें दक्षिण के चालुक्य सम्राट पुलकेशिन द्वितीय द्वारा कन्नौज के सम्राट हर्ष पर विजय का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार असंख्य दानपत्र, समर्पण-पत्र तथा स्मारक पत्र के रूप में अभिलेखों का निर्माण हुआ। राजस्थान एवं मध्य भारत में प्रस्तर पत्थरों पर उच्चकोटि के नाटकों के अंश उत्कीर्ण हैं। पुदुकोट्टा या दुदुकोत्तई (तमिलनाडु) में संगीत के नियमों का उल्लेख किया गया

भारत की ताम्रपाषाणिक संस्कृतियाँ

जब किसी संस्कृति में ताँबे के उपकरणों के साथ ही पाषाण के बने हुए उपकरण भी मिलते हैं तो उस संस्कृति को ताम्रपाषाणकालीन संस्कृति कहते हैं। भारत में विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में ताम्रपाषाणकालीन संस्कृति का उद्भव एवं विकास हुआ। अधिकांशतः ये सभी संस्कृतियाँ ग्राम्य संस्कृतियाँ थीं। अभी तक यह माना जाता था कि इन ताम्रपाषाणकालीन संस्कृतियों का उदय द्वितीय शताब्दी ई. पू. में हुआ था लेकिन गत एक दशक में सम्पन्न हुई खोजों से अब यह सिद्ध हो गया है कि इनमें से कुछ ताम्रपाषाणकालीन संस्कृतियों का विकास तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. में या इससे भी पहले हो गया था, ऐसी एक प्रमुख संस्कृति राजस्थान के दक्षिण पूर्वी भू-भाग में विस्तार पाए हुए थी जिसे आहाड़ संस्कृति के नाम से जाना जाता

स्वपरीक्षण करें (ज्मेज ल्वनतेमर्सा)

1. भारत की विभिन्न पाषाण संस्कृतियों के निवासियों की जीवन शैली पर निबंध लिखिए (500

शब्द)

2. विभिन्न पाषाण संस्कृतियों के संदर्भ में आखेटक और आहार संग्राहक के मध्य अन्तर स्थापित

कीजिए। (150 शब्द)

3. नवपाषाणकाल के प्राचीन भारतीय संस्कृति के निर्माण में योगदान पर निबंध लिखिए (500

शब्द)

प्राचीन भारतीय इतिहास

ताम्रपाषाण संस्कृति से आप क्या समझते हैं? भारत की ताम्रपाषाण संस्कृतियों की विशेषताओं को समझाइये। (150 शब्द)

इकाई – 2

हड़प्पा सभ्यता

परिचय, सभ्यता का विस्तार क्षेत्र, सभ्यता का काल, सभ्यता के निर्माता नगर एवं भवननिर्माण, धार्मिक विश्वास, परम पुरुष की उपासना, परम नारी की पूजा, प्रजननशक्ति की पूजा

□ प्रतीक मुद्रा, धार्मिक प्रथाएँ, आर्थिक जीवन, कृषि, पशुपालन, घरेलू उद्योग—धान्धे, व्यापार वाणिज्य, तोल और माप के साधन,

सामाजिक जीवन, समाज का स्वरूप, परिवार, नारी का स्थान, रहन—सहन, खान—पान, आमोद—प्रमोद, मृतक संस्कार, शिक्षा, लिपि, कला राजनीतिक संगठन, समकालीन सभ्यताओं से सम्बन्ध, सिन्धु सभ्यता का विनाश, सिन्धु सभ्यता और वैदिक सभ्यता, आधुनिक हिन्दू धर्म की देन,

अध्ययन उद्देश्य रू

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

हड़प्पा सभ्यता तथा सभ्यता का विस्तार क्षेत्र

राजनीतिक संगठन, सिन्धु सभ्यता और वैदिक सभ्यता ।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

33

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

परिचय (पदजमतवकनबजपवद)

—

भारत की प्राचीन सभ्यता विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में प्रमुख थी। यही कारण है कि भारत हमेशा सभ्यता और संस्कृति में विश्व — शिरोमणि रहा है। यद्यपि भारतवर्ष का इतिहास तो मानव सभ्यता के प्राचीन पाषाण युग के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु देश की सुविकसित सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास सिन्धु घाटी की सभ्यता से ही प्रारम्भ होता है। चूँकि इस सभ्यता के अधिकांश भग्नावशेष सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियों की घाटियों में उपलब्ध हुए हैं, इसलिए इसे शसिन्धु घाटी की सभ्यता के नाम से पुकारा जाता है। इसे हड़प्पा संस्कृति के नाम से भी पुकारा जाता है, क्योंकि हड़प्पा नगर और उसके आस—पास का क्षेत्र इस सभ्यता का केन्द्र स्थान रहा था । अतीत के खण्डहरों

में दबी पड़ी इस सभ्यता के उत्खनन का कार्य सर्वप्रथम 1920 ई. में हड़प्पा में ही शुरू किया गया था। हड़प्पा, पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) के भॉण्टगोमरी जिले में लाहौर से लगभग 100 मील दूर दक्षिण पश्चिम में रावी नदी के तट पर है। सर्वप्रथम यहाँ उत्खनन का कार्य रायबहादुर श्री दयाराम साहनी तथा श्री माधोस्वरूप वत्स ने करवाया। इसके बाद 1922 ई. में श्री राखालदास बनर्जी के नेतृत्व में सिन्धु प्रान्त (पाकिस्तान) के लरकाना जिले में खुदाई का कार्य किया गया, जिसके फलस्वरूप मोहनजोदड़ो के भव्य नगर के अवशेष प्राप्त हुए। यद्यपि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के बीच लगभग 350 मील की दूरी है, किन्तु दोनों स्थानों की खुदाई में प्राप्त अवशेषों में अद्भुत साम्यता थी। मोहनजोदड़ो का शाब्दिक अर्थ मृतकों का टीला है। दोनों स्थानों से प्राप्त अवशेषों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद सर जॉन मार्शल ने यह सिद्ध कर दिया कि ये अवशेष किसी अति प्राचीन पूर्व ऐतिहासिक सभ्यता के प्रतीक हैं। भारतीय पुरातत्व विभाग ने योजना बनाकर इस क्षेत्र में अत्यन्त कुशलतापूर्वक उत्खनन का कार्य किया। सिन्धु सभ्यता को आवरणहीन करने में अर्नेस्ट मैके, एन. जी. मजूमदार, सर ऑरल स्टीन, एच. हारग्रीब्ज, पिंगट, व्हीलर, रंगनाथराव, सांकलियाँ, बी. बी. लाल, वी. के. थापर आदि पुरातत्ववेत्ताओं ने उल्लेखनीय कार्य किया। इन लोगों की खोजों के फलस्वरूप ज्ञात हुआ कि यह सभ्यता केवल सिन्धु घाटी तक ही सीमित नहीं रही बल्कि बलूचिस्तान, पंजाब, हरियाणा, सौराष्ट्र, राजस्थान, गुजरात एवं उत्तर प्रदेश से भी इस सभ्यता से साम्य रखने वाले अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं। भारत की स्वतन्त्रता के बाद व्यापक स्तर पर उत्खनन कार्य किया गया, जिसके परिणामस्वरूप उपर्युक्त क्षेत्रों के बहुत से स्थानों पर हड़प्पा सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। वर्तमान में भी कुछ स्थानों पर उत्खनन एवं खोज – कार्य चल रहा है, जिससे आगे चलकर हमें नये तथ्यों का पता लग सकेगा।

भारतवर्ष

प्राचीन सभ्य के

श्र

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

34

रु

□

६

।।।।

,

ची

तिब्बत

न

म

प्राचीन भारतीय इतिहास

हिन्द म हा सा गर

सिन्धु सभ्यता और वैदिक सभ्यता का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? यह भारतीय इतिहास की बहुत बड़ी उलझन है। आधुनिक शोध इस बात की ओर संकेत करते हैं कि ये दोनों सभ्यतायें मौलिक दृष्टि से भिन्न न होकर परस्पर गहन रूप से सम्बद्ध थी। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डॉ. वि. श्री वाकणकर ने लुप्त सरस्वती नदी शोध अभियान के पश्चात् अपने समग्र अध्ययन के आधार पर यह विचार प्रस्तुत किया कि उक्त दोनों सभ्यतायें एक आधारभूत संस्कृति के ही दो प्रतिरूप हैं। पुराविद् डॉ. एस. पी. गुप्ता ने अधुनातन उत्खननों से प्राप्त सामग्री के आधार पर तथा शोधप्रेमी भगवानसिंह ने वैदिक ऋचाओं के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर डॉ. वाकणकर के उपर्युक्त मत का समर्थन किया है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सिन्धु सभ्यता एवं वैदिक सभ्यता दो भिन्न संस्कृति वर्ग नहीं हैं, न दोनों क्रमशः एक-दूसरे के बाद हुईं, बल्कि दोनों प्रकारान्तर से एक ही सांस्कृतिक युग की द्योतक हैं। पूर्ववर्ती विद्वानों ने दोनों सभ्यताओं में जो मौलिक अन्तर बतलाए थे, वे नवीनतम अन्वेषण एवं अनुसन्धानों के प्रकाश में निराधार सिद्ध होते जा रहे हैं। फिर भी इस समय कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि दोनों सभ्यताएँ एक ही युग की द्योतक हैं। हम डॉ. वाकणकर के इस विचार से सहमत हो सकते हैं कि दोनों सभ्यताएँ एक आधारभूत संस्कृति के ही दो प्रतिरूप हैं। फिलहाल, इस दिशा में अन्वेषण और शोध जारी है, जो बाद में हमें किसी निश्चित मत की ओर ले जाएगा।

सभ्यता का विस्तार क्षेत्र अब तक पुरातात्विक खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि इस सभ्यता का विस्तार अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सिन्ध, पंजाब, राजस्थान, गुजरात एवं उत्तरी भारत में गंगा घाटी तक व्याप्त था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा, इस सभ्यता के दो प्रमुख केन्द्र रहे होंगे। श्री पिगट के मतानुसार खे दोनों नगर एक बड़े साम्राज्य की दो राजधानियाँ रहीं होंगी। अफगानिस्तान में क्वेटा, कीली, गुलमुहम्मद, मुण्डिक नदी के किनारे-किनारे तथा डम्बसदात में भी सिन्धु सभ्यता के प्राचीनतम अवशेष प्राप्त हुए हैं। बलूचिस्तान के उत्तर-पूर्व में लोरलाय घाटी तथा जोब नदी की घाटी में भी इस सभ्यता के बहुत से अवशेष मिले हैं। विद्वानों की मान्यता है कि दक्षिणी बलूचिस्तान की कुल्ली सभ्यता सम्भवतः सिन्धु सभ्यता का ही प्रारम्भिक रूप रही होगी। सिन्धु में शअभरीश नामक स्थान तथा इसके उत्तर-पूर्व में स्थित शकोटदीजीश नामक स्थान पर जो अवशेष मिले हैं उनमें भी इस सभ्यता का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता इसी प्रकार, राजस्थान प्रान्त के बीकानेर क्षेत्र में कालीबंगा नामक स्थान पर जो अवशेष मिले हैं, उनमें कुछ तो सिन्धु सभ्यता से भी पहले के प्रतीत होते हैं और शेष अवशेष सिन्धु सभ्यता से साम्य रखते हैं। पंजाब में रोपड़ तथा गुजरात में लोथल और रंगपुर नामक स्थानों से प्राप्त अवशेष भी सिन्धु सभ्यता के समकालीन प्रमाणित होते हैं। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अविभाजित भारत में यह सभ्यता पश्चिम में अरब सागर

के तट के समीप सुक्कगेण्डोर से जेकर पूर्व में आलमगीर (मेरठ जिला) एवं विलुप्त सरस्वती नदी के किनारे तथा उत्तर में शिमला की पहाड़ियों की तलहटी से लेकर दक्षिण में नर्बदा और ताप्ती नदियों के मध्य स्थित भगवार तक के क्षेत्र में फैली हुई थी। श्री रंगनाथ राव ने इस सभ्यता के क्षेत्र का विस्तार पूर्व से पश्चिम तक लगभग 1600 किलोमीटर और उत्तर से दक्षिण तक 1100 किलोमीटर नापा है। इस विस्तृत भू-भाग में कुछ विशाल नगर, कुछ कस्बे तथा कुछ ग्राम थे। लोथल समुद्री व्यापार का केन्द्र रहा होगा, जबकि मकरान के समुद्र तटवर्ती सुत्कगेण्डोर, सोत्काकोह और बालाकोट ने पश्चिमी एशिया के साथ होने वाले व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी।

से

अफगानिस्तान

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

ईरान

सिन्धु घाटी सभ्य

का

विस्तार

,

गोतंज

श्र

वासिंधु घाटी

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

35

प्राचीन भारतीय इतिहास,

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

36

सभ्यता का काल

सिन्धु सभ्यता के काल के प्रश्न पर विद्वानों में भारी मतभेद है। बुलीहॉल, गार्डन चाइल्ड, बेक आदि विद्वान विश्व की नदी घाटी सभ्यताओं में सिन्धु सभ्यता को सबसे प्राचीन एवं प्रारम्भिक मानते हैं। जॉन मार्शल और डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि सिन्धु सभ्यता का प्रारम्भ 3250 ई. पू. से भी बहुत पहले हुआ होगा। के. एन. शास्त्री और डॉ. राजबली पाण्डेय इसे ईसा पूर्व चार हजार वर्ष पुरानी सभ्यता मानते हैं। डॉ. पाण्डेय का मत है कि श्यहाँ की खुदाई में जल के घयतल तक प्राचीन नगरों के खण्डहरों के एक के ऊपर दूसरे सात स्तर मिले हैं। मोटे तौर पर यदि नगर के बसने, पनपने और उजड़ने के लिए 500 वर्ष का समय दिया जाए तो सात नगरों के बसने, विकसित होने और गिरने में लगभग 3500 वर्ष लगे होंगे। सबसे नीचे का स्तर भी सभ्य नगर का अवशेष है, जिसके

प्राचीन भारतीय इतिहास

पूर्व सभ्यता विकसित हो चुकी थी और यदि भूगर्भ का पानी बीच में बाधा न डालता तो सातवें स्तर के नीचे भी खण्डहरों के स्तर मिल सकते हैं। इस प्रकार, सिन्धु सभ्यता कम-से-कम ईसा पूर्व चार हजार वर्ष की है। श्रद्धाचिन्ता एवं मकरान में मिली पुरातात्विक वस्तुओं के आधार पर भी यह माना जाता है कि सिन्धु सभ्यता का प्रारम्भ ई. पू. चार हजार वर्ष पूर्व क्वेटा, अमरी, नाल, कुली, झोव आदि स्थानों पर ग्राम्य बस्तियों के रूप में हो गया था। डॉ. राधाकृष्णन् की मान्यता है कि सिन्धु सभ्यता 3500 ई. पू. से 2250 ई. पू. के मध्य अपनी चरम सीमा पर थी। परन्तु सर मोस्टीमर व्हीलर इस सभ्यता को 2500-1500 ई. पू. के मध्य की मानते हैं। डॉ. फ्रैंकफर्ट ने इसका काल 2800 ई. पू. का माना है, तो डॉ. फबरी ने इसका समय 2800-2500 ई. पू. माना है नवीनतम खोजों के आधार पर डा. मैके ने भी डा. फबरी के मत की पुष्टि की है। पुरानी वस्तुओं के काल को जानने की विज्ञान सम्मत शर्करा — 14 परीक्षण प्रणाली अनुसार सिन्धु सभ्यता का विकास काल 2400 ई. पू. से 1750 ई. पू. माना जाता है। वस्तुतः सिन्धु सभ्यता का काल एक विवादास्पद प्रश्न है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि 3000 ई. पू. में भारत-भूमि पर स्वतन्त्र एवं समृद्ध सभ्यता विकसित हो चुकी थी और यह सभ्यता मिश्र तथा सुमेर सभ्यताओं से किसी प्रकार भी कम उन्नत न थी। डॉ. फ्रैंकफर्ट ने सत्य ही लिखा है कि, श्रद्धा बिना किसी सन्देह के निर्धारित हो चुका है कि भारत ने एक ऐसी संस्कृति के निर्माण में अपनी भूमिका अदा की जिसने यूनानियों के पहले इस विश्व को सभ्य बनाया। श्रद्धा

के

—

से

सभ्यता के निर्माता सिन्धु सभ्यता के निर्माता कौन थे? यह प्रश्न आज भी विवादास्पद बना हुआ है। इस सम्बन्ध में विद्वानों की तीन मान्यताएँ प्रचलित हैं। एक मान्यता के अनुसार वे लोग मिश्रित जाति के थे। दूसरी के अनुसार वे लोग द्रविड़ थे और तीसरी के अनुसार वे लोग आर्य थे। पहली मान्यता के समर्थक कर्नरल स्युअल और डॉ. गुहा का कहना है कि सिन्धु सभ्यता का निर्माण किसी एक नस्ल अथवा जाति के लोगों ने नहीं किया। सिन्धु सभ्यता नगरीय सभ्यता थी। इसके मुख्य नगर व्यापार वाणिज्य के प्रमुख केन्द्र बने हुए थे। अतः आजीविका की तलाश में अनेक प्रजातियों के लोग यहाँ आकर बस गए थे। सिन्धु सभ्यता के विभिन्न केन्द्रों की खुदाई में प्राप्त नर कंकालों की शारीरिक बनावट के विश्लेषण के आधार पर मानवशास्त्र वेत्ताओं ने भी सिन्धु सभ्यता का विकास करने वाले लोगों को चार नस्लों— आदिम आग्नेय, मंगोलियन, भूमध्यसागरीय तथा अल्पाइन से सम्बन्धित बतलाया है। इनमें से मंगोलियन तथा अल्पाइन नस्ल के लोगों की केवल एक-एक खोपड़ी मिली है। दूसरी मान्यता के विद्वानों का कहना है कि चूँकि खुदाई में प्राप्त नर कंकालों में भूमध्यसागरीय नस्ल की प्रधानता है, अतः इस सभ्यता के निर्माण का श्रेय द्रविड़ों को था।

द्रविड़ लोग भूमध्यसागरीय नस्ल की ही एक शाखा थे। सर जॉन मार्शल इस मत के प्रबल समर्थक हैं। कुछ विद्वान् ब्लूचिस्तान आदि भागों में बोली जाने वाली श्ब्राहुईश भाषा तथा द्रविड़ों की भाषा में समानता के कारण भी द्रविड़ों को इस सभ्यता का निर्माता मानते हैं। प्रोफेसर चाइल्ड ने सुमेरियन लोगों उनके मत की पुष्टि की है,

भी

उनके मत की पुष्टि की है, परन्तु वे द्रविड़ों को को इस सभ्यता का निर्माता माना है। डॉ. हाल ने सुमेरियन जाति का अंग भी मानते हैं। श्री पिंगट के अनुसार इस सभ्यता का मूल पूर्णतया भारतीय था, परन्तु

वे इस पर सुमेरियन प्रभाव को भी स्वीकार करते हैं। तीसरी मान्यता के विद्वानों—लक्ष्मण स्वरूप, रामचन्द्रन, शंकरानन्द दीक्षितार तथा पुसालकर के अनुसार इस सभ्यता के निर्माता आर्य थे अथवा आय ने भी इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान अवश्य दिया होगा। डॉ. पुसालकर के शब्दों में, श्यह आर्य और अनार्य सभ्यताओं के मिश्रण का प्रतिनिधित्व करती है। अधिक—से—अधिक हम यह कह सकते हैं कि सम्भवतया उस समय में ऋग्वैदिक आर्य वहाँ की जनता का एक महत्वपूर्ण भाग थे और उन्होंने भी सिन्धु

घाटी की सभ्यता के विकास में अपना योग दिया। ष वस्तुतः जब तक सिन्धु सभ्यता स्थलों की खुदाई में प्राप्त मोहरों पर अंकित लिपि को भली प्रकार पढ़ नहीं लिया जाताय तब तक यह कहना कठिन होगा कि इस सभ्यता को जन्म देने और विकसित करने वाले लोग किस जाति के थे।

नगर एवं भवन निर्माण सिन्धु सभ्यता के प्रमुख केन्द्रों में जो खुदाई हुई है उससे ज्ञात होता है कि इन नगरों की रचना एक निश्चित योजना के अनुसार की गई थी। इन नगरों के स्थापत्य शिल्प और उनकी आधार — योजना में समानता व उच्चकोटि की व्यवस्था देखकर यही लगता है कि सिन्धुवासी अपने नगरों का निर्माण पहले योजना बनाकर करते थे और योजना बनाने वाले तथा रचना करने वाले इंजीनियर लोग नगर — रचनाशास्त्र के अनुभवी ज्ञाता रहे होंगे। मैके का भी विचार है कि उन अवशेषों को देखकर व्यक्ति यह अनुभव करता है कि वे लंकाशायर के किसी आधुनिक नगर के अवशेष हैं। सिन्धु सभ्यता के नगर नदियों के मुहाने पर बसाये गये थे। हड़प्पा, रावी तथा मोहनजोदड़ो सिन्धु नदी के किनारे स्थित थे इन नदियों से नगर की सुरक्षा करने के लिए बाँधों का निर्माण भी किया गया था। उनके योजनाबद्ध नगर निर्माण की आधार — पीठिका नगरों की प्रमुख सड़कें थी। ये सड़कें पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण की ओर सीधी समानान्तर जाती थीं और एक—दूसरे को समकोण पर काटती थीं, जहाँ चौराहे बने होते थे। नगर की मुख्य सड़कें काफी चौड़ी होती हैं। मोहनजोदड़ो की मुख्य सड़कें तैंतीस फीट चौड़ी थी। सड़क की इतनी अधिक चौड़ाई इस बात को सूचित करती है कि इस पर काफी यातायात रहा होगा। सहायक सड़कें नौ फीट से अठारह फीट तक चौड़ी हैं। सड़कों को

प्राचीन भारतीय इतिहास

मिलाने वाली गलियाँ भी काफी चौड़ी हैं। ये सारी सड़कें मिट्टी की बनी थीं। केवल मुख्य सड़कों पर इस बात के चिह्न पाये गए हैं कि उन्हें ईंटों के टुकड़ों से पक्का करने का प्रयत्न किया गया होगा। सड़कें मिट्टी की थीं, परन्तु इनकी सफाई का बड़ा ध्यान रखा जाता था। सड़कों पर स्थान-स्थान पर कूड़ा-करकट के लिए मिट्टी के पात्र रखे जाते थे अथवा सड़कों के किनारे स्थान-स्थान पर गड्ढे खोदे जाते थे। इससे पता चलता है कि यहाँ के लोग अपने नगरों की स्वच्छता का विशेष ध्यान रखते थे।

नगर निर्माण की पूर्व योजना का संकेत नगर के गन्दे पानी को शहर बाहर से दूर ले जाने की उत्तम व्यवस्था से भी मिलता है। सिन्धु घाटी के प्रायः सभी नगरों में नालियों (मोरियों) का जाल बिछा था। मकानों से आने वाली नालियाँ तथा परनाले गली की नालियों से मिल जाते थे और गली की नालियाँ मुख्य मार्गों की बड़ी नालियों से मिल जाती थीं। इस प्रकार घरों, गलियों और सड़कों का गन्दा पानी नगर के बाहर निकाल दिया जाता था। नालियाँ पक्की होती थीं और उनके निर्माण में ईंटों, पत्थरों, चूने तथा जिप्सम का प्रयोग किया जाता था। नालियों को ईंटों तथा पत्थर की पट्टियों से ढँक दिया जाता था। समय-समय पर नालियों को साफ भी किया जाता था। इन नालियों में थोड़ी दूर पर शोषक-कूप (वाँ चप्पे) भी बनाये गए थे ताकि कूड़े से पानी का बहाव रुक न सके। नालियों की ऐसी उत्तम व्यवस्था यूरोप के प्रमुख नगरों में भी 18वीं शताब्दी के आसपास ही विकसित हो पाई थी। उत्तम सफाई व्यवस्था को देखकर बाशम का विचार है कि अनेक सुनियोजित गलियों एवं नालियों का विद्यमान होना यह स्पष्ट करता है कि वहाँ किसी नगरीय सरकार की अवश्य ही देखरेख रही होगी। सिन्धु सभ्यता के इन नगरों में बहुत-से कुएँ भी थे, जिनसे लोग पानी ले जाते थे। कुएँ दो फीट से लेकर सात फीट की चौड़ाई तक मिले हैं। कुओं के किनारे पर रस्सियों के निशान बने हुए हैं। नगर की सड़कों के किनारे वृक्षारोपण भी किया जाता था। कहीं-कहीं पर सड़कों के किनारे चबूतरे बने हुए हैं, जहाँ सम्भवतः दुकानें लगा करती होंगी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से सिन्धुवासियों की भवन निर्माण कला के बारे में भी पर्याप्त जानकारी मिलती है। इन नगरों के मकानों की एक विशेषता यह थी कि उनके दरवाजे या खिड़कियाँ

मुख्य

मार्ग की ओर नहीं खुलती थीं अपितु गलियों और सहायक सड़कों की ओर खुलती थीं। खुदाई से सभी प्रकार के मकानों के भग्नावशेष मिले हैं। सबसे छोटे मकान की लम्बाई 30 फीट और चौड़ाई 27 फीट थी जिसमें चार-पाँच कमरे होते थे। इससे बड़े मकानों का आकार इससे लगभग दुगना होता था और उनमें कमरों की संख्या भी अधिक होती थी। मोहनजोदड़ो में विशाल इमारतों के भग्नावशेष भी मिले हैं। एक इमारत 242 फीट लम्बी और 112 फीट चौड़ी थी इसके समीप ही एक अन्य इमारत के अवशेष

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

स्व-प्रगति का परीक्षण करें

12.

1. परम नारी की पूजा के बारे में आप क्या जानते हैं? स्पष्ट करें।
हड़प्पा सभ्यता के दौरान सामाजिक जीवन में नारी का क्या स्थान था।

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

3

प्राचीन भारतीय इतिहास
छल्लै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

34



मिले हैं जो कि 200 फीट लम्बी और 115 फीट चौड़ी थी। इन नगरों के मकान प्रायः दो मंजिलें होते थे। दीवारों में छेद बनाकर उनमें शहतीरें लगा दी जाती थीं और फिर बल्लियों डालकर मजबूत चटाई बिछाकर उस पर मिट्टी-गोबर डालकर फर्श को पक्का कर दिया जाता था। मकानों के निर्माण में पक्की ईंटों का प्रयोग किया जाता था। ईंटों का नाप आधुनिक ईंटों से काफी मिलता जुलता है। छोटी ईंटों का आकार 5-5^८ • 2-25^८ • 2-75, होता था। बड़ी ईंटों का आकार 11, • 5.5^८ • 3.75^८, और कभी-कभी 20-5^८ • 8-5' • 2-25^८ होता था। ईंटों को पकाने के लिए लकड़ी प्रयुक्त होती थी और शायद शहर के बाहर ईंटों के पकाने के भट्टे रहे होंगे। दीवार में ईंटों को जोड़ने के लिए मिट्टी का गारा काम में लाया जाता था। धनिक लोग मिट्टी के मारे में चूना भी मिलाते थे। मकानों का निर्माण नींव डालकर किया जाता था। दो मंजिले मकानों की नींव अधिक गहरी होती थी और ऐसे मकानों की पहली मंजिल की दीवारें भी अधिक चौड़ी बनाई जाती थी। शैकेश के मतानुसार दीवारों पर प्लास्टर भी किया जाता था। निचली मंजिल से ऊपरी मंजिल पर जाने के लिए लकड़ी और पत्थर से सीढ़ियाँ बनाई जाती थीय जो प्रायः बहुत ऊँची व तंग होती थी। अधिकांश मकानों के दरवाजे तीन या चार फुट चौड़े होते थे। कमरों में दीवारों के साथ आलमारियाँ बनाने की प्रथा भी थी। मकानों के बीच में प्रायः आँगन (सहन) होता था। आँगन के एक कोने में रसोईघर होता था, तो प्रवेश द्वार के पास वाले कोने में स्नानागार तथा शौचालय भी होते थे। इनके फर्श पक्की ईंटों के होते थे। प्रायः प्रत्येक मकान के आँगन में एक कुआ भी होता था जो पक्की ईंटों से चुना जाता था। कुछ कुओं के भीतर सीढ़ियों के चिह्न भी मिले हैं।

—

सिन्धु प्रदेश के उत्खनन से कुछ विशेष इमारतों का पता चला है। हड़प्पा में एक गढ़ी के ध्वंसावशेष मिले हैं। इसकी लम्बाई 450 गज और चौड़ाई 215 गज और

प्राचीन भारतीय इतिहास

ऊँचाई लगभग 40–50 फीट है। गढ़ी की बाहरी दीवार पर स्थान-स्थान पर मीनारों और प्रवेश द्वारों का निर्माण किया गया था। गढ़ी के समीप बहुत से भवन निर्मित थे जिनमें भण्डागार विशेष उल्लेखनीय हैं। छः-छः कमरों की दो पंक्तियों में बने बड़े-बड़े भवन मिले हैं। दोनों पंक्तियों के मध्य काफी चौड़ा मार्ग है। विद्वानों का मानना है कि ये भवन अन्न संगृहीत करने के काम में आते होंगे। इन भण्डागारों का मुख्य द्वार नदी की ओर था। संभवतः नदी के मार्ग से ही इन भण्डागारों में अन्न सामग्री आती-जाती थी। इन भण्डागारों से थोड़ी दूर पर 18 बड़े-बड़े गोलाकार चबूतरे मिले हैं। चबूतरों के बीच में एक छेद होता था। अनुमान है कि ये चबूतरे अन्न पोसने के काम में आते होंगे। इन चबूतरों के उत्तर में सात-सात मकानों की दो पंक्तियाँ मिली हैं जिनके समीप सोलह भट्टियाँ हैं। इन्हें देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि ये श्रमिकों के मकान रहे होंगे।

मोहनजोदड़ो में भी एक गढ़ी के भग्नावशेष मिले हैं। यह गढ़ी एक कृत्रिम पहाड़ी पर बनाई गई थी। गढ़ी से मीनारों के भग्नावशेष भी मिले हैं। इस गढ़ी के भीतर सबसे महत्वपूर्ण इमारत है एक विशाल स्नानागार। इस स्नानागार के मध्य में प्रधान स्नान-कुण्ड, पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में बरामदे और उनके पीछे छोटे-छोटे कमरे बने हुए हैं। प्रधान स्नान-कुण्ड के उत्तर की ओर मार्ग के लिए जगह छोड़कर आठ छोटे-छोटे स्नानगृह बने हुए हैं जिनमें प्रत्येक में पानी की व्यवस्था तथा ऊपर की ओर जाने की सीढ़ियाँ लगती हैं। सीढ़ियों के आधार पर अनुमान है कि यह स्नानागार दो मंजिले थे। इस विशाल स्नानागार की पूरी लम्बाई 45 मीटर तथा चौड़ाई 33 मीटर हैं और इसके मुख्य स्नान-कुण्ड की लम्बाई 12 मीटर, चौड़ाई 7 मीटर तथा गहराई 2.50 मीटर है। मुख्य कुण्ड में उतरने के लिए दोनों ओर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। स्नानागार का फर्श पक्की ईंटों का बनाया गया है और सीलन से बचने के लिए राल का लेप किया गया है। स्नान-कुण्ड की सफाई करने तथा गन्दा पानी बाहर निकालने के लिए इसके दक्षिणी भाग में एक नाली बनी हुई है। इस स्नानागार की पूरी व्यवस्था सिन्धुवासियों के उच्चस्तरीय जीवन की झलक देती है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह स्नानागार धार्मिक अवसरों पर पुजारियों अथवा शासक वर्ग के विशेष समारोहपूर्ण स्नान के उपयोग में आता रहा होगा। इस स्नानागार के आधार पर हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि आधुनिक हिन्दू धर्म की भाँति सिन्धुवासियों के धर्म में भी पवित्र स्नान का विशेष महत्व रहा होगा।

कृ

सिन्धु सभ्यता के इन नगरों में सड़कों और गलियों के दोनों ओर दुकानों के भग्नावशेष भी मिले हैं। कुछ ऐसे विशाल भवनों के अवशेष भी मिले हैं जिनके बारे में विद्वानों की राय है कि ये बड़े-बड़े व्यापारियों के गोदाम रहे होंगे।

धार्मिक विश्वास

सिन्धुवासियों के धार्मिक विश्वासों के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अब तक की खुदाई में न तो कोई धार्मिक स्थान और न

लिखित धार्मिक साहित्य ही उपलब्ध हो पाया । फिर भी, खुदाई में प्राप्त मूर्तियों, मोहरों तथा ताबीजों के आधार पर विद्वानों ने उनके धार्मिक विश्वासों की रूपरेखा निश्चित करने का प्रयास किया है। उनके प्रयासों से अब यह स्पष्ट हो गया है कि सिन्धुवासी बहुदेववादी थे। वे प्राकृतिक शक्तियों की विभिन्न रूपों की उपासना करते थे। इस बात की भी संभावना है कि वे लोग एक परमसत्ता (ईश्वर) में विश्वास रखते थे और उसी परमसत्ता को सृष्टि का निर्माता मानते थे। अपने इसी विश्वास के कारण उन लोगों में परम पुरुष और परम-नारी की पूजा लोकप्रिय हो गई थी।

परम पुरुष की उपासना— सिन्धु-प्रदेश की खुदाई में एक मुद्रा (मोहर) मिली है। इस पर एक नग्न व्यक्ति योग मुद्रा में बैठा है। इस व्यक्ति के तीन मुख हैं। उसके मस्तक पर शिरस्त्राण के दोनों ओर दो सींग और दूर से देखने पर त्रिशूल जैसा दिखाई देता है। इस व्यक्ति के बाईं ओर एक गैंडा और एक भैंसा है और दाईं ओर एक हाथी और एक व्याघ्र है। सामने एक हिरण है। मुद्रा के ऊपरी हिस्से पर छः शब्द अंकित

यदि इन्हें पढ़ लिया गया होता तो इसका समीकरण करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

पशुपति शिव की मोहर

परन्तु सिन्धु लिपि को अभी तक ठीक से पढ़ा नहीं जा सका है। फिर भी, उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर बहुत से विद्वानों का मत है कि मुद्रा पर अंकित चित्र भगवान शिव का है। उनके अनुसार शिव को योगीश्वर, त्रिशूलधारी, पशुपति, त्र्यम्बक, त्रिनेत्र आदि कहा जाता रहा है। खुदाई में एक अन्य मुद्रा भी मिली

जिस पर एक योगासीन व्यक्ति का चित्र है। चित्र के दोनों ओर एक-एक नाग तथा सामने दो नाग बैठे हैं। विद्वानों का मानना है कि नागों से घिरा हुआ योगी का यह चित्र भी भगवान शिव का ही है क्योंकि वे भी अपने गले में नाग धारण करते हैं। एक अन्य मुद्रा पर एक धनुर्धारी शिकारी का चित्र पाया गया है। कुछ विद्वानों का मानना है कि यह चित्र किरात वेशधारी भगवान शिव का है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि सिन्धुवासी एक घरम-पुरुष की पूजा करते थे और उसके परम पुरुष का प्रतीक आधुनिक हिन्दू धर्म के भगवान शिव से काफी मिलता-जुलता है।

परम नारी की पूजा— सिन्धुवासियों में परम नारी की पूजा भी काफी लोकप्रिय रही होगी। सिन्धु नगरों की खुदाई में मिट्टी की बनी हुई बहुत-सी नारी मूर्तियाँ मिली हैं। विद्वानों का मत है कि ये मूर्तियाँ मातृदेवी या प्रकृतिदेवी की मूर्तियाँ हैं। प्राचीन संसार में मातृदेवी की पूजा लोकप्रिय थी। ऋग्वैदिक काल में भी आद्यशक्ति या प्रकृति, पृथ्वी अथवा आदिति के रूप में मातृपूजा का उल्लेख मिलता है। मातृदेवी को पशुबलि अथवा नरबलि भी दी जाती थी। इस बात की

प्राचीन भारतीय इतिहास

संभावना है कि कालान्तर में मातृदेवी की इस उपासना से ही शक्ति-पूजा की परम्परा का विकास हुआ होगा ।

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

39

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

40

मातृदेवी की मूर्तियों प्रायः नग्न रूप में मिली हैं। मूर्ति की कमर में पटका और मेखला तथा गले में गुलूबन्द अथवा हार प्रदर्शित किया गया है। सिर पर कुल्हाड़ी से मिलती-जुलती आकृति की कोई वस्तु भी दिखाई पड़ती है। कुछ मूर्तियों में जननी का रूप दिखाया गया है। जिनमें शिशु को स्तनपान करते हुए प्रदर्शित किया गया है। एक मूर्ति में एक ऐसी स्त्री बनी हुई है जिसके गर्भ से एक वृक्ष निकलता हुआ प्रदर्शित किया गया है। सम्भवतः यह वानस्पतिक जगत की देवी का प्रतीक हो। एक अन्य मूर्ति के शीश पर एक पक्षी पंख फैलाये बैठा है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि सिन्धुवासी मातृदेवी को सारे लोक की पोषिका – पालिका-जननी मानते थे। बहुत-सी मूर्तियों के दोनों ओर दो प्याले अथवा दीपक हैं और इन मूर्तियों के अग्रभाग पर धूम्र के निशान हैं। इससे कल्पना की जाती है कि सिन्धुवासी इन प्यालों में तेल अथवा धूप जलाते थे।

प्रजनन शक्ति की पूजा— परम पुरुष और परम- नारी की पूजा के साथ-साथ सिन्धुवासी प्रजनन शक्ति की लिंग एवं योनि के प्रतीकों के रूप में भी पूजा करते थे। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में बहुत से लिंग मिले हैं। ये सामान्य पत्थर, लाल पत्थर अथवा नीले पत्थर के बने हैं। छोटे-छोटे आकार से लेकर चार फीट की ऊँचाई तक के लिंग मिले हैं। विद्वानों का मत है कि छोटे आकार के लिंगों की पूजा लोग अपने-अपने घरों में ही करते थे और बड़े आकार के लिंग विशेष स्थानों पर प्रतिष्ठित करके पूजे जाते थे। आधुनिक हिन्दू धर्म में लिंग पूजा शायद सिन्धुवासियों की ही देन प्रतीत होती है। मैके महोदय का मत है कि लिंग की आकृति के जो पत्थर मिले हैं उन्हें पूजा का प्रतीक नहीं समझना चाहिए। सम्भवतः उनसे कूटने पीसने का काम लिया जाता रहा होगा जैसा कि आज भी मूसल, लोढ़े अथवा बट्टे से लिया जाता है।

खुदाई में पत्थर, चीनी मिट्टी तथा सीप के बने बहुत-से छल्ले मिले हैं जिनका आकार आधा इंच से लेकर चार इंच तक है। बहुत से विद्वानों ने इन छल्लों को योनियों का प्रतीक मानकर यह मत व्यक्त किया है कि सिन्धुवासी योनि की पूजा भी करते थे। आर्य लोग योनि-पूजक नहीं थे। अतः आज भारत में लिंग योनि पूजा की जो परम्परा देखने को मिलती है वह निसन्देह अनार्यों की देन है। छल्लों के बारे में श्री मैके महोदय का मत है कि अधिकांश हल्ले स्तम्भों के आधार थे, न कि योनियों के प्रतीक ।

लिंग-योनि

वृक्ष पूजा— खुदाई में प्राप्त बहुत-सी मुद्राओं पर वृक्षों के अनेक चित्र मिले हैं जिनके आधार पर विद्वानों का मत है कि सिन्धुवासी वृक्षों की पूजा करते थे। एक मुद्रा पर दो पशुओं के शीश पर नौ पीपल की पत्तियों अंकित हैं। एक अन्य मुद्रा पर एक नग्न स्त्री का चित्र है जिसके दोनों ओर एक-एक टहनी बनी है। उसके सामने पत्तियों का मुकुट पहने एक अन्य आकृति का चित्र है। मार्शल महोदय का मत है कि

मुद्रा

में अंकित टहनियों पीपल की हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि वृक्ष पूजा के दो रूप प्रचलित थे। एक वृक्ष को उसके प्राकृतिक रूप में पूजना जैसे कि तुलसी का पूजन। दूसरा वृक्ष को किसी देवता के प्रतीक के रूप में पूजनाय जैसे कि पीपल की पूजा। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु-निवासियों में तुलसी, पीपल, नीम, खजूर, बबूल आदि वृक्षों की पूजा अधिक प्रचलित रही होगी। भारत में वृक्ष-पूजा की परम्परा काफी पुरानी है। बौद्ध लोग भी पीपल की पूजा करते थे और आज भी हिन्दू धर्म में वृक्ष-पूजा होती

कृ

पशु-पूजा— वृक्ष-पूजा के साथ-साथ सिन्धुवासी पशु-पूजा में भी विश्वास रखते थे। कुछ मुद्राओं पर बैल के चित्र मिले हैं। खिलौने के रूप में भी बैल मिले हैं। मोहनजोदड़ो में एक ताम्र पत्र पर कूबड़दार बैल अंकित किया गया है। विद्वानों का अनुमान है कि शक्ति के प्रतीक के रूप में बैल की पूजा काफी लोकप्रिय रही होगी। बैल की भाँति भैंस और भैंसा की पूजा भी की जाती थी। क्योंकि अनेक मुद्राओं पर इनके चित्र मिले हैं। गाय की पूजा के बारे में हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते, परन्तु नाग-पूजा काफी प्रचलित थी। एक मुद्रा पर नाग की पूजा करते हुए एक मनुष्य का चित्र अंकित है। एक चबूतरे पर लेटे हुए नाग को दिखलाया गया है। मुद्राओं पर हाथी, बाघ, भेड़, बकरी, गैंडा, हिरन ऊँट, घड़ियाल, गिलहरी, तोता, मुर्गा मोर आदि पशुओं के चित्र भी मिले हैं। सम्भव है ये सभी पशु-पक्षी सिन्धु वासियों के देवी-देवताओं के वाहन रहे हो, जैसा कि हम हिन्दू धर्म में देखते हैं। सिन्धुवासी पशुओं की आकृति विचित्र ढंग से बनाते थे। कुछ पशु आधे मनुष्य और आधे पशु थे। आधा भेड़ और आधा बकरा, आधा

हाथी और आधा बैल या इसी प्रकार के अन्य मिश्रण से पशुओं की आकृति बनाते थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे इनमें दैवी अंश मानकर इनकी पूजा करते थे।

प्रतीक मुद्रा— खुदाई में प्राप्त अनेक अवशेषों पर सींग, स्तम्भ और स्वास्तिक के चित्र मिले हैं। विद्वानों का मत है कि इन चिह्नों का भी कुछ धार्मिक महत्त्व रहा होगा। सम्भव है कि ये चिह्न किसी देवी-देवता के प्रतीक रहे हों अथवा किसी धार्मिक भावना के प्रतीक के रूप में इनकी पूजा की जाती हो कुछ विद्वानों का मानना है कि ये सिन्धुवासियों के अन्धविश्वास के प्रतीक रहे होंगे और इनके माध

प्राचीन भारतीय इतिहास

यम से रोग-व्याधि को दूर भगाया जाता होगा। कुछ मुद्राओं पर बने चित्रों में नर-नारियों को सींग-युक्त दिखलाया गया है। शीश पर सींग धारण करने का भी कुछ धार्मिक महत्त्व रहा हो। इसी प्रकार स्तम्भ, स्वास्तिक और धूप-दीप आदि के प्रदर्शन का भी कुछ धार्मिक महत्त्व रहा हो। हिन्दू धर्म में आज भी स्वास्तिक के चिह्न को पवित्र माना जाता है।

—

धार्मिक प्रथाएँ— मुद्राओं पर अंकित देवी देवताओं के चित्रों तथा प्रतीकों के अंकन से इतना तो निश्चित हो जाता है कि सिन्धुवासी साकार उपासना करते थे और उनमें मूर्ति पूजा प्रचलित रही होगी। परन्तु वे लोग अपनी मूर्तियों को कहाँ प्रतिष्ठित करते थे— इसका उत्तर विवादास्पद है क्योंकि खुदाई में अभी तक कोई ऐसा भवन नहीं मिला है जिससे हम मन्दिर अथवा उपासना स्थल कह सकें। कुछ विद्वानों का मानना है कि मोहनजोदड़ो में जिस स्थान पर कृष्णकालीन बौद्ध स्तूप खड़ा है, उसके नीचे सिन्धुवासियों का मन्दिर दबा पड़ा है।

मार्शल महोदय ने मुद्राओं पर अंकित नारियों की विभिन्न आकृतियों का अध्ययन करने के बाद यह मत स्थापित किया है कि ये नारी मूर्तियाँ मन्दिर की उपासिकाओं की होंगी। इसी प्रकार खुदाई में प्राप्त नग्न रूप में नृत्य करती हुई एक नर्तकी को विद्वानों ने देवदासी या उपासिका मानकर सैन्धव सभ्यता में देव — दासी प्रथा होने की कल्पना भी की है। धार्मिक प्रथाओं में शारीरिक शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पूजा धूप-दीप का भी प्रयोग होता था। संगीत एवं नृत्य के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने की परिपाटी भी रही होगी। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुबलि तथा नरबलि भी दी जाती थी। मूर्तियों की योगासन मुद्राओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सैन्यव में योग-साधना का भी महत्त्व था।

में

आर्थिक जीवन

सिन्धु सभ्यता का आर्थिक जीवन काफी समृद्ध एवं उन्नत था। कृषि, पशु-पालन, घरेलू उद्योग-धन्धे तथा व्यापार वाणिज्य आजीविका के मुख्य साधन थे।

कृषि — प्राचीनकाल में सिन्धु प्रदेश आज की भाँति रेतीला क्षेत्र नहीं था। वहाँ पर्याप्त वर्षा होती थी और भूमि भी उपजाऊ थी। अतः इस क्षेत्र में अच्छी खेती होती थी। खुदाई में गेहूँ और जौ— दोनों के अवशेष मिले हैं। गेहूँ और जौ के अतिरिक्त सिन्धुवासी चावल, मटर और तिल की भी खेती करते थे। मोहनजोदड़ो से सूती कपड़े के अवशेष भी मिले हैं जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि वहाँ कपास की खेती भी की जाती थी। हड़प्पा से प्राप्त कुछ पात्रों पर नारियल, केला, खजूर और अनार की आकृतियाँ मिली हैं। विद्वानों का मानना है कि इस प्रदेश में इन फलों की भी खेती की जाती थी। खेती में किस प्रकार के हलों का उपयोग किया जाता था, इसकी जानकारी नहीं मिल पाई है। इसी प्रकार सिंचाई पद्धति के बारे में हमको पर्याप्त जानकारी नहीं मिल पाई है। अनाज को पीसने के लिए चक्कियों और कूटने के लिए ओखलियों का प्रयोग

किया जाता था। सामान्य लोग मिट्टी के बने बड़े-बड़े घड़ों में अनाज संग्रह करके रखते थे। राज्य की ओर से अथवा बड़े-बड़े व्यापारियों की ओर से बड़े-बड़े गोदामों में अन्न का संग्रह किया जाता था। खद्यान्नों को लाने-ले जाने के लिए बैलगाड़ियों का प्रयोग किया जाता था। अनाज तोलने के बैटखरे भी मिले हैं।

पशुपालन— कृषि कार्य के साथ-साथ सिन्धुवासी पशुपालन का व्यवसाय भी करते थे। मुद्राओं पर उत्कीर्ण चित्रों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे लोग बैल, गाय, भैंस, सूअर, कुत्ते आदि पालते थे। आज की भाँति गाय का धार्मिक महत्त्व तो नहीं था, फिर भी दूध के लिए गायों को पाला प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

41

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

42

जाता था। शायद इसी दृष्टि से भैंस तथा भेड़ों को भी पाला जाता था। कुछ मुद्राओं पर हाथी का चित्र भी मिला है और विद्वानों का मानना है कि सिन्धुवासी हाथी को भी पालते थे। घोड़े के बारे में विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ के अनुसार सिन्धुवासी घोड़े से परिचित नहीं थे। खुदाई में सूअर के अस्थि-पंजर और खिलौने मिले हैं जिनसे पता चलता है कि वे लोग सूअर को भी पालते थे। मुद्रा पर उत्कीर्ण चित्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बिल्ली, बन्दर, खरगोश, हिरण, मुर्गा, मोर, तोता, उल्लू, हंस आदि से वे लोग परिचित थे और शायद इनमें से कुछ का माँस भी खाया जाता था। ऊँट की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं मिला है।

घरेलू उद्योग—धन्धे सिन्धु सभ्यता के काल में कई घरेलू उद्योग—धन्धे विकसित हो चुके थे। सिन्धुवासी सूत, ऊन, मिट्टी धातु, पत्थर आदि की विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाते थे। सिन्धु प्रदेश के चन्हूदड़ो की खुदाई में श्री दयाराम साहनी को एक चाँदी के घड़े पर सूती वस्त्र और अन्य स्थानों पर सूत के धागे मिले हैं। खुदाई में प्राप्त बहुत-सी मूर्तियों पर भी वस्त्र बने दिखाए गए हैं। इससे स्पष्ट है कि सिन्धुवासी सूत तथा ऊन को कातना तथा उनके कपड़े बुनना जानते थे। मैके महोदय को भी अनेक वस्तुओं पर सूत के धागे लिपटे हुए मिले हैं। श्री नीलकण्ठ शास्त्री ने लिखा है कि सिन्धुवासियों द्वारा निर्मित मलमल का प्रयोग मिश्र में ममी पर लपेटने के लिए किया जाता था। सिन्धुवासी कपड़ों पर तरह-तरह की डिजाइनें बनाते थे और उन्हें रँगते भी थे। इससे स्पष्ट है कि उस युग में रँगरेजों का व्यवसाय भी काफी विकसित हो चुका था।

खुदाई में प्राप्त मिट्टी की मूर्तियों, मुद्राओं, खिलौनों और बर्तनों से पता चलता है

प्राचीन भारतीय इतिहास

कि सिन्धुवासी मिट्टी के बर्तन बनाने में निपुण थे। यद्यपि खुदाई में कुम्हार के चाक का कोई चिह्न नहीं मिला है, किन्तु बर्तनों की बनावट और आकार से प्रकट होता है कि वे चाक पर ही बनाये जाते थे और बाद में उन्हें आग में पकाया जाता था। बहुत से बर्तन हाथ से भी बनाये जाते थे। मोहनजोदड़ों में एक ही स्थान पर 6 भट्टे मिले हैं। इन भट्टों में मिट्टी के बर्तनों को पकाया जाता था। बर्तनों पर चित्रकारी भी की जाती थी। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि सिन्धु के कुम्हार लोग मिट्टी की मुद्राएँ (स्टाम्प्स) भी बनाते थे। खुदाई में सैकड़ों की संख्या में ऐसी मोहरें मिली हैं। इन मोहरों पर विविध पशु-पक्षी व पेड़-पौधों के उभरे चित्र बने हैं और उन पर कुछ विशेष लेख भी लिखे गए हैं। अनुमान है कि व्यापारिक आदान-प्रदान के लिए तथा ताबीज के रूप में इनका प्रयोग होता होगा। मिट्टी के अलावा सिन्धुवासी पत्थर की मूर्तियाँ बनाने में भी निपुण थे। मूर्तियों के अलावा पाषाण के स्तम्भ भी मिले हैं और घिया पत्थर की मुद्राएँ भी मिली हैं। पाषाण स्तम्भों की पच्चीकारी से पता लगता है कि पत्थर को तराशने में सिन्धुवासी कलाकारों

खूब प्रगति कर ली थी और यह अच्छे व्यवसायों में से एक था।

ने

—

सिन्धुवासी अपने यहाँ अनेक प्रकार की धातुएँ मँगवाते थे। वे लोग धातुओं को गलाने तथा उनका मिश्रण करने में काफी निपुण थे। वे धातु के औजार, हथियार, आभूषण, मूर्तियाँ तथा खिलौने आदि बनाते थे। उनकी धातु निर्मित मूर्तियों में मोहनजोदड़ों में मिली एक नर्तकी की मूर्ति बड़ी प्रसिद्ध है। मोहनजोदड़ों में ताँबे का गला हुआ एक ढेर भी मिला है जिसके आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि धातु की वस्तुओं को साँचे में ढालकर बनाया जाता था। कभी-कभी धातु को गरम करके उसे पीटकर चादरें भी बनाई जाती थीं और बाद में उन चादरों को काटकर विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती थीं। सिन्धुवासी पच्चीकारी एवं रत्न जड़ने के काम में भी काफी दक्ष थे। धातुओं के अलावा वे लोग शंख, सीप, हाथीदाँत आदि के काम में भी निपुण थे। हड़प्पा से शंख का बना हुआ एक बैल मिला है जिसके सिर पर छेद करके सींगों को अलग से जोड़ा गया है। मोहनजोदड़ों में हाथी दाँत की बनी हुई एक सुन्दर छड़ मिली है। एक श्रृंगारदान भी मिला है जिस पर हाथी दाँत का अच्छा काम किया गया है। खुदाई में अनेक प्रकार के औजार तथा हथियार भी मिले हैं। इनमें ताँबे के औजारों की संख्या अधिक है। पीतल के बने हुए कुछ चाकू भी मिले हैं। शान्तिप्रिय होने के कारण सिन्धु क्षेत्र में हथियार बहुत कम मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। धातुओं से बनी इन समस्त वस्तुओं को देखने पर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि आज के लुहार की भाँति उस युग में भी कोई एक वर्ग विशेष रहा होगा। खुदाई में मिले गाड़ी के पहिये और तख्ते से पता लगता है कि बढ़ई का व्यवसाय भी उन्नत रहा होगा। इसी प्रकार, खुदाई

में प्राप्त सीने की सुइयों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि कपड़े सीने का व्यवसाय भी प्रचलित

था।

सिन्धुवासी सोने-चाँदी, अन्य धातु, मिट्टी, पत्थर, हाथी- दाँत तथा घोंघे की अनेक प्रकार के नाप की बड़े-बड़े मोतियों के आकार की गुरियाएँ (ठमंके) भी बनाते थे। वे उन पर पच्चीकारी करते थे और उन पर रंग भी चढ़ाते थे। ये गुरियाएँ विदेशों में भेजी जाती थीं। इसीलिए इन्हें बड़े पैमाने पर बनाया जाता था। चन्हूदड़ो में मिला गुरिया बनाने का कारखाना इस बात का प्रमाण है। इस प्रकार सिन्धु सभ्यता में घरेलू उद्योग-धन्धे काफी उन्नत थे।

व्यापार वाणिज्य सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जो इस प्रदेश की उपज एवं कृति नहीं थीं। विद्वानों का अनुमान है कि ऐसी वस्तुओं को विदेशों से प्राप्त किया जाता था। उदाहरणार्थ- सिन्धु घाटी क्षेत्र में ताँबा, चाँदी, सोना आदि धातुएँ प्राप्त नहीं होती थीं। इन धातुओं को अफगानिस्तान, ईरान आदि देशों से प्राप्त किया जाता था। ताँबा राजस्थान से और कीमती पत्थर बदख़्शां से प्राप्त होते थे। सौपी, शंख, कौड़ी इत्यादि काठियावाड़ के समुद्रतट से आते थे। शायद मूँगा, मोती आदि रत्न भी इसी क्षेत्र से आते थे। देवदार के शहतीर हिमालय के आसपास के क्षेत्रों से आते थे। इससे स्पष्ट है कि उस युग में सिन्धुवासियों का व्यापार वाणिज्य काफी उन्नत था और व्यापारियों के एक वर्ग विशेष का विकास हो चुका था। आवागमन के साधन भी उन्नत थे। सम्भवतः उस युग में भी जल और थल मार्गों से व्यापारियों के बड़े-बड़े सार्थवाह दूर-दूर के प्रदेशों तक आया-जाया करते थे। मुद्राओं पर अंकित जहाज के चित्रों से अनुमान लगाया जा सकता है कि सिन्धुवासी नौकाओं और जहाजों का उपयोग करते थे। स्थल मार्ग पर बैलगाड़ियों, बैलों, घोड़ों, गुर्यों आदि का प्रयोग माल ढोने के लिए किया जाता था।

सिन्धु सभ्यता का अन्तर्देशीय व्यापार तो काफी उन्नत था ही परन्तु उनका विदेशी व्यापार भी कम उन्नत न था। सिन्धुवासियों का पश्चिम एशिया के बहुत-से क्षेत्रों से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रहा था, इसके बहुत से प्रमाण मिले हैं। प्राचीन सुमेरिया के अवशेषों में हड़प्पा की मुद्राओं से मिलती-जुलती अनेक मुद्राएँ मिली हैं। मोहनजोदड़ो में भी सुमेरियन मुद्राएँ मिली हैं। ये मुद्राएँ दोनों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध को सूचित करती हैं। ईरान के अवशेषों में भी ऐसी अनेक वस्तुएँ मिली हैं, जिन्हें सिन्धुघाटी की उपज एवं कृति माना जाता है। विद्वानों का मत है कि ईरान के साथ जल एवं थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था।

उ

श्र

तोल और माप के साधन खुदाई से प्राप्त तोल और माप के विविध साधन भी व्यापार वाणिज्य की उन्नत अवस्था को प्रकट करते हैं। तोल के बहुत से बड़े मिले हैं, जो चौकोर पत्थर के आकार के हैं। यदि सबसे छोटे बाँट को एक इकाई



मान लिया जाए तो 1, 2, 4, 8, 16, 32, 64, इकाइयों के बाँट उपलब्ध हुए हैं जो हमारे पुराने बाँटों एक आना, आधा पाव, पाव, आधा सेर, सेर आदि से मिलते-जुलते। इस तरह के बाँट सिन्धु सभ्यता के लगभग सभी छोटे-बड़े केन्द्रों में उपलब्ध हुए हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में वस्तुओं को तोलने के लिए तराजू का प्रयोग किया जाता था जिसके अवशेष भी मिले हैं। माप के साधन भी प्रचलित थे। मोहनजोदड़ो में एक सीपी के बने फुटे का टुकड़ा मिला है। इस पर एक समान 9 विभाग अंकित हैं। एक विभाग आधुनिक 0.264 इंच के बराबर है। ऐसा अनुमान है कि छोटे-छोटे सीपी के टुकड़ों को धातु से जोड़कर फुटा बनाया जाता था। हड़प्पा से एक कांस्य शलाका मिली है जिस पर नापने के छोटे-छोटे विभाग अंकित हैं। विद्वानों का अनुमान है कि सिन्धुवासियों द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला फुटा 13.2 इंच लम्बा होता था।

सामाजिक जीवन

कृ

समाज का स्वरूप सिन्धु सभ्यता के विभिन्न केन्द्रों पर खुदाई में मिली वस्तुओं से उस समय के लोगों के विभिन्न प्रकार के काम-धन्धों की जानकारी उपलब्ध होती है। इस जानकारी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिन्धु समाज में सभी लोगों का सामाजिक स्तर एक समान नहीं था। समाज कई वर्गों में विभाजित था। पुजारी, पदाधिकारी, ज्योतिषी, वैद्य एवं जादूगर इन लोगों को उच्च वर्ग का समझा जाता होगा। कृषक, बढ़ई, कुम्हार, मछुए, मल्लाह, गाड़ीवान, चरवाहे आदि निम्न वर्ग के रहे होंगे।

—

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

44

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

44

—

परिवार खुदाई में प्राप्त भवन और उनमें पृथक्-पृथक् परिवारों के रहने की योजना से लगता है कि सिन्धु सभ्यता काल में परिवार समाज की मूल इकाई थी। विद्वानों का अनुमान है कि उस युग में भी संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित रही होगी और प्रत्येक परिवार में माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री आदि एक साथ रहते थे। परन्तु परिवार पितृसत्तात्मक थे अथवा मातृसत्तात्मक — इस प्रश्न का निश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं है। फिर भी खुदाई में प्राप्त नारी मूर्तियों की बहुलता और मातृदेवता की लोकप्रियता के आधार पर विद्वानों का मानना है कि सैन्धव समाज मातृ-प्रधान था अर्थात् परिवार में माता का स्थान सर्वोपरि होता

था। द्रविड़ समाज भी मातृ-प्रधान था।

नारी का स्थान ठोस साक्ष्यों के अभाव में समाज में नारी के स्थान पर समुचित प्रकाश डालना सम्भव नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि सैन्धव समाज में नारी का आदरपूर्ण स्थान था। वह परिवार की मुखिया एवं पोषिका समझी जाती थी। उसका मुख्य कार्य बच्चों का लालन-पालन एवं फालतू समय में घर पर सूत कातना था। मुद्राओं पर अंकित विभिन्न नारी-चित्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सैन्धव स्त्रियों में पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था और वे धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों में पुरुषों के साथ समान रूप से सम्मिलित होती थीं। रहन-सहन – खुदाई में प्राप्त वस्तुओं में अस्त्र-शस्त्रों की अल्पता इस बात का सूचक है कि सैन्धव लोग शान्तिप्रिय थे और समृद्ध जीवन बिताने की कामना रखते थे। खुदाई में प्राप्त कलश, धालियाँ, कटोरे, तश्तरियाँ, गिलास, चम्मच आदि मुद्राओं पर अंकित पलंग, कुर्सियाँ, तिपाइयाँ आदि उनको सम्पन्नता को प्रकट करते हैं। वैसे खुदाई में प्राप्त अधिकांश मूर्तियाँ नग्न हैं, परन्तु हमें मालूम है कि सैन्धव लोग वस्त्रों का प्रयोग करते थे। सामान्य लोग निश्चित रूप से कमर तक कोई कपड़ा पहनते थे और उच्च वर्ग के लोग शरीर के ऊपरी भाग को शाल से ढकते थे। उनकी सम्पन्नता के आधार पर यह भी अनुमान लगाया जाता है कि वे लोग भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न प्रकार के सूती एवं ऊनी वस्त्रों का प्रयोग करते थे। कुछ स्त्रियाँ पगड़ी भी पहनती थीं। कई मूर्तियों में ऐसा देखने को मिलता है। कुछ स्त्री-मूर्तियों में नुकीली टोपी पहने हुए दिखलाया गया है।

धे

सिन्धुवासियों को केश विन्यास का विशेष शौक था। खुदाई में प्राप्त शीशा और कंघी इस कथन की पुष्टि करते हैं। मूर्तियों से पता चलता है कि जो लोग दाढ़ी और मूँछ दोनों रखते थे, वे अपने केशों को सँवारकर पीछे की ओर बाँध लेते थे। खुदाई में उस्तुरा (अस्तुरा) भी मिला है जिससे पता चलता है कि वे लोग हजामत भी बनाते थे। कुछ मुद्राओं और मूर्तियों से पता चलता है कि कुछ लोग दाढ़ी तो रखते परन्तु मूँछे मुँडबा देते थे। स्त्रियों को केश विन्यास का विशेष शौक था। आजकल की हिन्दू स्त्रियों की भाँति के बीच से माँग निकालकर चोटी करती थीं। कुछ स्त्रियों अपनी चोटी को शीश पर कई वृत्तों में लपेट लेती थीं। कुछ बालों का जुड़ा बनाकर पीछे फीते में बाँध लेती थीं। स्त्रियों काजल, सुरमा, सिंदूर, बालों की पिन, इत्र तथा पाउडर का प्रयोग करती थीं। मैके महोदय के अनुसार वे लिपस्टिक का प्रयोग भी करती थीं। कदाचित् स्त्री-पुरुष दोनों को ही आभूषणों का शौक था। खुदाई में कण्ठहार, कर्णफूल, हँसली, बाजूबन्द, कड़े, छल्ले, अंगूठियाँ, पायजेब तथा नाक में पहनने के आभूषण भी मिले हैं। ये आभूषण विभिन्न धातुओं के बने होते थे और किन्हीं – किन्हीं पर पच्चीकारी का काम भी किया जाता था। धनी वर्ग के लोग सोने-चाँदी, मणिमाणिक्य के आभूषण पहनते थे तथा गरीब लोग ताँबा, हड्डी

प्राचीन भारतीय इतिहास

तथा मिट्टी के बने आभूषण पहनते थे।

खान-पान – सिन्धुवासियों के खान-पान का स्तर निश्चय ही उच्च रहा होगा। गेहूं, जौ, चावल, दाल, तिल तथा विविध फल एवं सब्जियों उनके मुख्य खाद्य पदार्थ थे। मुद्राओं पर अंकित चित्रों से उनके मांसाहारी होने का प्रमाण भी मिलता है। सम्भवतः वे लोग मछली, गाय-सूअर, भेड़ तथा मुर्गे का मांस खाते थे। गाय, भैंस तथा बकरी के दूध का उपयोग किया जाता था। परन्तु यह कहना कठिन है कि वे लोग दूध से घी निकालना जानते थे अथवा नहीं। सिन्धुवासियों में मद्यपान की प्रथा थी अथवा नहीं यह कहना भी कठिन है, क्योंकि इस सम्बन्ध में अभी तक ठोस प्रमाण नहीं मिले हैं।

कृ

आमोद-प्रमोद सिन्धुवासी आमोद-प्रमोद के शौकीन थे। मछली पकड़ना और शिकार करना इनके मनोरंजन के प्रिय साधन थे। एक मुद्रा पर कुछ लोगों को तीर-कमान से एक बारहसिंगे का शिकार करते हुए दिखलाया गया है। एक अन्य मुद्रा पर पुरुष को दो शेरों के साथ लड़ते हुए दिखलाया गया है। अवशेषों पर उत्कीर्ण चित्रों से पता चलता है कि वे लोग मनोरंजन के लिए मुर्गे, तीतर और बटेरों को लड़ाया करते थे। खेलकूद और व्यायाम में भी उनकी रुचि थी। एक मुद्रा पर एक व्यक्ति को व्यायाम करते हुए दिखलाया गया है। वे लोग घर में बैठकर भी अनेक खेल खेला करते थे। पत्थर, मिट्टी और हाथीदाँत के बने हुए अति सुन्दर पासे (गोटियाँ) मिले हैं। ये पासे चतुष्कोण आकार के हैं और इन पर बिन्दुओं में संख्या बनी है। इनसे प्रतीत होता है कि वे लोग शतरंज अथवा चौपड़ से मिलते-जुलते खेल खेला करते थे। जुआ खेलना भी मनोरंजन का एक साधन था।

नृत्य और संगीत सिन्धुवासियों के आमोद-प्रमोद का मुख्य साधन था। धातु की बनी हुई नर्तकी की एक सुन्दर मूर्ति मिली है। कुछ मुद्राओं पर तबले और ढोल की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इससे पता चलता है

कि

नृत्य के समय इन वाद्यों का प्रयोग किया जाता था। कुछ मुद्राओं पर तुरही, वीणा आदि वाद्यों के चित्र भी उत्कीर्ण हैं। इन सभी से उन लोगों की संगीतप्रियता का पता चलता है।

कृ

सिन्धुवासियों ने अपने बच्चों के मनोरंजन का भी समुचित प्रबन्ध कर रखा था। खुदाई में बच्चों के खेलने के बहुत से खिलौने मिले हैं जिनमें झुनझुने, सीटियाँ, बैल-जुती गाड़ियाँ, नर-नारियों एवं पशु-पक्षिय की आकृतियों वाले खिलौने मुख्य हैं। कुछ पशु आकृति वाले खिलौने ऐसे हैं जिनका सिर हिलता है। कुछ खिलौनों में हाथ-पैरों को अलग से धागे की सहायता से जोड़ा गया है और धागे को खींचने पर खिलौने के हाथ-पैर हरकत करते हैं।

—

मृतक संस्कार मोहनजोदड़ों में कोई शव स्थान अथवा समाधि नहीं मिली है।

हड़प्पा तथा कालीबंगा में अवश्य कुछ कब्रें मिली हैं, जिनके शव का सिर उत्तर दिशा की ओर रखा था। ऐसा किसी धार्मिक विश्वास के आधार पर ही किया गया था। यहाँ शवों के साथ विविध आभूषण, वस्त्र और अन्य वस्तुएँ भी मिली थीं, जिनसे अनुमान किया जाता है कि सिन्धुवासी सम्भवतया परलोक के जीवन की कल्पना करते थे। सिन्धु सभ्यता के केन्द्रों पर इस प्रकार की समाधियों और शबोत्सर्ग की अन्य परिस्थितियों के आधार पर विश्वास किया जाता है कि सिन्धुवासी तीन प्रकार से शवों का संस्कार करते थे। पहला पूर्ण समाधिकरण, जिसके अन्तर्गत पूरे शव को गाड़ दिया जाता था, दूसरा— आशिक समाधिकरण, जिसमें शव को पशु—पक्षियों के खाने के बाद बचे भाग को गाड़ा जाता था और तीसरा अग्नि संस्कार, जिसमें शव को जलाया जाता था और कभी—कभी उसकी भस्म गाड़ दी जाती थी। हाँडियों और कलशों में इस प्रकार की भस्म तथा जली अस्थियाँ प्राप्त हुई हैं।

शिक्षा दृष्टि सिन्धुवासी लिखना पढ़ना जानते थे और उन लोगों ने अपने बच्चों एवं युवकों के लिए शिक्षा का एक विकसित पाठ्यक्रम भी अवश्य बनाया होगा। लिखने का काम मुख्यतः तख्तियों पर होता था। खुदाई में कुछ तख्तियाँ मिली भी हैं। लकड़ी की इन तख्तियों पर लकड़ी की कलमों से लिखा जाता था। खुदाई में प्राप्त बहुसंख्यक खिलौनों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि बच्चों को प्रत्यक्ष ज्ञान उपलब्ध कराने में इनका प्रयोग किया जाता था। तोल और माप के निश्चित साधनों से अनुमान होता है कि बच्चों को अंकगणित की शिक्षा दी जाती थी। खुदाई में प्राप्त बाँटों की दशमलव इकाइयों के आधार पर यह अनुमान भी है कि सिन्धुवासी दशमलव पद्धति से परिचित थे। भवन और नगर निर्माण को निश्चित योजना से स्पष्ट है कि विद्यार्थियों को ज्यामिति के उच्च सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाती थी। विद्वानों का मानना है कि सिन्धुवासियों को ज्योतिष के सिद्धान्तों की भी जानकारी रही होगी। सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई के प्रति लोगों की गहरी रुचि इस बात का संकेत है कि वे लोग रोगों से बचने का उपाय जानते थे और उन्हें चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान भी था। इस प्रकार उनके पाठ्यक्रम में अंकगणित, ज्यामिति, ज्योतिष एवं चिकित्सा के विषय अवश्य रहे होंगे। सम्भव है कि विद्यार्थियों को संगीत, नृत्य एवं चित्रकला की भी शिक्षा दी जाती थी।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

45

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

46

—

प्राचीन भारतीय इतिहास

लिपि सिन्धु सभ्यता के भग्नावशेषों में प्राप्त बहुत-सी मुद्राओं, ताम्रपत्रों और मिट्टी के बर्तनों पर अनेक प्रकार के लेख उत्कीर्ण हैं। लेख केवल एक या दो पंक्तियों वाले ही हैं। इसलिए विद्वान लोग इन लेखों को पढ़ने अथवा लिपि की सही जानकारी प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाये हैं। हण्टर महोदय का मत कि ये लेख चित्रलिपि में हैं और सिन्धु लिपि को चित्रात्मक लिपि कहना चाहिए। लिपि का प्रत्येक चित्र किसी विशेष शब्द अथवा वस्तु को प्रकट करता है और विद्वानों ने अब तक ऐसे 396 चिन्हों की सूची बनाई है। विद्वानों का मानना है कि यह लिपि पहली पंक्ति में दाहिनी ओर से बायीं ओर लिखी जाती थी और दूसरी पंक्ति बायीं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती थी। इस प्रकार की लिखावट को श्वस्त्रोफेदनश (ठवनेजतवचीमकवद) कहा जाता है। विद्वानों का मानना है कि यह लिपि सुमेरिया और मिश्र की लिपियों की तुलना में अधिक उन्नत और परिष्कृत थी।

कृ

टमसस ।=

चित्र रु मोहनजोदड़ो की लिखावट

कला सिन्धु सभ्यता की नगर-निर्माण और भवन निर्माण कला का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। संगीत-नृत्य तथा केश विन्यास का विवरण भी दिया जा चुका है। मिट्टी के बर्तनों और मूर्तियों का उल्लेख भी यथास्थान पर किया जा चुका है। मूर्तिकला के क्षेत्र में पत्थर और धातु की बनी मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त नर्तकी की एक मूर्ति इतनी सुन्दर है कि यह बिल्कुल सजीव प्रतीत होती है। नर्तकी त्रिभंगी मुद्रा में नृत्य करने के लिए तैयार दिखलाई पड़ती है। हड़प्पा से प्राप्त दो पाषाण मूर्तियों की भी विद्वानों ने काफी प्रशंसा की है। एक मूर्ति लाल पत्थर की बनी मानव मूर्ति है। इस मूर्ति का सिर टूटकर कहीं खो गया है। परन्तु शेष शरीर का अनुपात और सौष्ठव सराहनीय है। दूसरी मूर्ति काले पत्थर की है और वह किसी नर्तक की प्रतीत होती है। नर्तक ने नृत्य की मुद्रा में अपना बायाँ पैर पृथ्वी से ऊपर उठाया हुआ है। मोहनजोदड़ो से एक अन्य खंडित प्रतिमा मिली है। यह मूर्ति किसी पुजारी अथवा योगी की प्रतीत होती है, क्योंकि मूर्ति की आँखें अधखुली हैं और ऐसा लगता है कि मानो वह व्यक्ति योगस्थ है। पाषाण की मूर्तियों में पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ कम मिली हैं, परन्तु उनमें एक बैल की मूर्ति उल्लेखनीय है। इस मूर्ति का मुख्य शरीर पत्थर का है, परन्तु सींग और कान किसी दूसरी वस्तु के बने हुए हैं। सिन्धु सभ्यता की मूर्तिकला के सम्बन्ध में जान मार्शल ने लिखा है कि, शसिन्धुघाटी की कला और धर्म भी उतने ही विचित्र हैं और उन पर अपनी एक विशिष्ट छाप है। इस काल में हम अन्य देशों में कोई ऐसी वस्तु नहीं जानते जो शैली की दृष्टि से यहाँ बनी मूर्तियों से साम्य रखती हो। उनका कहना है कि ये मूर्तियाँ इतनी सुन्दर हैं कि चौथी शताब्दी ई. पू. कोई भी यूनानी कलाकार इनको अपनी कृति बताने में गौरव अनुभव करेगा।

सिन्धुवासियों के चित्रकला ज्ञान की जानकारी उनके मिट्टी के बर्तनों पर बने

चित्रों से होती है। सिन्धु चित्रकार रेखाओं और बिन्दुओं के माध्यम से बर्तनों पर चित्रकारी करते थे तथा उन पर हिरण, बकरी, खरगोश, कौआ, बतख, गिलहरी, मोर, साँप, मछली आदि पशु-पक्षी और पीपल, नीम, खजूर आदि पेड़-पौधों के चित्र बनाते थे। हड़प्पा से प्राप्त बर्तनों पर मानव आकृतियाँ भी बनीं मिली हैं। एक बर्तन पर एक मछुआरे का चित्र बना है जो बाँस पर जाल लटकाये जा रहा है और उसके पैरों के पास मछली और कछुए पड़े हैं। कुछ बर्तनों पर बने चित्र बड़े आकर्षक और वास्तविक लगते हैं।

राजनीतिक संगठन

ठोस प्रमाणों के अभाव में सिन्धु सभ्यता में विद्यमान शासन पद्धति अथवा राजनीतिक संगठन के बारे में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। सिन्धु वासियों की योजनाबद्ध नगर एवं भवन निर्माण कला, नगरों की स्वच्छता की व्यवस्था, एक ही समान तोल एवं माप के साधन आदि की एकरूपता से इतना तो निश्चित है कि उनका राजनीतिक संगठन काफी उन्नत रहा होगा। हण्टर महोदय का मत है कि सिन्धु

वासियों का शासन जनतन्त्रात्मक था। शासन सत्ता किसी एक व्यक्ति अथवा राजा में केन्द्रित न होकर जनता के प्रतिनिधियों में केन्द्रित थी। मैके महोदय का मानना है कि शासन सत्ता किसी एक प्रतिनिधि शासक के हाथ में रही होगी। हीलर का मानना है कि पुजारी वर्ग के हाथ में सत्ता रही होगी। पिगट का मानना है कि शासन-तन्त्र पर पुजारी वर्ग का विशेष प्रभाव रहा होगा। शासन का स्वरूप चाहे जो रहा हो, इतना निश्चित प्रतीत होता है कि केन्द्रीय सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो गया था और लोगों को स्थानीय शासन का दायित्व सौंप दिया गया था। स्थानीय लोग अपने प्रतिनिधियों अथवा अधिकारियों के माध्यम से स्थानीय शासनतन्त्र चलाते थे। कुछ विद्वानों का मानना है कि विशाल सिन्धु साम्राज्य में सुव्यवस्था एवं शान्ति बनाये रखने की दृष्टि से दो शासन केन्द्रों की स्थापना की गई थीय उत्तर में हड़प्पा और दक्षिण में मोहनजोदड़ो। मैके महोदय का मत है कि नगरों की सुरक्षा तथा शान्ति स्थापना के लिए पुलिस अथवा सुरक्षा सेना की व्यवस्था रही होगी। दोनों नगरों में प्राप्त दुर्गों के भग्नावशेष उनके मत की पुष्टि करते हैं।

समकालीन सभ्यताओं से सम्बन्ध विद्वानों का मानना है कि सिन्धु सभ्यता का अपनी समकालीन सभ्यताओं— मेसोपोटामिया, एलाम, क्रीट मिश्र आदि से प्रत्यक्ष व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध था। मेसोपोटामिया के साथ अधिक घनिष्टता रही होगी। इस घनिष्ट सम्बन्ध की पुष्टि दोनों सभ्यताओं में एक दूसरी सभ्यता की वस्तुओं के मिलने से होती है। मेसोपोटामिया में सिन्धु सभ्यता की मुद्राओं, बर्तन, चूल्हे तथा बैल की एक सरीखी मूर्ति मिली है। भारत में मेसोपोटामिया की कीलाक्षर लिपि में खड्डा एक लेख मिला है। जिस प्रकार बेबीलोन और सुमेर के बैलों में दाढ़ी बताई गई है। सुमेरिनवासियों की भांति सैन्धव लोग भी अपने केश फीते से बाँधते थे और कुछ लोग मूँछें मुँडवाते थे। सिन्धु की भाँति सुमेरियन मुद्राओं पर भी स्वस्तिक का चिन्ह मिला है। सिन्धु और मेसोपोटामिया—

प्राचीन भारतीय इतिहास

दोनों क्षेत्रों में पाये गए बहुत से चूल्हे,

कुछ

गोल कुएँ और मीनारें समान आकार के हैं। इसी प्रकार मिश्री आभूषण एवं श्रृंगार-प्रसाधन तथा सिन्धु के आभूषणों और श्रृंगार-प्रसाधनों में महत्त्वपूर्ण समानता दिखाई देती है। भारत की गुरियाएँ मिश्री क्षेत्र में मिली हैं और मिश्री शैली का लकड़ी का सामान सिन्धु क्षेत्र में मिला है। इससे इन दोनों क्षेत्रों में सांस्कृतिक सम्बन्ध प्रकट होते हैं। इसी प्रकार एजीयन द्वीप समूह सभ्यता के प्रमुख केन्द्र और क्रीट के चित्रों और सैन्धव सभ्यता की मुद्राओं पर बने चित्रों में काफी समानता है। दोनों क्षेत्रों में प्राप्त आभूषणों में भी गहरी समानता है। इससे क्रीट के साथ सम्बन्धों का अनुमान लगाया जा सकता है। विभिन्न स्थानों पर मिलने वाली ये समानताएँ प्रकट करती हैं कि बहुत प्राचीनकाल में भारत का पश्चिम से सांस्कृतिक तथा व्यापारिक आदान-प्रदान एवं सम्पर्क बना हुआ था।

कृ

कृ

सिन्धु सभ्यता का विनाश सिन्धु सभ्यता का विनाश कैसे हुआ? यह प्रश्न आज भी विवादास्पद है। खुदाई में हमें सात सतहें प्राप्त हुई हैं, जिनसे पता चलता है कि यहाँ की सभ्यता का विनाश कई बार हुआ। बार-बार का विनाश और उसी स्थान पर पुनर्निर्माण यह सिद्ध करता है। कि सिन्धुवासी रुढ़िवादी थे, लेकिन ऐसी महत्त्वपूर्ण नगरों वाली सिन्धु सभ्यता का विनाश आज भी एक पहेली बना हुआ है। इतिहासकारों में अब यह आम सहमति है कि इस महत्त्वपूर्ण सभ्यता का विनाश किसी एक आकस्मिक घटना के कारण विशेष से नहीं हुआ, बल्कि इसका विनाश विभिन्न कारणों के संयोग का परिणाम था—

(1) प्रथम कारण प्राकृतिक तत्वों की प्रतिकूलता हो सकती है। सिन्धु सभ्यता के निवासी पर्यावरण की शुद्धता से सर्वथा अनभिज्ञ थे। ताँबे तथा काँसे के उत्पादन के लिए ईंटें पकाने के लिए तथा अन्य कार्यों के लिए हजारों टन लकड़ी जलाई गई होगी, जिससे समीपवर्ती क्षेत्र के जंगल और वनस्पति नष्ट हुई और भूमि में नमी की कमी हुई चरागाहों का अत्यधिक उपयोग भी हानिकारक सिद्ध हुआ। अतः प्रख्यात विद्वान् ए. घोष का मत है कि आर्द्रता का हास व भूमि की शुष्कता का विस्तार सभ्यता के विनाश के लिए महत्त्वपूर्ण रहा होगा। नदियों ने भी अनेक बार अपना मार्ग बदला होगा, जिससे कुछ बस्तियाँ उजड़ गई होंगी। भूकम्प अथवा किन्हीं अन्य भूतात्विक परिवर्तनों के कारण भी नदियों के प्रवाह मार्ग में परिवर्तन हुआ होगा। श्री माधोस्वरूप वत्स हड़प्पा नगर के विनाश के लिए रावी नदी के मार्ग परिवर्तन को उत्तरदायी मानते हैं। 1968 ई. में डेल्स ने कालीबंगा क्षेत्र का सर्वेक्षण करके बताया कि घरघर और उसकी सहायक नदियों के रुख परिवर्तन के कारण कालीबंगा संस्कृति का अन्त हुआ। यह भी मत व्यक्त किया जाता है कि सिंचाई प्रणाली द्वारा सीमाओं से अधिक पानी का उपयोग किया गया होगा, जिसके कारण जलस्तर बहुत कम हो गया। जल की

कमी ने इस सभ्यता का विनाश कर दिया।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

48

सिन्धु सभ्यता के बार-बार विनाश और पुनर्निर्माण से यह भी अनुमान लगाया जाता है कि सिन्धु नदी की बाढ़ें इस सभ्यता के विनाश का एक प्रमुख कारण रही होंगी। मार्शल को मोहनजोदड़ों को विभिन्न सतहों से बालू के रूप में बाढ़ के प्रमाण मिले हैं। मैके के अनुसार चन्हुदड़ों के अन्तिम चरण में भयंकर बाढ़ के प्रमाण रेत की तह से स्पष्ट हैं। अतः अनेक विद्वानों की मान्यता है कि सिन्धु नदी की बाढ़ों ने इस सभ्यता का विनाश कर दिया था। एस. आर. राव के अनुसार एक बाढ़ लगभग 2000 ई. पू. और दूसरी उसके लगभग एक शताब्दी बाद आई थी।

मोहनजोदड़ों की अन्तिम अवस्था में असुरक्षा और हिंसा के कुछ चिन्ह देखने को मिलते हैं। एक स्थान पर कई खोपड़ियों को एक साथ डाल दिया गया है। नई किस्म की कुल्हाड़ियाँ भी देखने को मिलती हैं। हड़प्पा के परवर्ती अवस्था के एक कब्रिस्तान से नये किस्म के मृद्भाण्ड मिले हैं। ये सभी तथ्य बाहरी तत्वों के आगमन या आक्रमण का संकेत देते हैं। अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि सिन्धुवासी शान्तिप्रिय थे और आर्यों के निरन्तर आक्रमणों से परेशान होकर वे दक्षिण भारत की ओर चले गए। आक्रमणकारी आर्यों ने अनेक भव्य नगरों एवं दुर्गा को नष्ट कर दिया। परन्तु सिन्धु सभ्यता के विनाश का वास्तविक कारण क्या था, यह कहना बड़ा कठिन है। यद्यपि ऋग्वैदिक आर्य सप्तसिन्धु के प्रदेशों में ही बस गए थे, किन्तु सिन्धु सभ्यता के निवासियों और आर्यों के बीच कड़ा संघर्ष हुआ था, इस बात के कोई प्रमाण नहीं मिले हैं। आर्यों का अनार्यो से संघर्ष का उल्लेख तो ऋग्वेद में मिलता है, लेकिन ये अनार्य सिन्धुवासी ही थे, इसका कोई प्रमाण नहीं मिला है।

सिन्धु सभ्यता और वैदिक सभ्यता डॉ. लक्ष्मणस्वरूप का मत है कि सिन्धु सभ्यता और वैदिक सभ्यता— दोनों के जन्मदाता आर्य थे तथा वैदिक सभ्यता सिन्धु सभ्यता से भी अधिक प्राचीन थी। परन्तु अधिकांश विद्वान इस मत को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि दोनों सभ्यताओं में काफी विषमता देखने को मिलती है। सिन्धु सभ्यता नगरीय एवं व्यापार प्रधान थीय विशाल भवन, चौड़े-चौड़े राजमार्ग, सुव्यवस्थित नालियाँ, सुव्यवस्थित नगर, स्वशासन और नागरिक जीवन की सुख-सुविधाएँ सिन्धु सभ्यता की विशेषताएँ थीं। इसके विपरीत

प्राचीन भारतीय इतिहास

वैदिक सभ्यता ग्रामीण प्रधान थी। आर्य लोग गाँवों और आश्रमों में रहते थे। सिन्धु सभ्यता व्यापार प्रधान थी उसमें घरेलू उद्योग—धन्धों के साथ—साथ बड़े कुटीर उद्योग भी प्रचलित थे। इसके विपरीत वैदिक सभ्यता कृषि प्रधान थीय आर्य लोग पशु—पालन व ग्रामीण उद्योग—धन्धों को अधिक महत्त्व देते थे। आर्यों के जीवन में घोड़े का विशेष महत्त्व था, परन्तु सिन्धुवासियों ने घोड़े का प्रयोग करना नहीं सीखा था। इसी प्रकार आर्य लोग गाय को सम्मान एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और उसकी

पूजा करते थे, परन्तु सिन्धुवासी बैल को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और उसे शक्ति का प्रतीक मानकर उसकी पूजा करते थे। सिन्धुवासी मूर्तिपूजक थे। वे लोग परम पुरुष और परम नारी (शिव और शक्ति) को प्रधान मानते थे। परन्तु आर्य लोग मूर्तिपूजक नहीं थे। वे प्रकृति की शक्तियों के उपासक थे और उनकी उपासना में अग्नि, यज्ञ और हवन का विशेष महत्त्व था। आर्य लोग सिन्धुवासियों की भाँति शिव – पूजा तथा लिंग पूजा में विश्वास नहीं रखते थे।

□

विद्वानों के अनुसार सिन्धु सभ्यता ताम्रकालीन थी। उसके निवासियों को ताँबा, सोने और चाँदी का ज्ञान था। फिर भी, वे लोग पत्थर का प्रयोग अधिक करते थे। जहाँ तक लोहे का सवाल है, सिन्धुवासी इस धातु से सर्वथा अपरिचित थे। इसके विपरीत आर्यों को लोहे के अलावा ताँबा, सोना, चाँदी, काँसा आदि सभी धातुओं का ज्ञान था और वे लोग लोहे का व्यापक प्रयोग करते थे। उन्होंने पाषाण के हथियार तथा बर्तनों आदि को बनाना बन्द कर दिया था। सिन्धु सभ्यता के अस्त्र—शस्त्र सादे थे और केवल आत्मरक्षा के उपयोग के लिए थे। इसके विपरीत आर्य लोग ढाल, कवच और शिरस्त्राण धारण करते थे। सिन्धुवासी इनसे अपरिचित थे। आर्यों के अस्त्र—शस्त्र अधिक तीक्ष्ण और पैने होते थे। वे युद्धप्रिय थे।

सामाजिक जीवन की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर था। सिन्धुवासियों का जीवन सुखी, समृद्ध एवं वैभवशाली थाय जबकि आर्यों का जीवन सरल एवं सादा था। सिन्धुवासियों के भोजन में मछली का भी स्थान था, जबकि माँसाहारी होते हुए भी आर्यों को मछली पसन्द न थी।

—

अब हम दूसरे प्रश्न को लें सिन्धु सभ्यता को वैदिक सभ्यता से प्राचीन कैसे माना जा सकता है? यदि हम आर्यों को सिन्धु सभ्यता का निर्माता मान लें तो फिर यह प्रश्न उठेगा कि जो आर्य धातुओं के प्रयोग को जानते थे वे उसे कैसे भूल गए और सिन्धु सभ्यता के काल में उन्होंने पाषाण का व्यापक प्रयोग क्यों किया? जिन आर्यों को घोड़ों से इतना लगाव था, वे सिन्धु सभ्यता के काल में घोड़े के प्रयोग को ही विस्मृत क्यों कर बैठें? यही बात आर्यों के अस्त्र—शस्त्र तथा धार्मिक विश्वासों के बारे में भी कही जा सकती हैं। इसके अलावा इतिहास से पता चलता है कि अपनी सभ्यता के क्रमिक विकास में मानव ने पाषाण—प्रयोग के बाद धातु प्रयोग सीखा है। अतः स्पष्ट है कि वैदिक सभ्यता सिन्धु सभ्यता

के बाद की सभ्यता है और दोनों के निर्माता अलग-अलग जाति के लोग थे।
कृ

आधुनिक हिन्दू धर्म की देन बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि आधुनिक हिन्दू धर्म का स्रोत सिन्धु घाटी रहा होगा। स्टुअर्ट पिंगट इसी मत को स्वीकार करते हैं। जॉन मार्शल भी इसी मत के अनुयायी हैं। उन्होंने लिखा है कि, षसिन्धु घाटी के धर्म में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे मिलती-जुलती बातें हमें अन्य देशों में भी मिल सकती हैं और यह बात सभी प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक धर्मों के विषय में ठीक सिद्ध होगी। लेकिन सब कुछ होते हुए भी उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ भारतीय है कि आधुनिक युग के प्रचलित हिन्दू-धर्म से कठिनाता से उसका भेद किया जा सकता है।^{१२}

वस्तुतः सिन्धु घाटी के लोगों के धर्म तथा आधुनिक हिन्दू-धर्म-दोनों में अनेक विषयों पर आश्चर्यजनक समानता है। हिन्दुओं की भाँति सिन्धुवासी भी बहुदेववादी होते हुए भी वे एक ईश्वरीय सत्ता से परिचित थे। सिन्धुवासियों ने परम पुरुष तथा परम-नारी को सृजन-शक्ति के प्रतीक रूप में माना तो हिन्दू लोग पार्वती – परमेश्वर को मानते हैं। सिन्धुवासियों का पाशुपति शिव हिन्दू-धर्म के शिव से मिलता-जुलता है। पाशुपति शिव की भाँति हिन्दुओं का शिव भी योगीश्वर है, त्रिशूलधारी है और पशुपति के रूप में विख्यात है। सैन्धवों का पाशुपति त्रिनेत्र हैं, तो हिन्दुओं का शिव त्रिमुखी है और उसके तीसरे नेत्र की भी कल्पना की गई है। सिन्धुवासियों की मातृ देवी हिन्दू धर्म की पृथ्वी एवं अदिति तथा आद्यशक्ति से मिलती-जुलती है। सिन्धुवासी लिंग की पूजा करते थे, तो हिन्दू धर्म में आज भी लिंग पूजा का महत्त्व बना हुआ है। सैन्धवों की भाँति हिन्दू धर्म में भी कहीं-कहीं पर लिंग योनि की सम्मिलित पूजा का महत्त्व भी बना हुआ है। सिन्धुवासी वृक्षों की पूजा करते थे। हिन्दू धर्म में भी तुलसी, पीपल, आँवला, बबूल, शीशम आदि वृक्षों को धार्मिक महत्त्व दिया जाता है और समय-समय पर इनकी पूजा भी होती है। सिन्धुवासी बहुत-से पशु-पक्षियों की पूजा करते थे। हिन्दू धर्म में अनेक पशु-पक्षियों को देवताओं का वाहन मानकर धार्मिक महत्त्व दिया गया है जैसे कि हाथी इन्द्र का बाघ दुर्गा का मेंढा ब्रह्मा का घड़ियाल गंगा का भैंसा यम का बैल शंकर का उल्लू लक्ष्मी का वाहन समझा जाता है। सिन्धुवासियों की भाँति हिन्दुओं में नाग पूजा भी प्रचलित है।

सिन्धुवासियों में पवित्र स्नान और जल पूजा का धार्मिक महत्त्व था। आधुनिक हिन्दू धर्म में भी इसका महत्त्व कायम है। सिन्धुवासी प्रतीक पूजा करते थे। हिन्दू धर्म में स्वास्तिक चिन्ह आज भी पवित्र और शुभ माना जाता है। सिन्धुवासी साकार उपासना में विश्वास रखते थे और उन्होंने अपने देवताओं की मूर्तियाँ बनाईं। हिन्दू धर्म में भी मूर्तिपूजा प्रचलित है। जिस प्रकार सिन्धुवासी अपनी मूर्तियों के आगे धूप-दीप जलाते थे, उसी प्रकार हिन्दू लोग भी मूर्तियों के आगे धूप-दीप जलाते हैं। विद्वानों का मानना है कि सिन्धु प्रदेश में देवताओं की सेवा के लिए उपासिकाएँ एवं देवदासियाँ होती थीं। हिन्दू धर्म में भी इस परम्परा को



देखा जा सकता है। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए सिन्धुवासी पशुबलि देते थे। हिन्दू-धर्म में भी कुछ देवी-देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए पशुबलि दी जाती थी। सिन्धुवासियों के धार्मिक जीवन में योग-साधना का विशेष स्थान बना हुआ है। चूँकि हिन्दू धर्म के उपर्युक्त बहुत-से लक्षण वैदिक धर्म से भिन्न हैं अतः विद्वानों का मानना है कि ये अनार्य सभ्यता की देन है और उनका मूल स्रोत शायद सिन्धुवासियों का धर्म रहा हो।

यद्यपि सिन्धु सभ्यता का पूर्णरूप से विनाश हो गया, किन्तु सिन्धु संस्कृति कभी भी पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुई सिन्धु संस्कृति ने आर्यो की संस्कृति को अनेक क्षेत्रों में प्रभावित किया। पंडित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, हम कह सकते हैं कि द्रविड़ों, जो कि सम्भवतः सिन्धु सभ्यता के प्रतिनिधि थे एवं आर्यों में प्रथम महान् सांस्कृतिक समन्वय एवं संयोग हुआ। इस समन्वय एवं संयोग से भारतीय जातियों तथा मूल भारतीय संस्कृति का विकास हुआ, जिसमें दोनों के तत्त्व विद्यमान हैं।" सिन्धु सभ्यता का सर्वाधिक महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि इस सभ्यता ने भारत में, विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक होने का गौरव प्रदान किया। अनेक इतिहासकार तो इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि सुमेर आदि सभ्यता के स्रोत ही सिन्धु सभ्यता तथा मैसेपोटामिया, मिस्र आदि की प्राचीन संस्कृतियों को प्रभावित करने वाली संस्कृति भारतीय थी।

स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

—

1. परम नारी की पूजा— सिन्धुवासियों में परम नारी की पूजा भी काफी लोकप्रिय रही होगी। सिन्धु नगरों की खुदाई में मिट्टी की बनी हुई बहुत-सी नारी मूर्तियाँ मिली हैं। विद्वानों का मत है कि ये मूर्तियाँ मातृदेवी या प्रकृतिदेवी की मूर्तियाँ हैं। प्राचीन संसार में मातृदेवी की पूजा लोकप्रिय थी। ऋग्वैदिक काल में भी आद्यशक्ति या प्रकृति, पृथ्वी अथवा आदिति के रूप में मातृपूजा का उल्लेख मिलता है। मातृदेवी को पशुबलि अथवा नरबलि भी दी जाती थी। इस बात की संभावना है कि कालान्तर में मातृदेवी की इस उपासना से ही शक्ति पूजा की परम्परा का विकास हुआ होगा। मातृदेवी की मूर्तियाँ प्रायः नान रूप में मिली हैं। मूर्ति की कमर में पटका और मेखला तथा गले में गुलूबन्द अथवा हार प्रदर्शित किया गया है। सिर पर कुल्हाड़ी से मिलती-जुलती आकृति की कोई वस्तु भी दिखाई पड़ती है। कुछ मूर्तियों में जननी का रूप दिखाया गया है।

जिनमें शिशु को स्तनपान करते हुए प्रदर्शित किया गया है। एक मूर्ति में एक ऐसी स्त्री बनी हुई है जिसके गर्भ से एक वृक्ष निकलता हुआ प्रदर्शित किया गया है। सम्भवतः यह वानस्पतिक जगत की देवी का प्रतीक हो। एक अन्य मूर्ति के शीश पर एक पक्षी पंख फैलाये बैठा है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि सिन्धुवासी मातृदेवी को सारे लोक की पोषिका – पालिका – जननी मानते थे। बहुत-सी मूर्तियों के दोनों ओर दो प्याले अथवा दीपक हैं और इन मूर्तियों के अग्रभाग पर धूम्र के निशान हैं। इससे कल्पना की जाती है कि सिन्धुवासी इन प्यालों में तेल अथवा धूप जलाते थे।

—

2. नारी का स्थान ठोस साक्ष्यों के अभाव में समाज में नारी के स्थान पर समुचित प्रकाश डालना सम्भव नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि सैन्धव समाज में नारी का आदरपूर्ण स्थान था। वह परिवार की मुखिया एवं पोषिका समझी जाती थी। उसका मुख्य कार्य बच्चों का लालन-पालन एवं फालतू समय में घर पर सूत कातना था। मुद्राओं पर अंकित विभिन्न नारी चित्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सैन्धव स्त्रियों में पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था और वे धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों में पुरुषों के साथ समान रूप से सम्मिलित होती थीं।

स्वपरीक्षण करें (जमेज ल्वनतेमर्सा)

1. सिन्धु सभ्यता की सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्थिति का उल्लेख कीजिए।
2. सिन्धु सभ्यता की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. सिन्धु सभ्यता में नगर योजना एवं स्थापत्य की विशेषताओं को रेखांकित कीजिए।
4. सिन्धु सभ्यता के सामाजिक जीवन और आर्थिक गतिविधियों पर एक निबन्ध लिखिये।
5. शसिन्धु सभ्यता एक नागरीय सभ्यता थी। प्रमाण सहित इस कथन की पुष्टि कीजिए।
6. सिन्धु सभ्यता के विनाश के कारण बताइये।

इकाई – 3

भारत में लौह एवं महापाषाण युगीन संस्कृतियाँ

परिचय

भारत की लौहयुगीन संस्कृतियों का वर्गीकरण

उत्तर भारत की लौहकालीन चित्रित घूसर मृद्भाण्ड संस्कृति

उत्तर भारत की लौहकालीन उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति

चित्रित घूसर मृद्भाण्ड परम्परा की संस्कृति

उत्तर भारत की लौहकालीन कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति

पात्रों के प्रकार एवं आकार



उत्तर काली चमकीली मृद्भाण्ड परम्परा की संस्कृति
भारत की महापाषाणयुगीन समाधि संस्कृतियाँ
दक्षिण भारत की महापाषाणयुगीन समाधियाँ
उत्तर भारत की महापाषाणयुगीन संस्कृति
अध्ययन उद्देश्य रू

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

—

भारत में लौह एवं महापाषाण युगीन संस्कृतियाँ
भारत की लौह युगीन संस्कृतियों का वर्गीकरण
उत्तर भारत की लौहकालीन कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति ।
छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

+1

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

52

परिचय (पदजमतवकनबजपवद)

तकनीक के दौरान भारत में लौहयुगीन संस्कृतियों को लेकर अनेक मान्यताएँ हैं कुछ विद्वान लोहे का उद्भव ऋग्वैदिककालीन मानते हैं। ऐसे विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद में प्रयुक्त शब्द अयस लोहा ही है जबकि अन्य दूसरे विद्वानों का मत है कि अयस शब्द ताम्र धातु के लिए प्रयुक्त हुआ है क्योंकि उत्तर वैदिक साहित्य में कृष्ण अयस और ताम्रअयस दो अलग-अलग शब्दों का मिलना यह सिद्ध करता है कि संभवतः उत्तर वैदिक काल में ताम्र व लौह धातुओं का ज्ञान स्पष्टतः हो चुका था। इसके अलावा कुछ विद्वानों का मानना है कि लोहे का ज्ञान ताम्र प्रगलन ताम्रपाषाण कालीन संस्कृति के निवासियों को हो गया था तथा भारतीय उपमहाद्वीप में कतिपय ताम्रपाषाणकालीन संस्कृति के निवासियों को लोहे का ज्ञान था। लेकिन इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि द्वितीय सहस्राब्दी ई.पू. के उत्तरार्द्ध में भारत में लोहे का ज्ञान हो गया था तथा मानव जीवन की दैनिक गतिविधियों में लोहे का उपयोग प्रथम सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में ही हुआ। इस काल खण्ड को 1200 ई. से 600 ई. पू. के मध्य निर्धारित किया जा सकता है।

भारत की लौहयुगीन संस्कृतियों का वर्गीकरण

भारत में लोहे के सर्वाधिक प्राचीनतम प्रमाण नोह (भरतपुर), जोधपुर (जयपुर) तथा अतिरंजीखेडा और लालकोट (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त हुए हैं जिनकी कार्बन 14 तिथि एक हजार ई. पू. के आसपास मानी गई है। पुरातत्ववेत्ताओं का यह मत है कि भारत में जब लोहे का आगमन हुआ उस समय एक विशिष्ट प्रकार की मृद्भाण्ड संस्कृति का विकास हुआ था, जिसे चित्रित घूसर मृद्भाण्ड संस्कृति

ति कहा जाता है। इस संस्कृति की द्वितीय अवस्था में जो लगभग 1000 ई. पू. से प्राप्त होती हैं, के द्वितीय चरण में जखेरा और अतिरंजीखेडा से लोहे के अनेक उपकरण प्राप्त हुए हैं जिनमें भाला, बाणाग्र, छैनी, कांटे, कील और कुल्हाड़ियाँ सम्मिलित हैं। इन दोनों स्थलों में भी अतिरंजीखेडा एक ऐसा स्थल है जहाँ से लोहा गलाने हेतु प्रयुक्त की गई भट्टियों के भी प्रमाण मिले हैं। पाणिनी की अष्टाध्यायी, जिसे सातवीं शताब्दी ई. पू. की रचना माना जाता है, में भी यह उल्लेख मिलता है कि इस समय के निवासियों को लोहा गलाने का ज्ञान था। इस समय तक लोहे का समाज में व्यापक प्रयोग होने लगा था। अतिरंजीखेडा के अलावा जखेरा से प्राप्त कृषि उपकरणों से भी इसकी पष्टि होती है। जखेरा से प्राप्त लौह निर्मित कुल्हाड़ियाँ जो संभवतः और स्थानों में भी निर्मित होती होंगी, से तत्कालीन निवासी मध्य गंगा बेसिन के घने जंगलों को साफ करके खेती योग्य बनाने में सफल हुए होंगे। अतिरंजीखेडा और जखेडा के अलावा राजस्थान के झुन्झुनू जिले के सुनारी नामक ग्राम से भी लोहा गलाने की भट्टियाँ मिली हैं। भट्टियों एवं धौकनियों के प्रमाण बिहार के अलावा मध्यप्रदेश के उज्जैन तथा राजस्थान के उदयपुर जिले के बालाथल एवं ईसवाल से मिले हैं। इन सभी स्थलों से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोहा गलाने में प्रयुक्त भट्टियाँ नाशपाती के आकार की होती थी। भट्टियों में लोहे के अयस्क को गलाकर जो लोहा प्राप्त होता था, उसे पीट-पीट कर उसमें से शुद्ध लोहा निकाल लिया जाता था। आज भी बस्तर क्षेत्र के आदिवासी इस तकनीक के द्वारा लोहा प्राप्त करते हैं।

उत्तर भारत की लौहकालीन चित्रित घूसर प्रभाव
संस्कृति

साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोतों के आधार पर यह तथ्य प्रकाश में आया है कि प्राचीन भारत के अधिकांश पुरास्थल उन स्थानों पर अवस्थित हैं जहाँ लोहे की खानें हैं। प्राचीनकाल में गांगेय क्षेत्र के मैदानी भाग में भी लौह धातु के शोधन के साक्ष्य धातु अपशिष्ट के रूप में मिलते हैं साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के संयुक्त प्रमाणों के आधार पर भारत में लौहयुगीन संस्कृतियों को अधोलिखित भौगोलिक क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है—

1. उत्तरी भारत 2. पूर्वी भारत 3. मध्य भारत तथा दकन 4. दक्षिण भारत
उत्तरी भारत में विभिन्न स्थलों के उत्खनन से प्राप्त उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड (छवतजीमतद ठसंबा च्वसपीमकत्तम) लौहयुगीन संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उत्तरी भारत में छठी शताब्दी ई. पू. में निवासी लोहे के उपकरणों का प्रयोग करने लगे थे। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उत्तरी भारत में लोहे का आगमन कब हुआ ? संभवतः आलमगीरपुर उत्तर भारत का

ऐसा प्रथम स्थल है जहाँ से चित्रित घूसर मृद्भाण्डों (च्यदजमक ळतमलत्तम) के साथ लोहे के उपकरण भी मिले हैं। यहाँ यह जानना आवश्यक हो जाता है



कि चित्रित घूसर मृद्भाण्ड परम्परा उत्तरी कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड परम्परा से प्राचीन है, इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तरी भारत में लोहे का आगमन छठी शताब्दी ई. पू. पहले हो गया था। आलमगीरपुर के अलावा ऐसे प्रमाण अहिछत्र, नोह अतिरंजीखेड़ा, बटेश्वर, अल्लापुर से भी मिले हैं। चित्रित घूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के निवासी बाण फलक, भाला— फलक, कटार, सुखी, मछली पकड़ने के कांटे, चिमटा, बसूला तथा कीले बनाते थे। पुरातत्ववेत्ता इस आधार पर उत्तर भारत में लोहे का आगमन नवीं— आठवीं शताब्दी ई. पू. स्वीकारते हैं यद्यपि गत एक दशक में उत्तर भारत में हुए विभिन्न उत्खननों के आधार पर अब उत्तर भारत में लोहे की प्राचीनता तेरह सौ चौदह सौ ई. पू. तक मानी जाने लगी है।

पूर्वी भारत

पूर्वी भारत में उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड परम्परा से पहले व्यवहार में प्रयुक्त कृष्ण लोहित पात्र परम्परा से ही लौह उपकरणों का मिलना प्रारंभ हो जाता है। पूर्वी भारत के ऐसे महत्वपूर्ण पुरास्थलों में जहाँ से लौह उपकरणों के प्रमाण मिलते हैं चिरांड, सोनपुर, ताराडीह, पाण्डुराजारधिबि और महिसादल महत्व के हैं। इन स्थलों से बाण व भाला फलक, छेनी तथा कीलें आदि मिली हैं। पुरातत्ववेत्ताओं का मानना है कि पूर्वी भारत में 750 ई. पू. के आसपास लौह तकनीक प्रयुक्त होने लगी थी।

मध्य भारत तथा दक्खन

मध्य भारत तथा दक्खन प्रदेश के अन्तर्गत मध्य प्रदेश का मालवा क्षेत्र और महाराष्ट्र का पश्चिमी क्षेत्र आता है। इस क्षेत्र के मुख्य उत्खनित स्थलों में नागदा, एरण, उज्जैन, कायथा, प्रकाश आदि आते हैं। इन क्षेत्रों के अलावा महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र से ताकलवाट, खापा, महुर्झरी तथा नैकुण्ड से भी लौह संस्कृतियों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। इन क्षेत्रों से जो लौह उपकरण मिले हैं उनमें दुधारी कटार, कुल्हाड़ी का मूठ चम्मच, चिपटी, कुल्हाड़ी, छल्ला, बाण फलक, चाकू हँसिया भाला, कटार, कलछी, मछली पकड़ने का काँटा, घोड़े की लगाम तथा कीले प्राप्त हुई हैं। इन दोनों स्थानों पर लौह संस्कृति प्रारंभ होने की तिथि पुरातत्ववेत्ता आठवीं से सातवीं शताब्दी ई. पू. से पूर्व स्वीकारते हैं। नागदा और एरण के संबंध में सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता दिलीप चक्रवर्ती की मान्यता है कि नागदा और एरण में लौह संस्कृति प्रारम्भ होने के प्रणाम प्रस्तावित 8 वीं व 7वीं शताब्दी ई.पू. के माने जा सकते हैं।

दक्षिण भारत

सामान्यतः दक्षिण भारत के अन्तर्गत आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल को सम्मिलित किया जाता है। दक्षिण भारत से जो लौह उपकरण मिलते हैं, वे बृहत्पाषाणिक संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं। इनका उल्लेख यथास्थान आगे के पृष्ठों में किया जाएगा।

उत्तर भारत की लौहकालीन उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति

इस संस्कृति की खोज सर्वप्रथम 1940—44 में अहिछत्र नामक स्थल से हुई जो

उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में अवस्थित है। यहाँ से सर्वप्रथम इस परम्परा के बर्तन खोजे गए थे, लेकिन प्रारंभ में इन मृद्भाण्डों के महत्त्व को उचित रूप से नहीं आँका गया, उसके बाद हस्तिनापुर, कौशाम्बी मथुरा, श्रावस्ती, तिलपत तथा इन्द्रप्रस्थ से भी जब इस परम्परा के मृद्भाण्ड मिले तो इस परम्परा के मृद्भाण्डों के महत्त्व को समझा गया। इन मृद्भाण्डों को चित्रित घूसर कहने से यह तात्पर्य है कि यह पात्र सलेटी या गहरे रंग की राख वाले रंग के होते हैं तथा इन पर काले रंग से भिन्न-भिन्न प्रकार के अलंकरण निर्मित किए गए हैं। यह मृद्भाण्डों परम्परा पंजाब, हरियाणा, उत्तरी राजस्थान से लेकर ऊपरी गंगाघाटी, जम्मू के माण्डा तथा उज्जैन तक विस्तार पाए हुए थी। इसके अलावा चित्रित घूसर मृद्भाण्ड परम्परा पाकिस्तान के सिंध प्रांत में लखियोपीर तथा नेपाल की तराई में तिलौराकोट तक फैली हुई थी। कौशाम्बी, सोहगौरा तथा वैशाली के उत्खननों से प्राप्त मृद्भाण्डों के आधार पर पुरातत्ववेत्ताओं ने यह मत अभिव्यक्त किया है कि यह पात्र परम्परा पूर्व में अपेक्षाकृत बाद में फैली क्योंकि यहाँ से यह मृद्भाण्ड कम संख्या में मिले हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

53

उ

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

54

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चित्रित घूसर मृद्भाण्ड परम्परा लौह युग की विशिष्ट परम्परा थी। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता बी.बी. लाल ने यह मत अभिव्यक्त किया है कि इस परम्परा के मृद्भाण्ड अधिकांशतः उन सभी स्थलों से प्राप्त होते हैं, जो महाभारत काल से सम्बद्ध रहे हैं। अभी तक इस संस्कृति के चार सौ से अधिक पुरास्थल खोजे जा चुके हैं जिसके आधारपर यहा कहा जा सकता है कि संस्कृति का मुख्य केन्द्र ऊपरी गंगा घाटी, इंडो गंगा विभाजक तथा पूर्वी पाकिस्तान था। यह अत्यंत शोचनीय है कि अभी तक इस संस्कृति के दो ही स्थलों हस्तिनापुर तथा अन्तरजिखेडा का ही व्यापक उत्खनन हुआ है, तथा वह भी केवल ऊर्ध्वाकार है जिस कारण इस संस्कृति के निवासियों को जीवन पद्धति के संबंध में हमें बहुत कम जानकारी उपलब्ध है।

चित्रित घूसर मृद्भाण्ड परम्परा की सीमा एम. के. घावलिकर ने पश्चिम में सतलज तथा दक्षिण में अरावली पर्वतमाला को माना है तथा वे दक्षिण पूर्व में इसकी सीमा चंबल तक तथा उत्तर में हिमालय तक मानते हैं। राजस्थान में इस परम्परा के मृद्भाण्ड घग्गर नदी के रेतीले मैदानों में मिले हैं जिस आधार पर पुरातत्ववेत्ता इसको उत्तर वैदिक संस्कृति मानते हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास

परम्परा की तकनीक चित्रित घूसर मृद्भाण्ड

इस परम्परा के मृद्भाण्ड रंग में हल्के राखिए होते हैं तथा कभी-कभी लालिमायुक्त भी पाए जाते हैं। पुरातत्ववेत्ता साना उल्लाह के अनुसार इन मृद्भाण्डों के विशिष्ट रंग का कारण कालाफेरस ऑक्साइड उत्तर प्रदेश के अहिछत्र नामक स्थान से इस मृद्भाण्ड परम्परा के अन्तर्गत कुछ ऐसे मृद्भाण्ड भी मिले हैं जो आंशिक रूप से लाल अथवा नीले और भूरे हैं। इन मृद्भाण्डों में प्रयुक्त मिट्टी अत्यंत छनी हुई और महीन है। इन मृद्भाण्डों पर कालेरंग के अलंकरण किए गए हैं जो इनकी विशिष्टता है। इस अलंकरणों के अन्तर्गत बिन्दु व लहरदार रेखाएँ बनाई गई हैं।

मृद्भाण्डों के आकार प्रकार

चित्रित घूसर मृद्भाण्डों के अन्तर्गत सामान्यतः सकोरे अथवा कटोरी और थालियाँ प्राप्त हुई हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन मृद्भाण्डों को भोजन हेतु प्रयुक्त किया जाता था। इसके अलावा इस मृद्भाण्ड परम्परा में लोटे और यँटीदार बर्तन भी मिले हैं, जो अत्यंत कम हैं।

काल एवं उत्पत्ति

प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता बी. बी. लाल इस मृद्भाण्ड परम्परा को 1100 ई. पू. के मध्य निर्धारित करते हैं, लेकिन इसकी ज्ञात कार्बन तिथियाँ 800 से 400 ई. पू. तथा 1100 से 600 ई. पू. के मध्य है। गत दशकों में भगवान पुरा तथा दधेटी के पुरास्थलों के आधार पर पुरातत्ववेत्ताओं ने यह मत निर्धारित किया है कि इस संस्कृति का प्रारंभ द्वितीय सहस्राब्दी ई. पू. के अन्त में हो गया था।

चित्रित घूसर मृद्भाण्ड परम्परा की संस्कृति

बी. बी. लाल इस मृद्भाण्ड परम्परा को महाभारत काल से जोड़ते हैं। अभी तक ज्ञात पुरावशेषों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह ग्राम्य संस्कृति थी तथा यह ताम्र और लौह दोनों अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करती है। ये लोग बाण फलक, कुल्हाड़ियाँ, सुइयाँ और कीलें निर्मित करते थे। कृषि के क्षेत्र में यह जौ और धान से परिचित थे, गाय-बैल और घोड़ा पालते थे। संभवतः यह सूती वस्त्रों से परिचित थे। इसकी पुष्टि लोहे की सुइयों से होती है। आभूषण स्त्री पुरुष दोनों पहनते थे। ये लोग बाँस और लकड़ी की बनी खपच्चियों में गारे का लेप कर झोपड़ियाँ निर्मित करते थे। इनके ग्राम छोटे होते थे। कुछ पुरातत्ववेत्ताओं का अनुमान है कि ये लोग शव दफनाते थे।

उत्तर भारत की लौहकालीन कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति

उत्तर कृष्णमार्जित मृद्भाण्डों को छवतजीमत ठसंबा च्वसपौमक^१तम भी कहा जाता है। प्राचीन भारत की समस्त मृद्भाण्ड परम्पराओं में इनको सर्वोत्तम माना जाता है। यह पात्र परम्परा सर्वप्रथम 1934 में तक्षशिला

के भीर टीले के उत्खनन से प्रकाश में आयी थी, उस समय मार्शल ने इसे काली कांचित मात्र परम्परा नाम दिया था। लेकिन धावलीकर का कहना है कि इस प्रकार के मृद्भाण्ड सर्वप्रथम 1904-05 में सारनाथ में मिले थे। भीर तथा तक्षशिला दोनों स्थलों से यह मृद्भाण्ड पूर्व मौर्यकालीन स्तरों से प्राप्त हुए थे।

बाद में उत्तर प्रदेश के अहिछत्र नामक स्थान से उत्तरकृष्णमार्जित मृद्भाण्ड चित्रित घूसर मृद्भाण्डों के साथ प्राप्त हुए। इसके पश्चात् हस्तिनापुर से ये मृद्भाण्ड चित्रित घूसर मृद्भाण्ड के साथ प्राप्त हुए। 1946 में कृष्णदेव और व्हीलर ने इनको अठारह पुरास्थलों से प्राप्त मृद्भाण्डों के आधार पर उत्तर कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड नाम दिया। इस संस्कृति के महत्वपूर्ण पुरास्थलों में आलमगीरपुर, केसेरी, अहिछत्र, रोपड़, मथुरा, बैराट अतिरंजितखेड़ा सुध, संघोल, नोह हैं। विभिन्न पुरास्थलों से इन मृद्भाण्डों के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये मृद्भाण्ड काले रंग के अलावा सुनहरे, रुपहले, नीले, नारंगी, चाकलेटी तथा गुलाबी रंग में भी निर्मित किए जाते थे। लेकिन रूढ़ परम्परानुसार, अभी भी इन्हें काले रंग से जाना जाता है। आधुनिकतम खोजों के आधार पर अब यह माना जा सकता है कि ये पात्र परम्परा अफगानिस्तान, पाकिस्तान, भारत और बांग्ला देश के विस्तृत भूभाग में फैली हुई थी।

तकनीक

इस परम्परा के मृद्भाण्डों की अत्यंत पॉलिशयुक्त दर्पण के समान चमक वाली सतह प्रारंभ से ही पुराविदों को आकर्षित करती रही है। बी. बी. लाल के अनुसार इस दर्पण के समान चमकने वाली सतह पात्रों पर गरम अवस्था में किसी प्रकार की कार्बनिक सामग्री को प्रयुक्त किए जाने के कारण से है। जबकि हेगड़े इसका कारण लौह ऑक्साइड को मानते हैं। इसके विपरीत भारद्वाज जैसे रसायनविदों के अनुसार चमकदार काला रंग मेगनेटाइट अथवा फेरस सिलिकेट के कारण नहीं हैं, इसका कारण कार्बन है। साना उल्लाह के अनुसार इनकी काली सतह का कारण 13रू तक फ़ैरस आक्साइड है। संभवतः इन मृद्भाण्डों को पकाने से पूर्व इन पर गेरु का लेप चढ़ाया जाता था तथा इस कारण भट्टी में पकने से गैसों के न्यूनीकरण की क्रिया के कारण इनकी सतह कालो हो जाती थी।

पात्रों के प्रकार एवं आकार

उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्भाण्डों की परम्परा में पात्रों के प्रकार अत्यंत सीमित हैं। इनमें कटोरे सर्वाधिक हैं जिनके पार्श्व सीधे हैं तथा पात्र का किनारा अंदर की ओर है। वैशाली के उत्खनन से इस पात्र परम्परा के अन्तर्गत एक ढक्कन प्राप्त हुआ है, जिसको चमकदार पालिश यह आभास कराती है कि मानो यह प्रस्तर निर्मित हो। इन पात्र परम्परा के कुछ पात्रों के किनारों पर ताँबे की जाली लगी हुई है जिससे यह आभास होता है कि यह अत्यंत मूल्यवान माने जाते थे। इन पात्रों के अन्तर्गत अत्यल्प संख्या में टोंटीदार मृद्भाण्ड भी प्राप्त हुए हैं। इसके अलावा सुस्पष्ट कोखवाली हाडियाँ तथा छोटे आकार के कलश भी इस पात्र परम्परा के अन्तर्गत बनते थे। उत्तरकृष्णमार्जित मृद्भाण्ड परम्परा के अन्तर्गत हस्तिनापुर, कौशाम्बी, श्रावस्ती तथा घुले से कुछ ऐसे मुद्भाण्ड भी प्राप्त हुए हैं जिन पर चित्रकारी की गई है।

पुरातत्त्ववेत्ताओं का अभिमत है कि यह मृद्भाण्ड समाज के अभिजात्य वर्ग द्वारा

प्राचीन भारतीय इतिहास

ही प्रयोग में लाए जाते थे। इसकी पुष्टि इनके किनारों पर लगी ताँबे की जाली तथा इनके अन्य पात्र परम्परा की तुलना में कम संख्या में मिलने से भी होती है। रेडियो कार्बन तिथियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह पात्र परम्परा छठी शताब्दी ई. पू. तक अस्तित्व में आ चुकी थी तथा प्रथम शताब्दी ई. पू. तक इस पात्र परम्परा का अबाध रूप से निर्माण होता रहा। इस पात्र परम्परा की उत्पत्ति को लेकर भी विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वान इनका उद्भव यूनान की ठसंबाळस्रमकत्तम से मानते हैं, लेकिन इन मृद्भाण्डों की तिथि का ठसंबाळस्रमकत्तम से पूर्ववर्ती होना इस बात को गलत सिद्ध करता है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह पात्र परम्परा विशुद्ध भारतीय थी।

उत्तर काली चमकीली मृद्भाण्ड परम्परा की संस्कृति

इस पात्र परम्परा का उद्भव एवं विकास छठी शताब्दी ई. पू. में उस समय हुआ, जब भारत में द्वितीय नगरीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी एवं लौह तकनीक ने तत्कालीन मानव के जीवन में व्यापक रूप से प्रवेश कर लिया था। यह समय मगध के उत्कर्ष का था। व्यापार हेतु मौद्रिक अर्थव्यवस्था का प्राचीन भारतीय इतिहास

छळ्ळै

मसप्पेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

55

प्राचीन भारतीय इतिहास

छळ्ळै

मसप्पेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

56

विकास हो गया था। इस समय मट्टी में पकी हुई ईंटों का प्रयोग भी हड़प्पा संस्कृति के पतन के पश्चात् एक हजार वर्ष के अन्तराल से प्रारंभ हुआ था। उत्तरकृष्णमार्जित मृद्भाण्ड परम्परा के अन्तर्गत इन मृद्भाण्डों के अलावा अन्य प्रकार के मृद्भाण्डों का निर्माण जनसामान्य हेतु भी किया जाता था। यह मृद्भाण्ड थिक प्लेन ग्रेवेअर, ब्लेक स्पिड वेयर, रेड वेअर आदि थे। इनमें सर्वाधिक संख्या में लाल रंग के मृद्भाण्ड मिलते थे जो इस ओर संकेत करते हैं कि लाल रंग के मृद्भाण्डों का इस काल में व्यापक प्रयोग होता था। सादे घूसर रंग के मृद्भाण्ड सामान्यतः भोजन पकाने के काम में आते थे। इस मृद्भाण्ड परम्परा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशिष्टता इस काल में लौह उपकरणों का व्यापक रूप से प्राप्त होना है। इस सांस्कृतिक परंपरा के निवासी बाण फलक, भाले के शीर्ष, बल्लम शीर्ष, बरछी, कटार, चाकू हँसिया, खुरपी, कीलें, बसूला, छैनी तथा कड़ाही आदि प्रयुक्त करते थे।

कृषि पशुपालन तथा सिक्के

इस सांस्कृतिक परम्परा के अन्तर्गत चावल, गेहूँ जौ तथा दलहन की खेती होने लगी थी। इनके अलावा यह गाय बैल, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़े तथा सूअर पालते

थे। पशु सामान्यतः भार वाहन हेतु प्रयुक्त किए जाते थे। व्यापार हेतु इस काल में सिक्के भी अस्तित्व में आ गए थे। इस काल के सिक्कों को आहत कहा जाता है। इन सिक्कों पर विभिन्न प्रकार के प्रतीक बने होते थे। ये सिक्के रजत व ताँबे के बनाए जाते थे।

वास्तु एवं अन्य कला



यह सांस्कृतिक काल वास्तु की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था। लगभग एक हजार वर्ष के अन्तराल के पश्चात् हड़प्पा संस्कृति के पतन के बाद पुनः इस काल में भट्टी में पकी हुई ईंटों का प्रयोग प्रारंभ हो गया था। अब नगरों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। नगरों के चारों ओर रक्षा प्राचीर तथा परिखा बनाई जाने लगी थी। इस काल के प्रमुख नगरों में अहिछत्र कौशम्बी, राजगृह तथा उज्जैन आदि थे। इस काल में भवन काष्ठ से भी निर्मित होते थे। पाटलीपुत्र से इसकी पुष्टि होती है। पाटलीपुत्र उस समय का दक्षिण एशिया का सर्वाधिक बड़ा नगर था। इसके अलावा इस काल में धार्मिक वास्तु का भी निर्माण प्रारंभ हो गया था। इनको स्तूप कहा जाता था। वास्तु के अलावा प्रस्तर की यक्ष-यक्षिणी की प्रतिमाएँ एवं पकी हुई मिट्टी (टेराकोटा) की लघुमूर्तियाँ भी बनने लगी थीं। यह पशुओं और मानवों दोनों की होती थी।

आभूषण

उत्तरकृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड परम्परा के निवासी आभूषणों से भी परिचित हो गए थे। इस संस्कृति के विभिन्न पुरास्थलों में विभिन्न प्रकार के माला के मनके प्राप्त हुए हैं जो विभिन्न प्रस्तरों व मिट्टी से निर्मित इसके अलावा इस संस्कृति के अन्तर्गत चूड़ियाँ, कड़े तथा अंगूठियाँ भी बनने लगी थी। ये लोग अंजनी शलाका, ताम्रपिन, हाथी दांत की कंषी तथा नख कर्तक से भी परिचित थे।

अतः यह कहा जा सकता है कि उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड परम्परा के अन्तर्गत संस्कृति के विभिन्न पक्षों का विकास हो गया था तथा यह संस्कृति इतिहास के उस कालखण्ड की प्रतिनिधि है जब भारत में द्वितीय नगरीकरण हो रहा था एवं साम्राज्य विकसित हो रहे थे।

भारत की महापाषाणयुगीन समाधि संस्कृतियाँ

जैसा कि इस संस्कृति के नाम से ही स्पष्ट है कि इस काल में समाधियों के निर्माण में बड़े-बड़े पाषाण खण्डों को प्रयोग में लाया जाता था। मानव ने मृत्यु के पश्चात् मृतक सम्बन्धी कर्मों की शुरुआत कब की, इसके संबंध में पुरावेत्ताओं का मानना है कि निअण्डर्थल मानव ने वर्तमान में 100000 से 35000 ई. पू. से संभवतः मृतक संस्कारों को प्रारंभ किया था। इसके अलावा नवपाषाणकालीन मानव भी विभिन्न प्रकार की अंतिम क्रियाएँ करता था। राजस्थान के भीलवाड़ा जिले में बागोर नामक स्थान से मध्यपाषाण काल में ही शव दफनाने के प्रमाण मिलते हैं। इसके अलावा मेसोपोटामिया और मिस्र में ऐसी राजकीय समाधियाँ प्राप्त हुई हैं जिनमें मृतक राजा के साथ उसकी रानियों, प्रिय-परिजन, बैल, अन्य पालतु पशु,



प्राचीन भारतीय इतिहास

सांसारिक उपभोग की वस्तुएँ व सोने चांदी के आभूषण रखे जाते थे। ये समाधियाँ अत्यंत भव्य और चमत्कारिक हैं।

भारत में ऐसी भव्य समाधियाँ तो नहीं मिली हैं, लेकिन यहाँ पर ऐसे समाधि स्वरूप स्मारक अवश्य हैं।

जिन्हें विभिन्न आकार-प्रकारों में बड़े-बड़े पाषाणखण्डों से निर्मित किया जाता था। इसी कारण इनके बृहत्पाषाणीय समाधियों मेंगालिथिक कहा जाता है। यूनानी भाषा में डमहें बड़े को और स्पजीवे प्र अथवा पाषाण को कहते हैं। यूरोप में मैगालिथ का सर्वप्रथम प्रयोग 1840 तथा 1860 के आसपास हु गार्डन चाइल्ड और व्हीलर ने मैगालिथिक संस्कृति के सम्बन्ध में अपनी मान्यताएँ प्रकट की हैं, के अनुसार मैगालिथ अपरिष्कृत पाषाण खण्डों से बने हुए उन स्मारकों को कहा जाता है जो मृतक की । दफनाने में प्रयुक्त किए जाते थे।

भारत में बृहत्पाषाणिक समाधियों को निम्न क्षेत्रों में विभाजित किया गया है।

1. दक्षिण भारत
2. उत्तर भारत, और
3. विदर्भ क्षेत्र

दक्षिण भारत की महापाषाणयुगीन समाधियाँ

कृ

इन महापाषाणकालीन समाधियों की खोज भारत में सर्वप्रथम कर्नल मीडोज टेलर ने क्रमशः 1851 और 1862 में कर्नाटक प्रांत के गुलबर्गा जिले में स्थित शोरापुर दोआब क्षेत्र में की थी। इसके बाद अलेक्जेंडर डी ने 1889 से 1905 के मध्य तमिलनाडु के तिरुनेलवेली में तथा 1903 04 में लुई लेपिक ने सुल में भी ऐसी समाधियों की खोज। इसके बाद सन् 1935 में ए, ऐयप्पन ने सन् 1935 में दक्षिण भारत को महापाषाणीय समाधियों पर एक लेख भी लिखा जिसमें उन्होंने 35 प्रकार की समाधियों का उल्लेख किया।

दक्षिण भारत की महापाषाणीय समाधियों का सर्वाधिक प्रमाणिक विभाजन कृष्णास्वामी का माना जाता

है जो उन्होंने 1949 में किया। इसके अनुसार दक्षिण भारत की इन समाधियों को सात प्रकारों में विभक्त किया गया है।

1. डोलमेन समाधियाँ: डोलमेन केल्टिक भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ हो पत्थर की मेज होता है यह आयताकार मेज के आकार की होती है, इनको जमीन की सतह के ऊपर निर्मित किया जाता है
2. संगोश समाधि: इनको जमीन में 30 सेमी. से लेकर 15 मीटर तक का गहरा गड्ढा खोदकर वा

जाता था। इन समाधियों के गड्ढा का व्यास 2.40 से 3.60 मीटर तक होता था।

3. छात्रा शिला: यह आधुनिक छाते के समान होती है। दक्षिण भारत में इन्हें स्थानीय भाषा में टॉपीकल कहा जाता है। ये समाधियाँ केरल के कोच्चिन के अरिपन्नर और चेरमनन गाद से मिली हैं।

4. फण शिला: इन समाधियों में गड्ढा खोदकर मानव अस्थियों और अन्येष्वि सामिग्री को रखकर गड्ढा को मिट्टी से भर दिया जाता था। उसके बाद कब्र के ऊपर शिला को उल्टा कर रख दिया जाता था।

य

5. मेनहीर दक्षिण भारत के कुछ भागों में ग्रेनाइट के एकात्मक प्राप्त होते हैं जिन्हें मेनहीर कहा जाता है। इन मेनहीर प्रस्तरों को कब्र के संकेत के रूप में कब्र के समीप लगाया जाता था। यह प्रस्ता खण्ड 1.5 मीटर से 2.40 मीटर तक लम्बे होते हैं। यह प्रस्तर सामान्यतरु उत्तर दक्षिण दिशा की ओर लगाए जाते थे। अभी तक केवल एक मेनहीर कर्नाटक के रायचूर जिले में मास्को से पा प्राचीन भारतीय इतिहास

छळ्ळै

प्रगति का

रू ...पज

3

प

.ि

हुआ है।

“मसथिपजतपं वितउंस. डंजमदमक

प्राचीन भारतीय इतिहास

छळ्ळै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

58

6. गुफा समाधि रू ये समाधियाँ केरल में अधिक प्राप्त हुई हैं, वहाँ पर लेटराइट की चट्टानों को काट कर निर्मित की गई है। यह आयताकार अथवा वर्गाकार होती हैं। तथा इसकी छत गुम्बदाकार होती

है। इनका प्रवेश द्वार 30–35 से. मी. आकार का होता

7. अंत्येष्टि कलश रू यह पाषाण के स्थान पर मिट्टी के बड़े-बड़े पात्रों से निर्मित की जाती हैं। इनमें

सामान्यतः शिशुओं को दफनाया जाता है।

तमिल साहित्य में महापाषाणयुगीन समाधियाँ

तमिल साहित्य के ग्रंथ मणिमेखलई में अंतिम क्रिया का वर्णन मिलता है। इसके अनुसार इस समय भारतीय समाज में शव को जमीन में दफनाने तथा मिट्टी के पात्रों में रखने आदि का वर्णन मिलता दक्षिण भारतीय महापाषाणीय स्मारकों के साथ मृद्भाण्ड बड़ी संख्या में मिलते हैं। इन स्मारकों के साथ काले एवं लाल रंग के मृद्भाण्ड अधिकांशतः मिलते हैं जिनकी सतह पर दरारों के चिन्ह स्पष्टतः दिखाई देते हैं। संभवतः इस दरार का कारण इन पर नमक का प्रभाव माना जाता है। इसके अलावा इन महापाषाणीय स्मारकों से लाल अथवा काले

प्राचीन भारतीय इतिहास

मृद्भाण्ड प्राप्त होते हैं। कोयमम्बटूर से कुछ ऐसे लाल रंग के मृद्भाण्ड भी प्राप्त हुए हैं जिन पर सफेद रंग से समकेन्द्रीय वृत्त और लहरदार रेखाओं के अलंकरण भी बने हुए हैं।

दक्षिण भारत की यह महापाषाणी समाधियाँ कांस्य वस्तुएँ को भी उपलब्ध कराती हैं। ऐसी कांस्य वस्तुएँ तिरुनेवेली, सुलेर, संडर, कुन्तपुर से भी मिली हैं लेकिन इन महाश्मीय समाधियों का सर्वाधिक महत्त्व इनके साथ प्राप्त होने वाले लौह उपकरणों के कारण से है। यह लौह उपकरण विभिन्न आकार-प्रकार के मिलते हैं जिनमें त्रिशूल तलवार, ढाल, भान्नाग्र, दरांती, हल की फाल तथा लोहे की बनी घोड़े की नाल महत्त्वपूर्ण हैं। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस संस्कृति के निवासी लौह तकनीक से भली-भाँति परिचित थे तथा उन्होंने इस तकनीक में विशिष्टता प्राप्त कर ली थी।

तिथिक्रम

पुरातत्त्ववेत्ता दक्षिण भारत की इस महापाषाण समाधि संस्कृति का तिथि निर्धारण 1000 पू. से 100 के मध्य निर्धारित करते हैं। इस संस्कृति की प्रमुख रेडियो कार्बन तिथियाँ हल्लूर, तकलबाट, पेयमपल्ली, कटिया तथा हलिनल्ली से प्राप्त हुई हैं। मूलतः इस संस्कृति के निवासी कृषक मक्का पशुपालक थे एवं धान, जौ, रागी, चना आदि से परिचित थे तथा गाय बैल, भैंस, घोड़े भेड़ व बकरी पालते थे।

उत्तर भारत की महापाषाणयुगीन संस्कृति

उत्तर भारत की महापाषाण संस्कृति दक्षिण से पूर्णतया पृथक् है। उत्तर भारत में इसके पुराप्रमाणों के साथ किसी भी प्रकार के विशिष्ट मृद्भाण्ड तथा लौह उपकरण आदि प्राप्त नहीं होते हैं। उत्तर भारत में प्रथम बार 1962-63 में दक्षिण उत्तर प्रदेश के विंध्य क्षेत्र के पहाड़ी इलाके में वाराणसी, मिर्जापुर, इलाहाबाद एवं बाँदा जिले में महापाषाण संस्कृति के प्रमाण खोजे गए थे। ऐसी पाषाण संस्कृति के प्रथम स्थल ककोरीया का उत्खनन 1962-63 में किया गया। उत्खनन से ज्ञात हुआ कि ककोरीया की महापाषाण संस्कृति ताम्रपाषाणिक थी। उत्तर भारत का प्रथम स्थल जो लौहयुगीन महापाषाण संस्कृति के प्रमाण प्रदान करता है, वह कोटिया था। ककोरीया में कुल बारह समाधियों का उत्खनन कराया गया था जिसमें आठ संगोरा, तीन सिस्ट और एक संगोश समाधि के अंदर बनी हुई सिस्ट समाधि थी।

इसी प्रकार भारत के उत्तर-पश्चिम में कश्मीर घाटी से भी महापाषाण समाधियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो नवपाषाण काल के पश्चात् की हैं तथा यह स्मारक स्तंभ जैसी है। यह स्मारक अर्धवृत्ताकार है। यह बुर्जहोम, शादीपुर, बेगुण्ड गोफकरल हरीपरीगोम, पामपुर, वजहल से प्राप्त हुई है। यहाँ पर यह स्पष्ट करना तर्कसंगत लगता है कि लेह से प्राप्त महापाषाण समाधियों कश्मीर घाटी से एकदम भिन्न हैं।

विंध्य क्षेत्र कश्मीर और लेह के अलावा महापाषाण समाधियाँ भरतपुर, जयपुर, नागौर, नगरी, फतेहपुर सीकरी तथा उत्तरांचल में देवीधूरा से भी प्राप्त हुई हैं।

विदर्भ क्षेत्र

महाराष्ट्र में पूर्वी विदर्भ का क्षेत्र महापाषाण समाधि संस्कृति की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। विदर्भ के बरार में सर्वप्रथम नागपुर विश्वविद्यालय और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग ने सर्वेक्षण कार्य किया तथा इसके समीपवर्ती स्थानों घुले (खान देश), अमरावती, वर्धा तथा नागपुर जिलों में महापाषाण समाधियाँ और उनके साथ कृष्ण लोहित उपकरण खोजे। इसके पश्चात् 1959-60 में महर्झरी, 1960-61 में कौण्डिन्यपुर (अमरावती) तथा 1961-62 में जूनापाणि नामक पुरास्थलों को पुरातत्व विभाग ने खोजा। विदर्भ क्षेत्र से भी संगोरा प्रकार की महापाषाणीय समाधियाँ सर्वाधिक संख्या में प्राप्त हुई हैं। इनमें मानव अस्थियों के साथ-साथ पशुओं की अस्थियाँ भी मिली हैं जिनमें सर्वाधिक घोड़े की हैं। इसके अलावा कृष्ण लोहित मृद्भाण्ड, तान व लौह के उपकरण व माणिक्य के मनके भी प्राप्त हुए हैं। लोहे के उपकरणों में

मुख्यरूप से बाण एवं भाले के फलक, चाकू, छैनी, कुल्हाड़ी, कीलें, मछली पकड़ने के काँटे चूड़ी कड़ाही, कटार व तलवार प्रमुख हैं। यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि विदर्भ और दक्षिण भारत की महापाषाण संस्कृति के मुद्माण्डों लौह उपकरणों तथा मनकों में काफी समानता है। यह संस्कृति रेडियो कार्बन तिथि के अनुसार सातवीं शताब्दी ई. पू. के आसपास मानी जा सकती है।

ऊपर के पृष्ठों में वर्णित विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में महापाषाण समाधि संस्कृति का क्षेत्र अत्यंत व्यापक था। यह संस्कृति राजस्थान, उत्तर प्रदेश, जम्मू कश्मीर, बिहार, असम, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु तथा केरल तक विस्तार पाए हुए थी। कलानुक्रम की दृष्टि से महापाषाण समाधि संस्कृति को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. आद्य ऐतिहासिक काल की महापाषाण समाधियाँ
2. आधुनिक काल की महापाषाण समाधियाँ

वर्तमान में भी महापाषाण समाधियों की परम्परा असम, उड़ीसा और मध्य प्रदेश की अनेक जनजातियों में देखी जा सकती है लेकिन इन समाधियों का अध्ययन हमारे अध्ययन की सीमा से परे है

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

सारांश (नउउंतल)

उपर्युक्त इकाई में हमने भारत की प्राचीन लौहयुगीन व महापाषाण संस्कृतियों का अध्ययन किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत में लौह तकनीक का प्रवेश स्वतंत्र रूप

से एक हजार ई. पू. से पहले हो गया था लेकिन मानव जीवन में लौह तकनीक के कारण व्यापक परिवर्तन की प्रक्रिया छठी शताब्दी पू. के आसपास हुई इस काल में लौह का प्रधान केन्द्र सिंहभूम क्षेत्र था जहाँ मगध का उदय हुआ था। इसी समय भारत में हड़प्पा संस्कृति के पश्चात् एक बार पुनः नवीन नगरों का



प्राचीन भारतीय इतिहास

निर्माण हुआ तथा नए-नए व्यापारिक मार्ग बने। इन सब कारणों ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना में योगदान दिया। संभवतः भारतीय इतिहास के इसी कालखण्ड में धर्म को भी पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता भी बलवती हुई, जिस कारण यज्ञ प्रधान धर्म के स्थान पर कर्म प्रधान धर्म की स्थापना हुई इसी समय दक्षिण भारत में भी स्वतंत्र रूप से महापाषाण समाधियों के युग का सूत्रपात हुआ जो लौह उपकरण निर्मित करने में दक्ष थे तथा उनका मृत्यु पश्चात् जीवन में अगाध विश्वास था। दक्षिण भारत के इन निवासियों ने अपनी समस्त कला का अभिव्यंजना विभिन्न प्रकार की समाधियों का निर्माण कर की थी।

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

दम

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

स्व-प्रगति का परीक्षण के उत्तर रू

1. तकनीक

इस परम्परा के मृद्भाण्डों की अत्यंत पॉलिशयुक्त दर्पण के समान चमक वाली सतह प्रारंभ से ही पुराविदों को आकर्षित करती रही है। बी. बी. लाल के अनुसार इस दर्पण के समान चमकने वाली सतह पात्रों पर गरम अवस्था में किसी प्रकार की कार्बनिक सामग्री को प्रयुक्त किए जाने के कारण से है। जबकि हेगड़े इसका कारण लौह ऑक्साइड को मानते हैं। इसके विपरीत भारद्वाज जैसे रसायनविदों के अनुसार चमकदार काला रंग मेगनेटाइट अथवा फेरस सिलिकेट के कारण नहीं है, इसका कारण कार्बन है। साना उल्लाह के अनुसार इनकी काली सतह का कारण 13रू तक फ़ैरस आक्साइड है। संभवतः इन मृद्भाण्डों को पकाने से पूर्व इन पर गेरू का लेप चढ़ाया जाता था तथा इस कारण पट्टी में पकने से गैस के न्यूनीकरण की क्रिया के कारण इनकी सतह काली हो जाती थी।

2. भारत में बृहत्पाषाणिक समाधियों को निम्न क्षेत्रों में विभाजित किया गया है।

1. दक्षिण भारत

2. उत्तर भारत, और

3. विदर्भ क्षेत्र

स्वपरीक्षण करें (जमेज ल्वनतेमसि)

1. भारत में लोहे के उद्भव के विभिन्न केन्द्रों की विवेचना कीजिए। (300 शब्दों में)
2. चित्रित घूसर मृद्भाण्ड संस्कृति को परिभाषित कीजिए। (150 शब्दों में)
3. उत्तरकृष्णमार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति को परिभाषित कीजिए। (150 शब्दों में)
4. दक्षिण भारत में महासमीय संस्कृति के अवदान पर निबंध लिखिए। (300 शब्दों में)

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

60

माड्यूल 2
इकाई 4
वैदिक सभ्यता

इस अध्याय में ☐ परिचय ☐ ऋग्वैदिक सभ्यता ☐ आर्यों का मूल स्थान
विभिन्न मतों की समीक्षा, वैदिक काल भारत में आर्य संस्कृति का प्रसार,
७

वैदिक सभ्यता और संस्कृति,

☐ राजनीतिक संगठन, प्रमुख जन, राजा के अधिकार तथा कर्तव्य, प्रमुख अधिकारी, सभा और समिति

न्याय व्यवस्था, युद्ध-विधि, सामाजिक जीवन, परिवार, वेशभूषा, खान-पान, मनोरंजन, शिक्षा

लेखन कला, पशु-पालन, घरेलू उद्योग-धन्धे, व्यापार वाणिज्य, धार्मिक जीवन, देव समूह पूजा-उपासना विधि

अध्ययन उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

☐ ऋग्वैदिक सभ्यता, आर्यों का मूल स्थान

☐ ऋग्वैदिक सभ्यता का सामाजिक स्थान

कृ

प्राचीन भारतीय इतिहास

~~प्राचीन~~ पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

रू ि- पदेमतजमदजपवदंस डंजमतपंस

62

परिचय (पदेजतवकनबजपवद)

ऋग्वैदिक सभ्यता

यदि पुरातत्व की दृष्टि से भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकसित रूप सबसे पहले सिन्धु-सरस्वती की सभ्यता में दिखाई देता है, तो साहित्य की दृष्टि से इसका परिपक्व रूप सबसे पहले वेद में मिलता है। भारतीय इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। वेद भारतीय संस्कृति की मूल सम्पदा हैं। श्वेदश शब्द संस्कृत भाषा की निश्चित श्विद्श धातु से बना है जिसका अर्थ ज्ञान होता है। इसलिए वेद ज्ञान का भण्डार और उसके पर्यायवाची हैं। प्राचीनता तथा महानता के कारण वेदों को मानव रचित न मानते हुए अपौरुषेय ईश्वर

प्राचीन भारतीय इतिहास

द्वारा सीधे आर्य ऋषियों को प्रदान किया गया माना जाता है। चूँकि ये ईश्वर से ही आर्य ऋषियों द्वारा सुने गए थे, इसलिए इन्हें ऋषि कहा जाता है। वेद किसी व्यक्ति विशेष अथवा निश्चित काल में नहीं लिखे गए, वरन् समय-समय पर विभिन्न आर्य ऋषियों द्वारा इनकी रचना की गई है। आर्य ऋषियों ने जिस साहित्य की रचना की वह श्वैदिक साहित्य के नाम से विख्यात है। इसी वैदिक साहित्य से हमें वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है। इस साहित्य का सबसे प्राचीन, प्रमुख और प्रामाणिक ग्रन्थ ऋग्वेद है। इस सभ्यता एवं संस्कृति के संस्थापकों को ऋग्वेद में ऋषयः कहा गया है। आर्य संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है— शसुसंस्कृत, कुलीन अथवा श्रेष्ठ द्य योगवशिष्ट में आर्य की परिभाषा देते हुए लिखा गया है, शजो पर्याप्तरूपेण कर्तव्यो का आचरण तथा अकरणीय का निषेध रखता हुआ अपने स्वाभाविक चरित्र में निष्ठा रखता है, वह आर्य है। जो आचारानुकूल, शास्त्रानुकूल, शुद्धचित्त अनुकूल, यथास्थिति व्यवहार का संग्रहण करता है, वह आर्य है। अपनी सभ्यता एवं संस्कृति से भिन्न भारत के अन्य निवासियों के विरुद्ध अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए इन्होंने अपने लिए ऋषयः शब्द का प्रयोग किया था। भारत के अन्य निवासियों के लिए उन्होंने शदास तथा शदस्यु आदि हीन शब्दों का प्रयोग किया। ऋषयः शब्द, पहले चाहे सांस्कृतिक अर्थ प्रकट करने वाला रहा हो और बाद में आय के लिए जातिवाचक बना हो, लेकिन इतना स्पष्ट है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति के एक निश्चित स्वरूप को बनाने में आर्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आर्यों ने भारत में रह रही अन्य जातियों द्वारा विकसित सभ्यता और संस्कृति के उपयोगी तत्वों को अपनाकर अपनी संस्कृति के साथ समन्वय करते हुए भारत की एक उन्नत सभ्यता और संस्कृति का सुन्दर स्वरूप मूलतः आय के कठिन परिश्रम और साधना के फलस्वरूप ही बन पाया है। आर्यों ने जो सभ्यता विकसित की उसे ही श्वैदिक सभ्यता कहा जाता है, क्योंकि इसकी जानकारी हमें वैदिक साहित्य द्वारा मिलती है।

आर्यों का मूल स्थान

भारतीय संस्कृति को इतना अधिक प्रभावित करने वाले आर्य ही हमारे इतिहास की सबसे अधिक विवादपूर्ण समस्या बने हुए हैं। आय का मूल स्थान कौन-सा था? इस प्रश्न का सर्वसम्मत उत्तर विद्वान लोग आज तक नहीं खोज पाए हैं। इतिहास, भाषा विज्ञान, पुरातत्व, शरीर रचना शास्त्र और शब्दार्थ विकास शास्त्र— इन पाँचों प्रमुख साधनों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद भी विद्वान् लोग किसी एक सर्वसम्मत निर्णय पर नहीं पहुँच पाए हैं। उनके भिन्न-भिन्न मत इस प्रकार

(1) आर्यों का मूल स्थान रू

यूरोप — पश्चिमी देशों के विद्वानों का मत है कि आर्य मूलतः यूरोप के किसी भाग के निवासी थे। उनका मत दो प्रमुख आधारों पर आधारित है— (1) इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार के शब्द और मुहावरे यूरोपीय भाषाओं में एशियाई

भाषाओं से अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। (2) यूरोपीय भाषाओं में भी लिथुनियन भाषा सबसे अधिक प्राचीन है अतः लिथुनिया या उसके आस-पास का कोई क्षेत्र आय का मूल स्थान रहा होगा। संस्कृत और यूरोपीय भाषाओं के विभिन्न शब्दों में समता स्थापित करने वाला प्रथम व्यक्ति फिलिप्पो सेसेटी था। उसके बाद सन् 1786 ई. में सर विलियम जोन्स ने यह मत प्रतिपादित किया कि ग्रीक, लैटिन, गोथिक, केल्टिक, संस्कृत, फारसी आदि भाषाओं में जो शाब्दिक समानता देखने को मिलती है उस आधार पर यह माना जा सकता है कि इन सभी भाषाओं की उत्पत्ति का स्रोत एक ही रहा होगा। उदाहरणार्थ— संस्कृत में पिता को पितृ, लैटिन में पेटर, ग्रीक

में पेटर, अंग्रेजी में फादर और जर्मनी में वटर कहा जाता है। इसके बाद वनस्पति, भौगोलिक परिस्थितियों और नस्ल के आधार पर भी इस मत का समर्थन किया जाने लगा कि आर्यों का मूल स्थान यूरोप था, परन्तु यूरोप का कौन-सा देश था? इस प्रश्न पर उनमें मतैक्य नहीं हो पाया।

(क) हंगरी अथवा डेन्यूब नदी की घाटी — डॉ. पी. गाइल्स का मानना है कि आर्यों का मूल स्थान हंगरी अथवा डेन्यूब नदी की घाटी रहा होगा। उनका मत भाषा तथा वृक्ष, वनस्पति एवं पशु-पक्षियों के वर्णनों की समानता पर आधारित है। उनका मानना है कि ऋग्वेद के संकेतानुसार आर्यों का मूल स्थान पर्वतों, नदियों तथा झीलों से घिरे हुए किसी शीतोष्ण कटिबन्ध में रहा होगा जहाँ गेहूँ और जौ की खेती अधिक होती थी। आर्य लोग गाय, बैल, कुत्ता, हिंसे थे, परन्तु उन्हें हाथी, बाघ, गिर, बसख आदि का ज्ञान न था। उनके मतानुसार हंगरी अथवा डेन्यूब क्षेत्र ही ऐसा प्रदेश है जिसमें उपर्युक्त सभी विशेषताएँ देखने में आती हैं। परन्तु केवल थोड़े से शब्दों की समानता के आधार पर इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके अलावा भौगोलिक एवं वानस्पतिक आधार को भी ज्यादा महत्त्व नहीं दिया जा सकता क्योंकि हंगरी के अलावा अन्य बहुत से क्षेत्रों में भी इस प्रकार की विशेषताएँ विद्यमान हैं।

कृ

८

ख) जर्मनी पेन्का नामक विद्वान् ने भूरे बालों तथा शारीरिक विशेषताओं के आधार पर जर्मन-प्रदेश के स्कैण्डिनेविया को आर्यों का निवास स्थान माना है। मध्य जर्मनी के कुछ पूर्वतिहासिक मृद्भाण्ड मिले हैं। उन्हें भी प्राचीन आय से सम्बन्धित बताया जाने लगा है। हर्ट नामक एक अन्य विद्वान् ने भाषा सम्बन्धी आधार पर स्कैण्डिनेविया को आर्यों का मूल निवास स्थान माना है। बाल्टिक समुद्रतट के क्षेत्र में प्राप्त कुछ प्राचीन वस्तुओं के आधार पर मच नामक विद्वान् ने बाल्टिक समुद्रतट को आर्यों का मूल स्थान बतलाया है, परन्तु उपर्युक्त तर्कों को आसानी के साथ स्वीकार नहीं किया जा सकता। दीर्घकालीन अन्तर्जातीय रक्त सम्मिश्रण के बाद किसी भी मानव समुदाय के लिए अपनी मौलिक शारीरिक विशेषताओं को सुरक्षित रखना संभव नहीं प्रतीत होता। अतः केवल



प्राचीन भारतीय इतिहास

शरीर रचना के आधार पर किसी को किसी का वंशज कह देना उचित नहीं होगा। भूरे बालों की बात भी ज्यादा तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती। पतंजलि के अनुसार भारतीय ब्राह्मणों की एक विशेषता उनके भूरे बाल थी। तब भारत को उनका मूल स्थान क्यों नहीं माना जा सकता? इसी प्रकार, पुरातत्व की वस्तुएँ भी अनेक देशों में प्राप्त हुई हैं तब केवल बाल्टिक सागर और जर्मनी से प्राप्त वस्तुओं को ही क्यों विशेष महत्त्व दिया जाय।

ग) दक्षिण रूस— दक्षिणी रूस के यूक्रेन क्षेत्र से प्राप्त कुछ मृद्भाण्डों के आधार पर नेहरिंग नामक विद्वान् ने दक्षिणी रूस को आय का मूल स्थान माना है पोकार्नी नामक एक अन्य विद्वान् ने यह मत प्रतिपादित किया है कि चूँकि आर्य लोग विस्तृत मैदानों में निवास करते थे, अतः ऐसा क्षेत्र रूस में वेजर और विश्चुला नदियों के बीच का भू-भाग हो सकता है, परन्तु इन मतों में भी अष्टि तक वजन नहीं है।

(2) आर्यों का मूल स्थान रू

—

मध्य एशिया आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं — ऋग्वेद और जेन्द अवेस्ता । ऋग्वेद भारतीय आर्यों की रचना है और जेन्द अवेस्ता ईरानी आर्यों की। इसलिए विद्वानों का मानना है कि आर्यों का मूल स्थान भारत ईरान के आसपास मध्य एशिया में रहा होगा। इस मत के पीछे एक तर्क यह भी है कि आर्यों के प्राचीनतम लेख भी एशिया में ही मिले हैं जैसे कि एशिया माइनर में बोगज कोई नामक स्थान से प्राप्त लेख एवं किक्कुली नामक एक मितानी लेखक का एक ग्रन्थ। इसके अलावा बेबिलोनिया की लिपि में अंकित कुछ मिट्टी की पट्टियाँ मिस्र में एल— अर्मना नामक स्थान से मिली हैं। इन पर अंकित राजाओं के नाम वैदिक नरेशों के नामों से मिलते-जुलते हैं। चूँकि यूरोप में अभी तक आय के प्राचीन लेख अथवा ग्रन्थ नहीं मिले हैं, अतः विद्वानों का मानना है कि उनका मूल निवास स्थान

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

63

पदमी लामो इतिहास

छब्बै

मविदेजतनमतजपदहंप. डंजमतपंस

एशिया के किसी प्रदेश में रहा होगा। प्राचीनतम आर्य जिन भौगोलिक दशाओं, वनस्पतियों तथा पशु पक्षियों से परिचित थे वे यूरोप के किसी भी क्षेत्र में एक साथ नहीं पाई जातीं, जबकि एशिया के क्षेत्रों में ये सभी विशेषताएँ एक साथ पाई जाती हैं।

कृ

एशिया को आर्यों का मूल निवास स्थान बतलाने वाले प्रथम विद्वान् हैं— जे. जी. रोडा रोड के पानुसार आर्य बेक्ट्रिया के रहने वाले थे और यहीं से वे लोग अलग-अलग समूहों में पूर्व पश्चिम और दक्षिण की ओर गए। उनके मत की पुष्टि पॉट नामक विद्वान् ने की पॉट का मानना है कि ऐतिहासिक युग में भी अनेक जातियाँ पूर्व से पश्चिम को गई थीं। अतः आर्यों का भी पूर्व से पश्चिम की ओर पलायन सहज प्रतीत होता है। मध्य एशिया को आर्यों का मूल स्थान बताने वालों में सबसे प्रमुख हैं— श्री मेक्समूलर। उनके मतानुसार मध्य एशिया से ही आर्यों का विभाजन और विस्तार प्रारम्भ हुआ। उनकी

एक शाखा ईसन और भारत की तरफ गई जो इण्डो-ईरानी आर्य कहलाई दूसरी शाखा पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम की तरफ गई प्रोफेसर सेअस ने आर्य परिवार की विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके मध्य एशिया को ही उनका मूल स्थान माना है। उनके हिसाब से कैस्पियन सागर के आसपास का क्षेत्र आर्यों का मूल निवास स्थान रहा होगा। एडवर्ड मेयर ने पामीर पठार के क्षेत्र को आर्यों का मूल निवास स्थान माना है। ओल्डेनबर्ग और प्रोफेसर कीथ दोनों विद्वान् एडवर्ड मेयर के मत से सहमत हैं।

विद्वानों का बड़ा समुदाय इस मत का समर्थन करता है, किन्तु यह मत पूर्णतया सत्य हो, ऐसा नहीं है। कारण कि भाषा तथा दो ग्रन्थों में वर्णनों की समानता एक जातीयता सिद्ध कर सकती है परन्तु

भिन्न-भिन्न प्रदेशों के निवासियों का मूल रूप से किसी एक स्थान पर रहना साबित करती हो, यह आवश्यक नहीं है। अतः मध्य एशिया को आर्यों का मूल निवास स्थान मानने के विचार

भी अनेक शंकाएँ हैं। इसलिए अभी तक यह मत भी विवादपूर्ण है।

(3) आर्यों का मूल स्थान रु

उत्तरी

कृ

ध्रुव आर्यों के आदि देश के बारे में भारतीय विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का मत है कि आर्य मूल में उत्तरी ध्रुव प्रदेश के निवासी थे। ऋग्वेद में वर्णित ज्योतिष तथा लम्बी उसा और 6 माह के दिन-रात के आधार पर तिलक ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि ऐसी भौगोलिक एवं प्राकृतिक परिस्थितियाँ उत्तरी ध्रुव प्रदेश में ही पायी जाती हैं। अतः ऋग्वेद के वर्णन से आय की जिसे मूल देश का पता चलता है, वह उत्तरी ध्रुव प्रदेश ही था किन्तु अन्य तथ्यों के अभाव में और उत्तरी ध्रुव प्रदेश के सम्बन्ध में कोई विशेष वर्णन ऋग्वेद में नहीं होने से यह मत भी इतिहासकारों का अधिक उपयुक्त नहीं लगता।

14) आर्यों का मूल स्थान रु

द

भारत भारतीय विद्वानों ने आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थों—ऋग्वेद और जेन्द अवेस्ता में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आर्य



प्राचीन भारतीय इतिहास

भारत में बाहर से नहीं आये बल्कि वे अगस्त के मूल निवासी थे और यहाँ से अन्य देश को गए थे। डॉ. अविनाशचन्द्र दास ने सात नदियाँ सिन्धु वितस्ता, असिनी, परुष्णी, विपासा, शत्रुद्रि और सरस्वती वाले सप्तसैन्धव— प्रदेश को आय का मूल निवास बतलाया है। डॉ. सम्पूर्णनानन्द भी इसी मत को स्वीकारते हैं। पं. गंगानाथ झा भारत के ब्रह्मर्षि— देश को आय का मूल स्थान मानते हैं जबकि डा. राजबली पाण्डेय ने मध्य देश को आय का मूल स्थान बतलाया है। श्री एल. डी. कल्ला ने काश्मीर अथवा हिमाचल प्रदेश को आय का मूल स्थान माना है, तो डॉ. देव सहाय त्रिवेद ने मुल्तान की देविका नदी के आस—पास क क्षेत्र को आय का मूल स्थान माना

भारत को आर्यों का मूल निवास स्थान मानने के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों का पहला तर्क यह है कि ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक स्थिति सप्तसैन्धव प्रान्त से मिलती—जुलती है और आर्यों की जानकारी इसी

घ प्रदेश तक सीमित थी। दूसरा तर्क यह है कि यदि आर्य बाहर से भारत में आये तो उनके मूल स्थान अथवा

रास्ते के किसी भी क्षेत्र में उनका कोई—न—कोई ग्रन्थ तो अवश्य मिलता। तीसरा तर्क यह है कि आर्यों को मूल भाषा संस्कृत के प्राचीन शब्द जितनी अधिक मात्रा में भारत की विभिन्न भाषाओं में पाये जाते उतने यूरोप तथा एशिया की किसी भाषा में नहीं पाये जाते। ऋग्वेद से यह संकेत मिलता है कि आर्य लोग सप्तसैन्धव प्रदेश को ही अपनी जन्म भूमि मानते थे और इसलिए इसके लिए श्देव निर्मित देश की संज्ञा का उपयोग किया।

कृ

किन्तु भारतीय विद्वानों के इस मत को अन्य देशों के विद्वान् स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि भारतीयों के इस मत के पीछे भावुकता अधिक है। यदि आर्य लोग भारत के मूल निवासी होते तो सर्वप्रथम वे अपने ही देश के सभी भागों में अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार करते, फिर अन्य देशों की ओर जाते। इसके विपरीत, आर्यों को मध्य भारत, पूर्वी भारत तथा दक्षिणी भारत की जानकारी नहीं थी, जबकि वे अफगानिस्तान और ईरान के बारे में अधिक जानकारी रखते थे। दूसरी बात भाषा सम्बन्धी है। आज भी दक्षिणी भारत तथा उत्तरी भारत की कुछ भाषाएँ अनार्य परिवार की हैं, अर्थात् प्राचीनकाल में यहाँ अनार्य जातियों का मूल स्थान था। विद्वानों ने यह भी खोज निकाला है कि बलूचिस्तान में भी द्रविड़ सभ्यता फली फूली थी। भारत की प्राचीनतम सिन्धु सभ्यता के बारे में भी विद्वानों की मान्यता है कि यह अनार्य सभ्यता थी, ऐसी स्थिति में भारत को आर्यों का मूल निवास स्थान कैसे माना जा सकता है? कुछ पाश्चात्य विद्वानों का यह भी मानना है कि इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि भारत में विदेशी जातियाँ आती रही हैं, परन्तु यहाँ से विदेशों में कोई जाति नहीं गई यूरोपीय विद्वानों का कहना है कि ऋग्वेद में जिन वनस्पतियों और पशुओं का उल्लेख मिलता है, वे सब भारत में उपलब्ध नहीं हैं। अतः भारत को आर्यों का मूल निवास नहीं माना जा सकता।

कृ

विभिन्न मतों की समीक्षा — आर्यों के मूल निवास स्थान के बारे में इस प्रकार विभिन्न विचारों के कारण यह विषय अत्यन्त ही विवादास्पद हो गया है, किन्तु आधुनिक खोजों के आधार पर अब कार्यों को भारत का मूल निवासी मानने में हमें कोई संकोच नहीं होता । वस्तुतः भारत में प्राचीनकाल से ही दो संस्कृतियाँ विद्यमान थीं । एक आर्य संस्कृति और दूसरी अनार्य संस्कृति छ अनार्य संस्कृति शान्तिप्रिय थी, जबकि आर्य संस्कृति युद्धप्रिय थी । आर्य अपने को श्रेष्ठ मानते थे । अतः उनका अनार्यों से संघर्ष अवश्य हुआ होगा । इस संघर्ष में आर्यों ने अनार्यों को दक्षिण भारत की ओर धकेल दिया । द्रविड़ों (अनार्यों) की तरह आर्य भी भारत के मूल निवासी थे । भौगोलिक परिस्थितियों के कारण आर्यों और द्रविड़ों में शारीरिक अन्तर आ गया । यूरोप के निवासी शीत कटिबन्ध में होने की वजह से गोरे हैं, जबकि दक्षिणी अफ्रीका के निवासी उष्ण कटिबन्ध में रहने से काले हैं? अतः शरीर की दशा और वर्ण तो भौगोलिक तत्वों पर आधारित हैं । इसी तरह कोल, मील, संधाल, मुण्डा, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व और किरात सभी प्राचीनकाल से ही भारत की मूल जातियाँ रही हैं । वास्तव में भारत में एक ही जाति का विकास हुआ है । यद्यपि भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उत्तर में आर्य, दक्षिण में द्रविड़ और विंध्य प्रदेश के आस-पास शबर— पुलिंद जिसमें कॉल, भील, संधाल और मुण्डा जातियाँ हैं जो अलग-अलग विकसित हुई । प्राचीन समय से ही भारत एक राष्ट्र था, आज भी भारत एक राष्ट्र है । अतः यहाँ एक ही मूल जाति आर्य थी । कालान्तर में आर्य जाति का प्रसार बाह्य देशों में हुआ । पाश्चात्य विद्वानों ने अपने भ्रमात्मक लेखों द्वारा और भारतीयों को मानसिक हीन बनाने के लिए अनेक अटकलों के तीर चलाये हैं और स्केन्डीनेविया से अल्ताई पर्वत तक और आर्कटिक सागर से तिब्बत तक जहाँ मनचाहा इसे भिड़ाने की कोशिशें की हैं । किन्तु केवल इसी बात से कि उनमें इस विषय में इतना भारी मतभेद है, यह नतीजा निकलता है कि वे अधूरे तथ्यों और अधकचरे प्रमाणों को लेकर कल्पना की उड़ानें भरते हैं । यदि वेद के अपने साक्ष्य को लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य ऋषि आरम्भ से ही सप्तसिन्धु— प्रदेश में रहते और इसे देवनिर्मित देश समझते थे । ऋग्वेद के एक मन्त्र में सरस्वती का सम्बोधन करते हुए ऋषि कहता है— पसरस्वती, हमें धन-धान्य से सम्पन्न करो, हमें अपने से दूर न करो, न अपने दुग्ध से वंचित करो, हमारा सख्य और सत्कार स्वीकार करो, हम आप से हटकर किसी अन्य देश में न जाएँ । ऋग्वेद में जिन काले वर्ण के लोगों को शदस्यु या शदासः कहा गया है वे कोलारी या द्रविड़ हो सकते हैं, या वे भ्रमणशील आर्य जंगली लोग थे जो सभ्यता की दौड़ में पीछे रह गए थे, या वे कुछ ऐसे लोग थे जो वैदिक धर्म को नहीं मानते थे । यदि यह मान भी लिया जाए कि आर्य अन्य देशों से भारत आये थे तब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उन्होंने

प्राचीन भारतीय इतिहास

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

65

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

66

सप्त सिन्धु में आने से पूर्व किसी अन्य देश में वैदिक साहित्य जैसा कोई साहित्य क्यों नहीं छोड़ा ? अभिलेखों व अन्य साक्ष्यों के अभाव में यह कल्पना नहीं की जा सकती कि जब आर्य भारत पहुँचे तब उनका सांस्कृतिक विकास उच्च कोटि पर पहुँचा हुआ था। परन्तु यदि हम भी मान लें कि भारत से ही ये लोग दूसरे देशों में गए, तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिन देशों में वे पहुँचे वहाँ उन्होंने वैदिक साहित्य की कोटि का साहित्य उत्पन्न क्यों नहीं किया? इसका सीधा और सरल उत्तर यह है कि यहाँ से बाहर जाने वाले लोग भ्रमणशील थे और उनकी बुद्धि इतनी विकसित नहीं थी। अतः निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि आर्यों का मूल निवास स्थान भारत था। आधुनिक काल में भारत को आर्यों का मूल निवास स्थान मानने की विचारधारा जोर पकड़ती जा रही है।

—

च

डॉ. सम्पूर्णानन्द और डॉ. अविनाशचन्द्र दास भारत के सप्तसैन्धव प्रदेश, पंडित गंगानाथ झा श्रद्धार्थि देश, डॉ. राजबली पाण्डेय मध्यप्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश और बिहार) तथा एल. डी. कल्ल शकश्मीर या हिमालय प्रदेश को आर्यों का मूल स्थान मानते हैं। इनमें से आर्यों को सप्तसैन्धव प्रदेश का मूल निवासी मानने का मत सबसे प्रबल है। सप्तसैन्धव प्रदेश का तात्पर्य है—सरस्वती, सिन्धु, शतुद्र (सतलज), विपासा (व्यास), परुष्णी (रावी), अस्किनी (चेनाब) एवं वितस्ता (झेलम) — इन सात नदियों द्वारा सिंचित क्षेत्र, अर्थात् वर्तमान पंजाब, हरियाणा, उत्तरी राजस्थान एवं सीमावर्ती क्षेत्र। आय को सप्तसैन्धव प्रदेश का मूल निवासी मानने के लिए निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं।

(1) आर्य भाषा परिवार या इण्डो-यूरोपियन भाषा परिवार की प्राचीनतम भाषा वैदिक संस्कृत है, जिसका प्रयोग एवं विकास आर्यों द्वारा सप्तसैन्धव प्रदेश में किया गया है। इस तथ्य की जानकारी हमें इस भाषा में लिखे गए उनके प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद से होती है। संस्कृत को हमें इण्डो-यूरोपियन भाषा परिवार की मूल भाषा या मातृभाषा के रूप में मानना चाहिए और तदनुसार उसके प्रयोक्ताओं के निवास स्थान को निर्धारित करना चाहिए, जो भारत का सप्तसैन्धव प्रदेश है। यह विदेशी विद्वानों की मात्र कल्पना है कि संस्कृत से पूर्व इण्डो-यूरोपीय या आर्य भाषा-परिवार की कोई अन्य मूल या मातृभाषा रही होगी, जिसे बोलने वाले आर्य यूरोप या मध्य एशिया में कहीं रहते होंगे। संस्कृत से पूर्व ऐसी किसी

भाषा के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिला है। कुछ विद्वानों ने युरोप की शलियूनियनश भाषा की प्राचीनता का संकेत दिया है लेकिन यह भाषा भी संस्कृत के बाद की है। इसके अतिरिक्त शलियूनियनश भाषा इतनी अविकसित और अपरिष्कृत है कि इससे इण्डो यूरोपीय भाषा परिवार की अन्य भाषाओं के विकास को रेखांकित करना सम्भव नहीं है।

(2) छवेद में वर्णित भौगोलिक परिवेश का स्पष्ट तादात्म्य सप्तसैन्धव क्षेत्र से किया जा सकता है और यहीं

प्रदेश ऋग्वेद की कर्मभूमि भी है।

(3) ऋग्वेद में एक भी ऐसा मन्त्र नहीं मिलता जिससे आर्यों का कहीं बाहर से आकर सप्तसैन्धव क्षेत्र में बसने का संकेत मिलता हो। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार, ऋग्वेद में भारतीय इतिहास की प्राचीनतम घटनाओं का सम्बन्ध सिन्धु, सरस्वती तथा सप्तसिन्धु व देश की अन्य नदियों से जोड़ा गया है। एक सूक्त में इन्द्र के उन वीर कृत्यों का उल्लेख है जो उसके द्वारा सबसे पहले किए गए थे। उसके जो सबसे पुराने वीर कृत्य थे, उनका सम्बन्ध सिन्धु और सरस्वती के ही साथ था किसी ऐसे प्रदेश से नहीं जो भारत के क्षेत्र से बाहर हो।

(4) वैदिक साहित्य के आन्तरिक प्रमाण से ज्ञात होता है कि आर्य सप्तसैन्धव क्षेत्र को अपनी मातृभूमि मानते थे। सरस्वती के प्रदेश को वैदिक साहित्य में श्देवयोनिश कहा गया है। अथर्ववेद में स्पष्ट कहा गया है कि यही वह भूमि है जहाँ पूर्व पूर्वजन निवास करते थे।

(5) भारत पर आर्यों के आक्रमण का सिद्धान्त, प्रमाणों के अभाव में स्वीकार नहीं किया जा सकता। माटीमर व्हीलर, जिन्होंने आर्यों के आक्रमण का विचार प्रस्तुत किया था, स्वयं उनका विश्वास भी बाद में इस विचार से हट गया। पुरातात्विक प्रमाणों से अब यह ज्ञात हो गया है कि हड़प्पा सभ्यता का विनाश प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण हुआ था, न कि आर्यों के आक्रमण के कारण। इसके अलावा विदेशी विद्वानों ने आर्यों के आक्रमण की तिथि 1500 ई. पू. के आस-पास निर्धारित की

थी तथा भारत में ऋग्वैदिक काल का समय 1500 ई. पू. से 1000 ई. पू. के मध्य रखा गया था। लेकिन अब नये तथ्यों के उजागर होने से यह प्रमाणित हो चुका है कि सरस्वती नदी का विलोप लगभग 1900-1800 ई. पू. के आसपास हो चुका था तथा उसके विलुप्त होने की प्रक्रिया उससे पहले शुरू हो चुकी थी। अतः यह कैसे सम्भव है कि ऋग्वेद जिसमें सरस्वती नदी की बड़ी ओजस्वी भाषा में प्रशंसा की गई, उसकी रचना 1500 ई. पू. में आर्यों के तथाकथित भारत आगमन के बाद की गई थी।

(6) कुछ नये अन्वेषणों से सिन्धु-सरस्वती सभ्यता और वैदिक सभ्यता की कुछ मौलिक समानताएँ उजागर हो रही हैं। दोनों सभ्यताओं का भौगोलिक क्षेत्र सप्तसैन्धव प्रदेश है। डॉ. भगवानसिंह ने वैदिक साहित्य से उद्धृत ऐसे बहुत से प्रमाण दिए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि विकसित नगरीय जीवन वैदिक सभ्यता का भाग था। जिस प्रकार की जल निकास प्रणाली सिन्धु-सरस्वती सभ्यता के



नगरों में मिलती है। वैसी ही विकसित व्यवस्था के संकेत वैदिक साहित्य में भी मिलते हैं। उत्खनन से प्राप्त अवशेषों से यह भी ज्ञात होता है कि सिन्धु सरस्वती सभ्यता के लोग घोड़े से भी परिचित थे। कालीबंगा, लोथल, बणावली एवं राखीगढ़ी के उत्खनन से हमें श्रग्निवेदिकाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनका यज्ञ के लिए उपयोग होने की स्पष्ट सम्भावना नजर आती है। वैदिक दाह-संस्कार की प्रथा सिन्धु-सरस्वती सभ्यता में भी दिखाई देती है। श्री वाकणकर को अपनी शोधयात्रा के दौरान हड़प्पाकालीन बस्तियों से बहुत सी ऐसी सामग्री प्राप्त हुई है जिसका तादात्म्य वैदिक संस्कृति से होता है। अतः यह सम्भावना निर्मूल नहीं है कि आर्य सप्तसैन्धव प्रदेश में बहुत पहले से रह रहे हों और उन्होंने ही सिन्धु-सरस्वती सभ्यता की संस्थापना और विकास किया हो।

उपर्युक्त विवेचन एवं नवीनतम तथ्यों के प्रकाश में यह प्रबल सम्भावना लगती है कि आर्यों का मूल निवास स्थान भारत का सप्त-सैन्धव प्रदेश था। आर्य यहाँ बहुत प्रारम्भिक काल से रह रहे थे और यहाँ से उनकी शाखाओं का प्रसार पश्चिम में ईरान, मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया तथा यूरोप के विभिन्न देशों में हुआ तथा पूर्वी दिशा में भारत के अन्य क्षेत्रों जैसे आर्यावर्त आदि में हुआ।

—
वैदिक काल — सम्पूर्ण वैदिककाल एक लम्बे कालखण्ड को सूचित करता है। सांस्कृतिक परिवर्तन एवं कालक्रम सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर वैदिक काल को दो भागों में विभाजित किया जाता

(1) ऋग्वैदिक या पूर्व वैदिक काल, जिसका ज्ञान ऋग्वेद में दिए गए विवरण से होता है। (2) उत्तर वैदिककाल, जिसकी जानकारी शेष वैदिक साहित्य से होती है।

ऋग्वैदिककाल का समय अनुमानतः 1500 ई. पू. से 1000 ई. पू. और उत्तर वैदिककाल का समय अनुमानतः 1000 ई. पू. से 600 ई. पू. के मध्य रखा गया है। लेकिन यह कालक्रम इस मान्यता पर आधारित है कि आर्य लोग बाहर से आये थे और सिन्धु-सरस्वती संस्कृति वैदिक संस्कृति से पूर्व की है। नवीन अनुसन्धानों और तथ्यों के प्रकाश में अब इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अब यह लगभग सिद्ध हो चुका है कि 1900-1800 ई. पू. तक सरस्वती नदी शुष्क प्रायः हो चुकी थी। भूगर्भीय परिवर्तनों के कारण सरस्वती नदी को अपने जलस्रोतों से पानी मिलना बन्द हो गया था और वह इस समय तक लगभग सूख चुकी थी। इस क्षेत्र की जलवायु भी प्रतिकूल हो चुकी थी। ऋग्वेद में सरस्वती नदी की विपुल जलराशि की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गई है। ऋग्वेद में सरस्वती नदी को सर्वश्रेष्ठ नदी कहा गया है। अतः वैदिक काल की संगति उस समय से होनी चाहिए जब सरस्वती नदी अपने पूरे वेग के साथ प्रवाहमान थी। यह समय विदेशी विद्वानों द्वारा प्रस्तावित 1500 ई. पू. 600 ई. पू. तो किसी भी स्थिति में नहीं हो सकता। आर्य सप्त सैन्धव प्रदेश में बहुत प्रारम्भिक काल से रह रहे थे, जहाँ उनकी सभ्यता का अभ्युदय ऋग्वैदिक काल में दिखाई देता है। उनकी सभ्यता का विकसित चरण उत्तर — वैदिककाल में

दिखाई देता है। नवीन अनुसन्धानों और तथ्यों के प्रकाश में नवरत्न एस. राजाराम एवं डेविड फराले के अनुसार सिन्धु-सरस्वती सभ्यता या हड़प्पा सभ्यता आर्यों की विकसित सभ्यता का ही प्रतिरूप जान पड़ती है और उसका समय उत्तर वैदिककाल में रखा जा सकता है। विविध स्रोतों-पुरातत्व, वैदिक खगोल विज्ञान, गणित, धातुविज्ञान, पारिस्थितिकी विज्ञान, उपग्रहीय सर्वेक्षण एवं छायांकन आदि से ज्ञात नवीनतम तथ्यों के प्रकाश में नवरत्न एस. राजाराम एवं डेविड फाले ने वैदिक काल की

प्राचीन भारतीय इतिहास

छाँजै

स्व-प्रगति का परीक्षण करें



1. आर्यों के उत्तरीय ध्रुव मूल स्थान के बारे में आप क्या जानते हैं? स्पष्ट करें।

2. वैदिक सभ्यता और संस्कृति पर

टिप्पड़ी लिखें।

3. सती प्रथा से अपना आशय स्पष्ट

करें।

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

निम्नलिखित तिथियाँ प्रस्तावित की हैं

(1) प्राक् ऋग्वैदिक काल (ऋग्वेद से पहले आर्यों का काल)

(2)

ऋग्वैदिक काल

छाँजै

(3)

उत्तर वैदिक काल रु प्रथम चरण

उत्तर- वैदिक काल रु द्वितीय चरण

(ब्राह्मण – सूत्र काल)

6000 ई. पू. से पहले

6000 ई. पू. से 3700 ई. पू. 3700 ई. पू. से 3100 ई. पू.

3100 ई. पू. से 2000 ई. पू.

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

68

(4) हड़प्पा सभ्यता (सिन्धु-सरस्वती सभ्यता)

(5) सरस्वती नदी का सूख जाना एवं वैदिक युग की समाप्ति

3100 ई. पू. से 2000 ई. पू.

2000 ई. पू. से 1900 ई. पू.

उपर्युक्त तिथियों के आलोक में ऋग्वैदिक सभ्यता को विश्व की प्राचीनतम सभ्यता के रूप में स्वीकार किया जाता है, लेकिन अभी और अनुसन्धान जारी

प्राचीन भारतीय इतिहास

है तथा भविष्य में नये तथ्यों के प्रकाश में आने की सम्भावना है। उन नये तथ्यों के प्रकाश में वैदिक काल की नयी तिथियों की स्थापना हो सकती है।

कृ

भारत में आर्य संस्कृति का प्रसार ऋग्वेद से पता चलता है कि आर्यों को अफगानिस्तान की नदियों—कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), क्रूमू (कुर्रम) और गोमती (गोमल) की पर्याप्त जानकारी थी। वे सप्त सैन्धव की नदियों—सिन्धु, सरस्वती, वितस्ता (झेलम), शतुद्र (सतलज), विपासा (व्यास), पुरुष्णी (रावी) और अस्किनी (चेनाव) से पूरी तरह परिचित थे। वस्तुतः भारत के सप्त सैन्धव नामक प्रदेश में आर्यों ने अपनी सभ्यता और संस्कृति का विकास किया। लेकिन इस प्रदेश से धीरे-धीरे उनका प्रसार भारत के पूर्वी दक्षिणी भागों में होता रहा। अपने प्रसार काल में उन्हें समय-समय पर भारत के भीतरी भागों में बस रही अनार्य जातियों से संघर्ष करना पड़ा। किन्तु अपने घोड़ों, अच्छे शस्त्रों और युद्ध कौशल के कारण वे विजयी होते रहे और आगे बढ़ते गए। पंजाब से आगे बढ़कर पहले आर्यों ने प्राचीन सरस्वती तथा दृषद्वती (अब विलुप्त हो गई है) नदियों के बीच के भाग पर अधिकार किया और इस प्रदेश को उन्होंने श्रद्धावर्तश नाम दिया। इसके पश्चात् उन्होंने थानेश्वर, पूर्वी राजस्थान, मथुरा तथा गंगा-यमुना नदियों के मध्य भाग पर अधिकार जमाया। इस भू-भाग को ऋग्वेद में श्रद्धावर्षि देश कहा गया है। यहाँ से आगे बढ़ते हुए आर्यों ने पूर्व में प्रयाग, हिमालय तथा विन्ध्याचल के मध्यवर्ती भू-भाग पर अधिकार किया और इसे श्रद्धाप्रदेश का नाम दिया। इसके बाद कई वर्षों के उपरान्त उन्होंने बिहार और बंगाल के भागों पर भी अपना प्रभुत्व कायम किया। इस प्रकार, हिमालय से लेकर विन्ध्याचल और पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्रपर्यन्त के भू-भाग में आर्यों का प्रसार हो गया और इस समूचे भू-भाग पर आर्यों के विभिन्न कबीलों की कई स्थायी बस्तियाँ बस गईं। अपने इस प्रसार के साथ ही आर्यों ने भारत में अन्य जातियों द्वारा पहले से विकसित की जा रही सभ्यता के कई तत्वों को अपनाकर उस स्थाई संस्कृति का विकास किया जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति की आधारशिला है तथा इतिहास में वैदिक सभ्यता और संस्कृति के नाम से जानी जाती है।

वैदिक सभ्यता और संस्कृति— आर्य विद्वानों ने जिस साहित्य की रचना की वह श्रद्धावर्षि साहित्य के नाम से विख्यात है। इसी वैदिक साहित्य से हमें वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है। इस साहित्य का सबसे प्राचीन प्रमुख और प्रामाणिक ग्रन्थ ऋग्वेद है। आर्य की दूसरी साहित्यिक रचनाएँ ऋग्वेद के काफी समय बाद की हैं। ऋग्वेद ने दूसरी रचनाओं के विवरण काफी भिन्न हैं। इस भिन्नता कारण विद्वानों ने पूरी वैदिक सभ्यता को दो भागों में बाँट दिया है— एक, ऋग्वैदिक सभ्यता जिसकी जानकारी का एकमात्र स्रोत ऋग्वेद ही है और दूसरी उत्तरवैदिक सभ्यता जिसकी जानकारी ऋग्वेद के अलावा अन्य तीनों वेदों तथा दूसरी वैदिक रचनाओं से मिलती है।

ऋग्वैदिक सभ्यता

वैदिक साहित्य का सबसे प्राचीन, प्रमुख और प्रामाणिक ग्रन्थ ऋग्वेद है। आर्यों की दूसरी साहित्यिक रचनाएँ ऋग्वेद के काफी समय बाद की हैं। ऋग्वेद तथा दूसरी रचनाओं के विवरण काफी भिन्न हैं। इस भिन्नता के कारण विद्वानों ने पूरी वैदिक सभ्यता को दो भागों में बाँट दिया है— एक ऋग्वैदिक सभ्यता, जिसकी जानकारी का एकमात्र स्रोत ऋग्वेद ही है और दूसरी उत्तर वैदिक सभ्यता, जिसकी जानकारी ऋग्वेद के अलावा अन्य तीन वेदों तथा दूसरी वैदिक रचनाओं से मिलती है। वेदों की संख्या चार है— ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद।

ऋग्वेद संहिता इन चारों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें आर्य ऋषियों की आध्यात्मिक और ईश्वरपरक अनुभूतियों का ही संकलन है। इसमें 10 मण्डल हैं। ऋग्वेद संहिता में कुछ विद्वानों के अनुसार 1017 और कुछ के अनुसार 1028 श्लोक या सूक्त हैं। सूक्त का अर्थ है— श्रद्धा उक्ति। आर्यों ने अपने देवी-देवताओं की स्तुति इन सूक्तों के माध्यम से ही की है। इनके द्वारा हमें न केवल उस काल के आर्यों के धार्मिक विचारों का ही पता चलता है अपितु उनकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक दशाओं के बारे में भी महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। प्रत्येक सूक्त के साथ किसी ऋषि और देवता का नाम भी मिलता है। वस्तुतः ऋषि ही उस सूक्त का रचयिता होता था। इस प्रकार के ऋषियों गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वशिष्ठ के नाम उल्लेखनीय हैं। मन्त्र रचयिता ऋषियों में कुछ स्त्रियों के नाम भी हैं। जिनमें लोपामुद्रा, घोसा, शची, पौलोमी और काक्षावृति के नाम उल्लेखनीय हैं। विद्वानों का मानना है कि प्रारम्भ में ऋग्वेद के सूक्त असंकलित रहे होंगे, बाद में इन सूक्तों को संकलित किया गया होगा। इसी कारण वेदों को ऋसंहिता कहा गया है।

राजनैतिक स्थिति

—

राजनीतिक संगठन ऋग्वैदिक काल में आर्यों के राजनीतिक संगठन की मूल इकाई शृगृह अथवा शकुटुम्ब थी। आय का कौटुम्बिक जीवन सुसंगठित था। कुटुम्ब का बड़ा बूढ़ा गृहपति होता था। कुटुम्ब से बड़ी इकाई 'ग्राम' कहलाती थी। एक ग्राम में कई कुटुम्ब बसे होते थे। ग्राम के अधिकारी को शग्रामणी कहाते थे। यह कहना कठिन है कि शग्रामणी का पद वंशानुगत होता था अथवा वह राजा के द्वारा नियुक्त किया जाता था। कई ग्रामों के समूह से श्विश नामक इकाई बनती थी। विद्वानों के अनुसार श्विष आजकल की तहसील के समान रही होगी। विश के अधिकारी को विशपति कहा जाता था। कई श्विष मिलकर शजन बनते थे।

—

प्राचीन भारतीय इतिहास

छठे

मोमल



प्राचीन भारतीय इतिहास

मध्यदेश

मत्स्य

शूरसेन

पंमाज

ऋग्वैदिक काल का सप्तसैन्धव क्षेत्र

शजनश् इकाई का अधिकारी शगोपश् अथवा शरक्षकश् कहलाता था। प्रायः राजा ही शजनश् का प्रधान अर्थात् शगोपश् होता था। शजनश् से बड़ी इकाई शराष्ट्रश् कहलाती थी। कुछ विद्वानों के अनुसार आसपास के राजाओं

‘मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

69

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

‘मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

70

को अधीन करके शसम्राट् पदवी धारण करने वाला शराष्ट्रश् का प्रधान होता था और उसकी अधीनता में शजनों के विभिन्न राजा लोग शासन करते थे।

कृ

प्रमुख जना ऋग्वेद से पता चलता है कि आर्यों के कई शजनश् थे जिनमें भरत, अनुस, मत्स्य द्रुह, यदु,

पुरु

और तुर्वस आदि विशेष प्रसिद्ध थे। ऐसा अनुमान है कि ब्रह्मावर्त में भरत आधुनिक जयपुर, भरतपुर और अलवर के क्षेत्र में मत्स्य पंजाब में अनुस तथा द्रुहः दक्षिण-पूर्व में तुर्वस, पश्चिम में यदु तथा सरस्वती नदी के आसपास के क्षेत्र में पुरु निवास करते थे। आर्यों के ये शजनश् सर्वोच्च सत्ता की स्थापना के लिए आपस में लड़ते रहते थे। ऋग्वेद से हमें शदस राजाओं के युद्ध की जानकारी मिलती है। भरतवंश के राजा सुदास ने विश्वामित्र को अपने पुरोहित पद से हटाकर वशिष्ठ को पुरोहित बनाया। यही बात इस युद्ध का कारण बन गई। विश्वामित्र के नेतृत्व में पुरुवंश के आर्यों ने राजा सुदास के विरुद्ध एक संघ बनाया और फिर दोनों पक्षों में रावी नदी के तट पर भयंकर युद्ध हुआ जिसमें सुदास विजयी रहा। इस युद्ध में अनुस, द्रुह, यदु और तुर्वस वंशों ने पुरुवंश का साथ दिया तो अलिन अलिन पक्क, मलान, शिव और विशाणित वंशों के राजा सुदास का साथ दिया। आर्यों को अनार्यों से भी संघर्ष करना पड़ा। अनार्य राजा भेद के नेतृत्व में अजस, शिग्रु और यक्षु जातियों ने यमुना तट पर राजा सुदास से युद्ध लड़ा जिसमें राजा सुदास विजयी रहा।

आर्य जनपदों में राजतांत्रिक शासन पद्धति की प्रधानता थी। सामान्यतः वंशानुगत राज्याधिकार की परम्परा प्रचलित थी, अर्थात् राजा की मृत्यु के बाद उसी का पुत्र अथवा भाई राज्य का शासक बनता था। परन्तु राज्याभिषेक के पूर्व जनता की स्वीकृति लेनी होती थी। कहीं-कहीं पर जनता नये राजा का निर्वाचन

करती थी। कुछ जनपदों में सामूहिक राजतांत्रिक पद्धति थी। कुछ जनपदों में प्रजातांत्रिक शासन पद्धति भी प्रचलित थी, परन्तु अधिकांश राज्यों में राजतांत्रिक पद्धति ही लोकप्रिय थी।

कृ

राजा के अधिकार तथा कर्तव्य – आर्य कबीलों में राजा के पद की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, यह विवादास्पद प्रश्न है। प्रोफेसर मुकुर्जी का मानना है कि एक विरोधी देश के आक्रमणकारी आर्यों के आसपास की परिस्थितियों के स्वाभाविक परिणामस्वरूप वैदिक राजतन्त्र की उत्पत्ति थी। डॉ. नारायणचन्द्र बन्धोपाध्याय भी इस मत को स्वीकार करते हुए युद्ध की आवश्यकता को राजतन्त्र की उत्पत्ति का कारण मानते हैं। डॉ. बेनीप्रसाद ने युद्ध की आवश्यकता के साथ-साथ ईश्वर द्वारा राजा की नियुक्ति की बात कही है। डॉ. जायसवाल का मानना है कि वैदिक आर्यों में राजतन्त्र की परम्परा द्रविड़ों से आई, जबकि डॉ. वी. एम. आप्टे का मत है कि आर्यों की पैतृक प्रणाली का परिणाम थी। सम्भावना इस बात की अधिक है कि भारत में आर्यों को पग-पग पर अनार्य जातियों से जिस प्रकार का जबरदस्त संघर्ष करना पड़ा, उसके लिए सैनिक संगठन की एकता तथा एक सफल सेनानायक की आवश्यकता अनुभव हुई होगी और बाद में ये सफल सैनिक नेता शराजा बन बैठे होंगे। परन्तु ऋग्वेद के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि राजा पर विश (जनता) का अंकुश रहता था। जनता के अनुमोदन के बाद ही नवीन राजा का राज्याधिकार वैध समझा जाता था और जनता को राजा को पदच्युत करने का अधिकार था।

ऋग्वैदिक काल में अधिकांश राज्य छोटे थे परन्तु राजाओं के अधिकार तथा सम्मान में किसी प्रकार की कमी न थी। वह अपने राज्य का प्रधान अधिकारी होता था और सामान्यतः उस राज्य सभी शक्तियाँ उसमें केन्द्रित होती थीं। शासन की सुविधा की दृष्टि से वह राजकीय अधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति अथवा पदच्युति करने का अधिकारी था। न्याय के क्षेत्र में वह सर्वोच्च न्यायाधीश होता था और अन्तिम अपील की सुनवाई वही करता था। वैसे राजा के अधिकारों पर कोई कानूनी अंकुश न था परन्तु व्यावहारिकता में उसे अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था, अपने अधिकारियों से विचार-विमर्श करने के बाद शासन-सम्बन्धी नीतियाँ तय करनी पड़ती थीं और जन-समितियों के विचारों का सम्मान करना पड़ता था। राजा के प्रमुख कर्तव्य थे अपनी प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना, बाह्य आक्रमणों से राज्य की सुरक्षा करना, अपने राज्य के विस्तार के लिए दूसरे राज्यों तथा अनायों से युद्ध करना, शान्तिकाल में यज्ञों का अनुष्ठान करना, अपनी प्रजा की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति में सहयोग देना, गुप्तचर व्यवस्था का संचालन करना, अपराधियों को दण्ड देना, विद्वानों तथा साधु-संन्यासियों का आदर करना तथा उन्हें आर्थिक सहायता देना। यद्यपि उस युग में राजा को भूमि का स्वामी नहीं माना जाता था।

फिर भी, प्रजा राजा की आज्ञाओं का पालन करती थी और राजा को नियमित

प्राचीन भारतीय इतिहास

रूप से कर (बलि) देती

!

थी। एक विद्वान के मतानुसार उस समय के राजा से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह पराक्रम में इन्द्र के समान गुणों में वरुण के समान और दयालुता में मित्र के समान होना चाहिए।

प्रमुख अधिकारी प्रशासनिक कार्यों में राजा की सहायता के लिए कुछ पदाधिकारी होते थे, जिनमें पुरोहित, सेनापति और ग्रामणी प्रमुख थे। पुरोहित का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता था। वह राजमंत्री, पथ-प्रदर्शक, दार्शनिक और योद्धा भी था। शान्तिकाल में वह धार्मिक कार्यों में व्यस्त रहता था और युद्धकाल में अपने राजा की जीत तथा सैनिकों का उत्साह बढ़ाने के लिए दैवी शक्तियों का आह्वान करता था। प्रोफेसर कीथ ने लिखा है कि वैदिक पुरोहित उन ब्राह्मण राजनीतिज्ञों का पूर्वज था, जिन्होंने समय – समय पर भारत में व्यवस्था सम्बन्धी मामलों में अद्भुत प्रतिभा का प्रदर्शन किया था। वस्तुतः ऋग्वैदिक पुरोहित से ही कालान्तर में राज मंत्री के पद का विकास हुआ।

—

सेनानी अथवा सेनापति राज्य की सेना का प्रधान होता था। युद्ध में सैन्य संचालन का उत्तरदायित्व उसी का होता था। वह अपनी देख-रेख में सैनिकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करता था। ग्रामणी गाँव का मुखिया होता था। वह गाँव में राजा का प्रमुख सैनिक एवं असैनिक अधिकारी था। वस्तुतः वह गाँव की जनता तथा राजा के बीच सम्पर्क बनाए रखने का कार्य करता था। इन तीन प्रमुख अधिकारियों के अलावा सूत, रथकार और कर्मर के नामों का भी उल्लेख मिलता है। ऐसा अनुमान है कि ये लोग व्यावसायिक औद्योगिक वर्ग के प्रतिनिधि रहे होंगे। अन्य पदाधिकारियों में पुरप (दुर्गपति), स्पश (गुप्तचर), दूत आदि मुख्य ये समस्त अधिकारी राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे। इन लोगों की सेवाओं का भुगतान कैसे किया जाता थाय यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। अनुमान है कि उन्हें समय-समय पर सोना-चाँदी, वस्त्राभरण, अन्न आदि दिया जाता था।

—

थे।

सभा और समिति ऋग्वैदिक काल में राजा निरंकुश नहीं होते थे। ऋग्वेद में शसमाश और शसमितिश् का उल्लेख मिलता है, जो राजा को शासनिक सलाह देने तथा उस पर नियन्त्रण रखने के लिए होती थीय परन्तु इनके वास्तविक अर्थ पर बड़ा मतभेद है। प्रोफेसर कीथ और हिलब्रैण्ड—दोनों विद्वानों का मानना है कि शसमितिश् सम्पूर्ण जाति की संस्था थी और शसभाश् उस संस्था का अधिवेशन स्थल था। यह मत असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से शसभाश् और शसमितिश् को दो पृथक् संस्थाएँ बताया गया है। लुडविग का मत

है कि इसमिति एक व्यापक संस्था थी, जिसमें सामान्य लोगों के साथ-साथ ब्राह्मण तथा धनिक लोग भी सम्मिलित थे और इसभाष बुजुर्ग लोगों अथवा कुलीनों की संस्था थी। जिमर के मतानुसार समिति सम्पूर्ण जाति की लोकसभा और इसभाष गाँवों की प्रतिनिधि संस्था थी। भारतीय विद्वानों में डॉ. बन्द्योपाध्याय ने इसमिति को सम्पूर्ण रजन की इसभाष और इसभाष को कुछ विशिष्ट सम्मानित व्यक्तियों को परिषद् बतलाया है। इसके विपरीत डॉ. के. पी. जायसवाल ने समिति को गाँवों की प्रतिनिधि सभा और इसभाष को इसमिति के ही अन्तर्गत कुछ चुने हुए लोगों की केन्द्रीय परिषद् बतलाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमिति आर्यों की एक बड़े आकार की जनसभा रही होगी और इसभाष एक छोटे आकार की परिषद् रही होगी। इन दोनों संस्थाओं में राज्य से सम्बन्धित महत्वपूर्ण मामलों पर विचार किया जाता था। राजा के लिए इन संस्थाओं की प्रत्येक बैठक में भाग लेना तो आवश्यक नहीं था, परन्तु समय-समय पर उसे उपस्थित होना पड़ता था। ऋग्वैदिक काल में सभा और समिति काफी सबल संस्थाएँ थीं। उन्हें राजा को पदच्युत अथवा निर्वासित करने का अधिकार था। शक्तिशाली राजा भी इन संस्थाओं के निर्णयों की अवहेलना करने का साहस नहीं जुटा पाता था।

कृ

न्याय व्यवस्था उस युग में प्रचलित न्याय व्यवस्था के बारे में हमें पर्याप्त जानकारी नहीं मिलती है। राजा सर्वोच्च न्यायाधिकारी होता था। वह स्वयं अथवा अपने पुरोहित की सहायता से अभियोगों का निर्णय करता था। ऋग्वेद में बहुत-से दण्डनीय अपराधों का उल्लेख मिलता है जिनमें मुख्य निम्न हैं—
(1) चोरी, डकैती, संध लगाना, जानवरों की चोरी आदि। (2) भाई-बहिन का विवाह (3) ऋण न चुकाना। अपराधों के लिए राज्य की ओर से क्या दण्ड दिया जाता था, इस सम्बन्ध में थोड़े-बहुत उदाहरण मिलते हैं। मृत्युदण्ड की सजा प्रचलित थी, परन्तु बहुत कम अवसरों पर यह सजा दी जाती थी। विद्वानों के अनुसार मारे

गए लोगों के सम्बन्धियों को धन देकर समझौता किया जा सकता था, अर्थात् प्राणघात के लिए द्रव्य

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

71

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

72

की प्रथा थी। गोल्डनर के अनुसार सन्तप्त- परशु - परीक्षा भी प्रचलित थी। लुडविग भी इस मत से सहमत। इनका मत है कि अपराधियों की अग्नि परीक्षा,

प्राचीन भारतीय इतिहास

जल— परीक्षा अथवा सन्तप्त— परशु—परीक्षा ली जाती थी। ऋण अदा न करने वाले लोगों को दास बनाने की प्रथा भी प्रचलित थी। दण्ड के रूप में जुर्माना लेने की प्रथा भी थी। गाँवों में अपराधों के मामलों को निपटाने हेतु पंच मध्यस्थ बनकर फैसला करते थे। अपराधों का पता लगाने के लिए उग्र (पुलिस) होते थे।

कृ

युद्ध—विधि ऋग्वैदिक काल में जन का प्रत्येक पुरुष सैनिक होता था और आवश्यकता पड़ने पर उसे शस्त्र धारण करके युद्ध में भाग लेना पड़ता था। साधारण सैनिक पैदल युद्ध करते थे और धनुष—बाण, तलवार, भाला, फरसा आदि से लड़ते थे। राजा तथा योद्धा घोड़ों अथवा रथों पर सवार होकर

युद्ध

करते थे। वे कवच, लोहे का टोप आदि पहनते थे। ऋग्वेद से दुर्गों का घेरा डालने तथा तोड़ने की भी जानकारी मिलती है। युद्ध प्रायः नदियों के तटों पर लड़े जाते थे। युद्ध में धर्म को प्रधानता दी जाती थी अर्थात् छल—कपट एवं बेईमानी का प्रयोग नहीं किया जाता था। असहाय, घायल तथा शरण में आए हुए तथा निःशस्त्र व्यक्ति पर प्रहार नहीं किया जाता था। सेना में विभिन्न इकाइयों के अस्तित्व के बारे में हमारे पास पर्याप्त जानकारी नहीं है परन्तु ऋग्वेद में शर्ध, बात और गण आदि शब्दों के प्रयोग से विद्वानों का

अनुमान

है कि सेना में इकाइयों का अस्तित्व रहा होगा और उपर्युक्त नाम इन्हीं इकाइयों के रहे होंगे।

सामाजिक जीवन

परिवार — ऋग्वैदिक काल में आर्यों का सामाजिक जीवन काफी सुव्यवस्थित था। समाज की मूल इकाई श्रृंखला थी। परिवार पितृमूलक होते थे, अर्थात् पिता परिवार का मुखिया होता था। उसे गृहपति भी कहा जाता था। गृहपति के रूप में परिवार की समस्त सम्पत्ति पर उसका अधिकार होता था। परिवार के सभी सदस्यों को उसके आदेश का पालन करना पड़ता था। आज्ञा की अवहेलना करने वाले सदस्य को वह अपनी इच्छानुसार कठोर से कठोर दण्ड दे सकता था। परिवार के मुखिया के नाते परिवार के सभी सदस्यों के लालन—पालन, विवाह तथा उनको उन्नति का ध्यान रखना उसका मुख्य कर्तव्य होता था। ऋग्वैदिक काल में संयुक्त परिवारों की प्रधानता थी। माता—पिता, भाई—बहन, काका—भतीजा, पुत्र—पौत्र आदि एक परिवार में सामूहिक रूप से रहते थे और मिल—जुलकर काम करते थे। संयुक्त परिवार प्रणाली के विकास में दो तत्वों का मुख्य योगदान रहा था। पहला, परिवार की सम्पत्ति तथा सदस्यों की सुरक्षा और

दूसरा, आजीविका के मुख्य साधनों— कृषि, पशु—पालन तथा कुटीर उद्योग—धन्यों में अधिक हाथों के श्रम को आवश्यकता। कुल मिलाकर उनका पारिवारिक जीवन सुख — शान्तिमय था। परिवार में अतिथियों का विशेष सत्कार किया जाता था।

कृ

स्त्रियों का स्थान परिवार में पुरुष की प्रधानता होने पर भी समाज में स्त्रियों को सम्मानित स्थान प्राप्त था। परिवार में भी स्त्रियों का स्थान उच्च था। वे पति की अद्वागिनी तथा गृह स्वामिनी मानी जाती थीं। पत्नी ही घर है, पत्नी ही गृहस्थी है, पत्नी आनन्द हैय जहाँ-जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है, वहाँ देवताओं का निवास होता हैय आदि का प्रमाण हमें ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों से मिलता है। स्त्रियाँ यज्ञ – याजन तथा धार्मिक उत्सवों में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेती थीं। उस काल में पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था। कन्याओं की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था, जिसके परिणामस्वरूप घोषा, अपाला लोपमुद्रा, श्रद्धा आदि परम विदुषी स्त्रियाँ हुई थीं, जिन्होंने वैदिक ऋचाओं की रचना की थी।

परिवार में स्त्री का मुख्य कार्य घर का प्रबन्ध, बच्चों का लालन-पालन तथा गृहस्थी के अन्य कामों के साथ-साथ ताना बुनना भी था। ऋग्वेद में इसे कहीं अग्नि देवता के समान माना गया है तो कहीं श्रुषा देवीश के समान गौरव प्रदान किया है। फिर भी, ऋग्वेद के मन्त्रों में पुत्रों की कामना अधिक देखने को मिलती है। स्त्रियों को सभी प्रकार का सम्मान उपलब्ध था परन्तु शादी से पूर्व उन्हें पिता के नियन्त्रण में, शादी के बाद पति के नियन्त्रण में, पति की मृत्यु के बाद पुत्र की देखरेख में जीवन बिताना पड़ता था।

विवाह – ऋग्वैदिक काल के विभिन्न संस्कारों में विवाह का सर्वाधिक महत्त्व था। विवाह को एक उच्च एवं पवित्र संस्कार समझा जाता था। विवाह के पहले आजकल की भाँति दोनों पक्षों के लोग

लड़के-लड़की की चारित्रिक शारीरिक एवं सामाजिक स्थिति की जानकारी प्राप्त कर लेते थे। सामान्यतः माता-पिता ही सम्बन्ध तय करते थे। परन्तु कहीं-कहीं लड़के-लड़की की पूर्व स्वीकृति लिए जाने के उदाहरण भी मिलते हैं। ऋग्वैदिक काल में भाई-बहिन तथा पिता-पुत्री में वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो सकता था। कुछ विद्वानों के अनुसार बाद में सपिण्ड, सगोत्र और सप्रवर विवाहों के ऊपर भी प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे। ऋग्वेद में अन्तर्जातीय विवाहों के उदाहरण भी मिलते हैं। इसमें अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों विवाहों के उदाहरण मिलते हैं। अनुलोम विवाह के अन्तर्गत ब्राह्मण विमद और राजकन्या कम तथा ब्रह्मर्षि श्यावाश्व तथा राजकन्या दार्भ के विवाहों का उल्लेख मिलता है। प्रतिलोम विवाह में देवयानी का राजा ययाति के साथ और ब्राह्मण कन्या शाश्वती का राजा असंग के साथ विवाह का उल्लेख मिलता है। सामान्यतः एक पत्नी रखने की ही परम्परा थी, परन्तु ऐसा अनुमान है कि राजा तथा सम्पन्न लोग एक से अधिक पत्नियाँ भी रखते थे, परन्तु स्त्री एक से अधिक पति नहीं रख सकती थी। ऋग्वेद में बाल विवाहों का उल्लेख नहीं मिलता।

प्राचीन भारतीय इतिहास

सती प्रथा कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद के एक अंश के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उस समय के समाज में सती प्रथा प्रचलित थी, परन्तु उनके तर्कों में विशेष बल नहीं है। अधिकांश विद्वानों का मानना है कि ऋग्वैदिक काल में आर्यों में सती प्रथा प्रचलित नहीं थी। इसके स्थान पर नियोग— प्रथा के अन्तर्गत विधवा स्त्री को पुत्र प्राप्ति के निमित्त अपने देवर अथवा किसी अन्य व्यक्ति के साथ पत्नी के रूप में रहने की स्वीकृति प्राप्त थी। नियोग—प्रथा से उत्पन्न सन्तान समाज में घृणित नहीं समझी जाती थी। कुछ विद्वानों का मानना है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विधवा स्त्री को भी पुत्र—प्राप्ति के निमित्त अपने पति के जीवनकाल में ही अन्य पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की अनुमति दे दी जाती थी। ऋग्वेद में नियोग प्रथा तथा पुत्र प्राप्ति के लिए अस्थाई सम्बन्धों का उल्लेख मिलता

विधवा विवाह के स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलते।

परन्तु

कृ

वर्ण व्यवस्था भारत में आर्यों के साथ— साथ ही भारतीय समाज में दो वर्ग अस्तित्व में आ गए एक था आर्य वर्ग और दूसरा था अनार्य वर्ग इस वर्ग भेद के कई कारण थे। एक कारण था— विजेता और विजित होने का। आर्य विजेता थे और अनार्य पराजितों की श्रेणी में आ गए थे। शासक और शासित में भेद होना स्वाभाविक ही था। दूसरा कारण था रंगभेद अर्थात् वर्ण का आर्य लोग गौरवर्ण के थे और अनार्य लांग कृष्ण वर्ण के। दोनों की शारीरिक रचना में भी भेद था। आर्यों की नाक ऊँची होती थी। इसके विरुद्ध अनार्यों की नाक बैठी हुई थी। तीसरा कारण था दोनों के धार्मिक एवं सांस्कृतिक विचारों की भिन्नता। आर्य लोग यज्ञ—अनुष्ठान, व्रतों का पालन करने वाले थे। चौथा कारण था आर्यों में अपने रक्त की कायम रखने की कामना। अतः उन्होंने अनाय सम्पर्क स्थापित नहीं किया। इस प्रकार समाज में दो वर्ग कायम हो गए। दोनों वर्ण रंग, शरीर रचना, संस्कृति, जाति और भाषा की दृष्टि से नितान्त भिन्न थे। ऋग्वेद में भी उल्लेख है कि, शूद्र प्रकृति के ऋषि (अगस्त्य) ने दोनों वर्णों का पोषण किया।

शुद्धता

आर्यों में वर्ण—व्यवस्था की उत्पत्ति कब और कैसे हुई होगी? यह प्रश्न बहुत अधिक विवादास्पद है। कुछ लोगों की मान्यता है कि भारत में आर्यों में वर्ण—व्यवस्था का उदय पूर्व में हो चुका था। कुछ लोगों की मान्यता है कि वर्ण व्यवस्था का उदय और विकास उत्तरवैदिक काल में हुआ।

कृ

पूर्व में आर्य समाज को शायद ही वर्ण व्यवस्था की आवश्यकता पड़ी हो, क्योंकि प्रत्येक आर्य व्यक्तिगत रूप से देवताओं की उपासना एवं यज्ञ करता था। अतः ब्राह्मण— पौरोहित्य की आवश्यकता न थी। इसी प्रकार, प्रत्येक आर्य को युद्ध में

भाग लेना पड़ता था। इसके लिए किसी वर्ण-विशेष की आवश्यकता न थी। यही कारण है कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक मण्डलों में वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी उल्लेख कहीं देखने को नहीं मिलता। श्वैश्यश् और शूद्रश् शब्दों का उल्लेख तो केवल दसवें मण्डल के श्पुरुष सूक्तश् में ही मिलता है, परन्तु भारत में आर्यों को अनायों से पश-पग भूमि के लिए निरन्तर संघर्ष करना पड़ा। इन नवीन परिस्थितियों ने आर्यों की प्राचीन व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। अतः उन्हें अपने समाज का पुनः संगठन करने की आवश्यकता हुई। नया संगठन कार्य विभाजन के सिद्धान्त पर किया गया। समाज को एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता थी जो युद्धों की विभीषिका से दूर रहकर आर्य धर्म की रक्षा कर सकें मन्त्र रचना और मन्त्र – संरक्षण कर सकें और मन्त्रों को विशुद्ध रूप में याद रख सकें तथा राष्ट्र कल्याण

प्राचीन का

‘पतञ्जि

133

73

प्राचीन भारतीय इतिहास

छत्तै

‘मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

और शत्रुओं पर विजय के लिए देवी-देवताओं की स्तुति कर सकें। इस वर्ग को ब्राह्मणश् नाम दिया गया। इसके साथ-साथ उन्हें एक ऐसे वर्ग की भी आवश्यकता हुई जो युद्ध-विद्या में निपुण होय राष्ट्र और जन-धन की रक्षा तथा विस्तार के लिए लड़े जाने वाले युद्धों में भाग ले सकें और राजकीय तथा प्रशासकीय कार्यों का संचालन कर सकें। इस वर्ग को क्षत्रियश् नाम दिया गया। शेष आर्य समाज निश्चिन्त होकर कृषि, वाणिज्य तथा अन्यान्य व्यवसायों के द्वारा राष्ट्र तथा समाज की आर्थिक उन्नति में जुट गया। इसे श्वैश्यश् नाम दिया गया। युद्ध में पराजित अनार्य जो आर्यों के समाज के अंग बन गए थे, दास या दस्यु कहलाये। इन लोगों को निम्न स्तर के कार्यों के लिए नियोजित कर लिया गया। इस प्रकार, समाज में कार्य अर्थात् कर्म के आधार पर चार वर्गों का निर्माण हुआ। ये चार वर्ग ही धीरे-धीरे चार वर्णों के रूप में विकसित हो गए।

कृ

ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलों में इन चारों वर्णों का उल्लेख नहीं है। केवल दसवें मण्डल, जिसकी रचना काफी बाद में हुई थी, का श्पुरुष सूक्तश् वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का उल्लेख करता है। इस सूक्त के अनुसार विराट् पुरुष (ईश्वर) के मुख से ब्राह्मण, उसको भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। मजे की बात तो यह है कि इस पुरुष सूक्त को छोड़कर सम्पूर्ण ऋग्वेद में कहीं भी श्वैश्यश् तथा शूद्रश् शब्दों का उल्लेख नहीं मिलता। अतः अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि बाद के व्यवस्थाकारों ने इस वर्ण व्यवस्था को ईश्वरीय रूप देने की दृष्टि से श्पुरुष सूक्तश् की रचना होगी।

प्राचीन भारतीय इतिहास

उ

वर्ण—व्यवस्था का प्रारम्भिक स्वरूप बहुत अच्छा था। वह काफी लचकीली थी। वह कर्म और श्रम के सिद्धान्त पर आधारित थी। कर्म से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो सकता था। आवश्यकतानुसार लोग अपना वर्ण (व्यवसाय) बदल भी सकते थे, क्योंकि वर्ण—विभाजन जन्मजात नहीं था। इस सम्बन्ध में कठोर नियमों का अभाव था। वर्णों में आपसी खान—पान तथा वैवाहिक सम्बन्ध । पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न था । शूद्र द्वारा बनाए गए भोजन को करने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था और उनके सम्पर्क में आने अथवा उनका स्पर्श करने को अपवित्रता नहीं माना जाता था। उदाहरणार्थ — ऋग्वेद में एक स्थान पर एक व्यक्ति कहता है कि मैं मन्त्र निर्माता हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता पत्थर की चक्की से अन्न पीसने वाली है। इसी प्रकार, देवापि और शान्तनु नामक दो भाइयों का उल्लेख मिलता है। देवापि पुरोहित थे और शान्तनु राजा । इससे स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल में वर्ण—व्यवस्था कर्म प्रधान थी, न कि जन्म प्रधान ।

—

वेशभूषा आर्यों की वेशभूषा साधारण थी। वे मुख्यतः तीन वस्त्र पहनते थे । कमर के नीचे घोती जिसे शनीबीश कहा जाता थाय शरीर पर शाल की भाँति ओढ़े जाने वाला वस्त्र जिसे श्वासश कहा जाता था और ऊपर से धारण किया जाने वाला वस्त्र जिसे शअधिवासश अथवा शद्रापिष कहा जाता था। आर्यों में पगड़ी पहनने का रिवाज भी था। पगड़ी को वे लोग शउष्णीयश कहते थे। आर्यों के वस्त्र सूत, ऊन तथा मृग — चर्म के होते थे और वे लोग बस्त्रों को सिलकर भी पहनते थे। उन्हें रंगीन वस्त्रों का काफी शौक था। वस्त्रों पर सोना—चाँदी व जरी का काम भी किया जाता था। आर्य स्त्री और पुरुष दोनों बाल रखते थे। पुरुष दाढ़ी भी रखते थे। स्त्रियाँ विविध प्रकार से केश सँवारती थीं, वेणी गूँथती थी और जूड़ा बाँधती थीं। स्त्रियों और पुरुषों दोनों को आभूषण पहनने का शौक था। वे मुख्यतया हार (निष्क), कण्ठे, नूपुर, गजरे, भुजबन्ध, केयूर, कंकण, अँगूठी आदि आभूषण पहनते थे। सिर पर श कुम्बश नामक विशेष प्रकार का आभूषण धारण किया जाता था।

खान—पान

आर्यों का खान—पान सादा परन्तु शक्तिदायक होता था। उनके भोजन में गेहूँ, जौ, घी, दूध—दही, फल एवं सब्जियों की प्रधानता होती थी। ऋग्वैदिक आर्य मांसाहारी भी थे। विशेष अवसरों पर मांस का प्रयोग किया जाता था। ऐसे ही विशेष अवसरों पर आर्य लोग शसोमरसश नामक मादक पेय भी पीते थे, किन्तु यह शराब न होकर एक विशेष प्रकार की वनस्पति का रस होता था। वैसे ऋग्वेद में कहीं—कहीं सुरापान की निन्दा भी की गई है जिससे प्रतीत होता है कि आर्य विद्वान सुरापान के दोषों से परिचित थे।

नैतिकता आर्यों ने मानव जीवन को उसके समग्र रूप में देखा गया था और वे नियमितता तथा नैतिकता को जीवन में बड़ा महत्त्व देते थे। उनके आचार-विचार, बड़े-बूढ़ों तथा गुरुजनों का आदर करना, अपने से छोटों के साथ स्नेह रखना, अतिथि सत्कार करना उत्तम समझा जाता था। आर्य के जीवन में समाज सेवा की भावना का विशेष महत्त्व था। कुल मिलाकर आर्यों ने अपने जीवन में नैतिक मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया था।

मनोरंजन – ऋग्वेद से पता चलता है कि आर्य लोग प्रवृत्तिमार्गी थे। वे अपने मौजूदा जीवन को सुखी और सानन्द बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। जीवन को उल्लास के साथ बिताना उनका व्यसन था। वे लोग अपने आमोद-प्रमोद के लिए विविध उत्सवों का आयोजन करते थे। इस प्रकार के उत्सवों में नृत्य, गान एवं वाद्य के प्रदर्शनों से अपना मनोरंजन किया करते थे। इन प्रदर्शनों में स्त्री और पुरुष समान रूप से भाग लेते थे। नृत्य के लिए वीणा और करताल का प्रयोग होता था। गान में विभिन्न प्रकार के मन्त्रों तथा गीत का और वाद्य संगीत में वीणा, दुन्दुभी, शंख, झांझ और मृदंग का प्रयोग किया जाता था। संगीत के अलावा घुड़दौड़, रथदौड़ और मल्ल युद्ध भी मनोरंजन के आकर्षक साधन थे। ऋग्वेद में जुआ अथवा द्यूत-क्रीड़ा का भी उल्लेख मिलता है, आखेट भी मनोरंजन का एक अच्छा साधन था।

कृ

शिक्षा— ऋग्वैदिक काल में शिक्षा का बड़ा महत्त्व था। अनुमान है कि उस युग में शिक्षा मौखिक रही होगी, क्योंकि लेखन कला के बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। शिक्षा का आधार सादा जीवन, उच्च विचार था। प्रत्येक ऋषि कुल एक वैदिक विद्यालय का ही स्वरूप था जहाँ ऋषि-मुनि लड़के-लड़कियों को शिक्षा प्रदान करते थे। गायत्री मन्त्र उस युग के ज्ञान का उच्चतम छोर माना जाता था। ऋग्वैदिक काल की संस्कृत भाषा काफी उन्नत थी। उसका व्याकरण सम्बन्धी ठाठ नितान्त परिपूर्ण द्य प्रत्येक क्रिया के अलंकार, वचन, पुरुष आदि सुनिश्चित हैं और कारक एवं विभक्तियों के रूप भी नियत हैं। उच्चारण के सात प्रकार और वाक् की चार अवस्थाओं का उल्लेख भी मिलता है। शिक्षा का प्रधान लक्ष्य बौद्धिक विकास तथा आचरण की सभ्यता को विकसित करना था। इसमें श्वात्म-निरीक्षण की पद्धति पर विशेष जोर दिया जाता था।

—

लेखन कला ऋग्वैदिक आर्य लेखन कला से परिचित थे अथवा नहीं यह प्रश्न बहुत अधिक विवादास्पद है। मैक्समूलर का मत है कि चौथी सदी ई. पू. के पहले भारतीयों को लेखन का ज्ञान नहीं था। बहूलर नामक विद्वान का मत है कि भारतीय वर्णमाला प्रारम्भिक फोनिशियन वर्णमाला से विकसित हुई होगी। फोनिशियन लोगों ने ई. पू. नौवीं शताब्दी में वर्णमाला का विकास किया था, अर्थात् इस समय से पूर्व भारतीय लेखन कला से अपरिचित थे। उपर्युक्त मतों

प्राचीन भारतीय इतिहास

में अधिक वजन प्रतीत नहीं होता। जैसा कि मेकडॉनेल तथा विण्टरनित्व आदि विद्वानों का मानना है कि ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र की रचना से लेकर आखिरी मन्त्र की रचना के मध्य सैकड़ों वर्ष का समय लगा होगा। तब हमें यह मानना पड़ेगा कि ऋग्वेद जैसे विशाल ग्रन्थ को केवल मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रख गया होगा। यह स्मरण शक्ति का अद्वितीय चमत्कार माना जाएगा, परन्तु जिस पर कभी विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः यह मानना उपयुक्त होगा कि आर्यों को लेखन कला का ज्ञान था। डॉ. भण्डारकर ने तो यह सिद्ध करने का प्रयास भी किया है कि आर्यों को ऋग्वैदिक समय से ही लेखन कला का ज्ञान था और उनकी ब्राह्मी लिपि प्रागैतिहासिक काल के मिट्टी के बर्तनों पर प्राप्त वर्णों तथा चिन्हों से विकसित हुई प्रतीत होती है। परन्तु जैसा कि डॉ. आर. सी. मजूमदार का कहना है कि जब तक निश्चित साक्ष्य प्रकाश में नहीं आ पाते तब तक इस प्रश्न को हल करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार, अभी यह प्रश्न रहस्यमय अँधेरे में ही पड़ा हुआ है।

ही

आर्थिक जीवन

ऋग्वैदिक काल के लोगों की आजीविका के मुख्य साधन थे – कृषि, पशु-पालन, घरेलू उद्योग-धन्धे और व्यापार वाणिज्य। चूँकि ऋग्वैदिक सभ्यता ग्राम्य-सभ्यता थी अतः उसका आर्थिक जीवन मुख्यतः कृषि और पशु-पालन पर आधारित था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

श्श---

75

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

ज।

कृषि भारत में आर्यों ने वन्य प्रदेशों को साफ करके अपने ग्रामों की स्थापना करनी शुरू कर दी थी। ग्राम्यों की स्थापना के समय यह ध्यान रखा जाता था कि ग्रामवासियों का ग्राम के आस-पास हो खेत उपलब्ध हो सकें और सम्पूर्ण गाँव के मवेशियों के लिए पर्याप्त चारागाह भी उपलब्ध रहें। उस युग में खेत किसान की व्यक्तिगत सम्पत्ति समझे जाते थे। उन्हें राजा की सम्पत्ति नहीं माना जाता था। राजा खेतों की उपज में से कुछ हिस्सा कर (बलि) के रूप में वसूल करने का अधिकारी मात्र था। वह किसानों को उनकी भूमि से बेदखल करने अथवा उनकी भूमि को छीनने का अधिकार नहीं रखता था। ग्रामवासियों के खेत उनके ग्राम के आसपास ही होते थे। ग्रामों के चारों ओर चारागाह होते थे,

जो सम्पूर्ण ग्राम की सम्मिलित सम्पत्ति समझे जाते थे और ग्राम के सभी मवेशी इन चारागाहों पर चरते थे।

ऋग्वैदिक आर्य जौ, गेहूँ, धान, ब्रीहि, तिल, उड़द, मसूर, चना आदि फसलें पैदा करते थे। कुछ विद्वानों का मानना है कि श्वानश का अर्थ श्चावल से न लेकर शन्नश् समझना चाहिए। क्योंकि पंजाब तथा सिन्धु प्रदेश की जलवायु चावल की खेती के अनुकूल न थी। खेती का काम हल-बैल से किया जाता था। हल लकड़ी का बना होता था और बैलों से खींचा जाता था। हल-बैल से भूमि की जुताई करके बीज बोये जाते थे। फसल के पकने के बाद उसे हँसिया (दात्र) से काटकर अलग-अलग गट्टों में बाँधकर रखलिहान में लाया जाता था, जहाँ उसे पीटकर अथवा कुचलकर भूसा और अन्न पृथक् पृथक् किया जाता था। अच्छी फसल के लिए खाद का प्रयोग भी किया जाता था।

आजकल की भाँति ऋग्वैदिक काल में भी कृषि वर्षा पर निर्भर थी। समयानुकूल वर्षा के लिए आर्य लोग अपने देवी-देवताओं की स्तुति करते रहते थे। इसके अलावा आर्यों ने कुओं (अवत) के जल से सिंचाई करना भी सीख लिया था। एक चक्र के द्वारा कुँ से जल खींचा जाता था और नालियों की सहायता से खेतों में पहुँचाया जाता था। नदियों, तालाबों तथा वर्षाऋतु में किसी स्थान पर एकत्र हुए जल को नहरों की सहायता से खेतों तक पहुँचाया जाता था। इस प्रकार उस युग के आर्यों ने कृषि कर्म में काफी उन्नति कर ली थी और इस व्यवसाय को समृद्धि तथा प्रतिष्ठा का कारण बताया जाता है।

कृ
उ

पशु-पालन कृषि के समान ही पशु-पालन भी ऋग्वैदिक आर्यों का एक मुख्य व्यवसाय था। ऋग्वेद में पशु धन की वृद्धि के लिए देवताओं से की गई प्रार्थनाओं का काफी उल्लेख मिलता है। उस युग के आर्य गाय, बैल, भैंस, भेड़-बकरी, घोड़ा आदि पशुओं का पालन करते थे। गाय का महत्त्व अधिक था। गाय का दूध आर्यों के भोजन का मुख्य अंग होता था। उसका गोबर लीपने पोतने तथा उपले बनाने के काम में आता था। गाय के बछड़े बैल होकर खेती तथा माल ढोने के काम में आते थे। दान-पुण्य में भी प्रयोग किया जाता था। सबसे अधिक महत्त्व की बात थी क्रय-विक्रय अथवा लेन-देन के सम्बन्ध में गाय को विनिमय का माध्यम मानना दूध, मांस और खाल की दृष्टि से भैंस, भेड़ और बकरी भी आवश्यक पालतू पशु समझे जाते थे। घोड़ा आर्यों का प्रिय पशु था। उसका सामरिक महत्त्व भी था। इसके अलावा वह सवारी के काम भी आता था। माल ढोने तथा रथ को खींचने में भी उसका प्रयोग किया जाता था। घुड़दौड़ के द्वारा मनोरंजन भी किया जाता था। ऋग्वेद में शूँट का भी उल्लेख है। अनुमान है कि मरुस्थली प्रदेश के आसपास बसे आर्य शूँट को अधिक पालते थे। इसके अलावा कुत्ता, सुअर, गधा, हिरन आदि पशुओं के पालन का उल्लेख भी मिलता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

—

घरेलू उद्योग—धन्धे ऋग्वेद से हमें अनेक प्रकार के तत्कालीन घरेलू व्यवसायों के बारे में जानकारी मिलती है। उस युग के लोग विभिन्न धातुओं को गलाने तथा उन्हें पीटकर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को बनाने में दक्ष थे। कवच, शिरस्त्राण, बाण, अस्त्र—शस्त्र तथा औजार बनाने के लिए शयस् नामक धातु का प्रयोग किया जाता था। यह कौन सी धातु थी, इस पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ के अनुसार यह श तौबा श थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह सोना और सीसा के अलावा कोई अन्य धातु थी। सोने का प्रयोग भी काफी होता था। ऋग्वेद में इसे शहिरण्यपिण्डश कहा गया है। इस धातु का प्रयोग मुख्यतः आभूषण बनाने तथा दान—दक्षिणा देने में किया जाता था। शनिस्क नामक लोकप्रिय आभूषण स्वर्ण का ही बना होता था। अनुमान है कि आर्य लोग चौदी से अपरिचित रहे होंगे क्योंकि ऋग्वेद में इस धातु का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। लोहे का प्रयोग भी किया जाता था। बढ़ई का काम भी उन्नत था। बढ़ई लोग लकड़ी के दरवाजे, चारपाइयाँ, तख्त, रथ, बैलगाड़ी, नौकाएँ आदि का निर्माण करने में काफी निपुण थे।

कृ

ऋग्वैदिक काल में वस्त्र उद्योग भी काफी उन्नत था। उस युग के लोग सूत कातना और कपड़ा बुनना जानते थे। ऋग्वेद में जुलाहे को श्वायश कहा गया है और करघा के लिए शतसरश शब्द का प्रयोग किया गया है। कताई, बुनाई और कढ़ाई का अधिकांश काम स्त्रियों करती थीं। ऋग्वैदिक काल में ऊन, सन, रेशम आदि से भी वस्त्र बनाए जाते थे। शकपासश के प्रयोग के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। बहुत से लोग पशु चर्म और वृक्षों की छाल का भी उपयोग करते थे। वस्त्र उद्योग के अलावा अन्य बहुत से उद्योग प्रचलित थे जिनमें चर्म उद्योग, चिकित्सा औषधि उद्योग, मिट्टी का बर्तन उद्योग आदि मुख्य थे। ऋग्वेद से हमें ऐसी कोई जानकारी नहीं मिलती जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अमुक व्यवसाय अमुक वर्ग के लोगों के लिए ही निर्धारित था। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि ऋग्वैदिक काल में कुछ व्यवसायों ने अपने संघ अथवा संगठन बना लिए थे, परन्तु विस्तृत जानकारी के अभाव में उनके बारे में कुछ कहना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

कृ

व्यापार वाणिज्य — ऋग्वैदिक आर्य व्यापार वाणिज्य के लिए बड़ी—बड़ी नौकाओं का उपयोग करते थे, परन्तु ऐसा मानना है कि वे लोग खुले समुद्रों में नहीं जाते थे। उनकी जल—यात्राएँ देश की नदियों तक और सामुद्रिक तारों तक ही सीमित थीं। डॉ. आर. एस. शर्मा का मत है कि ऋग्वैदिक आर्यों को विदेशी व्यापार की तरफ ध्यान देने का समय न मिला होगा क्योंकि उन्हें निरन्तर युद्धों में लगा रहना पड़ा। इसके विपरीत डॉ. मजूमदार और वी. एम. आप्टे का मत है कि आर्य लोग समुद्री यात्राएं करते थे और बेबीलोन तथा पश्चिम एशिया के साथ उनका व्यापार होता था। व्यापार के लिए इस युग में वस्तु—विनिमय का

प्रयोग होता था। गाय को मूल्य की इकाई मानकर विनिमय का काम चलाया जाता था। धातु द्वारा निर्मित सिक्कों के प्रचलन की बात विवादास्पद हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि स्वर्ण-निर्मित शनिष्क का प्रयोग मुद्रा के रूप में किया जाता था जबकि अन्य विद्वानों के अनुसार निस्क का प्रयोग आभूषण के रूप में किया जाता था। उस युग में ऋण देने एवं लेने की प्रथा थी, परन्तु किन शर्तों अथवा व्याज पर दिया जाता था— इसकी जानकारी नहीं मिलती। राज्य के कर पशु तथा धान्य— दोनों में ही दिए जा सकते थे। परन्तु राज्य इनका उपयोग किस प्रकार से करता था, इसकी पर्याप्त जानकारी नहीं मिलती।

धार्मिक जीवन

ऋग्वेद आर्यों के धार्मिक जीवन के क्रमिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। इसमें आर्यों के प्रारम्भिक धार्मिक विश्वासों के साथ-साथ विकसित आर्य संस्कृति के परिपक्व धार्मिक विश्वासों का उल्लेख मिलता है।



देव समूह ऋग्वैदिक आर्य मूलतः प्रकृति के उपासक थे और बहुदेववादी थे। जिन प्राकृतिक शक्तियों से उन्हें जीवन-शक्ति और मानसिक प्रेरणा मिली थी, उन्हें आर्यों ने देवता के रूप में स्वीकार कर लिया था। उन्होंने देवताओं की कल्पना मनुष्य को सुख पहुँचाने वाली शक्ति तथा दयालु के रूप में की थी। अपनी सभ्यता के काल में सर्वप्रथम आर्यों ने श्वाँस (आकाश) तथा शृथ्वीश की पूजा की। उनका विश्वास था कि दोनों की अनुकम्पा से ही मानव जीवनयापन सम्भव था। अतः वे दोनों की एक साथ पूजा करने लगे। इन दोनों को अन्य सभी देवताओं का जन्मदाता मान लिया गया। प्रकृति की इन दो शक्तियों का यह सरलतम मानवीकरण था। मानवीकरण के इस सिद्धान्त से प्रेरित आर्यों ने ब्राह्म्य — जगत की अन्य शक्तियों को भी देवी-देवताओं का रूप दे डाला। आकाश — देवता को श्वरुण कहा जाने लगा। पृथ्वी और आकाश के मध्य में विद्यमान समस्त वस्तुओं में वरुण का वास माना गया। ऋग्वेद में वरुण के दो रूपों का उल्लेख मिलता है। एक रूप है सुख-समृद्धि देने वाला सहृदय, सृष्टि के निर्माता काय तो दूसरा रूप है विनाश तथा अभिशाप दान का। उसमें आसुरी शक्ति की भी कल्पना की गई है। उसकी भक्ति, पूजा तथा प्रार्थना से वह प्रसन्न हो जाता है और पापियों के पाप क्षमा कर देता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि वरुण की उपासना से आर्यों में कर्मवाद और भक्ति मार्ग के सिद्धान्त का उदय हुआ।

वरुण के साथ ही श्मित्रश की पूजा भी की जाने लगी। आर्यों ने बहिर्जगत् के प्रकाश का मानवीकरण करके उसे श्मित्रश का नाम दिया। दोनों को संयुक्त रूप से श्मित्रावरुण कहा जाने लगा। बहिर्जगत् में सूर्य का महत्त्व भी किसी से कम नहीं है। अतः आर्यों ने इसे भी अपना देवता मान लिया। उसे सम्पूर्ण चर-अचर का रक्षक तथा मनुष्यों के समस्त सत् असत् कर्मों का दृष्ट्य माना गया। सूर्य के व्यापक रूप को शसविताश नाम दिया

प्राचीन भारतीय इतिहास

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

ज

गया, क्योंकि सूर्य केवल दिन के प्रकाश का द्योतक है। सविता में सूर्य का व्यक्त तथा रात्रि को अव्यक्त रहने वाला रूप— दोनों ही सम्मिलित हैं। सविता को पापमोचन देवता के रूप में भी माना गया ज

विष्णु नामक देवता को संसार का संरक्षक माना गया है। भक्तों की प्रार्थना पर तुरन्त सहायता को पहुँचने वाला देवता है। ऋग्वेद में उसके तीन पदों का उल्लेख है, जिससे वह समस्त ब्रह्माण्ड में भ्रमण करता है। उसके इस व्यापक स्वरूप के कारण उसे श्वहृद् शरीरश् शुरुगायश् (व्यापक रूप से गमनशील), शुरु—क्रमश् (व्यापक रूप से अभिक्रमण करने वाला) आदि नामों से भी पुकारा गया है। विष्णु के समान ही अग्नि का भी विविध महत्त्व है और बड़े पैमाने पर उसकी प्रार्थना की जाती थी। ऋग्वेद में अग्नि की प्रार्थना सम्बन्धी लगभग 200 मन्त्र हैं, जो उसकी लोकप्रियता और महत्त्व को प्रकट करते हैं। यज्ञ में अग्नि का विशेष महत्त्व था। इसलिए उसे श्पुरोहितश्, श्याज्ञिकश् और श्शोताश् नाम से पुकारा गया है। उसे देवताओं का मुख माना गया है, क्योंकि उसी के द्वारा आहुति सभी देवताओं के पास पहुँचती है। दाह कर्म के लिए अग्नि अनिवार्य थी। अग्नि को समस्त लोक के राक्षसों को भगाने वाला कहा गया है। आर्य लोग सोमरस के प्रेमी थे। इसलिए उन्होंने इसे भी श्देवताश् मान लिया। उसे सूर्य और विद्युत से उत्पन्न हुआ बताया गया। ऋग्वेद में सोम की प्रार्थना के अनेक मन्त्र हैं। आँधी तूफान और वर्षा का देवता इन्द्र था। ऋग्वेद में इसे सर्वाधिक शक्तिशाली देवता माना गया है। उसे आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी से भी अधिाक बड़ा माना गया है। एक स्थान पर उसे वृत्र की हत्या करके बादलों में रुके हुए जल को मुक्त कराने वाला कहा गया है। वृत्र को शीत, कोहरे और पाले का असुर माना गया है। ऋग्वेद में इन्द्र की प्रार्थना सम्बन्धी लगभग 250 ऋचाय उपर्युक्त देवताओं के अलावा ऋग्वेद में मरुत्, वात, पर्जन्य, अश्विन, यम, रुद्र, पूषण आदि देवताओं का भी उल्लेख है। देवियों में उसा, अदिति, सिन्धु, आरुयानी और सरस्वती के नाम उल्लेखनीय हैं। उषा का अर्थ हैं— अरुणोदय के पूर्व की बेला। अदिति का अर्थ — सर्वव्यापिनी प्रकृति। आरुयानी का तात्पर्य है— वन देवी से हैं और मानवी बुद्धि का दैवीकरण सरस्वती के रूप में किया गया है।

—

|

□

देवी—देवताओं के वर्ग ऋग्वेद में 33देवी—देवताओं का उल्लेख मिलता है, जिन्हें

तीन वर्गों में बाँटा गया है— (1) आकाशीय देवता (2) अन्तरिक्षीय देवता, तथा (3) पृथ्वी के देवता । आकाश के देवताओं में द्यौष, वरुण, मित्र, सूर्य, पूषण, उषा, अदिति तथा अश्विन आदि सम्मिलित थे। अन्तरिक्षीय देवताओं में इन्द्र, मरुत, वात, पर्जन्य आदि आते हैं। पृथ्वी देवताओं में स्वयं पृथ्वी, अग्नि, सोम, बृहस्पति, सरस्वती आदि आते हैं।

किसी वस्तु में मानवी गुणों का आरोप करना मानवीकरण कहलाता है। आर्यों ने अपने देवी-देवताओं की कल्पना मानव के रूप में की। परन्तु उनमें मानवीय अवगुण न थे। वे अमर परम शक्तिवान तथा उदार थे। उनके देवी-देवता सदाचार तथा नैतिकता के प्रतीक थे। विविध प्रकार के देवी-देवताओं की कल्पना करने पर भी आर्य एकेश्वरवाद (एक सत्) की भावना को भी समझ चुके थे। प्रारम्भ में आर्यों ने श्वरुणश को देवाधिदेव माना, परन्तु बाद में उसका स्थान शङ्खरुण ने ले लिया। परन्तु आर्यों ने अनुभव किया कि शङ्खरुण के ऊपर भी कोई एक परम सत्ता है जो समूचे ब्रह्माण्ड को संचालित करती है।

कृ

पूजा-उपासना विधि अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए आर्य दो तरीकों से

पूजा-उपासना करते थे— एक प्रार्थना एवं स्तुति द्वारा और दूसरी, यज्ञों द्वारा यह उनकी उपासना का मुख्य अंग था। इसलिए ऋग्वैदिक आर्यों के धर्म को यज्ञ — धर्म कहा जाता है। यज्ञों में अन्न, घी, माँस तथा सुगन्धित सामग्री की आहुति देकर आर्य अपने देवताओं से लम्बी आयु, पुत्र-पौत्र और धन-धान्य की प्राप्ति तथा शत्रुओं का विनाश करने की प्रार्थना करते थे। प्रारम्भ में प्रत्येक आर्य यजन — कार्य स्वयं करता था, परन्तु बाद में ब्राह्मण पुरोहित की सहायता ली जाने लगी। ऋग्वेद में वृहत् एवं व्यात्मक यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है जो प्रायः राजाओं और धनी व्यक्तियों के द्वारा ही करवाए जाते थे। आर्यों का एक वर्ग यज्ञ के स्थान पर स्तुति को अधिक महत्त्व देता था। ऋग्वैदिक आर्य देव पूजा के साथ-साथ अपने पितरों की भी पूजा करते थे। ऋग्वैदिक काल में मन्दिरों का निर्माण नहीं हुआ था और न मूर्ति पूजा प्रचलित थी। किन्तु ऋग्वेद में एक स्थान पर दस गायें देकर इन्द्र की प्रतिमा लेने का उल्लेख आया है। इससे ज्ञात होता है कि मूर्ति पूजा से वे परिचित अवश्य थे।

कृ

अन्य बातें ऋग्वैदिक आर्य यज्ञ और स्तुति के साथ-साथ नैतिकता के विकास के लिए भी प्रार्थना करते थे। वे सद्गुणों की वृद्धि पर जोर देते थे। जादू टोना-टोटका, घोखा व्यभिचार आदि को पाप समझते थे। ऋग्वेद में पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक की कल्पना भी मिलती है। आर्यों का विश्वास था कि पुण्य कर्म करने वाले लोग मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में रहते थे और निम्न-कर्म करने वाले लोग नरक के अंधकूप में धकेले जाते थे। ऋग्वेद में मोक्ष का उल्लेख नहीं मिलता। आर्य लोग अमरता में विश्वास रखते थे। वे आत्मवादी थे। कुछ विद्वानों का मानना है कि ऋग्वैदिक आर्यों में भी पुनर्जन्म की भावना का उदय हो चुका

प्राचीन भारतीय इतिहास

था, परन्तु पर्याप्त साक्ष्यों के प्रभाव में इस प्रश्न के बारे में निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

—

कला एवं विज्ञान ऋग्वेद में हजार खम्भों एवं हजार द्वार वाले भवनों तथा पुरों (किलों) का उल्लेख आता है। इससे पता चलता है कि आर्य गृह एवं भवन निर्माण कला में प्रवीण थे। ऐसा अनुमान है कि आर्य लोग बड़ी-बड़ी इमारतों में पत्थरों का प्रयोग करते थे किन्तु साधारण मकान बाँस, लकड़ी आदि से बनाये जाते थे। ऋग्वेद में दिया गया इन्द्र की स्वर्ण मूर्ति का संकेत उस युग में मूर्तिकला के प्रारम्भ हो जाने की ओर संकेत देता है। संगीत, नृत्य और वाद्य कला का भी इनको पूर्ण ज्ञान था इस बात की पुष्टि भी ऋग्वेद में होती है। चित्रकला के बारे में हमें विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती।

कला के साथ ही ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी ऋग्वैदिक आर्यों ने प्रगति की थी। गणित, ज्योतिष तथा चिकित्सा के क्षेत्र में आर्यों ने बहुत जानकारी कर ली थी। ग्रहों का निरीक्षण कर उनका नामकरण किया गया था। रोगोपचार के लिए जड़ी-बूटियों और मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

भतजपमत (नउउतल)

इस प्रकार, ऋग्वैदिक आर्यों की सभ्यता अपनी कुछ पृथक विशेषताओं को लिए हुए हैं। इन विशेषताओं के कारण ही उसे शेष वैदिक सभ्यता से पृथक कर दिया जाता है। डॉ. मजूमदार का कथन है कि हिन्दू सभ्यता के क्रमिक विकास में ऋग्वैदिक सभ्यता का महत्वपूर्ण स्थान है और उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करना न्यायपूर्ण होगा।

स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

—

1. उत्तरी शुद्ध आर्यों के आदि देश के बारे में भारतीय विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का मत है कि आर्य मूल में उत्तरी ध्रुव प्रदेश के निवासी थे। ऋग्वेद में वर्णित ज्योतिष तथा लम्बी उसा और 6-6 माह के दिन-रात के आधार पर तिलक ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि ऐसी भौगोलिक एवं प्राकृतिक परिस्थितियों उत्तरी ध्रुव प्रदेश में ही पायी जाती है। अतः ऋग्वेद के वर्णन से आय के जिस मूल देश का पता चलता है, वह उत्तरी ध्रुव प्रदेश ही था किन्तु अन्य तथ्यों के अभाव में और उत्तरी ध्रुव प्रदेश के सम्बन्ध में कोई विशेष वर्णन ऋग्वेद में नहीं होने से यह मत भी इतिहासकारों को अधिक उपयुक्त नहीं लगता।

2. वैदिक सभ्यता और संस्कृति— आर्य विद्वानों ने जिस साहित्य की रचना की वह श्वैदिक साहित्य के नाम से विख्यात है। इसी वैदिक साहित्य से हमें वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है। इस साहित्य का सबसे प्राचीन, प्रमुख और प्रामाणिक ग्रन्थ ऋग्वेद है। आय को दूसरी साहित्यिक

रचनाएँ ऋग्वेद के काफी समय बाद की हैं। ऋग्वेद ने दूसरी रचनाओं के विवरण काफी भिन्न हैं। इस भिन्नता कारण विद्वानों ने पूरी वैदिक सभ्यता को दो भागों में बाँट दिया है— एक, ऋग्वैदिक सभ्यता जिसकी जानकारी का एकमात्र स्रोत ऋग्वेद ही है और दूसरी, उत्तरवैदिक सभ्यता जिसकी जानकारी ऋग्वेद के अलावा अन्य तीनों वेदों तथा दूसरी वैदिक रचनाओं से मिलती है।

—

3. सती प्रथा कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद के एक अंश के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उस समय के समाज में सती प्रथा प्रचलित थी, परन्तु उनके तर्कों में विशेष बल नहीं है। अधिकांश विद्वानों का मानना है कि ऋग्वैदिक काल में आर्यों में सती प्रथा प्रचलित नहीं थी। इसके स्थान पर नियोग—प्रथा के अन्तर्गत विधवा स्त्री को पुत्र प्राप्ति के निमित्त अपने देवर अथवा किसी

‘मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

79

इतिहास

उपजम्ह

अन्य व्यक्ति के साथ पत्नी के रूप में रहने की स्वीकृति प्राप्त थी। नियोग—प्रथा से उत्पन्न सन्तान समाज में घृणित नहीं समझी जाती थी। कुछ विद्वानों का मानना है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विधवा स्त्री को भी पुत्र प्राप्ति के निमित्त अपने पति के जीवनकाल में ही अन्य पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की अनुमति दे दी जाती थी। ऋग्वेद में नियोग—प्रथा तथा पुत्र प्राप्ति के लिए अस्थाई सम्बन्धों का उल्लेख मिलता है। परन्तु विधवा विवाह के स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलते। स्वपरीक्षण करें (जमेज ल्वनतेमसि)

1. आर्यों के मूल निवास स्थान के बारे में प्रचलित विभिन्न मतों की समीक्षा कीजिए। 2. ऋग्वैदिक काल में राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

3. ऋग्वैदिक काल में सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

4. ऋग्वैदिक कालीन अर्थ व्यवस्था पर एक निबन्ध लिखिये।

5.

6.

—

ऋग्वैदिक काल के आर्यों की स्थिति की विस्तृत विवेचना कीजिए।

ऋग्वैदिक काल में नारी की स्थिति काफी सम्मानजनक थी। विवेचना कीजिए।

7. ऋग्वैदिक काल की वर्ण व्यवस्था का विवेचन कीजिए।

8. ऋग्वैदिक काल की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति के बारे में आप क्या जानते हैं?

च



डंदद डंजमअरं!

९

80

अध्याय – 5

प्राचीन भारतीय इतिहास

उत्तरवैदिक सभ्यता

इस अध्याय में

परिचय

□ उत्तरवैदिक सभ्यता – भौगोलिक विस्तार, आर्य जनपद, राजनीतिक जीवन—राज्य, राजा, प्रमुख अधिकारी, सभा और समिति, न्याय—व्यवस्था, युद्ध—विधि

सामाजिक जीवन – संयुक्त परिवार प्रथा, स्त्रियों की स्थिति, भोजन, वस्त्र, आभूषण, मनोरंजन, वर्ण—व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था

६

आर्थिक जीवन – कृषि, पशुपालन, उद्योग—धन्धे, व्यापार वाणिज्य, सिक्के जाना चाहिए।

धार्मिक जीवन – बहुदेववाद, यज्ञवाद—कर्मकाण्ड, पंच महायज्ञ और तीन ऋण, संस्कार,

□ वैदिक साहित्य— यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थ उपनिषद्, पुनर्जन्म और कर्मवाद

अध्ययन उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

उत्तरवैदिक सभ्यता तथा उसका भौगोलिक विस्तार।

□ उत्तरवैदिक सभ्यता का राजनीतिक, सामाजिक जीवन।

□ उत्तरवैदिक साहित्य

छात्र

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

81

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

+2

परिचय (पदजतवकनबजपवद)

२. उत्तरवैदिक सभ्यता

ऋग्वैदिक युग

के पश्चात् के काल को उत्तरवैदिक युग कहते हैं। ऋग्वेद की रचना और उसके बाद की वैदिक रचनाओं के रचनाकाल में दीर्घकाल का अन्तर है। ऋग्वैदिक की

रचना के बाद की रचनाओं में यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद के अतिरिक्त बहुसंख्यक ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद सम्मिलित हैं। इनके रचनाकाल में दीर्घकाल का अन्तर होने के कारण वैदिक सभ्यता को दो भागों में विभाजित किया जाता है। इस दीर्घकाल में भारत में आर्य सभ्यता का विस्तार और विकास हुआ। इस युग में आर्य सभ्यता शनैः-शनैः पूर्व और दक्षिण में फैली। प्राचीन आर्यों का उत्तर-पश्चिमी भारत अब उपेक्षित हो गया था तथा आर्य संस्कृति का केन्द्र अब कुरुक्षेत्र बन गया था। उत्तरवैदिक काल में हिमालय से विन्ध्याचल के मध्य का सम्पूर्ण भाग आर्यों के प्रभाव क्षेत्र में आ गया था। इस काल में आर्य सभ्यता के आधारभूत सिद्धान्तों में तो कोई अन्तर नहीं आया, किन्तु अनायों के निरन्तर सम्पर्क से स्वयं आर्यों का ज्ञान तथा अनुभव बढ़ाया जिससे उनकी सभ्यता और भी अधिक समृद्ध हुई। उत्तरवैदिक काल का समय निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। अनुमान किया जाता है कि ऋग्वेद की रचना के अन्त से लेकर सूत्र साहित्य की रचना तक के काल को अर्थात् सूत्रकाल तक के काल को हम उत्तरवैदिक काल के नाम से अभिहित कर सकते हैं। इस काल में आर्यों ने जिन भू-भागों पर अधिकार स्थापित किया, वहीं पहले से आबाद आदिकाल जातियों के साथ निकट का सम्पर्क भी स्थापित कर लिया। परिणामस्वरूप ऋग्वैदिक आर्य, अनाय सभ्यता से अप्रभावित न रह सके और समय के प्रवाह के साथ ऋग्वैदिक सभ्यता कुछ अंशों में स्वतः परिवर्तित हो गई। इस प्रभाव अथवा आर्य एवं अनाय सभ्यता के समन्वय के फलस्वरूप भारत में एक मिश्रित किन्तु विकसित संस्कृति का उदय हुआ। उत्तरवैदिक काल की सभ्यता इसी विकसित स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है। उत्तरवैदिक काल की सभ्यता की जानकारी तीनों वेदों—यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यक ग्रन्थों और उपनिषदों से मिलती है।

जहाँ

भौगोलिक विस्तार — उत्तर- वैदिककाल में आर्य संस्कृति का प्रसार नये भौगोलिक क्षेत्रों में हुआ, उन्होंने नये राजनीतिक क्षेत्रों की स्थापना की। उत्तर वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि इस युग में आर्य ने सप्त-सैन्धव क्षेत्र से भारत के पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों की ओर बढ़ना शुरू किया। ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते गए, वे अनायों को खदेड़कर अपनी बस्तियाँ स्थापित करते गए। इस युग में आर्य संस्कृति का केन्द्रीय स्थल श्मध्यदेश (ध्रुव मध्यमा दिश) हो गया। यह क्षेत्र सरस्वती नदी से लेकर गंगा-यमुना के दोआब तक विस्तृत था अब ऋग्वैदिक क्षेत्रों— पंजाब तथा उत्तर-पश्चिम के क्षेत्र का महत्त्व घट गया। श्मशतपथ एतरेय ब्राह्मण ग्रन्थों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। आर्यों ने विन्ध्याचल के सघन वनों को पदाक्रान्त कर दक्षिण में गोदावरी के उत्तर तक शक्तिशाली राज्यों की आधारशिला रखी।

उत्तर वैदिककाल के दो प्रमुख राज्य कुरु और पञ्चाल मध्यप्रदेश में अवस्थित थे एतरेय ब्राह्मण में इन्हें श्मध्यमा प्रतिष्ठा दिशा (मध्यदेश) में स्थित बतलाया गया है। कुरु जनपद में आधुनिक थानेश्वर, दिल्ली तथा गंगा घाटी का ऊपरी

प्राचीन भारतीय इतिहास

भाग तथा पञ्चाल जनपद में आधुनिक बरेली, बदायूँ, फर्रुखाबाद एवं निकटवर्ती क्षेत्र आता है। कुरु जनपद की राजधानी आसन्दीवत् (बाद में हस्तिनापुर के नाम से प्रसिद्ध) थी एवं पञ्चाल जनपद की राजधानी कापिल (काम्पिल्य) थी। उत्तर वैदिक साहित्य में परीक्षित एवं जनमेजय का कुरु क्षेत्र के दो प्रतापी राजाओं के रूप में वर्णन मिलता है। पाञ्चाल जनपद का प्रसिद्ध राजा प्रवाहण – जैवालि था। पाञ्चाल जनपद आध्यात्मविद्या एवं दार्शनिक चिन्तन का एक प्रसिद्ध केन्द्र था।

उत्तर – वैदिक साहित्य में काशी, कौशल, विदेह (उत्तरी बिहार), मगध (दक्षिणी बिहार) एवं बंग (बंगाल) प्रदेश के राज्यों का उल्लेख किया गया है, जिससे विदित होता है कि मगध एवं बंगाल साहित्य में विदेह के राजा जनक का उल्लेख है, जो याज्ञवल्क्य मुनि के संरक्षक थे। शतपथ ब्राह्मण में सदानीरा नामक नदी का उल्लेख है जिससे कौशल तथा विदेह की सीमा पर स्थित कहा गया है। सम्भवतः सदानीरा वर्तमान गण्डक नदी का ही प्राचीन नाम था। गण्डक नदी नेपाल से निकलकर पटना के समीप गंगा नदी में मिल जाती है।

उत्तर – वैदिककाल में आर्यों का दक्षिण में प्रसार कहाँ तक हुआ, इसका निश्चित सीमांकन कर पाना सम्भव नहीं है। सम्भवतः वे विन्ध्यांचल को पार कर गोदावरी के क्षेत्र तक परिचित हो चुके थे। डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय की मान्यता है कि दक्षिण में विदर्भ तक आय का विस्तार हो चुका था। क्योंकि उत्तर – वैदिक साहित्य में इस क्षेत्र का प्रसिद्ध राज्य विदर्भ (आधुनिक बरार) का उल्लेख मिलता है तथा उपनिषदों एवं ऐतरेय ब्राह्मण में विदर्भ के राजा भीम का उल्लेख मिलता है। प्रश्न उपनिषद् में विदर्भ के ऋषि भार्गव एवं वृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि विदर्भी कौण्डिन्य का नाम मिलता है। वस्तुतः कौण्डिन्य, शकुण्डिनश् शब्द का ही एक रूप है, जो महाभारत काल में विदर्भ की राजधानी का नाम था। दक्षिण में अमरावती के निकट वर्धा नदी के तट पर बसा कौण्डिन्यपुर नामक स्थान ही प्राचीन कुण्डिन नगर हो सकता है। डॉ. हेमचन्द्र चौधरी के अनुसार, षविदर्भ तथा कुण्डिन के एक साथ उल्लेख से स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में आया विदेह दक्षिण में ही था, न कि किसी अज्ञात स्थान पर।

ऐतरेय ब्राह्मण में दक्षिण के राजाओं का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ में दक्षिण दिशा के राजाओं को भौज्य और इनकी प्रजा को सत्वात कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में ही आन्ध्र, शबर, पुलिन्द तथा मूर्तिव नामक लोगों का उल्लेख मिलता है। परवर्ती साहित्य (महाभारत, पुराण आदि) में आन्ध्र, शबर एवं पुलिन्द को दक्षिणापथ का निवासी कहा गया है। मूर्तिव लोगों के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। डॉ. स्मिथ के अनुसार आन्ध्र लोग गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के डेल्टा क्षेत्र में रहते थे। श्रीनिवास आर्यनगर के अनुसार आन्ध्र लोग मूलतः विन्ध्य क्षेत्र की जातियों में से ही एक थे और उनका राज्य पश्चिम से पूर्व की ओर गोदावरी और कृष्णा की घाटियों तक फैला हुआ था। दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति के प्रसार में ऋषि अगस्त्य तथा परशुराम की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण रही। वस्तुतः दक्षिण भारत में सम्पूर्ण आर्थीकरण

का काम काफी बाद में सम्भव हो पाया था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आर्य सीमावर्ती सागरों से परिचित थे, ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य लोग दक्षिण के एक बड़े भू-भाग से परिचित हो गए थे। यह आन्ध्र प्रदेश, चेर प्रदेश (सुदूर दक्षिण) तथा दक्षिण के बहुत से क्षेत्रों का आर्यीकरण तक नहीं हो पाया था। उपनिषदों में पूर्वी भारत के मिथिला राज्य का बार-बार उल्लेख हुआ है। यहाँ राजा जनक अपनी विद्वत्ता के लिए दूर-दूर तक प्रख्यात थे। जहाँ तक पश्चिमी भारत का प्रश्न है, वहाँ आर्यों ने असंख्य ग्रामों की स्थापना कर ली थी और समय के साथ-साथ उनमें से कई बड़े ग्राम, नगरों में विकसित हो गए थे।

कृ

आर्य जनपद उत्तरवैदिक काल में ऋग्वैदिक काल के प्रसिद्ध पंचजन— पुरु, अनु, द्रुह, यदु एवं तुर्वस अपना गौरव खो चुके थे। अब जन राज्यों के स्थान पर जनपद राज्यों की स्थापना हुई, अर्थात् अब विभिन्न राज्यों की भौगोलिक पहचान स्पष्ट होने लगी। दूसरे शब्दों में राजा अब जन के साथ-साथ एक निश्चित प्रदेश का भी अधिपति था। पुरु और भरत जन संयुक्त हो गए थे और श्कुरुष नाम धारण कर लिया था। कालान्तर में श्कुरुष और श्पज्वालश जन मैत्री बन्धन में बँध गए और एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरकर सामने आये। उन्होंने श्वत्सश और श्उशीनरश जनों के साथ मिलकर मध्यदेश पर शासन किया। कुरु जनपद में आधुनिक थानेसर, दिल्ली एवं गंगा-यमुना के दोआब का उत्तरी भू-भाग सम्मिलित था। कुरु वंश में जावालि, परीक्षित, जनमेजय आदि महान शासक हुए। इस काल में विदेह का राज्य भी काफी समृद्ध और प्रसिद्ध हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में यहाँ के राजा जनक को शसम्राट्श के नाम से पुकारा गया है। इस युग के अन्य महत्त्वपूर्ण जनपद (राज्य) थे— गान्धार, केकय, भद्र, काशी, अवन्ति, अश्मक, राष्ट्रमूलक, कौशल, कलिंग, मगध, विदर्भ, पञ्चाल आदि। मगध और अंग काफी शक्तिशाली राज्य थे, लेकिन अभी वे आर्यों के राजनीतिक नियन्त्रण में नहीं आ पाये थे। यही कारण है कि वैदिक साहित्य में इन राज्यों के लिए घृणास्पद एवं कटु शब्दों का प्रयोग किया गया है। मगध एवं अंग दोनों पड़ोसी जनपद थे। राजनीतिक जीवन राज्य — ऋग्वैदिक काल के राज्य बहुत छोटे होते थे, जिनके संगठन का आधार शजनश था, जो प्रायः अनवस्थित थे। राज्य संस्था के विकास के लिए यह आवश्यक था कि जन किसी निश्चित प्रदेश में स्थायी रूप से बस जायें। उत्तरवैदिक काल के अन्त तक आर्य जनों में स्थिरता आ गई थी और वे स्थायी रूप से क्षेत्र विशेष में बसने लगे। तब वे विशेष से सम्बन्धित शजनपदश कहलाने लगे अर्थात् राज्यों का निर्माण भौगोलिक पर आधार होने लगा। जनपद का स्वामी पहले की भाँति शराजाश कहलाता था। उत्तरवैदिक

प्राचीन भारतीय इतिहास

छठ

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्यै

मसिन्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

84

श्र

साहित्य में मुख्यतः राजतन्त्रात्मक राज्यों का ही उल्लेख मिलता है। राजपद वंशानुगत था, किन्तु यदि राजपुत्र राजपद के योग्य नहीं होता तो विश या प्रजा को राजवंश के किसी अन्य व्यक्ति को राजा के रूप में प्रतिष्ठित करने का अधिकार था। उत्तरवैदिक काल में प्रादेशिक राज्यों की स्थापना से विस्तारवादी एवं साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला। छोटे और बड़े राज्यों में अन्तर किया जाने लगा ! शसम्राट् एवं शैकराट् उपाधियों की प्राप्ति राजाओं की आकांक्षा बन गई। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासक शैकराट् होता है। राजसूय, वाजपेय तथा अश्वमेध यज्ञ किए जाने लगे। ऐतरेय ब्राह्मण में विभिन्न प्रकार के राज्यों का उल्लेख मिलता है— राज्य, स्वराज्य, भोज्य, वैराज्य, महाराज्य और साम्राज्य। महाराज्य एवं शसाम्राज्य विशाल, स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली राज्यों की दो श्रेणियाँ हैं। इनमें शसाम्राज्य, महाराज्य से भी विशाल और शक्तिशाली होता था। राजतन्त्र के अलावा कहीं-कहीं गणराज्यों के संकेत भी मिलते हैं, ऐसे गणतन्त्रात्मक राज्यों के लिए ही सम्भवतः श्वैराज्य शब्दों का प्रयोग किया गया है। उत्तरवैदिक काल में कुलीनतन्त्र अथवा सामूहिक राजतन्त्र का उल्लेख नहीं मिलता। ऋग्वैदिक काल में सामान्यतः राज्यों का आधार शजाति होता था, परन्तु उत्तरवैदिक काल में राज्यों का निर्माण भौगोलिक आधार पर होने लगा। इस युग में राज्यों और राजवंशों में परिवर्तन भी देखने को मिलता है जैसे कि ऋग्वैदिक काल के भरत, पुरु आदि वंशों का स्थान कोसल, काशी, विदेह, पांचाल, हैहय, कलिंग, सूरसेन आदि राजवंशों ने ले लिया था। राज्यों के राजनीतिक संगठन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इस समय में भी राज्य गृह, ग्राम, विश, जन तथा राष्ट्र के रूप में संगठित थे।

राजा — उत्तरवैदिक काल में बड़े-बड़े राज्यों के निर्माण के फलस्वरूप राजा की प्रतिष्ठा, सम्पत्ति एवं सत्ता का भी विकास हुआ। ऋग्वैदिक काल में राजा को जनता का निर्वाचित प्रतिनिधि माना जाता था। इस युग में जनता द्वारा राजा को चुनने की प्रथा लगभग समाप्त हो गई थी। निर्वाचन पद्धति का कहीं-कहीं पर जो उल्लेख मिलता है उसका सम्बन्ध भी राज्य के उच्चाधिकारियों तथा राजवंशीय लोगों तक सीमित है। अर्थात् कवल इन्हीं लोगों द्वारा राजा का निर्वाचन किया जाता था। इस युग में वंशानुगत राजाओं की परम्परा प्रतिष्ठित होती गई, अब राजा के स्थान पर अन्य उपाधियाँ धारण करने की परम्परा चल पड़ी, जैसे कि सम्राट, भोज, स्वराट, विराट आदि।

उत्तरवैदिक काल से राजा की देवी उत्पत्ति का सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय बन गया जिसके परिणामस्वरूप राजा के अधिकारों में काफी वृद्धि होती गई।

सामान्यतः राजा को कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता था। राज्य के सभी अधिकार उसी में केन्द्रित थे। वह नियम एवं नीति-निर्माता था। वहीं नियमों को कार्यान्वित करने वाला और सर्वोच्च न्यायाधिकारी था। वह अपने राज्य की सेना का सर्वोच्च सेनापति भी होता था। उसके अधिकारों में वृद्धि हो जाने से उसके कर्तव्यों में कमी नहीं हुई और न ही उसकी निरंकुशता में वृद्धि हुई सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में क्रूर, अत्याचारी और निरंकुश राजा की घोर निन्दा की गई है। अतः राजाओं को अपने कर्तव्य की तरफ पूरा-पूरा ध्यान देना पड़ता था। राजा के

मुख्य कर्तव्य

इस प्रकार थे धर्मानुसार शासन करना, न्याय प्रदान करना, बाह्य आक्रमणों से राज्य और प्रजा की रक्षा करना, दुर्बलों तथा असहायों की रक्षा, युद्ध करना, अपने राज्य के प्रादेशिक विस्तार के लिए प्रयत्न करना, लोक-कल्याण के लिए निरन्तर प्रयास करते रहना, प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ-अनुष्ठान करना, विद्वानों का आदर करना आदि। ऐसा अनुमान है कि भूमि पर राजा का अधिकार इस युग में भी नहीं था, परन्तु ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनके आधार पर यह माना जा सकता है कि अब राजा को किसी भी व्यक्ति को भूमि से वंचित करने के अधिकार प्राप्त हो गए थे। राजा को अपनी प्रजा से शबलिश्, श्शुल्कश्, श्भागश् आदि करों को वसूल करने का अधिकार था। राजा द्वारा वसूल किए जाने वाले करों की सीमा व्यक्ति की कुल आय का 1/6 भाग के लगभग होती थी।

कुछ विद्वानों का मानना है कि इस युग में बड़े-बड़े यज्ञों- राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ, राज्याभिषेक यज्ञ आदि के बढ़ जाने से ब्राह्मणों का महत्त्व बढ़ने लग गया। इन यज्ञों के कारण प्रजा पर करों का बोझ बढ़ गया। इन विद्वानों ने राजाओं पर यह आरोप लगाया है कि वे अपने उत्तरदायित्व से विमुख होकर व्यक्तिगत भोग-विलास को अधिक महत्त्व देने लगें हो सकता है कि एक-दो के मामले में ये आरोप सही हों परन्तु सभी राजाओं पर इन्हें लागू करना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

अधिकारी – उत्तरवैदिक काल में बड़े-बड़े राज्यों के निर्माण से शासन सम्बन्धी कार्य भी बढ़े प्रमुख गए। इसलिए राज्य के प्रमुख अधिकारियों की संख्या में भी वृद्धि हुई शतपथ ब्राह्मण में ग्यारह अधिकारियों का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार हैं— (1) सेनानी, (2) पुरोहित, (3) युवराज, (4) महिषी (रानी), (5) सूत (राजा का रथवान अथवा सारथी), (6) ग्रामणी, (7) क्षता (प्रतिहारी), (8) संग्रहीता (कोषाध्यक्ष), (9) भागदुध (करसंग्रहकर्ता), (10) अक्षवाप (द्यूत-क्रीड़ा का प्रधान) और (11) पालागल (राजा का मित्र)। राज्य के इन पदाधिकारियों को श्रन्तियों कहा जाता था। ये सभी अधिकारी राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे और उनकी पदोन्नति अथवा पदावनति राजा की कृपा पर निर्भर करती थी। इन अधिकारियों को कितना वेतन मिलता था, इसके बारे में

प्राचीन भारतीय इतिहास

हमारे पास निश्चित जानकारी नहीं

है। इन

अधिकारियों के वरिष्ठता क्रम के बारे में इतना ही संकेत मिलता है कि राज्याभिषेक के अवसर पर सजा जिस क्रम से अपने अधिकारियों को हवि देने (सम्मान देने) उनके घर जाता था, शायद वही उनका वरिष्ठताक्रम माना जाता था। जो भी हो, इससे एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि राजा चाहे कितने ही शक्तिशाली क्यों न हो गए हों, उनके लिए अपने अधिकारियों का सहयोग एवं अनुमोदन प्राप्त करना

आवश्यक था।

—

सभा और समिति उत्तरवैदिक काल में इस संस्थाओं का महत्त्व कम हो गया था। इसका मुख्य कारण राजा के अधिकारों में वृद्धि थी, परन्तु इन संस्थाओं का अस्तित्व बना हुआ था। अथर्ववेद में इन्हें प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है। अथर्ववेद से पता चलता है कि सभा ग्राम-संस्था थी और ग्राम के स्थानीय कामों की देखरेख करती थी। ग्रामवासी सभा के वाद-विवाद के पश्चात् ही किसी निर्णय पर पहुँचते थे। विद्वानों का मानना है कि ग्रामसभा को अपने कार्य संचालन के लिए राज्य की तरफ से आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी। ब्राह्मण ग्रन्थों से पता चलता है कि सभा आमोद-प्रमोद के कार्यक्रमों का भी आयोजन करती थी। डॉ. आल्टेकर का मत है कि उत्तरवैदिक काल में धीरे-धीरे सभा का रूप बदलता गया और वह राज — संस्था में परिवर्तित हो गई। उसकी बैठकों में स्वयं राजा भी उपस्थित रहने लगा था।

उत्तरवैदिक काल में इसमिति का स्वरूप भी परिवर्तित हो गया। अब वह राज्य के केन्द्रीय संस्था की भाँति काम करने लगी। अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है कि ब्राह्मण की सम्पत्ति छीनने वाले राजा को समिति का सहयोग नहीं मिलना चाहिए। एक अन्य स्थान पर राजा के लिए समिति के सहयोग की कामना की गई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समिति राज्य की केन्द्रीय संस्था के रूप में परिवर्तित हो गई थी। सभा की भाँति समिति में भी समस्याओं पर वाद-विवाद होता था।

उत्तरवैदिक काल की अन्य रचनाओं (उपनिषदों के अलावा) में हमें समिति के बारे में बहुत कम विवरण मिलता है। परन्तु उपनिषद्काल में समिति ने अपना महत्त्व पुनः कायम कर लिया था। इसलिए उपनिषदों में इसके बारे में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। उपनिषद्काल में समिति की बैठकें राजा की अध्यक्षता में होती थीं और राजनीतिक विषयों के साथ-साथ दार्शनिक एवं धार्मिक विषयों पर भी वाद-विवाद होता था। परन्तु उपनिषद्काल के बाद में समिति का महत्त्व जाता रहा। उपनिषद्काल में सभा का उल्लेख भी न्याय प्रदान करने वाली संस्था के रूप में ही देखने को मिलता है।

न्याय-व्यवस्था — उत्तरवैदिक काल में राजा के न्याय सम्बन्धी अधिकार बढ़ गए। अपराधियों को दण्ड देना राजा का एक प्रमुख कर्तव्य माना जाता था

और जो राजा अपराधी को दण्ड नहीं देता तो स्वयं उसे अपराधी माना जाता था। सूत्र-ग्रन्थों से पता चलता है कि वेद, पुराण आदि में प्रतिपादित नियम, जनपदों का परम्परागत चरित्र, कृषक, शिल्पी, व्यापारी आदि का व्यवहार कानून के आधार समझे जाते थे और उन्हीं के आधार पर न्याय प्रदान किया जाता था। न्याय प्रदान के लिए राजा न्यायाधीशों की नियुक्ति करता था। एक धर्मसूत्र के अनुसार, श्रुत विद्वान, पवित्रकुलोत्पन्न, वृद्ध, तर्क में निपुण और कर्तव्यपालन में सावधान लोगों को ही न्यायाधीश बनाना चाहिए। कानून सब लोगों के लिए समान था, परन्तु दण्ड देते समय अपराधी को देश से बाहर निकालने, शारीरिक यातनाएँ देने तथा आर्थिक-जुर्माना अदा करने की व्यवस्था भी थी। उत्तरवैदिक काल में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन उत्तराधिकार के नियम का सबल होना था। इस काल में व्यक्तिगत सम्पत्ति और भूमि पर व्यक्ति के स्वामित्व को स्वीकार कर लिया गया था। पिता को अपने पुत्रों में सम्पत्ति का विभाजन करने का अधिकार प्राप्त था। परन्तु स्त्रियों का सम्पत्ति पर किसी प्रकार का प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

85

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

ठ6

अधिकार नहीं था। कुछ विद्वानों के अनुसार शूद्रों को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं था। परन्तु इसके बारे में निश्चित मत व्यक्त करना कठिन है।

कृ

युद्ध – विधि युद्ध विधि और अस्त्र-शस्त्र में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। परन्तु अब आर्यों के आपसी युद्ध बहुत अधिक बढ़ गए थे। इससे सैनिकों का महत्व भी बढ़ गया। ऋग्वैदिक काल में सामान्यतः नदी के तट पर युद्ध लड़े जाते थे, परन्तु अब जहाँ भी परस्पर विरोधी सेनाएँ आमने-सामने आ जातीं तो युद्ध शुरू हो जाते थे। फिर भी, अब भी धर्म युद्ध का सिद्धान्त प्रचलित था। युद्ध में छल-कपट का सहारा नहीं लिया जाता था। शरण में आये शत्रु का वध नहीं किया जाता था और निःशस्त्र एवं असहाय लोगों पर वार नहीं किया जाता था।

सामाजिक जीवन

संयुक्त परिवार प्रथा इस युग में भी आर्यों का सामाजिक जीवन सुव्यवस्थित था। आर्य जीवन मुख्यतः ग्रामों में ही संगठित था। प्रत्येक ग्राम में अनेक गृह होते थे जो पितृमूलक संयुक्त परिवार प्रणाली के अन्तर्गत संगठित थे। पिता परिवार का मुखिया होता था और परिवार के सभी सदस्यों के ऊपर उसे व्यापक अधिकार प्राप्त थे, परन्तु परिवार के सभी सदस्यों का पालन-पोषण तथा उनकी

प्राचीन भारतीय इतिहास

उन्नति के लिए प्रयास करना भी उसका कर्तव्य था। परिवार की संयुक्त सम्पत्ति पर पिता के सभी पुत्रों का समान अधिकार माना जाता था। वैदिक साहित्य में इस बात का संकेत मिलता है कि कभी-कभी पिता के जीवन काल में ही पुत्र संयुक्त परिवार का विभाजन करवा लेते थे और फिर पृथक् रहने लगते थे। इस युग में भी अतिथि सत्कार पर विशेष ध्यान दिया जाता था। ऋग्वैदिक काल में गोद लेने की प्रथा का विकास हो चुका था। गोद के लिए भाई की सन्तान को प्राथमिकता दी जाती थी।

स्त्रियों की स्थिति – उत्तरवैदिक काल में पुत्र की तुलना में पुत्री का स्थान निम्न माना जाता था। अथर्ववेद में पुत्री के जन्म पर खिन्नता का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर पुत्री के लिए श्कृपणश शब्द का उल्लेख किया गया है। यह ठीक है कि पुत्री का जन्म खुशी का द्योतक नहीं था, परन्तु उसके पालन-पोषण एवं शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जाती थी। गोमिल – गृह सूत्र में कन्याओं द्वारा यज्ञोपवीत धारण किए जाने का उल्लेख मिलता है यज्ञोपवीत विद्याध्ययन का चिन्ह है। स्पष्ट कि इस युग में स्त्रियों शिक्षा प्राप्त करती थीं। उपनिषदों में ऐसी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है जो ज्ञान एवं विद्या के लिए प्रसिद्ध थीं। जनक की राज्यसभा में गार्गी ने याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ किया था। गन्धर्व-गृहीता नामक एक अन्य स्त्री परम विदुषी तथा भाषण कला में अत्यधिक निपुण थीं। मैत्रेयी जैसी विदुषी महिला भी इसी युग की देन थी।

ऋग्वैदिक काल की भाँति इस युग में भी विवाह एक पवित्र एवं आवश्यक संस्कार माना जाता था। अविवाहित पुरुष को यज्ञ का अधिकार नहीं था। परन्तु यज्ञादि के लिए पुत्र का होना आवश्यक था और पुत्र के लिए विवाह आवश्यक था। परन्तु उत्तरवैदिक साहित्य में ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि कुछ कन्याएँ अविवाहित रूप में आजीवन अपने परिवार के साथ रहती थीं। विवाह युवावस्था में ही किया जाता था। बाल विवाह की प्रथा का प्रचलन नहीं था। यद्यपि छान्दोग्य उपनिषद् के एक संकेत के आधार पर शंकर महोदय ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उस युग में बाल विवाह होते थे शंकर महोदय का मत अन्य विद्वानों को मान्य नहीं है। इसी प्रकार, ऐतरेय ब्राह्मण के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया गया है कि उस युग में पुरुष बहु विवाह करता था। याज्ञवल्क्य ऋषि के मैत्रेयी और कात्यायनी नामक दो पत्नियाँ थीं। ऐतरेय ब्राह्मण में हरिश्चन्द्र नामक व्यक्ति की 100 पत्नियों का उल्लेख

□

कृ

परन्तु बहु-विवाह के ये उदाहरण धनी एवं राजकीय वर्गों के ही हैं। साधारण लोग केवल एक ही विवाह करते थे। एक पुरुष, एक पत्नी यही सामान्य व्यवस्था थी। कुछ विद्वानों ने अर्थ का अनर्थ करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उस युग में एक स्त्री एक से अधिक पति रख सकती थी,

परन्तु इस प्रकार की मान्यता में सत्य का लेशमात्र अंश भी प्रतीत नहीं होता । उत्तरवैदिक काल में विधवा स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार था या नहीं, इस विषय पर सही निर्णय देना सम्भव नहीं । हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि विधवा स्त्री को नियोग—प्रथा अथवा किसी अन्य प्रचलित

वैध प्रथा के द्वारा पुत्र प्राप्त करने का अधिकार था और इस प्रकार से प्राप्त पुत्र समाज में अनादर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था । इस युग के साहित्य में सती प्रथा का उल्लेख भी नहीं मिलता । इसी प्रकार, पर्दा प्रथा का भी उल्लेख नहीं मिलता । स्त्रियों पुरुषों के समान ही सार्वजनिक समारोहों में भाग लेती थीं ।

युग

इस युग में भी विवाह सामान्यतः सजातीय हुआ करते थे । डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी का मानना है कि इस में तीन या चार पीढ़ी तक रक्त से सम्बन्धित लड़के—लड़कियों का आपस में विवाह नहीं हो सकता था । ऐसा अनुमान है कि सपिण्ड, सगोत्र, संप्रवर विवाहों पर प्रतिबन्ध लगाया जाने लगा और सूत्रकाल में इनका स्पष्ट रूप से निषेध कर दिया गया । विवाह के मामले में जन्म को प्राथमिकता दी जाने लगी, अर्थात् पहले बड़े लड़के—लड़की का विवाह होता था और उसके बाद छोटों का नम्बर आता था । उत्तरवैदिक साहित्य में अन्तर्जातीय विवाहों का उल्लेख भी मिलता है । उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय संहिता में आर्य पुरुष

और शूद्र कन्या के विवाह का उल्लेख है, तो शतपथ ब्राह्मण में ऋषि च्यवन और राजकन्या के विवाह का उल्लेख मिलता है । इस प्रकार के अन्तर्जातीय विवाहों के बारे में विद्वानों का मानना है कि साधारणतया श्रेष्ठ जाति के पुरुष निम्न जाति की स्त्रियों के साथ विवाह कर सकते थे । अर्थात् अनुलोम विवाह होते थे, परन्तु प्रतिलोम विवाह बन्द हो गए थे ।

वैवाहिक जीवन में स्त्री को पुरुष की शसहधर्मिणी माना जाता था । पत्नी की हैसियत से घर में स्त्री का बहुत सम्मान था । शतपथ ब्राह्मण में उसे पुरुष की अद्योगिनी कहा गया है । धर्म—सूत्रों में तो स्त्रियों के प्रति शूदार रुख अपनाया गया हैय उदाहरणार्थ— वशिष्ठ— धर्मसूत्र में लिखा है कि चाहे पत्नी दोषी हो, झगड़ालू हो, घर छोड़कर चली गई हो, उसके साथ बलात्कार हुआ हो, उसे त्यागा नहीं जाएगा । धर्मसूत्रों में पत्नी को त्यागने वाले पति के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई है । आपस्तम्ब सूत्र में लिखा है कि जिस पति ने अन्याय से अपनी पत्नी का परित्याग किया हो, वह गधे का चमड़ा ओढ़कर प्रतिदिन सात—सात गृहों में यह कहते हुए भिक्षा माँगे कि, शूस पुरुष को भिक्षा प्रदान करो, जिसने अपनी पत्नी को त्याग दिया है । वस्तुतः यह एक कठोर दण्ड था ।

इस युग में माता के पद को बहुत ऊँचा और पवित्र समझा जाता था । वशिष्ठ सूत्र में माता का स्थान उपाध्याय, आचार्य और पिता से श्रेष्ठ माना गया है । कुल मिलाकर, इस युग में स्त्रियों की स्थिति सम्मानजनक थी । परन्तु कुछ विद्वानों का मानना है कि युग के अन्तिम भाग में स्त्रियों की स्थिति में काफी गिरावट



आ गई थीय उदाहरणार्थ— कन्याओं को बेचने तथा दहेज लेने के उल्लेख मिलते हैं। अब उन्हें राजनीतिक सभाओं में भाग लेने से मना किया जाने लगा और परिवार में किए जाने वाले धार्मिक कार्यों में भी स्त्री के स्थान पर पुरोहित को बुलाया जाने लगा। स्त्रियों पर कई प्रकार से प्रतिबन्ध लगाये जाने लगे। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है, एक अच्छी स्त्री वह है जो उत्तर नहीं देती। शतपथ ब्राह्मण कहता कि पत्नी को पति से पहले भोजन नहीं करना चाहिए। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्री को दुःख का कारण माना गया है। मैत्रायणी – संहिता में स्त्री को जुआ, शराब की भाँति पुरुष का दोष माना गया है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियों की स्थिति में कुछ गिरावट आने लग गई थी।

कृ

भोजन, वस्त्र, आभूषण, मनोरंजन आदि उत्तरवैदिक काल के आर्यों का भोजन ऋग्वैदिक काल जैसा ही था। उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया था। अन्न, दूध तथा दूध से बने हुए अन्य पदार्थ एवं मांस उनके भोजन के मुख्य अंग थे। अन्न में गेहूँ, जौ, चावल मुख्य थे। इस युग में चावल की खेती अधिक की जाने लगी थी। दूध से दही, मक्खन और घी तैयार किया जाता था, परन्तु दूध में दूसरी वस्तुओं को पकाकर कई प्रकार के व्यंजन बनाये जाते थे। वैदिक साहित्य में शओदन क्षीरोदन, तिलोदन आदि शब्दों का उल्लेख बहुत बार हुआ है। इन सभी का अर्थ दूध में किसी-न-किसी वस्तु को पकाकर खाने के लिए नया व्यंजन बनाने से हैय उदाहरणार्थ— दूध में चावलों को पकाकर शक्षीरोदान अर्थात् शखीर बनाई जाती थी। इसी प्रकार तिलों को दूध में पकाकर शतिलोदान बनाई जाती थी। शओदन के लिए दूध में किस चीज को डालकर पकाया जाता था इसकी निश्चित जानकारी नहीं मिलती। इस युग में भी मांस खाया जाता था। सामान्यतरु बैल, बकरा, बकरी, भेड़ और कभी-कभी घोड़े का मांस खाया जाता था। शिकार में मारे गए पशु-पक्षियों का मांस खाया जाता था। शायद आर्य लोग मछली मांस भी खाने लगे थे। ऋग्वैदिक काल की भाँति इस युग के लोगों को भी साग-सब्जियों तथा फलों का विशेष शौक था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्वै

स्व-प्रगति का परीक्षण करें रु

3. उत्तरवैदिक सभ्यता की सभा और समिति पर टिप्पणी लिखें।

2. उत्तरवैदिक सभ्यता के सामाजिक जीवन के अन्तर्गत संयुक्त परिवार प्रथा को स्पष्ट करें।

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

87

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

मसिधेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

88

पेय पदार्थ में सोम का महत्त्व अब भी अधिक था परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अब सोम का पौधा विलुप्त होता जा रहा था। यही कारण है कि इस युग के आयों में अन्य पेय पदार्थों जैसे कि शूतिकाश एवं शर्जुनानिष का प्रचलन चल पड़ा। इस युग में सुरापान (शराब) का प्रचलन भी बढ़ गया था, यद्यपि साहित्यिक रचनाओं में सुरापान की निन्दा की गई है। सम्भवतः निर्धन एवं निम्न स्तर के लोग सुरा का प्रयोग अधिक करते थे।

जहाँ तक वेश-भूषा का सवाल है, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस युग के लोगों ने इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति की। सूती, ऊनी और रेशमी तीनों तरह के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। इस युग में रंग-बिरंगे वस्त्र पहनने की रुचि का विकास हुआ। अब सिले हुए कपड़े अधिक पसन्द किए जाने लगे। ऋग्वैदिक काल की भाँति वास, अधिवास और नीवी— इन तीनों वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। इनके अलावा तार्य, पगड़ी, उत्तरीय, अन्तरीय, कम्बल, शाल आदि अन्य वस्त्रों का भी प्रयोग किया जाता था। इस युग के घनी और राजवंशी लोगों के वस्त्रों पर सोने चाँदी की जरी का काम किया जाता था। साधु-संन्यासी एवं आदिवासी लोग मृग चर्म का प्रयोग करते थे। इस युग में भी स्त्री-पुरुष दोनों को आभूषण पहनने का शौक था। उनके आभूषण ऋग्वैदिक काल के समान ही थे। आभूषणों में कीमती पत्थरों को जड़ा जाता था। इस युग की एक विशेषता चाँदी के आभूषणों का प्रयोग बढ़ जाना है। ऋग्वैदिक काल में चाँदी के आभूषण बहुत कम पहने जाते थे। आमोद-प्रमोद, मनोरंजन के साधनों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। पहले की भाँति नृत्य, संगीत, जुआ, घुड़दौड़, रथ-दौड़ आदि मनोरंजन के मुख्य साधन थे।

कृ

नगर एवं गृह — उत्तरवैदिक काल में बड़े-बड़े ग्राम-नगरों के रूप में विकसित होने लग गए थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में नगर में निवास करने वाले को शनगरिन्ष कहा गया है। राज्यों की राजधानी में बड़े-बड़े विशाल भवन एवं महल बनने लगे थे। कौशाम्बी और हस्तिनापुर की खुदाइयों में इस युग के नगरों के अवशेष मिले हैं। गाँव के घर पहले की भाँति कच्ची और पक्की ईंटों, मिट्टी, बाँस तथा अन्य प्रकार की लड़की की सहायता से बनाए जाते थे। लकड़ी के बड़े-बड़े लट्टों की सहायता से छत पाटी जाती थी। घर में अनेक कक्ष होते थे। घरों में फर्नीचर का भी उपयोग किया जाता था।

वर्ण-व्यवस्था — ऋग्वैदिक काल के अन्तिम समय में उदय होने वाली वर्ण-व्यवस्था उत्तरवैदिक काल में काफी विकसित हो गई थी। ऋग्वैदिक युग के रथेष्ट (रथी) और राजन्य (राजवंशी लोग) लोगों से मिलकर क्षत्रिय वर्ग का निर्माण हुआ। इसी प्रकार यज्ञों के विधि-विधान के विशेषज्ञों ब्रह्मवादियों एवं तत्त्वचिन्तकों द्वारा एक नये वर्ग का निर्माण हुआ जो श्राह्मण्य कहलाया। शेष सर्वसाधारण आर्य

प्राचीन भारतीय इतिहास

जनता को श्वैश्य कहा जाने लगा । अनार्य लोग पहले से ही शूद्र समझे जाते थे। इस युग में ब्राह्मणों और क्षत्रियों दोनों की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ गई थी। इस युग की साहित्यिक रचनाओं से प्रतीत होता है कि कुछ ब्राह्मणों का सम्मान कुछ अधिक बढ़ गया था। उन्हें दिव्य वर्ण का देवताओं का प्रिय माना जाने लगा । ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में सामाजिक प्रभुता तथा प्रतिष्ठा के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों में निरन्तर प्रतिस्पर्धा चलती रही। इसी के परिणामस्वरूप बहुत से क्षत्रियों ने लगन के साथ ज्ञान अर्जित किया और उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर स्वयं ब्राह्मण भी उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके पास जाने लगे। उदाहरणार्थ— श्वेतकेतु आरुणेय ने जैवलि नामक क्षत्रिय से और गार्ग्य नामक ब्राह्मण ने राजा अजातशत्रु से शिक्षा प्राप्त की थी। ऋग्वैदिक काल में श्वैश्यों अथवा श्वैश्य शब्द का उल्लेख (पुरुष सूक्त के अलावा) नहीं मिलता। उत्तरवैदिक साहित्य से प्रकट होता है कि वैश्यों का सामाजिक स्तर ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों से निम्न था। चूँकि यह वर्ण विविध व्यवसायों द्वारा राष्ट्र समृद्धि के लिए प्रयत्नशील था, अतः इसकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं था। इसलिए वैश्यों को भी विद्या प्राप्ति तथा यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार दिया गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों को श्रद्धिज कहा जाने लगा ।

—

डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय का मत है कि प्रत्येक वर्ण की पहचान के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञोपवीत की कल्पना की गई थी। इसके अन्तर्गत ब्राह्मण सूत का, क्षत्रिय सन का और वैश्य ऊन का यज्ञोपवीत धारण करते थे। तीनों वर्णों के लिए अग्निहोत्र का समय भी भिन्न-भिन्न ऋतुओं में रखा गया — ब्राह्मण के लिए बसन्त ऋतु, क्षत्रिय के लिए ग्रीष्म ऋतु और वैश्य के लिए शीत ऋतु इन सभी बातों से स्पष्ट उत्तरवैदिक काल में वर्ण-भेद धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था। इतना ही नहीं, अपितु प्रत्येक वर्ण में भी अनेक वर्गों का विकास होने लग गया था। उदाहरणार्थ— ब्राह्मण वर्ण में ऋषि, आचार्य, राजपुरोहित, साधारण पुरोहित, राजमन्त्री, शिक्षक, उपदेशक आदि। क्षत्रिय वर्ण में राजवंशी, राजपुरुष, शासक, सैनिक आदि । व्यापार, कृषि एवं उद्योग-धन्धों के विकास के कारण वैश्यों में भी कई वर्ग बन गए। जो धीरे-धीरे एक-दूसरे से पृथक् होने लगे। इसी प्रकार, उत्तरवैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था में स्थिरता आने लग गई थी।

श्र

फिर भी, बहुत से विद्वानों का मानना है कि वर्णभेद बहुत दृढ़ नहीं हो पाया था और वर्णभेद का मुख्य आधार कर्म था, न कि जन्म। अभी यह स्थिति नहीं आई थी कि ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न हुए बिना कोई व्यक्ति इस वर्ण में न जा सके अथवा क्षत्रिय वर्ण में जाने के लिए किसी क्षत्रिय के घर जन्म लेना आवश्यक था। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र में स्पष्ट लिखा है कि अधर्म का आचरण करने से उच्च वर्ण का व्यक्ति अपने से निम्न वर्ण का हो जाता है और धर्माचरण के द्वारा निम्न वर्ण का व्यक्ति अपने से उच्च वर्ण को प्राप्त करता है। यहाँ तक कि शूद्र वर्ण

में उत्पन्न ज्ञानी व्यक्ति का भी समाज में आदर होता था। वर्णों की जटिलता और जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का विकास उत्तरवैदिक काल के अन्तिम समय में शुरू हुआ होगा।

कृ

कृ

आश्रम व्यवस्था वैदिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता आश्रम व्यवस्था थी जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवनकाल को चार विभिन्न आश्रमों में विभाजित किया गया था ताकि मनुष्य एक निश्चित योजनानुसार जीवन व्यतीत कर सके। आश्रम व्यवस्था की शुरुआत कब हुई, इसका उत्तर देना कठिन है। ऋग्वेद में इसके बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। परन्तु उत्तरवैदिक काल में वर्णाश्रम धर्म का सिद्धान्त प्रचलित हो गया था और जीवन को चार कालों में विभाजित किया गया – (1) ब्रह्मचर्य, (2) गृहस्थ (3) वानप्रस्थ, (4) संन्यास। सूत्र-ग्रन्थों के काल में आश्रम व्यवस्था को पूर्ण रूप से संगठित कर दिया गया। यह आश्रम व्यवस्था केवल द्विज जातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के लिए ही थी। शूद्रों के लिए एकमात्र गृहस्थ आश्रम ही बताया गया था।

जन्म से 25 वर्ष तक की आयु का काल ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता था। वैसे यह उपनयन संस्कार से प्रारम्भ होता था। इस काल में विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करना पड़ता था और गुरु के आश्रम में रहकर अपना शारीरिक, मानसिक तथा चारित्रिक विकास करना पड़ता था। इसी काल में उसे व्यावहारिक बातों—विनय, शील, शिष्टाचार, प्रेम, सहानुभूति, सहिष्णुता, त्याग, समाज सेवा आदि की शिक्षा प्राप्त होती थी। ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति एक संस्कार विशेष से होती थी जिससे श्रमावर्तन—संस्कार कहा जाता था। इसके बाद, ब्रह्मचारी अपने गुरु को दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता था। 26 से 50 वर्ष की आयु का काल गृहस्थाश्रम कहलाता था। समस्त धर्मशास्त्रों में इसको अन्य आश्रमों में सर्वोच्च माना गया है। इसकी सर्वोच्चता के कई कारण हैं। वैदिक धर्म प्रारम्भ से ही प्रवृत्ति प्रधान रहा है, अतः इसे महत्त्व मिलना स्वाभाविक था क्योंकि शेष तीनों आश्रम निवृत्ति मूलक थे। दूसरा मुख्य कारण यह था कि वैदिक धर्म यज्ञ—प्रधान तथा कर्मकाण्ड—प्रधान था और इसके लिए पुत्र की आवश्यकता थी। पुत्र प्राप्ति इसी आश्रम के द्वारा ही सम्भव थी। तीसरा कारण यह था कि शेष तीनों आश्रमों का भार गृहस्थ जीवन पर ही था। ऐसी कल्पना भी की गई थी कि ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए गृहस्थी जीवन अनिवार्य था। सूत्रकारों ने गृहस्थ जीवन के सभी कर्तव्यों का विशद रूप से उल्लेख किया है। गृहस्थ को सन्तानोत्पत्ति, अतिथि सत्कार, यज्ञ, हवन, अनुष्ठान, विविध संस्कार, धार्मिक और सामाजिक क्रिया-विधियाँ आदि कार्य करने पड़ते थे।

कृ

□

51 से 75 वर्ष की आयु का काल वानप्रस्थ आश्रम कहलाता था। इस काल में



प्राचीन भारतीय इतिहास

मनुष्य को गृह त्याग कर सांसारिक जीवन को छोड़कर वन में वृक्षादि के नीचे रहकर, कन्द-मूल फल तथा भिक्षा में प्राप्त अन्न से गुजारा करना पड़ता था। उसे इस काल में शारीरिक तपस्या के साथ-साथ वेदों तथा अन्य धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ता था। इस प्रकार, वानप्रस्थी मनुष्य का जीवन बड़ा साधनमय होता था।

75 वर्ष की आयु के बाद शेष जीवन संन्यासाश्रम का था। संन्यास धर्म का जीवन बड़ा कठिन और विरक्तिपूर्ण होता था। वह ब्रह्मचारी, अहिंसाव्रती, निर्द्वन्द्व सत्यनिष्ठ, क्रोधहीन और क्षमाशील होता था। वह

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

39

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

गङ्गा-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

50

जीर्णशीर्ण वस्त्र पहनता था अथवा काषाय वस्त्र धारण करता था। उसके हाँथ में सदैव डण्डा रहता था। उसका जीवन भिक्षा पर ही निर्भर रहता था। भिक्षा के निमित्त उसे दिनभर में केवल एक बार ही गाँव अथवा नगर में प्रवेश करना चाहिए। और केवल 8 से 10 घरों से ही भिक्षा मांगनी चाहिए।

वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम में मनुष्य केवल अपनी गृहस्थी के झंझट से ही मुक्ति पाता था। धर्मानुसार उसे इन दोनों कालों में सम्पूर्ण समाज की आध्यात्मिक सेवा करनी पड़ती थी। उसे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था और उस ज्ञान से सम्पूर्ण समाज का भला करना पड़ता था। इसके साथ ही उसे अपने व्यक्तिगत मोक्ष की ओर अग्रसर होना पड़ता था। तथ्य तो यह है कि संस्कृत साहित्य की सर्वोत्तम दार्शनिक रचनाएँ वानप्रस्थियों और संन्यासियों को देन हैं।

आज के

युग में आश्रम व्यवस्था का भले ही कोई महत्त्व न रहा हो, परन्तु वैदिक युग में लोग इसमें श्रद्धा एवं निष्ठा रखते थे और इसके अनुसार जीवन बिताने का प्रयास भी करते थे। वैसे यह अनिवार्य नहीं थी। कई लोग ब्रह्मचर्याश्रम से ही वानप्रस्थी बन जाते थे, तो कई ऐसे भी होते थे, जो गृहस्थाश्रम को त्याग ही नहीं पाते थे। वह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर था कि वह इस उत्तम व्यवस्था को स्वीकार करे या न करे।

आर्थिक जीवन

कृषि – उत्तरवैदिक काल में भी आजीविका का मुख्य साधन कृषि ही था। कृषि के लिए हल और बैल का प्रयोग किया जाता था। उत्पादन बढ़ाने के लिए गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता था। एक हल को खींचने के लिए 6 से

लेकर 12 बैलों का प्रयोग किया जाता था। उत्पादन बढ़ाने के लिए गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता था। सिंचाई के लिए वर्षा और कुओं के जल के अतिरिक्त नहरों के पानी का भी उपयोग किया जाता था। इस युग में मुख्यतः गेहूँ, जौ, धान, उड़द तिल, गन्ना, मूँग, मसूर आदि की खेती की जाती थी। कृषि वर्षा पर निर्भर करती थी। इसीलिए वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर वर्षा के लिए प्रार्थना का उल्लेख मिलता है। कृषि भूमि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति समझी जाती थी। किसान राजा को कुल उपज का 1/6 भाग कर चुकाते थे। कर अन्न की पैदावार के रूप में चुकाया जाता था।

पशुपालन कृषि के बाद पशुपालन आजीविका का मुख्य साधन था। साधारण लोगों के अलावा घनी लोग बड़े-बड़े पदाधिकारी तथा स्वयं शासक वर्ग भी पशुधन की कामना करता था और इसके लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे। पालतू पशुओं में गाय का महत्त्व सर्वोपरि था। शतपथ ब्राह्मण के आधार पर विद्वानों की मान्यता है कि इस में धीरे-धीरे गो-वध बन्द हो गया था और गो मांस खाने पर प्रतिबन्ध – सा लग गया था। कृषि कर्म के लिए बैलों का और सामरिक दृष्टि से घोड़ों का पालन किया जाता था। माल ढोने के लिए बैलों तथा घोड़ों के अलावा गधों और ऊँटों का पालन किया जाता था। अथर्ववेद में ऊँट – गाड़ी का उल्लेख मिलता है। अन्य पालतू पशुओं में भैंस, भेड़-बकरी, हाथी, कुत्ता आदि मुख्य थे।

उद्योग-धन्धे – उत्तरवैदिक काल में अनेक व्यवसायों का विकास हुआ जिससे आजीविका के सहायक साधनों का काफी विकास हुआ। इस काल में धातु उद्योग तथा उससे सम्बन्धित व्यवसायों का विकास हुआ। इस युग में सोना, चाँदी, अयस, लोहा, ताँबा, टीन, सीसा आदि धातुओं को पिघलाने तथा पोटकर विभिन्न वस्तुओं को बनाने का व्यवसाय विकसित हुआ। स्वर्णकार लोग सोने और चाँदी के विभिन्न प्रकार के आभूषण बनाते थे। शयसश् धातु के सही अर्थ पर अभी तक विद्वानों में मतभेद बना हुआ है। कोई इसे श्लोहाश् मानता है तो कोई शताँबाश् कुछ का मानना है कि सभी धातुओं के लिए यह सामान्य रूप में प्रयोग किया जाने वाला शब्द था। लोहे का प्रयोग मुख्यतः अस्त्र-शस्त्र एवं बड़ी तथा छोटी कीलें बनाने में किया जाता था। ताँबे से अस्त्र-शस्त्र बनाए जाते थे, परन्तु उसका प्रयोग बर्तन बनाने अधिक किया जाता था। उत्तरवैदिक काल में दूसरा प्रमुख व्यवसाय वस्त्र-निर्माण का था। ऋग्वेद की भाँति इस युग के साहित्य में भी कपास का उल्लेख नहीं मिलता। इससे अनुमान है कि वस्त्रों का निर्माण ऊन तथा सन के सूत से किया जाता था। वस्त्रों के अलावा कम्बल, शाल, बोरे चटाइयाँ आदि भी बनाई जाती थीं। धनी लोग एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहनते थे जिसके लिए क्षीम शब्द का उल्लेख किया गया है। वानप्रस्थी

प्राचीन भारतीय इतिहास

एवं

संन्यासी सामान्यतः त्वचा और चमड़े के वस्त्र पहनते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों से पता चलता है कि करघे की सहायता से सूत कातने का काम प्रायः स्त्रियों करती थीं। बुनाई का काम स्त्री-पुरुष दोनों करते थे। कढ़ाई का काम भी मुख्यतः स्त्रियाँ ही करती थीं।

उपर्युक्त व्यवसायों के अलावा कुम्हार का व्यवसाय भी काफी उन्नत था। कुम्हार चाक की सहायता से मिट्टी के घड़े, प्याले, तश्तरियाँ, सकोरे आदि उपयोगी वस्तुएँ बनाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों से पता चलता कि इस युग में चिकित्सा का व्यवसाय भी काफी उन्नत था। वैदिक साहित्य में इस व्यवसाय के लिए भिषक् शब्द का प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद से पता चलता है कि उस युग के चिकित्सकों को विभिन्न रोगों के उपचार का ज्ञान था। जिनमें क्षय, कोढ़, पागलपन, गठिया, नेत्र रोग, सिर-पीड़ा, नासूर, फोड़ा, ज्वर आदि मुख्य थे। रोगोपचार के लिए विविध प्रकार की जड़ी-बूटियों से औषधियाँ तैयार की जाती थीं। फिर भी, यह एक आश्चर्य की बात है कि कई लोग रोगोपचार के लिए तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग करते थे। अन्य व्यवसायों में बढ़ई का व्यवसाय एवं सुरा बनाने का व्यवसाय काफी उन्नत था। नाई, मोची, तेली, धोबी आदि के व्यवसाय भी पनपने लग गए थे।

युग

—

ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रयुक्त श्रेष्ठी, गण, गणपति आदि शब्दों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि इस में व्यावसायिक संगठन का विकास हो चुका था। ये व्यावसायिक संगठन अपने-अपने व्यावसायिक हितों की सुरक्षा तथा व्यावसायिक कार्यों की देखरेख करते थे। शायद राज्य ने इन संगठनों द्वारा बनाये जाने वाले संघीय नियमों को मान्यता दे दी होगी।

व्यापार वाणिज्य — इस युग में व्यापार — वाणिज्य प्रगति पर था। विदेशी व्यापार भी उन्नत था और व्यापारी लोग समुद्री मार्ग तथा स्थल मार्ग दोनों ही मार्गों से यात्राएँ करते थे और एक देश का सामान दूसरे देश में क्रय-विक्रय करते थे। आन्तरिक व्यापार भी उन्नत था। बड़े-बड़े नगरों के कई लोग नियमित रूप से वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे। व्यापार वस्तु-विनिमय के द्वारा होता था। विनिमय का माध्यम गाय थी। चूँकि अभी तक आवागमन के मार्ग पूरी तरह से निरापद नहीं थे अतः व्यापारियों को रास्ते में हिंसक पशुओं और डाकुओं का भय बना रहता था।

सिक्के — इस युग

— इस युग में सिक्कों (मुद्रा) का प्रचलन था या नहीं, इस पर विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। ऋग्वैदिक काल की तरह इस युग में भी निष्क का प्रयोग आभूषण और तौल के धातु-खण्ड— दोनों रूप में देखने को मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में शतनाम का उल्लेख मिलता है जो दक्षिणा देने के काम में आता था। विद्वानों का मानना है कि निष्क की भाँति शतनाम भी तौल के ६

धातु खण्ड रहे होंगे। इसी प्रकार कृष्णल और पाद का उल्लेख मिलता है। डॉ. भण्डारकर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उस युग में निष्क, कृष्णल, सुवर्ण, शतनाम, माशक और कार्यापण—पृथक्—पृथक् मूल्य की मुद्रायें अथवा तौल के धातु खण्ड थे जिनके माध्यम से वस्तुओं का क्रय—विक्रय किया जाता था। परन्तु डॉ. बिमलचन्द्र पाण्डेय ने लिखा है कि, जिस अर्थ में आज हम मुद्रा का प्रयोग करते हैं उस अर्थ में उपर्युक्त नामों की मुद्रायें नहीं मानी जा सकतीं। उनमें से हर किसी पर भी राजांक, अधिकार चिन्ह, लेख अथवा तौल का अंकन नहीं सिद्ध होता। स्पष्ट है कि वे भिन्न—भिन्न तौलों के धातु—खण्ड थे जिन्हें ले—देकर वस्तुओं का क्रय—विक्रय किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि उत्तरवैदिक काल में सिक्कों का प्रचलन था अथवा नहीं। परन्तु इससे उस युग की आर्थिक सम्पन्नता के बारे में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जाना चाहिए।

धार्मिक जीवन

बहुदेववाद — उत्तरवैदिक काल में भी बहुदेववाद की प्रतिष्ठा थी। आय के देवता तो वही रहे, परन्तु उनके महत्त्व में परिवर्तन हो गया। ऋग्वैदिक काल में प्राकृतिक शक्तियों के सूचक देवताओं इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य आदि का स्थान गौण हो गया और उनके स्थान पर शिव, विष्णु, ब्रह्मा, पार्वती, दुर्गा, भैरव, गणेश आदि देवताओं की प्रधानता बढ़ गई। ऋग्वेद में शिव का उल्लेख नहीं मिलता। रुद्र नामक छोटे देवता का उल्लेख अवश्य मिलता है। वही शुरुद्र अब शशिवश के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। शायद यहीं से शैव सम्प्रदाय का उदय हुआ होगा। इसी प्रकार ऋग्वेद में श्विष्णु का उल्लेख एक छोटे देवता के रूप प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

८

मसिपिदेजतनबजपबमदज डंजतप...

91

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

छव!७थेंजतनबजपवदंस डंजमतपंस

9.2

—

में मिलता है। परन्तु इस युग में वह प्रधान यज्ञ पुरुष हो गए। उन्हें शनारायण नाम से भी पुकारा जाने लगा। ऋग्वेद में प्रजापति का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु उत्तरवैदिक काल में वह शब्रह्मा के रूप में यज्ञों का स्वामी माना जाने लगा। इस युग में अनार्यों की यज्ञ पूजा, गन्धर्व—पूजा, राक्षस—पूजा, सूर्य—पूजा आदि की भी आर्य समाज में प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इसी आधार पर कुछ विद्वानों का मानना है कि उत्तरवैदिक काल का महान कार्य हिन्दू धर्म का संगठन है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

यज्ञवाद – कर्मकाण्ड – बहुदेववाद के साथ-साथ यज्ञवाद का भी विकास हुआ। उत्तरवैदिक काल में यज्ञों की जटिलता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई कोई-कोई यज्ञ तो वर्षों तक चलते थे। इस प्रकार के यज्ञों पर बहुत अधिक धन व्यय होता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक यज्ञों, यज्ञ-कालों, यज्ञ-क्रियाओं, यज्ञ-पात्रों, यजमानों, उनकी संख्या, विशेषज्ञता आदि का विस्तार से उल्लेख मिलता है। ऋग्वैदिक आर्यों में जहाँ देवताओं के प्रति आत्मसमर्पण की भावना थी, वहीं इस युग के आर्यों में मन्त्र शक्ति तथा यज्ञादि के द्वारा देवताओं को अपने वश में करने का विकास हुआ। इसलिए अब यज्ञों में बलि का महत्त्व भी बढ़ने लगा। उदाहरणार्थ— श्वश्रमेघ यज्ञ में अश्व की और श्पुरुषमेघ यज्ञ में पुरुष की बलि दी जाने लगी। यज्ञों के कारण समाज में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ गई।

५

पंच महायज्ञ और तीन ऋण – उत्तरवैदिक काल में पंच महायज्ञों का महत्त्व भी बढ़ा। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन निम्न पाँच महायज्ञ करने पड़ते थे— (1) ब्रह्म-यज्ञ इसे श्रद्धा यज्ञ भी कहते थे। इस यज्ञ के माध्यम से मनुष्य अपने प्राचीन ऋषियों के प्रति आदरभावना प्रकट करता था। आदर – भावना का सर्वोत्तम ढंग विद्याध्ययन करना था। इस यज्ञ के अवसर पर स्वाध्याय करने का नियम बनाया गया। (2) देव – यज्ञ – यह यज्ञ देवताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए किया जाता था। इसके अन्तर्गत प्रातः और सायं अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम, पृथ्वी आदि देवी-देवताओं के नाम के साथ श्वाहा कहकर अग्नि में आहुतियाँ दी जाती थीं। (3) भूत यज्ञ – इसके अन्तर्गत पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, प्रजापति, काम, विश्वदेवों आदि को भोजन की बलि दी जाती थी। (4) पितृ यज्ञ इस यज्ञ में पितरों के लिए तर्पण, बलिहरण अथवा श्राद्ध आदि का आयोजन किया जाता था। (5) मनुष्य यज्ञ मनुष्य मात्र के प्रति उत्तरदायित्व एवं सहायता की भावना से इस यज्ञ का जन्म हुआ था। ये यज्ञ कोरे कर्मकाण्ड नहीं थे, अपितु मनुष्य को समाज के प्रति उसके कर्तव्यों का बोध कराने वाले थे।

उत्तरवैदिक काल में तीन ऋणों की कल्पना का भी विकास हुआ। इस संसार में प्रत्येक मनुष्य देवताओं, ऋषियों, माता-पिता, अतिथियों और अन्य प्राणियों से कुछ-न-कुछ साधन, ज्ञान एवं शक्ति प्राप्त करता आया है और उसी आधार पर वह अपने जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बनाता है। अतः प्रत्येक मनुष्य का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह इन ऋणों से उद्धार होने का प्रयत्न करे। ये ऋण हैं— देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण। इन ऋणों की कल्पना के मूल में भी समाज के प्रति व्यक्ति के दायित्व और कर्तव्य छिपे पड़े हैं।

श्र

संस्कार उत्तरवैदिक काल के सामाजिक जीवन में धार्मिक संस्कारों का महत्त्व भी बढ़ा। संस्कार वे सामाजिक और धार्मिक क्रिया-विधियाँ होती थीं जिनसे मनुष्य

के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक, चारित्रिक एवं सांस्कृतिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता था। ये संस्कार स्त्री और पुरुष दोनों के लिए होते थे। संस्कार विशेषतया द्विज जातियों के लिए ही थे। इनमें मुख्य थे गर्भाधान संस्कार, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निस्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन संस्कार, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और दाह संस्कार छ

च

उपर्युक्त सोलह संस्कारों में उपनयन संस्कार का विशेष महत्त्व था। श्रुतपुत्र का अर्थ है— श्रुतमीपुत्र और श्रुतयनश्रु का अर्थ है श्रु ले जानाश्रु अर्थात् शिष्य को गुरु के समीप ले जाना। इसी संस्कार से ब्रह्मचर्याश्रम प्रारम्भ होता है। इसे श्रुतपुत्रोपवीतश्रु संस्कार भी कहते हैं। सूत्र – साहित्य के अनुसार स्त्रियों को भी उपनयन एवं वेदाध्ययन का यह अधिकार था। उपनयन संस्कार का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व था। इस संस्कार को किए बिना किसी भी विद्यार्थी को वेद पढ़ने अथवा गायत्री मन्त्र के उच्चारण का अधिकार नहीं मिल सकता था।

तत्त्वचिन्तन की लहर – उत्तरवैदिक काल में जहाँ एक तरफ यज्ञ, बलि, कर्मकाण्ड, संस्कार आदि पर अधिक जोर दिया जा रहा था, वहीं दूसरी तरफ तप एवं ज्ञान-मार्ग का विचार भी प्रारम्भ हो चुका था। आरण्यकों ने तप के विचार का प्रतिपादन किया। उन्होंने योग साधना तथा शारीरिक कष्ट सहकर परम ब्रह्म (मोक्ष) की प्राप्ति का मार्ग बतलाया। उपनिषदों ने ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन किया। श्रुतपुत्रोपवीतश्रु शब्द का अर्थ ही उस ज्ञान से हैं जो भ्रम को नष्ट करके यथार्थ ज्ञान की ओर ले जाता है। दूसरे शब्दों में, उपनिषदों का अर्थ है – अध्यात्म-विद्या या ब्रह्म-ज्ञाना ब्रह्म, आत्मा, जन्म-मरण, जीवन के वास्तविक ध्येय आदि से सम्बन्धित दार्शनिक सिद्धान्तों का गहन चिन्तन उपनिषदों में मिलता है। उपनिषदों के अनुसार मनुष्य का सच्चा ध्येय मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष आवागमन से अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा है। उपनिषदों में स्पष्ट किया गया है आत्म-तत्त्व को पहचाने बिना मोक्ष सम्भव नहीं है। मोक्ष के सिद्धान्त के साथ उपनिषदों के कर्म एवं पुनर्जन्म का भी विवेचन किया गया है। उपनिषदों में कहा गया है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्मों को सुधारे। उपनिषदों में सृष्टि की रचना पर भी प्रकाश डाला गया है। उनका मत है कि सृष्टि पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु इन पाँच तत्वों से बनी हुई है। इन पाँच तत्वों का स्वामी महातत्त्व है। यही महातत्त्व प्रकृति का मूलतत्त्व है, यही ब्रह्म है।

शिक्षा – उत्तरवैदिक काल में भी उपनयन संस्कार के साथ ही शिक्षा का काम शुरू हो जाता था। शिक्षा प्राप्ति के लिए छात्र-छात्राओं को गुरुकुल अथवा गुरु-गृह में जाना पड़ता था। ऋषियों के आश्रम ही गुरुकुल बने हुए थे। गुरुकुल में शिक्षा प्राप्ति के लिए जाने वाले विद्यार्थी को गुरु के आश्रम में ही रहना पड़ता था। उसे ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए विद्याध्ययन करना पड़ता था। ऐसे विद्यार्थियों को अन्तेवासी कहा जाता था। प्रत्येक गुरुकुल का एक आचार्य होता था जो प्रायः उस गुरुकुल का संस्थापक हुआ करता था।



इसके साथ अन्य बहुत से विद्वान शिक्षा देने का काम करते थे जिन्हें प्रवक्ता, क्षत्रिय, अध्यापक आदि विभिन्न नामों से प्रकारा जाता था। इस समय तक राजकीय शिक्षण संस्थाओं का उदय नहीं हो पाया था। फिर भी, बहुत से शासक एवं सम्पन्न लोग शिक्षण संस्थाओं को जी भरकर अनुदान दिया करते थे।

कृ

उत्तरवैदिक काल के पाठ्यक्रम में वैदिक ग्रन्थों का विशेष महत्त्व था। चूँकि भिन्न-भिन्न विद्वान् वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों का भिन्न-भिन्न ढंग से पाठ करने लग गए थे। अतः उस काल में देश के भिन्न-भिन्न भागों में वैदिक विद्वानों की भिन्न-भिन्न शाखाएँ स्थापित हो गईं। ये शाखाएँ अपने गुरुकुलों में अपनी विशेष शैली के माध्यम से विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करती थीं। धार्मिक तथा दार्शनिक मतभेदों अथवा शंकाओं को लेकर भिन्न-भिन्न शाखाओं के विद्वान को पुरस्कृत किया जाता था। पुरष्कार में गायें प्रदान की जाती थीं। छान्दोग्य उपनिषद् से उस युग के पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों की जानकारी मिलती है। वे इस प्रकार थे— चारों वेद, इतिहास और पुराण, व्याकरण, राशि, वेद, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, वेद-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या और देवजन विद्या। संक्षेप में आध्यात्मिक ज्ञान, भौतिक ज्ञान और साहित्य पर अधिक जोर दिया जाता था। ऋग्वेद की भाँति इस युग में भी शिक्षा की समाप्ति के बाद विद्यार्थी को गुरु-दक्षिणा देनी पड़ती थी। समकालीन साहित्य से पता चलता है कि गुरुकुलों में लड़कियों की शिक्षा की भी व्यवस्था थी।

उत्तरवैदिक साहित्य

आर्यों ने अपना विकास केवल सांसारिक सुख-सुविधा जुटाने तक ही नहीं किया। उन्होंने जीवन में सत्य और जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के बारे में खूब चिन्तन किया और वेद के रूप में विस्तृत साहित्य का भण्डार दिया। वेद का अर्थ ज्ञान होता है। आर्यों का पूरा ज्ञान वेदों में निहित है और उनके सम्पूर्ण साहित्य और दर्शन की आधारशिला है। वेद चार हैं— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनमें से ऋग्वेद की चर्चा पहले की जा चुकी है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

47

आधीन भारतीय इतिहास

94

छब्बै

र-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

यजुर्वेद — यह वेद कर्मकाण्ड प्रधान है और ऋग्वेद के बाद का संकलन है। यह शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद— दो रूपों में मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं। पाठ-भेद के कारण इसकी दो शाखाएँ हैं—

कण्व और माध्यन्दीय कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाओं का उल्लेख मिलता है – काठक संहिता, कपिष्ठल संहिता, मैत्रेयी संहिता और तैत्तिरीय संहिता। इन सभी में शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इनमें चालीस अध्याय हैं, जिनमें से प्रत्येक का सम्बन्ध किसी-न-किसी याज्ञिक अनुष्ठान से है। अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् का सम्बन्ध याज्ञिक अनुष्ठान के साथ न होकर अध्यात्म चिन्तन के साथ में है। यजुर्वेद ग्रन्थ ऋग्वैदिक काल और उसके बाद में आयो के जन-जीवन में आ जाने वाले परिवर्तन को प्रकट करता है।

कृ

सामवेद सामवेद में उन ऋचाओं का संकलन है, जो प्रमुख धार्मिक अवसरों पर लय के साथ गाई जाती थीं। इसमें केवल 75 मन्त्र नये हैं, शेष सभी छवेद के हैं। यह वैदिक युग की गायन विधा का परिचय कराने वाला ग्रन्थ है। पाठ भेद के कारण इसकी तीन शाखाएँ मिलती हैं— कौथुम शाखा, राणायनीय शाखा और जैमिनीय शाखा।

अथर्ववेद— अथर्ववेद बहुत बाद के काल की रचना है। इसकी दो शाखाएँ मिलती हैं— शौनक और पिप्पलाद द्य इसमें चालीस अध्याय हैं और इसका सम्बन्ध मुख्यतया आयो के घरेलू जीवन से है। इसमें भूत-प्रेत आदि अन्धविश्वासों का भी वर्णन है। लेकिन, आयो के दार्शनिक विचारों का संग्रह भी इसमें हैं। अतः आयो की सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने में यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। साथ ही भारतीय विज्ञान के इतिहास का परिचय भी हमें इस ग्रन्थ से मिलता है।

कृ

ब्राह्मण ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक अनुष्ठानों तथा वेद मंत्रों के अभिप्राय की विशद् व्याख्या की गई है। प्रत्येक ब्राह्मण ग्रन्थ का किसी एक वेद के साथ सम्बन्ध है। अतः उसे उसी वेद का ब्राह्मण ग्रन्थ माना जाता है। ऋग्वेद का प्रथम ब्राह्मण ग्रन्थ श्वेतरयश् है। ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण ग्रन्थ श्कौषितकीश् अथवा श्सांख्यायनश् है। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथश् है। शतपथ ब्राह्मण एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमें सौ अध्याय हैं। याज्ञवल्क्य ऋषि को इसका रचयिता माना जाता त इसमें न केवल याज्ञिक अनुष्ठानों का विस्तार से वर्णन है अपितु विविध अनुष्ठानों के प्रायोजनों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। सामवेद के तीन ब्राह्मण हैं— ताण्ड्य ब्राह्मण, षविश ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ हैं। यद्यपि ये सभी रचनाएँ बाद के काल की हैं, किन्तु इनमें वैदिक ऋचाओं की विविध प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इनमें आयो के जन-जीवन, शासन व्यवस्था तथा उनके भारत में प्रसार का परिचय मिलता है। इनकी भाषा परिकृत तथा उच्च कोटि की है।

के

आरण्यक – ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें याज्ञिक अनुष्ठानों का विशद् विवरण मिलता

प्राचीन भारतीय इतिहास

है, तो आरण्यक ग्रन्थों में— आध्यामिक, दार्शनिक एवं पारलौकिक चिन्तन देखने को मिलता है। आत्मा क्या हैय सृष्टि का निर्माण कैसे हुआ, सृष्टि किन तत्वों से बनी है, सृष्टि का नियन्त्रक कौन है, परम सत्ता का स्वरूप कैसा हैय इस प्रकार गूढ़ विषयों का चिन्तन आरण्यक ग्रन्थों में किया गया है। इस प्रकार का चिन्तन उन लोगों द्वारा किया गया जो वानप्रस्थी अथवा संन्यासी बनकर जंगलों व अरण्यों में अपना आश्रम बनाकर जीवन व्यतीत कर रहे थे। वस्तुतः आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के ही भाग है। इससे यह पता चलता है कि आर्य ऋषियों का एक वर्ग आध्यात्मिक चिन्तन में संलग्न था ।

कृ

उपनिषद् — आरण्यक साहित्य से उपनिषद् साहित्य का विकास हुआ। उपनिषद् का अर्थ है— अध्यात्म विद्या अथवा ब्रह्म विद्या । इन्हें श्वेदान्तर् भी कहा गया है क्योंकि वेदों में जो विचार उपलब्ध हैं, उन्हीं का परिपक्व रूप उपनिषदों में मिलता है। उपनिषद् भारतीय तत्व— ज्ञान का मूल स्रोत है। उपलब्ध उपनिषद् ग्रन्थों की संख्या लगभग दो सौ है। किन्तु उनमें से केवल बारह का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उनके नाम हैं— ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतीकों और श्वेताश्वतर । ये उपनिषद् विभिन्न कालों के हैं और इनमें शैली, भाषा तथा विचार के अनेक स्तर मिलते हैं। वैसे अधिकांश उपनिषद् 7वीं शताब्दी पूर्व की रचनाएँ हैं।

उपनिषदों का प्रमुख विषय दर्शन है। वेदों में ज्ञान सम्बन्धी जो बातें बिखरी हुई पायी जाती हैं, उन्हीं का विकास आगे चलकर उपनिषदों में हुआ। असल में उपनिषद् वेद के उन स्थलों की व्याख्या है, जिनमें यज्ञों से अलग हटकर ऋषियों ने जीवन के गहन तत्वों पर विचार किया है। दूसरे शब्दों में, उपनिषद् आर्य मस्तिष्क के धर्म से दर्शन की ओर झुकाव का परिणाम है। इनकी प्रवृत्ति उपासना से ध्यान की ओर, यज्ञ से चिन्तन की ओर तथा बाह्य प्रकृति की आराधना से अन्तरात्मा की खोज की ओर है। ये ब्रह्मज्ञान के श्रेष्ठतम ग्रन्थ हैं। आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष, सृष्टि आदि के सम्बन्ध में जो विचार उपनिषदों में व्यक्त हुए हैं, वे हिन्दू धर्म के तो प्रमुख सिद्धान्त हैं ही, विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं के भी आधार हैं। शंकर के दर्शन का मूल उपनिषदों में हैं, वहीं वेदान्त के अन्य सम्प्रदाय अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि भी उपनिषदों से ही विकसित हुए। गीता में भी उपनिषदों का सार है। बौद्ध और जैन मतों के अधिकांश सिद्धान्त भी इन्हीं पर आधारित हैं। जर्मन विद्वान शोपेन हावर ने उपनिषदों का महत्त्व इन शब्दों में व्यक्त किया है— इसम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों के समान जीवन को ऊँचा उठाने वाला कोई अन्य ग्रन्थ नहीं है। इनसे मुझे जीवन में शान्ति मिली है। इन्हीं से मृत्यु के समय भी शान्ति मिलेगी । ३

आर्यों की भारतीय संस्कृति को देन

द्रविड़, आर्य, यूनानी, हूण, शक, कुषाण, अफगान, परन्तु उसके समन्वित रूप और आत्मा के निर्माण

वर्तमान भारतीय संस्कृति के निर्माण में अनेक जातियों मुगल, अंग्रेज आदि का

थोड़ा-बहुत अंशदान रहा है। का श्रेय आय को है। उन्होंने भारतीय संस्कृति को ऐसा स्वरूप प्रदान किया कि अनेकों परिवर्तनों के उपरान्त भी उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सका। आर्यों ने जिन महत्त्वपूर्ण आधारों पर भारतीय संस्कृति के मूल स्वरूप का निर्माण किया था, वे इस प्रकार हैं—

वैदिक साहित्य यह आर्यों की सबसे बड़ी देन है। उनका विशाल वैदिक साहित्य वस्तुतः भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत हैं, क्योंकि आर्यों के समस्त ज्ञान—विज्ञान, दर्शन एवं तत्त्वचिन्तन का स्रोत वेद ही रहे हैं। आर्यों के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का आधार भी वेद हैं। वर्णव्यवस्था का उद्गम भी वेदों में निहित हैं। इस प्रकार आर्यों की सम्पूर्ण संस्कृति वेदों से अनुप्राणित है। वैदिक विचारधारा का प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं हुआ और आज भी यह भारतीयों को अनुप्राणित कर रही है। आज भी भारतियों को विश्व के प्राचीनतम वैदिक साहित्य पर गर्व है।

अध्यात्म भावना भारतीय संस्कृति की विशेषता अध्यात्म भावना है जिसका विकास भी आर्यों ने ही किया। इस प्रत्यक्ष संसार से परे भी कोई सत्ता है— इस विचारधारा का विकास आर्यों ने ही किया। आय ने समझ लिया था कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक परमसत्ता है जो अनश्वर, अनादि और अनन्त है। इस परमसत्ता को जानना और उसके स्वभाव को समझना मनुष्य का परम कर्तव्य हैं, क्योंकि मानव शरीर और संसार नश्वर है। मानव शरीर में जो आत्मा है, वह उसी परमसत्ता का अंश है। अतः इस संसार के क्षणिक भोग विलास को त्यागकर उस परमसत्ता की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान से ही सम्भव हो सकता है।

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद समन्वय आर्यों ने अध्यात्म भावना पर जोर दिया परन्तु उन्होंने इस संसार से मुँह मोड़ने को नहीं कहा। उन्होंने इहलोक और परलोक दोनों पर जोर दिया। उनका कहना था कि मनुष्य को इस संसार में सदा आगे बढ़ते रहने तथा संसार के सुख को भोगते हुए परलोक को सुधारने का साधन भी करना चाहिए। दुनिया की अनेक संस्कृतियों में भौतिकवाद पर जोर दिया गया है और अध्यात्म को भुला दिया गया है। परन्तु आर्यों ने दोनों का सुन्दर समन्वय किया है। यही उनकी भारतीय संस्कृति को सबसे बड़ी देन है।

—

कृ
वर्णाश्रम व्यवस्था

अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के समन्वय के परिणामस्वरूप वर्णाश्रम पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात हुआ जिसकी दो मुख्य विशेषताएँ थी— वर्ण—भेद और आश्रम व्यवस्था द्वा वर्ण—व्यवस्था धर्म और कर्तव्यों के आधार पर की गई थी। इसका मूल उद्देश सम्पूर्ण समाज की सेवा — भावना थी। प्रत्येक



प्राचीन भारतीय इतिहास

व्यक्ति अपनी रुचि के अनुकूल कार्य को अपनाकर समाज एवं देश की सेवा में अपना योगदान देता था। इससे समाज में व्यवस्था बनी रही जिससे सामाजिक संगठन में सहयोग मिला।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

95

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

बाद में इसके स्थान पर जाति प्रथा का विकास हुआ जो आज भी कायम है। आश्रम व्यवस्था सुव्यवस्थित ढंग से जीवन को जीने का श्रेष्ठ ढंग थी। वह कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित थी। तीन ऋण, पाँच महायज्ञ, सोलह संस्कार और चार पुरुषार्थ इन सिद्धान्तों को जीवन में कार्यान्वित करने के लिए आश्रम व्यवस्था की योजना शुरू की गई थी। सैकड़ों वर्षों तक वर्णाश्रम व्यवस्था भारतीय संस्कृति को अनुप्राणित करती रही।

—

विचार – स्वातन्त्र्य और सहिष्णुता भारतीय संस्कृति में आज हमें विचार—स्वातन्त्र्य और सहिष्णुता की जो मुख्य विशेषताएँ देखने को मिलती हैं, वे आर्यों के अध्यात्मवाद का परिणाम हैं। आर्यों ने पश्चिमी देशों के निवासियों की भाँति धार्मिक एवं साम्प्रदायिक द्वेष के कारण कभी उग्र वृत्ति का परिचय नहीं दिया। उन्होंने एक ऐसी वर्णाश्रम व्यवस्था को जन्म दिया, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य को जीवन का अधिकार दिया गया, चाहे उसके धार्मिक विचार आर्यों से भिन्न भी क्यों न हों। चूँकि आर्य अध्यात्मवादी थे अतः उन्होंने समन्वय की नीति को अपनाया और सहिष्णुता की भावना का विकास किया। समन्वय एवं सहिष्णुता के कारण भारतीय संस्कृति बहुत सी विदेशी एवं विधर्मी जातियों को आत्मसात् करने में सफल रही। आर्यों की ये विशेषताएँ हमारे मौजूदा संविधान की भी मुख्य विशेषताएँ हैं। इस दृष्टि से उनकी यह देन विशेष महत्त्व रखती है।

पुनर्जन्म और कर्मवाद – आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म और कर्मवाद के सिद्धान्त आय की देन हैं। आत्मा अमर है। वह कभी नहीं मरती परन्तु कर्मों के कारण उसे बार—बार विभिन्न रूपों में जन्म लेना पड़ता है उसका यह सिलसिला तब तक चलता रहता है, जब तक कि वह मोक्ष प्राप्त करने में सफल नहीं हो जाती। कर्मवाद के अनुसार मनुष्य इस जन्म में जैसा कर्म करेगा, उसका फल उसे अगले जीवन में भोगना पड़ेगा, अर्थात् बुरे कर्मों के लिए बुरे फल और अच्छे कर्मों के लिए अच्छे फल। आर्यों ने प्रारम्भ से ही अच्छे कर्मों और मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयास किया। आज भी भारतीयों में अच्छे कर्मों के द्वारा अपना जीवन सुधारने की भावना विद्यमान है। वस्तुतः इन सिद्धान्तों ने भारतीयों को बुरे कर्मों से सदा दूर रखने का प्रयास किया है।

‘मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

96

सारांश (नउउंतल)

भारतीय संस्कृति को आयों की देन इतनी व्यापक है कि सभी पक्षों पर विस्तार से विवेचन करना सम्भव नहीं है। आयों ने ग्राम्य सभ्यता एवं संस्कृति का विकास किया। आज भी भारत गाँवों में बसा हुआ है। आयों ने जिस पितृ मूलक संयुक्त पारिवारिक जीवन को जन्म दिया, वह कुछ आशिक परिवर्तनों के बाद आज भी विद्यमान है। परिवारों के लिए आवश्यक संस्कारों का महत्त्व आज भी बना हुआ है। जन्म, विवाह और

मृत्यु के अवसर पर किए जाने वाले संस्कार आयों की देन हैं। हमारे सामाजिक जीवन में नारी को जो सम्मान प्राप्त है, वह भी आय के नारी सम्मान की भावना का ही परिणाम है। यद्यपि आयों के यज्ञ-अनुष्ठान आदि अब इतने लोकप्रिय नहीं रहे, फिर भी विशेष अवसरों—विवाह, जन्म, मृत्यु, गृह प्रवेश, भवन शिलान्यास, उपनयन आदि पर उनका आयोजन होता रहता है। इसके अतिरिक्त आय की अनेक सामाजिक एवं धार्मिक परम्पराएँ आज भी विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ, प्राकृतिक शक्तियों के रूप में पशु-पक्षियों एवं वृक्षों की पूजा, विवाह को पवित्र बन्धन मानना तथा अग्नि को साक्षी मानकर मंत्रोच्चार के साथ विवाह करना, पिता गोद लेने की प्रथा आज भी हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में विशेष महत्त्व रखती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू-धर्म, दर्शन और विचारों का निर्माण मुख्यतया आय की ही देन है। आयों ने ही उस धार्मिक उदारता एवं सहिष्णुता की भावना को जन्म दिया, जो हिन्दू-धर्म की एक महान विशेषता स्वीकार की जाती है। निःसन्देह भारतीय संस्कृति आयों की अत्यधिक ऋणी है।

स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

रू

1. सभा और समिति उत्तरवैदिक काल में इस संस्थाओं का महत्त्व कम हो गया था। इसका मुख्य कारण राजा के अधिकारों में वृद्धि थी, परन्तु इन संस्थाओं का अस्तित्व बना हुआ था। अथर्ववेद में इन्हें प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है। अथर्ववेद से पता चलता है कि सभा ग्राम-संस्था थी और ग्राम के स्थानीय कामों की देखरेख करती थी। ग्रामवासी सभा के वाद-विवाद के पश्चात् ही किसी निर्णय पर पहुँचते थे। विद्वानों का मानना है कि ग्रामसभा को अपने कार्य संचालन के लिए राज्य की तरफ से आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी। ब्राह्मण ग्रन्थों से पता चलता है कि सभा आमोद-प्रमोद के कार्यक्रमों का भी आयोजन करती थी। डॉ. आल्टेकर का मत है कि उत्तरवैदिक काल में धीरे-धीरे सभा का रूप बदलता गया और वह राज संस्था में परिवर्तित हो गई। उसकी बैठकों में स्वयं राजा भी उपस्थित रहने लगा था।

उत्तरवैदिक काल में समिति का स्वरूप भी परिवर्तित हो गया। अब वह राज्य

प्राचीन भारतीय इतिहास

के केन्द्रीय संस्था की भाँति काम करने लगी। अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है कि ब्राह्मण की सम्पत्ति छीनने वाले राजा को समिति का सहयोग नहीं मिलना चाहिए। एक अन्य स्थान पर राजा के लिए समिति के सहयोग की कामना की गई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समिति राज्य को केन्द्रीय संस्था के रूप में परिवर्तित हो गई थी। सभा की भाँति समिति में भी समस्याओं पर वाद-विवाद होता था।

उत्तरवैदिक काल की अन्य रचनाओं (उपनिषदों के अलावा) में हमें समिति के बारे में बहुत कम विवरण मिलता है। परन्तु उपनिषद्काल में समिति ने अपना महत्त्व पुनः कायम कर लिया था। इसलिए उपनिषदों में इसके बारे में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। उपनिषद्काल में समिति की बैठकें राजा की अध्यक्षता में होती थीं और राजनीतिक विषयों के साथ-साथ दार्शनिक एवं धार्मिक विषयों पर भी वाद-विवाद होता था। परन्तु उपनिषद्काल के बाद में समिति का महत्त्व जाता रहा। उपनिषद्काल में सभा का उल्लेख भी न्याय प्रदान करने वाली संस्था के रूप में हो देखने को मिलता है 2. सामाजिक जीवन रु इस युग में भी आयों का सामाजिक जीवन सुव्यवस्थित था। आर्य-जीवन मुख्यतः ग्रामों में ही संगठित था। प्रत्येक ग्राम में अनेक गृह होते थे जो पितृमूलक संयुक्त परिवार प्रणाली के अन्तर्गत संगठित थे। पिता परिवार का मुखिया होता था और परिवार के सभी सदस्यों के ऊपर उसे व्यापक अधिकार प्राप्त थे, परन्तु परिवार के सभी सदस्यों का पालन-पोषण तथा उनकी उन्नति के लिए प्रयास करना भी उसका कर्तव्य था। परिवार की संयुक्त सम्पत्ति पर पिता के सभी पुत्रों का समान अधिकार माना जाता था। वैदिक साहित्य में इस बात का संकेत मिलता है कि कभी-कभी पिता के जीवन काल में ही पुत्र संयुक्त परिवार का विभाजन करवा लेते थे और फिर पृथक् रहने लगते थे। इस युग में भी अतिथि सत्कार पर विशेष ध्यान दिया जाता था। ऋग्वैदिक काल में गोद लेने की प्रथा का विकास हो चुका था। गोद के लिए भाई की सन्तान को प्राथमिकता दी जाती थी।

स्वपरीक्षण करें (ज्मेज ल्वनतेमसि)

1. उत्तरवैदिकयुगीन आर्यों के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन में क्यापरिवर्तन परिलक्षित होते हैं?
2. उत्तरवैदिककालीन सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का वर्णन कीजिए।
3. वैदिककालीन धर्म और दर्शन का क्रमबद्ध विवरण दीजिए।
4. यह कैसे कहा जा सकता है कि उत्तरवैदिक काल में एक मिश्रित परन्तु विकसित संस्कृति का उदय हुआ?
5. आर्यों की वर्ण-व्यवस्था व आश्रम व्यवस्था की विवेचना कीजिए।
6. उत्तरवैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति पर एक निबन्ध लिखिए।
7. भारतीय संस्कृति के विकास में आर्यों के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 5

क्षेत्रीय (प्रादेशिक) राज्यों का उद्भव

☐ परिचय

सोलह महाजनपद, गणराज्यों की शासन प्रणाली, केन्द्रीय प्रशासन, सभा, सभा की कार्यवाही,

६ मन्त्रिपरिषद्, परिषा, न्याय प्रशासन, प्रशासनिक अधिकारी एवं कर्मचारी, प्रान्तीय प्रशासन, गणराज्यों के पतन के कारण,

मगध साम्राज्य का अभ्युदय, मगध का आरम्भिक इतिहास, मगध के उत्कर्ष के कारण, हर्यक वंश, साम्राज्य विस्तार, बिम्बिसार के अन्तिम दिन

सम्राट् अजातशत्रु (492 ई. पू. से 459 ई. पू. तक), साम्राज्य विस्तार, शिशुनाग वंश, नन्द वंश,

अध्ययन उद्देश्य रू

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे क्षेत्रीय (प्रादेशिक) राज्यों का उद्भव

गणराज्यों की शासन प्रणाली

☐ गणराज्यों के पतन के कारण

मगध साम्राज्य का अभ्युदय ।

परिचय (पद्जतवकनबजपवद)

ऋग्वैदिक काल में आर्य अनेक शजनश में विभाजित थे। शजनश अपने को किसी पूर्वज की संतान मानते थे। प्रत्येक जन में अनेक कुटुम्ब होते थे। अतः एक ही जाति के पुरुष से उत्पन्न विभिन्न कुटुम्बों के समुदाय का नाम शजनश था। जो जाति या वंश जहाँ बसता था उसके नाम पर प्रदेश या प्रान्त का नाम पड़ जाता था। ऐसे राज्यों को शजनश अथवा शजातिय राज्य कहा जाता था। इनका कोई निश्चित भौगोलिक आघर नहीं था। वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते थे और उनकी पहिचान का आधार शजनश विशेष ही था। राज्य की कल्पना ही जातीय थी। राज्य में अन्य जातियों के लोग भी रहते थे, परन्तु उनका स्थान गौण था। उत्तरवैदिक काल में तथा उसके पश्चात् राजनीतिक स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। भिन्न-भिन्न जातियों के एक भौगोलिक क्षेत्र में बस



प्राचीन भारतीय इतिहास

जाने के कारण वे शजनपद कहलाने लगे। अब शजनश या जाति (कबीला) के स्थान पर जनपद या प्रदेश का महत्त्व बढ़ने लगा। राज्य की कल्पना जातीय के स्थान पर भौगोलिक हो गई तथा लोग अब शजनपदश के नाम से पुकारे जाने लगे। महात्मा बुद्ध के समय तक आते-आते जनपदों का पूर्ण विकास हो चुका था। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार, शलगभग एक सहस्र ईस्वी पूर्व से पाँच सौ ईस्वी पूर्व तक के युग को भारतीय इतिहास में जनपद या महाजनपद युग कहा जा सकता है। समस्त देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जनपदों का ताँता फैल गया था। एक प्रकार से जनपद राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन की इकाई बन गए थे। लेकिन छठी शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारम्भ में भारत में किसी का एकछत्र राज्य नहीं था। भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभाजित था, जिनमें से कुछ राजतन्त्र व अन्य गणतन्त्र थे। इस समय भारत की राजनीतिक स्थिति तत्कालीन यूनानी स्थिति के समान थी, यद्यपि भारत के कुछ राजतन्त्र यूनानी राज्यों से बहुत बड़े थे। भारतीय राज्यों के विषय में बी. सी. लों ने लिखा है, प्रारम्भ में इनमें से अधिकांश राजा ही शासन करते थे। यूनान के समान भारत में भी राजतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्र राज्यों की स्थापना का मूल कारण सम्भवतः राजाओं की अयोग्यता एवं अत्याचार रहा होगा। प्रारम्भिक बौद्ध तथा जैन ग्रन्थ, उत्तर वैदिककालीन साहित्य, रामायण, महाभारत, पुराणों आदि में इस युग के बहुत से जनपदों का विवरण मिलता

छठी शताब्दी ई. पू. में

भारत के

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

असार

कंबोज

महाजनपद

कुरुक्षेत्र

दि

मल्ल

सूरसेन मन्दा क

विदंड

चं

अवंति

प्रयोग

7—

नांद

वल्स

मध

अंग

सम्मानित

प्रतिष्ठान

अश्वक

री

बंगाल की रवा डी

भारत के महाजनपद

श्र।

म

क

मसिपदेजतनबजपवदंस डउमतपंस

99

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

जनपदों की स्थापना के साथ ही, अपने-अपने जनपद की सीमा के विस्तार की भावना प्रबल हुई और इनमें भू-क्षेत्रों के लिए संघर्षों का सूत्रपात हुआ, जिसके परिणामस्वरूप निर्बल राज्य समाप्त हो गए और वे शक्तिशाली राज्यों में विलीन हो गए। अधिक शक्तिसम्पन्न और भौगोलिक दृष्टि से अधिक विस्तृत इन राज्यों को महाजनपदों के नाम से पुकारा गया।

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

100

सोलह महाजनपद

(प्रादेशिक राज्य)

बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत में एक सार्वभौम सत्ता के अभाव में कई छोटे-छोटे राज्य अपने राजनीतिक उत्कर्ष और प्रादेशिक विस्तार के लिए आपस में एक-दूसरे से लड़ते रहते थे। इन राज्यों में से अधिकांश राज्यों में राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति थी, परन्तु कुछ में गणतान्त्रिक शासन पद्धति थी। बौद्ध साहित्य से महात्मा बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व एवं उनके समय में महाजनपदों के अस्तित्व का पता चलता है। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय में सोलह महाजनपदों की सूची दी गई है, जो सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जाती है। इन महाजनपदों का समय महात्मा बुद्ध के पहले माना जाता है। स्वयं महात्मा बुद्ध के समय में इनमें से कई अपनी स्वतन्त्रता खोकर अन्य शक्तिशाली जनपदों में विलीन हो गए थे, कुछ नये राज्य स्थापित हो गए थे और कुछ का स्वरूप परिवर्तित हो चुका था। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर महाजनपदों का काल आठवीं सातवीं शताब्दी ई. पू. से छठी शताब्दी ई. पू. के पूर्वार्द्ध तक माना जाता है। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय में जिन सोलह महाजनपदों का उल्लेख मिलता है, उन्हें शबोडस महाजनपद (सोलह महाजनपद) के नाम से पुकारा जाता था। बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों एवं पुराणों में



Notes

प्राचीन भारतीय इतिहास

दी गई सूची के अनुसार इन राज्यों के नाम और उनकी राजधानियाँ अग्रलिखित थीं—

महाजनपद

राजधानी

महाजनपद

राजधानी

1. अंग

चम्पा

9. कुरु

इन्द्रप्रस्थ

2. मगध

राजगृह

10. पांचाल

अहिछत्रपुर

3. काशी

वाराणसी

11. मत्स्य

विराटनगर

4. कोसल

श्रावस्ती

12. सूरसेन

मधुरा

5. वज्जि

वैशाली

13. अश्मक

पोतन

6. मल्ल

कुशीनगर

14. अवन्ति

महिष्मती

7. चेदि

8. वत्स

शक्तिमतिनगर कौशाम्बी

15. गान्धार

तक्षशिला

16. कम्बोज

राजपुरा

व्याकरणाचार्य पाणिनि इन महाजनपदों के अतिरिक्त उस समय के अन्य राज्यों

का भी उल्लेख करता

इनमें मालव, क्षुद्रक, मद्र, शिवि आदि मुख्य थे। इनके अतिरिक्त हमें अन्य गणराज्यों की भी जानकारी मिलती है जिनमें कपिलवस्तु के शाक्य, पावा के मल्ल, कुशीनगर के मल्ल, पिप्पलीवन के मौरिय मिथिला के विदेह आदि मुख्य थे। इन सोलह महाजनपदों का विस्तृत अध्ययन अधिक समीचीन रहेगा।

1.

—

अंग अंग का महाजनपद आधुनिक बिहार के मुंगेर और भागलपुर जिलों में फैला था। चम्पा नदी इस महाजनपद को मगध राज्य से पृथक् करती थी। चम्पा और गंगा के संगम पर इसकी राजधानी

2.

3.

4.

5.

6.

बसी हुई थी, जिसका नाम भी चम्पा था। तत्कालीन साहित्य चम्पानगरी को भारत को प्रमुख नगरियों में से एक बतलाता है। जातक कथाओं में भी चम्पा की समृद्धि का उल्लेख मिलता है। यहाँ के व्यापारी लोग दूर-दूर के देशों से व्यापार करते थे। दक्षिणी अनाम और कोचीनचाइना के हिन्दू उपनिवेशों की स्थापना में चम्पा नागरिकों का योगदान सर्वाधिक रहा था। ई. पू. छठी शताब्दी में इस राज्य पर ब्रह्मदत्त नामक शासक का शासन था। इसी युग में मगध के शासक बिम्बिसार ने ब्रह्मदत्त को मारकर अंग राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार, अंग राज्य मगध साम्राज्य में विलीन हो गया था, जिसका विवेचन आगे किया गया

मगध प्रचीन मगध का राज्य बिहार में गया और पटना के जिलों में फैला हुआ था। मगध का राज्य उत्तर-पश्चिम में गंगा और सोन नदियों से, दक्षिण में विन्ध्य पर्वतमाला के किनारे तथा जंगल से और पूर्व में चम्पा नदी से सुरक्षित था। इसकी राजधानी का नाम गिरिव्रज था। बिम्बिसार ने इसका नाम बदलकर राजगृह रखा। बाद में पाटलिपुत्र इसकी राजधानी बनी। ईसा पूर्व की छठी सदी के पहले यहाँ बार्हद्रथ वंश का शासन था। इस वंश का पतन कब और कैसे हुआ, यह विवादास्पद है। इतना ही निश्चित है कि महात्मा बुद्ध के समय में यहाँ पर हर्यक वंश के बिम्बिसार का शासन

था। बिम्बिसार और उसके पुत्र अजातशत्रु ने मगध साम्राज्य का विकास किया। काशी — सोलह महाजनपदों में काशी का महाजनपद सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। यह अपनी आध्यात्मिक भौतिक उन्नति के लिए विख्यात था। काशी की घन-सम्पदा और समृद्धि ही उसके पतन का कारण बनी। इसकी



राजधानी वाराणसी अत्यन्त ही गरिमावान नगर रहा। इसका विस्तार 36 मील में था। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में काशी के महत्त्व का विवरण मिलता है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी के पूर्व काशी एक स्वतन्त्र राज्य था और इस राज्य पर ब्रह्मदत्त और उसके वंशज में शासन किया। परन्तु कालान्तर में कोसल के शक्तिशाली शासकों ने काशी की स्वतन्त्रता का अन्त करके इसे अपने राज्य का एक प्रदेश बना लिया।

—

कोसल यह राज्य आधुनिक उत्तरप्रदेश के अवध क्षेत्र में फैला हुआ था। इसकी राजधानी का नाम श्रावस्ती था। अयोध्या और साकेत इसके दो अन्य प्रसिद्ध नगर थे। प्राचीनकाल में यहाँ पर सूर्यवंश के प्रतापी शासकों ने शासन किया था जिनमें मान्याता, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, दिलीप, रघु, दशरथ और मर्यादा पुरुषोत्तम राम के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कालान्तर में इस राज्य का महत्त्व कम हो गया। परन्तु ईसा पूर्व छठी शताब्दी में कोसल पुनः एक प्रसिद्ध और शक्तिशाली राज्य बन गया। बुद्ध

के समय में यहाँ का राजा प्रसेनजित था। इसने काशी को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया। इसकी बहिन कौशलदेवी का विवाह मगध नरेश बिम्बिसार के साथ हुआ !

खज्जि — यह महाजनपद गंगा नदी के उत्तर में नेपाल की पहाड़ियों तक फैला हुआ था। यह प्राचीन भारत का एक प्रसिद्ध गणराज्य था। इसमें आठ छोटे-छोटे गणराज्य सम्मिलित थे जिनमें विदेह, लिच्छवी और ज्ञात्रिक मुख्य थे। इस गणराज्य की संघीय राजधानी वैशाली थी। महावीर स्वामी यहीं के थे। गुप्तवंश के शासनकाल में भी वैशाली के लिच्छवियों का महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। यहाँ के व्यापारी काफी समृद्ध थे।

.

मल्ल इस महाजनपद का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है। यह वज्जि संघ के पड़ोस में ही था। यहाँ गणतन्त्रात्मक शासन पद्धति थी। यह गणराज्य दो भागों में बँटा हुआ था। एक की राजधानी कुशीनगर थी और दूसरे भाग की पावा थी। मल्ल लोग अपनी साहसिकता तथा युद्धप्रियता के लिए विख्यात थे। कालान्तर में मगध राज्य ने इस गणराज्य को अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया। भगवान् बुद्ध ने कुशीनगर में ही अपने प्राण त्यागे थे।

7. चेदि

—

यमुना नदी के पास आधुनिक बुन्देलखण्ड में चंदि महाजनपद फैला हुआ था। इसकी राजधानी का नाम शक्तिमति था जो इसी नाम की नदी के तट पर बसी हुई थी। डॉ. मीराशी के अनुसार यह महाजनपद बुन्देलखण्ड में फैला हुआ था। राजस्थान के मत्स्य राज्य से इसके मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

101

प्राचीन भारतीय इतिहास

8. बत्स

छव्जै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

102

9.

कृ

यह महाजनपद गंगा नदी के दक्षिण में स्थित था। इसकी सीमाएँ कोसल राज्य को छूती थीं। वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी। कौशाम्बी आधुनिक प्रयाग से लगभग 38 मील दूर थी। प्राचीन ग्रन्थों में इस राज्य को वंश अथवा वच्छ राज्य भी कहा गया है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में यहाँ शतानीक और उसके पुत्र उदयन ने शासन किया था। राजा उदयन अपने युग का एक प्रसिद्ध शासक था। उसकी मृत्यु के बाद मगध ने इस राज्य को भी हड़प लिया था।

कुरु – आधुनिक दिल्ली-मेरठ के आस-पास कुरु महाजनपद फैला हुआ था। इसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी, जो एक प्रसिद्ध तीर्थ भी था। महाभारतकालीन पाण्डव वंश के युद्धिष्ठिर के वंशजों ने इस पर शासन किया। कालान्तर में पाण्डव राजवंश का पतन हो गया और छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ। उन सबने मिलकर श्कुरुष गणराज्य की स्थापना की। महात्मा बुद्ध के समय में कुरु महाजनपद अपनी ख्याति एवं समृद्धि को खो चुका था।

10. पांचाल – वर्तमान रुहेलखण्ड और यमुना नदी के मध्य पांचाल राज्य ईसा पूर्व की छठी शताब्दी में स्थित था। इसकी दो राजधानियाँ थीं। उत्तरी पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र थी। पांचाल का राज्य चम्बल नदी के किनारे तक फैला हुआ था। कुछ समय तक दुर्मुख और राजा चुलानिब्रह्मदत्त ने यहाँ पर शासन किया। परन्तु उसके वंशों के पतन के बाद यहाँ गणराज्य कायम हो गया। ईसा पूर्व की छठी शताब्दी में यहाँ गणतन्त्रीय शासन व्यवस्था कायम थी।

—

11. मत्स्य राजस्थान के जयपुर, भरतपुर एवं अलवर जिलों में मत्स्य महाजनपद फैला हुआ था। यह एक बड़ा विस्तृत राज्य था। इसकी सीमाएँ अरावली की पहाड़ियों से सरस्वती नदी के तट तक फैली हुई थीं। जयपुर के पास स्थित आधुनिक बैराठ इसकी राजधानी थी और उस युग में इस नगर को विराटनगर के नाम से पुकारा जाता था। महाभारतकाल में राजा विराट मत्स्य में शासन कर रहे थे। इसकी राजसभा में पाण्डवों ने अपने वनवास काल का अन्तिम वर्ष छद्म-वेष में बिताया था। उस समय मत्स्य का पड़ोसी राज्य अलवर राज्य के अधिकार में था। कालान्तर में यह राजवंश समाप्त हो गया। बाद में मगध ने इस पर अपना अधिकार जमा लिया।

—

12. शूरसेन मथुरा के आस-पास शूरसेन राज्य था। यमुना के तट पर बसी मथुरा इस राज्य की राजधानी थी। यह यादवों का राज्य था। यादव वंश के कुणिन्द नामक राजा ने काफी ख्याति पायी थी। भगवान् श्रीकृष्ण यादवों की एक शाखा वृष्णिवंश से सम्बन्धित थे। यहाँ राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति थी।

13. अश्मक

—

अश्मक का दूसरा नाम अस्सक था। यह महाजनपद दक्षिण में गोदावरी नदी के आस-पास के क्षेत्र में था। इन सोलह महाजनपदों में यही सबसे दक्षिण में बसा हुआ था। इसकी राजधानी का नाम पोतन अथवा पौदन्य था। यहाँ इक्ष्वाकु वंश की एक शाखा ने अपना राज्य स्थापित किया था। यहाँ राजतन्त्रात्मक शासन था।

14. अवन्ति

अवन्ति यह महाजनपद वर्तमान मालवा में था। यह एक विशाल महाजनपद था। उत्तर में क्षिप्रा नदी से आगे ग्वालियर के पास स्थित ऐरान-तुम्बवन से दक्षिण में नर्मदा की घाटी तक यह फैला हुआ था। विस्तृत राज्य होने से इसकी दो राजधानियाँ थीं। उत्तर में उज्जयिनी और दक्षिण महिष्मती। इस महाजनपद की स्थापना यदुवंश ने की थी। यहाँ यादवों की हैहयवंशी शाखा ने भी राज्य किया। इस वंश के अन्तिम नरेश के मन्त्री पुणिक ने उसकी हत्या कर अपने पुत्र को अवन्ति का राजा बना दिया। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में चण्ड प्रद्योत यहाँ का शक्तिशाली राजा था।

—

15. कम्बोज

यह महाजनपद गान्धार का पड़ोसी था। इसमें जम्बू-कश्मीर सीमान्त प्रदेश और अफगानिस्तान का भूभाग सम्मिलित था। महाभारत में इसकी राजधानी का नाम राजपुर दिया गया। आज भी यहाँ कर्माज नामक आदिवासी जाति पायी जाती है। महाभारतकाल में यहाँ चन्द्रवर्मन और सुदक्षिण नामक राजाओं ने राज्य किया था। कालान्तर में यहाँ राजतन्त्र समाप्त हो गया और गणराज्य कायम हुआ।

16. गान्धार यह महाजनपद आधुनिक पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, जो अब पाकिस्तान में है, में स्थित था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। गान्धार देश विद्या एवं कला का केन्द्र होने के कारण प्रख्यात था। इसने मगध नरेश बिम्बिसार की राज्यसभा में अपना राजदूत भेजा था।

उपर्युक्त सोलह महाजनपदों के अतिरिक्त देश में अन्य कई छोटे-छोटे जनपद थे। ये छोटे-छोटे जनपद सम्भवतः अपने आस-पास के महाजनपदों के प्रभाव में थे या उनकी अधीनता स्वीकार करते थे। इस प्रकार सारे भारतवर्ष में जनपद राज्यों की स्थापना इस युग में हो चुकी थी। इस युग में राजतन्त्रात्मक एवं

गणतन्त्रात्मक दोनों प्रकार के राज्य थे तथा साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही थी। क्षेत्रीय लगाव एवं आर्थिक विकास की प्रक्रिया ने अधिक शक्ति जुटाने की होड़ और विस्तारवादी अभिलाषाओं को प्रोत्साहित किया। छोटे तथा निर्बल जनपद बड़े जनपदों में विलीन होते गए और इस प्रक्रिया में क्रमशः चार महाशक्तिशाली महाजनपदों का उदय हुआ। कोसल, मगध, वत्स और अवन्ति। यह महत्वपूर्ण घटना बुद्ध के जीवनकाल की है। गणतान्त्रिक राज्यों में वज्जिसंघ एक शक्तिशाली जनपद था और यह लम्बे समय तक अपने पड़ोसी मगध की साम्राज्यवादी आकांक्षा से लड़ता रहा। उपर्युक्त चारों महाजनपदों के आपसी संघर्ष के बाद मगध का एक शक्तिशाली महासाम्राज्य के रूप में उदय हुआ। मगध के उत्कर्ष की विस्तृत विवेचना आगे की जाएगी।

सोलह महाजनपदों में एक प्रकार की शासन पद्धति नहीं थीं। कहीं राजतन्त्र था तो कहीं जनतन्त्र, कहीं-कहीं पर न्यूनाधिक अंशों में दोनों का समन्वय दिखलाई पड़ता है। महाजनपदों की सूची में से वज्जि, मल्ल, शूरसेन आदि को गणतन्त्र राज्यों की संज्ञा दी जा सकती है। इनमें सबसे शक्तिशाली वज्जि महाजनपद था। यह एक संघात्मक गणराज्य था, जो आठ कुलों से बना था, जिसकी राजधानी वैशाली थी। इन आठ कुलों में एक प्रमुख कुल लिच्छिवियों का था, जिसके नाम पर इसे लिच्छिवीगण भी कहा गया है। बौद्ध ग्रन्थों में हमें दस गणराज्यों के नाम मिलते हैं, जो इस प्रकार

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

1. कपिलवस्तु के शाक्य

3. सुंसुमारगिरी के भग्ग

5. केसपुत्त के कालाम

7. पावा के मल्ल

9. मिथिला के विदेह

गणराज्यों की शासन प्रणाली

2. रामगाम के कोलिय

4. अलकप्प के बुलि

6. कुशीनारा के मल्ल

8. पिप्पलिवन के मोरिया

10. वैशाली के लिच्छिवी

बौद्धकालीन गणराज्यों की शासन प्रणाली को समझने के लिए हमें लिच्छिवियों तथा शाक्यों के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्य से मिलने वाली जानकारी को आधार बनाना होगा। सम्भवतः छोटे गणराज्यों में भी शासन प्रणाली का मूल ढाँचा तो वैसा ही रहा होगा, हालांकि वह उतना विस्तृत नहीं रहा होगा। बौद्ध ग्रन्थों से हमें बौद्ध संघों के विधान, नियम और कार्यपद्धति के बारे में विस्तार से जानकारी मिलती है। अनेक विद्वानों का मानना है कि भगवान बुद्ध ने बौद्ध संघों के गठन तत्कालीन गणराज्यों में प्रचलित कार्यपद्धति के आधार पर किया था,



अतः बौद्ध संघों के विवरण से भी गणराज्यों की शासन व्यवस्था को समझा जा सकता है।

—

—

केन्द्रीय प्रशासन गणराज्य का प्रमुख या अध्यक्ष एक अधिपति होता था, जिसे शगणपतिश्, शगणराज्यश् या शसंघ मुख्यश् कहा जाता था। गणराज्य के अधिपति का चुनाव किया जाता था और वह जनता के नाम पर गणराज्य का शासन चलाता था। इसे शराजाश् भी कह दिया जाता था। बौद्ध ग्रन्थ शअट्ठकथा एवं एकपण्ण जातक के अनुसार लिच्छवी गणराज्य की शासन व्यवस्था के संचालन के लिए 7707 राजा थे। इन राजाओं के साथ उतने ही उपराजा, सेनापति तथा भण्डागारिक होते थे। गणराज्यीय संगठन के सदस्य होने के कारण ये सदैव विचार—विमर्श, प्रश्न—वितर्क में लगे रहते थे। कौटिल्य ने लिच्छवी गणराज्य के लिए शराजाशब्दोपजीवी संघश् शब्द का प्रयोग किया था, जिसका अर्थ बौद्ध ग्रन्थ शललित विस्तरश् के अनुसार यह है कि, श्वहाँ का प्रत्येक मनुष्य अपने को राज्य का राजा समझता है। न कोई किसी से छोटा

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

103

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

104

श्

है, न बड़ा वरन् सब समान हैं। शललित विस्तर में ही यह उल्लेख मिलता है कि कोई लिच्छवी राजा अपने को किसी दूसरे से छोटा नहीं मानता था। सब में राजा हूँ, मैं राजा हूँ ऐसा कहते थे। कुछ विद्वानों का मानना है 7707 संख्या अवास्तविक प्रतीत होती है। किन्तु ऐसा नहीं है। सम्भवतः ये 7707 राजा लिच्छवियों के 7707 मूल कुटुम्बों के प्रधान थे, जिन्हें शासन संचालन का भार सौंपा गया था। ये सब मिलकर एक शासक सभा का गठन करते थे। इस सम्बन्ध में यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यूनानी लेखक स्ट्रेबो के विवरण में यह कहा गया है कि एक भारतीय गणराज्य की शासक सभा के सदस्यों की संख्या 5,000 थी। इन सभी राजाओं के समान अधिकार थे। इनमें से एक व्यक्ति को निर्वाचन द्वारा शनायकश् बनाया जाता था। सम्भवतः वहीं गणराज्य का प्रमुख या राष्ट्रपति होता था। शाक्य गणराज्य के प्रमुख या प्रधान, जो इस प्रकार से निर्वाचित थे, वे शुद्धोधन के पिता थे। जिन्हें राजा कहा गया है। वे बुद्ध के पिता थे ६ शुद्धोधन के बाद शाक्य गणराज्य का राजा भद्विह्य हुआ। शललित विस्तरश् में शाक्यों की शासक सभा के सदस्यों की संख्या 500 बताई गई है। ये सभी शराजाश् की उपाधि से विभूषित थे, ये शाक्यों के प्रमुख अभिजात्य परिवारों के

प्रधान रहे होंगे। इसी प्रकार लिच्छवियों के गणपति चेटक के लिए भी श्राजाश शब्द का उल्लेख मिलता है।

—

सभा (संस्था) लिच्छवि कुल के प्रमुख व्यक्तियों (राजाओं) की सभा शसंस्थाश कहलाती थी और जिस स्थल पर सभा की जाती थी उसे शसंस्थागारश कहते थे। संस्थागार में सभी आवश्यक विषयों पर बड़े कायदे से विचार—विमर्श किया जाता था और आवश्यकता पड़ने पर बहुमत से निर्णय लिया जाता था। शाक्यों और कोलियों के बीच जब रोहिणी नदी से सिंचाई हेतु जल लेने के प्रश्न पर विवाद हुआ तो शाक्यों ने संस्थागार में सभा आहूत की और उसमें लम्बे विचार—विमर्श के बाद कोलियों से युद्ध करने का निर्णय लिया गया। इसी प्रकार कोसल नरेश विडूडम ने शाक्यों पर आक्रमण किया और कपिलवस्तु को घेर लिया तो संस्थागार में इस प्रश्न पर गम्भीरता से बहस की गई कि शाक्यों द्वारा आत्म—समर्पण कर दिया जाए या युद्ध किया जाए। अन्त में बहुमत से आत्मसमर्पण का निर्णय लिया गया। अन्य गणराज्यों के संस्थागारों में भी इसी प्रकार की खुली बहस और उसके बाद सर्वसम्मति या बहुमत से लिए गए निर्णयों का उल्लेख तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थों में मिलते हैं। इससे गणराज्यों में प्रचलित जनतान्त्रिक पद्धति की जानकारी मिलती है।

—

सभा की कार्यवाही संस्था की कार्यवाही का संचालन नियमबद्ध तरीके से किया जाता था। संस्था के अधिवेशन के लिए गणपूर्ति (कोरम) अर्थात् निश्चित संख्या में सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी। संस्थागार में बैठने के लिए एक निश्चित क्रम में आसनों की व्यवस्था की जाती थी। बैठकों की व्यवस्था करने वाले अधिकारी को शआसनयन्नाक श (आसन प्रज्ञापक) कहते थे। अधिवेशन में किसी भी प्रस्ताव (ज्ञप्ति) का औपचारिक प्रस्तुतिकरण आवश्यक था। प्रस्तोता द्वारा प्रस्ताव पेश किए जाने के बाद उसे तीन बार दोहराया (अनुस्साव) जाता था, जिससे कि सभा में उपस्थित सभी व्यक्ति उसे ध्यान से

सुन सकें। इसके बाद गण सदस्यों से पूछा जाता था कि क्या वे प्रस्ताव का अनुमोदन करते हैं। जो सदस्य मौन रहते थेय उन्हें प्रस्तान से सहमत मान लिया जाता था। अन्य सदस्यों द्वारा प्रस्ताव पर बाद—विवाद किया जाता था। सदस्यों के एकमत या सर्वसम्मत न होने पर मतदान से निर्णय लिया जाता था। मत या वोट को शछन्दश कहा जाता था। मतदान की प्रक्रिया के अन्तर्गत पहले सभी सदस्यों को अलग—अलग रंग की लकड़ी की शलाकाएँ बाँट दी जाती थीं। प्रत्येक रंग की शलाका का विशेष मत या दृष्टिकोण होता था। सदस्यों से कहा जाता था कि वे उस रंग की शलाका का चयन करें, जो उनके मत की सूचक हो। सदस्यों से कहा जाता था कि वे अपनी शलाका किसी को न दिखावे। उसके बाद एक अधिकारी इन सभी शलाकाओं को एकत्रित करता था। इस अधिकारी को शशलाकाग्राहपकश कहा जाता था। शलाका ग्रहण का कार्य खुले रूप से भी किया जाता था और गोपनीय तरीके से भी।



कुछ विवादग्रस्त प्रश्नों के समाधान के लिए कई बार मतदान के स्थान पर दो अन्य तरीके भी अपनाए जाते थे। या तो ऐसे विवादास्पद प्रश्न पर पड़ोस के किसी बड़े संघ से निर्णय करने का अनुरोध किया जाता था या उस प्रश्न को हल करने का दायित्व कुछ चुनिन्दा व्यक्तियों की एक समिति को सौंप दिया जाता था। इस समिति को श्रुत्वाहिक समिति कहा जाता था। इस समिति का निर्णय अन्तिम और सभी

के लिए मान्य होता था।

मन्त्रिपरिषद् – गणराज्य के दैनिक शासन-कार्य संचालन के लिए एक मन्त्रिपरिषद् या कार्यकारिणी का गठन किया जाता था। यद्यपि इस संस्था का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन जैन शकल्पसूत्र में आये एक संदर्भ में इसका आभास मिलता है। इस ग्रन्थ में एक स्थल पर शनवमल्लईश (नौ मल्लराजा) एवं शनव लेच्छईश (नौ लिच्छवि राजा) का उल्लेख मिलता है, जो महावीर स्वामी की मृत्यु की रात्रि में दीपोत्सव के प्रसंग में उपस्थित हुए थे। लिच्छवि गणराज्य में 7707 राजाओं का उल्लेख मिलता है, ऐसी स्थिति में नौ लिच्छवि राजाओं के एक विशेष अवसर पर एकत्र होने का क्या अर्थ है? सम्भवतः यह नौ लिच्छवि राजा किसी केन्द्रीय कार्यकारिणी या मन्त्रिपरिषद् के सदस्य थे। सम्भवतः यह एक प्रकार की सर्वोच्च प्रशासनिक संस्था थी और इसकी सदस्य संख्या सामान्यतः नौ होती थी। इसकी नियुक्ति कैसे होती थी, यह विवादास्पद है।

परिया (सार्वजनिक सभा) – एक केन्द्रीय सभा (संस्था) के अतिरिक्त गणराज्य में एक परिषा या सार्वजनिक और सामान्य सभा के अस्तित्व का संकेत भी मिलता है। श्रमहापरिनिर्वाण सुत्त में एक स्थान पर यह प्रसंग आता है कि महात्मा बुद्ध जब राजगृह में ठहरे हुए थे तो अजातशत्रु ने अपना एक मन्त्री उनके पास यह जानने के लिए भेजा कि वज्जि संघ का विनाश किस प्रकार सम्भव है। इस सम्बन्ध में भगवान बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से एक संवाद के दौरान यह कहा कि श्वज्जि लोग बार-बार सार्वजनिक सभाएँ आयोजित करते हैं, जब तक वे पूर्ण सार्वजनिक सभाएँ करते रहेंगे, उनकी वृद्धि ही होगी, विनाश नहीं होगा। इससे ज्ञात होता है कि परिषा या सार्वजनिक सभा गणराज्य की एक मुख्य संस्था होती थी। यह सम्भवतः वर्तमान लोकसभा के समान थी। मन्त्रिपरिषद् परिषा के प्रति उत्तरदायी होता था। परिषा के सदस्यों का निर्वाचन जनता करती थी। परिषा के प्रतिनिधि (सदस्य) राजा कहलाते थे। परिषा के सदस्यों की संख्या जनसंख्या पर आधारित रहती थी। लिच्छवि गणराज्य की परिषा के सदस्यों की संख्या 7707 थी। इस संस्था की कार्यपद्धति और अधिकार – कर्तव्य के बारे में हमें अधिक जानकारी नहीं मिलती। इस संस्था को श्रपरिषद् भी कहा जाता था।

कृ

सात अपरिहानिय धम्म (नियम) महात्मा बुद्ध का मानना था कि वज्जि संघ उस समय तक अजेय एवं अविजित रहेगा, जब तक वह सात अपरिहानिय धम्मों (नियमों) का पालन करते रहेंगे। श्रमहापरिनिर्वाण सुत्त के अनुसार ये सात

नियम इस प्रकार हैं—

(1) निर्धारित समय पर सभी सदस्यों की उपस्थिति के साथ सभा का अधिवेशन हो ।

(2) समग्र (निर्विरोध, सहमत) भाव से संघ में उपस्थित समग्र भाव से अधिवेशन की समाप्ति

तथा समग्रभाव से संघ के कार्यों का निष्पादन ।

(3) जो स्वीकृत नहीं हुआ है उसे स्वीकार नहीं करना, जो स्वीकृत हो चुका है उसका उल्लंघन

नहीं करना, तथा वज्जि संघ के पूर्व स्वीकृत विधानों के अनुसार कार्य करना ।

(4) वज्जि संघ के जो बड़े-बूढ़े हैं और जो नेता हैं उनका आदर सत्कार करना ।

—

(5) वज्जि संघ के चौत्यों में पूजा— कार्य को निरन्तरता बनाए रखना तथा पूर्व काल से निर्धारित

धार्मिक क्रिया—कलापों को जारी रखना ।

(6) वज्जि संघ के धार्मिक अरिहन्तों (महापुरुषों) का सम्मान रखना ।

(7) वज्जि संघ के वृद्धों का आदर—सत्कार करना ।

कृ

न्याय प्रशासन वज्जि संघ में न्याय प्रशासन की अद्भुत व्यवस्था थी । बुद्ध घोष श्रुतकथा से हमें इस व्यवस्था की जानकारी मिलती है । डॉ. आर. सी. मजूमदार के अनुसार वज्जि संघ की न्याय पद्धति अपनी श्रुतिलोकतान्त्रिक भावना के कारण विशिष्ट है । श्रुतकथा के विवरण के अनुसार, वज्जि संघ में अपराधी की जाँच—पड़ताल एवं न्यायिक परीक्षा सात विशेषज्ञ पदाधिकारियों या न्यायालयों द्वारा की जाती थी, जिनके नाम इस प्रकार हैं— (1) विनिश्चय महामात (विनिश्चय महामात्र) य

(2) वोहारिक

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

105

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

106

श

(व्यावहारिक)य (3) सुत्तघर (सूत्रधार)य (4) अट्टकुलिक (अष्ट कुलिक)य (5)



सेनापति (6) उपराजा (7) राजा । सर्वप्रथम अभियुक्त को विनिश्चय महामात्र के पास ले जाया जाता था, जो सम्बन्धित मामले के तथ्यों की प्राथमिक जाँच-पड़ताल करता था । निर्दोष होने पर वह अपराधी को मुक्त कर सकता था, लेकिन दोषी पाए जाने पर उसे दण्डित करने का अधिकार नहीं था । दोषी लगने पर अभियुक्त को श्रव्यावहारिक के पास भेजा जाता था । वह विधि विशेषज्ञ होता था वह अपने मापदण्डों से अभियुक्त का परीक्षण करता था तथा उसके निरपराधी होने पर उसे छोड़ सकता था । लेकिन श्रव्यावहारिक भी दोषी अभियुक्त का दण्ड निर्धारण नहीं कर सकता था । तब अभियुक्त को शसूत्रधार के पास भेजा जाता था, जो व्यवहारशास्त्र अर्थात् सामाजिक-धार्मिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों, लोक-प्रचलित मान्यताओं आदि से सम्बन्धित व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर अभियुक्त की जाँच-पड़ताल करता था । दोषी होने पर उसे उच्चतर न्यायालय के अधिकारी शठकुलिकों के पास भेजा जाता था, जिसमें अनुमानतरु आठ जातियों के आठ प्रतिनिधि न्यायाधीश होते थे । शठकुलिकों द्वारा दोषी सिद्ध किए जाने पर अभियुक्त को क्रमशः सेनापति, उपराजा और अन्त में राजा के पास भेजा जाता था । अन्तिम निर्णय का अधिकार राजा के पास सुरक्षित था । अपराधी के दण्ड निर्धारण का अधिकार भी राजा के पास ही था । दण्ड पूरी तरह अपराध सिद्ध होने पर ही दिया जाता था । राजा द्वारा दण्ड का निर्धारण मनमाने ढंग से नहीं किया जाता था, इसके लिए शपवेषी पोत्थक नामक ग्रन्थ की सहायता ली जाती थी जिसमें अपराध एवं दण्ड के पुराने उदाहरणों का संकलन होता था । इस विवरण से स्पष्ट है कि वज्जि संघ के प्रत्येक व्यक्ति का जीवन किसी प्रकार की न्यायिक स्वेच्छाचारिता या पक्षपात से पूरी तरह मुक्त था । किसी भी अभियुक्त को दण्ड केवल उसी अवस्था में मिलता था जब सातों अधिकारियों द्वारा उसका हर दृष्टि से परीक्षण कर लिया जाता था ।

ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धकालीन गणराज्य सुप्रशासित राज्य थे तथा अपनी संगठन शक्ति के कारण ही बलशाली थे । इन गणराज्यों में न केवल बहुमत का सम्मान किया जाता था, बल्कि कुशल न्याय व्यवस्था द्वारा जनसामान्य के अधिकारों को पूरी तरह सुरक्षित रखने का प्रयास किया जाता था । उस राजतान्त्रिक युग में भी गणतान्त्रिक प्रयोग पूरी तरह सफल था, किन्तु उनकी सफलता दीर्घकाल तक नहीं रह सकी और नवोदित शक्तिशाली राजतन्त्रों ने उन्हें कुचल दिया, जिससे गणतान्त्रिक राज्यों का पतन हो गया ।

प्रशासनिक अधिकारी एवं कर्मचारी शासन का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए कई प्रशासनिक अधिकारी एवं कर्मचारी नियुक्त किए जाते थे । इनकी अलग-अलग श्रेणियाँ थीं । संस्थागार में काम करने वाले कर्मचारी आसन प्रज्ञापक, गणपूरक, शलाका ग्राहापक आदि थे । न्यायिक अधिकारियों में अष्टकुलिक, सूत्रधार, विनिश्चय महामात्र, उपराजा आदि थे । गणराज्य के सभी नागरिक गणराज्य के इन लोगों को राज्य कर देना पड़ता था । कृषि व्यवस्था आदि से भी कर लिया जाता था । अतः इन करों को वसूल करने वाला भी अधिकारी

होता था। वनों व खादानों से भी गणराज्य को आय होती थी। जुर्माना व गणपति (राजा) को मिलने वाली भेंट भी गणराज्य की आमदनी समझी जाती थी। ऐसा अनुमान किया जाता था कि अलग-अलग करों को वसूल करने के लिए अलग-अलग अधिकारी रहे होंगे।

प्रांतीय प्रशासन जैसा कि ऊपर बताया गया है राजकार्य में राजा को सहायता देने के लिए अनेक अधिकारी एवं कर्मचारी होते थे। इनकी प्रचुर संख्या को देखते हुए अनुमान लगाया जाता है कि शासन सुविधा की दृष्टि से समस्त गणराज्य प्रान्तों, जिलों, तहसीलों और गाँवों विभाजित था। गणराज्य की इन इकाइयों को एक प्रकार से लघु राज्य माना जा सकता है जैसे बज्जि गणराज्य में आठ छोटे-छोटे गण सम्मिलित थे। अतः आन्तरिक प्रशासन के मामले में उन्हें काफी स्वायत्तता प्राप्त थी। प्रत्येक इकाई का प्रमुख एक राजा होता था। जो उपराजा, सेनापति आदि पदाधिकारियों की सहायता से उस इकाई का शासन संचालित करता था। इन इकाइयों के प्रमुख, गणराज्य की केन्द्रीय एवं सर्वोच्च सभा ससंथागारस के सदस्य होते थे। इस प्रकार की विकेन्द्रीय शासन व्यवस्था के कारण लिच्छवियों के गणराज्य को प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का सूचक माना जा सकता है। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने इस व्यवस्था को प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध नगर राज्य एथेंस की प्रशासनिक व्यवस्था से मिलता-जुलता बताया है। अगुत्तर निकायस में लिच्छवि राज्य से सम्बन्धित दो अन्य पदाधिकारियों का भी उल्लेख किया गया है— शगामगामणिकस (गाँवों का मुखिया) तथा श्पूगगामणिकस (औद्योगिक संस्थाओं का मुखिया)। इस प्रकार प्रांतीय प्रशासन भी सुसंगठित था। वैशाली का गणराज्य तो इतना सुशासित एवं सुसंगठित था कि भगवान् बुद्ध अक्सर वहाँ जाया करते थे और उन्होंने उसकी खूब प्रशंसा की है। महावीर स्वामी को लिच्छवियों का शासनतन्त्र पसन्द था। यद्यपि गणराज्य सुशासित थे, तथापि इनमें मत भिन्नता अधिक रहती थी, जिससे निर्णय लेने में अनावश्यक देरी हो जाया करती थी।

गणराज्यों के पतन के कारण

ईसा पूर्व की छठी शताब्दी के गणराज्य अधिक समय तक टिक न सके। शीघ्र ही उन्हें राजतन्त्रों की साम्राज्यवादी एवं विस्तारवादी लिप्सा का शिकार होना पड़ा। वैसे भी गणराज्यों और राजतन्त्रवादी — व्यवस्था वाले राज्यों के बीच सदैव संघर्ष चला करता था। विशेषकर मगध, वज्जि, कोसल शाक्य आदि के राजतन्त्रों में आपस में तनातनी चला करती थी। लिच्छवियों का गणराज्य इस काल का अत्यन्त ही वैभवशाली एवं धन-सम्पन्न राज्य था। इसलिए भी मगध के साम्राज्य- लोलुप सम्राटों की उस पर निगाह थी। लिच्छवियों का राज्य मगध के पड़ोस में था। वह भी एक प्रमुख कारण था।

वैसे भी गणराज्यों की अपनी आन्तरिक कमजोरियाँ थीं। ये आन्तरिक कमजोरियाँ ही उनके पतन का भी कारण बनीं। गणतन्त्रों के शत्रुओं ने उनकी कमजोरियों का लाभ उठाने का भरपूर प्रयत्न किया। उनके पतन के निम्नलिखित कारण

प्राचीन भारतीय इतिहास

थे—

(1) गणराज्यों में आपसी एकता का अभाव था। उनमें आपसी ईर्ष्या-द्वेष रहता था।

(2) संधागारों के प्रतिनिधि सदस्यों में भी आपसी दलबन्दी थी। उनमें परस्पर सहयोग और विश्वास की कमी थी। वे भी अपनी ईर्ष्या-द्वेष से पीड़ित थे। (3) गुटबन्दी के कारण बहुधा विभिन्न दलों के नेता गणराज्य के हितों को भूल जाते थे। वे अपने दलों के हित साधन के चक्कर में राष्ट्रीय हितों को नुकसान पहुँचाने में भी नहीं हिचकते थे। (4) गणराज्य के कुछ नागरिक साधारण एवं व्यक्तिगत लाभ के लिए देशद्रोह तक कर देते थे। वं शत्रुओं से पैसा, धन-सम्पत्ति लेकर उन्हें गणराज्य के गुप्त भेद देने से भी नहीं हिचकते थे। (5) मगध जैसे शक्तिशाली शत्रु देशों ने उनमें फूट डालने का सदैव प्रयत्न किया। उस चाल में वे सफल भी हुए। चाणक्य ने भी गणराज्यों को जीतने के लिए फूट डालने की शिक्षा दी है। बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि मगध नरेश अजातशत्रु ने महात्मा बुद्ध से वैशाली के लिच्छवियों की सफलता के कारण पूछे थे और फिर उनमें फूट डलवाकर उन्हें पराजित किया था। (6) मगध जैसे राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति के कारण अधिक शक्तिशाली बन गए थे। राजतन्त्रात्मक पद्धति में शीघ्र निर्णय लिया जा सकता था। परन्तु गणतन्त्रात्मक शासन पद्धति में प्रत्येक विषय पर पहले काफी बहस होती थी और उसके बाद निर्णय लिया जाता था। इससे शत्रुपक्ष को अपनी योजना में परिवर्तन अथवा संशोधन करने का अवसर मिल जाता था। (7) गोपनीयता गणराज्यों के लिए सम्भव नहीं थी। कोई भी गोपनीय निर्णय अधिक समय तक गोपनीय नहीं रह पाता था और शत्रु इससे लाभ उठा लेते थे। (8) मगध ने वज्जि संघ तथा अन्य गणराज्यों में अपने गुप्तचरों का जाल बिछा रखा था और आक्रमण करने से पूर्व सभी महत्वपूर्ण सामरिक तथ्य एकत्र कर लिए जाते थे।

उपर्युक्त सभी कारणों के सामूहिक परिणामस्वरूप गणराज्यों का पतन हुआ। इनमें से कुछ के पतन के लिए यूनानी शासक सिकन्दर का आक्रमण भी उत्तरदायी था। सीमान्त प्रान्त के गणराज्यों ने यूनानी सेना से जबरदस्त टक्कर ली। इस भीषण संघर्ष ने उनकी सैनिक शक्ति को इतना कमजोर बना दिया कि जब चन्द्रगुप्त ने मौर्य साम्राज्य का विस्तार किया तो वे बड़ी आसानी से अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे।

मगध साम्राज्य का अभ्युदय

प्राचीन भारतीय इतिहास में मगध साम्राज्य का महत्वपूर्ण स्थान है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व भारत में महाजनपदों का युग था और मगध भारत का एक प्रमुख जनपद था। उस युग में भारत में किसी का एकछत्र राज्य नहीं था तथा भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभाजित था। छठी शताब्दी ईसा पूर्व के बाद भारत में राजतन्त्रमूलक साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के उत्कर्ष का काल प्रारम्भ हुआ। उत्तरी भारत में एकछत्र

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

...

1107

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

7

राजनीतिक साम्राज्य एवं वर्चस्व स्थापित करने के लिए चार महाजनपदों मगध, कोसल, वत्स एवं अवन्ति के मध्य भीषण संघर्ष हुआ, जिसमें मगध अन्य शक्तियों को परास्त कर एक विशाल साम्राज्य को स्थापित करने में सफल हुआ। इस प्रकार मगध के शासकों ने सर्वप्रथम अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का परिचय दिया। मौर्य काल में तो मगध साम्राज्य अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर था। उस काल में लगभग सम्पूर्ण भारत मगध साम्राज्य का अंग बन गया था। मगध साम्राज्य के उत्कर्ष का श्रेय मात्र चन्द्रगुप्त मौर्य को ही नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः मगध में मौर्य वंश से पूर्व हर्यक, शिशुनाग और नन्दवंश के शासकों ने मगध का राज्य विस्तार कर उसे एक शक्तिशाली राज्य बना दिया था और मौर्य ने उसे शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

—=

मगध का आरम्भिक इतिहास प्राचीन मगध का भौगोलिक विस्तार आधुनिक बिहार के पटना एवं गया जिलों तक था। मगध राज्य के उत्तर में गंगा नदी, पूर्व में चम्पा नदी, पश्चिम में सोन नदी तथा दक्षिण में विन्ध्याचल की पहाड़ियाँ थीं। मगध की आरम्भिक राजधानी गिरिव्रज (या राजग्रह) थी जो गया के निकट स्थित पहाड़ियों पर बसी हुई थी। बौद्ध ग्रन्थों में इसे विम्बिसारपुरी कहा गया है।

मगध का सर्वप्रथम उल्लेख, अथर्ववेद में मिलता है। अर्थ संहिता में ब्राह्मण सीमा से बाहर वाले व्रात्य को मगधा से सम्बन्धित कहा गया है। अथर्ववेद, यजुर्वेद आदि रचनाओं में मगधवासियों के प्रति तिरस्कार का भाव देखने को मिलता है, क्योंकि वे आर्य होते हुए भी ब्राह्मण-संस्कृति की परिधि से बाहर थे और इसलिए जाति – भ्रष्ट समझे जाते थे। वैदिक साहित्य में मगध के एक ही राजा के नाम का उल्लेख मिलता – प्रमगन्ध। इसके राज्य-काल की किसी घटना की जानकारी नहीं मिलती। उत्तरवैदिक काल में मगध कोई बहुत महत्वपूर्ण राज्य नहीं रहा। महाभारत काल में मगध पर वृहद्रथ वंश का शासन था। मगध के इस आदिवंश की स्थापना वृहद्रथ ने की थी। महाभारत एवं पुराणों से ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक काल में चेदिराज बसु के पुत्र वृहद्रथ ने गिरिव्रज को राजधानी बनाकर मगध में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था। उसी वंश में जरासन्ध हुआ था। जरासन्ध अत्यन्त ही पराक्रमी एवं साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का शासक था। हरिवंश पुराण से ज्ञात होता है कि जरासन्ध ने काशी, कोसल,

प्राचीन भारतीय इतिहास

चेदि, मालवा, विदेह, अंग, बंग, कलिंग, पाण्ड्य, सौबीर, भद्र, कश्मीर और गान्धार के राजाओं को परास्त किया था। जरासन्ध की मृत्यु के बाद मगध पतन की ओर अग्रसर हो गया, किन्तु फिर भी कुछ समय तक वृहद्रथ वंश के अनेक शासक मगध पर शासन करते रहे। जरासन्ध के बाद उसका पुत्र सहदेव गद्दी पर बैठा, जो पाण्डवों का मित्र था। सहदेव का बाइसवाँ वंशज तथा वृहद्रथ वंश का अन्तिम शासक रिपुंजय था। पुराणों के अनुसार रिपुंजय को उसके मन्त्री पुलिक ने मारकर अपने पुत्र को मगध की गद्दी पर बैठाया, किन्तु कुछ समय पश्चात् ही महिय नामक एक सामन्त ने उसकी हत्या कर अपने पुत्र बिम्बिसार को मगध की राजगद्दी पर बैठा दिया। बिम्बिसार, हर्यक वंश का संस्थापक था, जो महात्मा बुद्ध का समकालीन था। तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालते हुए डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी ने लिखा है, मगध के राजवंशों का आरम्भिक इतिहास अन्धकार में छिपा है, कभी कभी हमें योद्धाओं और राजनीति विशारदों की झलक भर मिल जाती इसमें भी कई तो नितान्त पौराणिक हैं और कुछ पौराणिक से कुछ अधिक विश्वस्त प्रतीत होते हैं। मगध का प्रारम्भिक इतिहास हर्यक वंश के प्रसिद्ध राजा बिम्बिसार से आरम्भ होता है। मगध को इसने दिग्विजय और उत्कर्ष के जिस मार्ग पर अग्रसर किया, वह तभी समाप्त हुआ जब कलिंग विजय के उपरान्त अशोक ने अपनी तलवार को म्यान में शान्ति दी।

१

□

कृ

मगध के उत्कर्ष के कारण महात्मा गौतम बुद्ध के समय प्रमुख रूप से चार राजतन्त्र थे—मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति। इन चारों में से केवल मगध का ही उत्कर्ष हो सका। इसका कारण यह था कि यहाँ के योग्य और प्रतापी शासकों के अतिरिक्त तत्कालीन परिस्थितियों ने भी इसके उत्कर्ष में योगदान दिया। मगध उत्तर भारत के तटवर्ती मैदानों के ऊपरी व निचले भागों के मध्य स्थित होने के कारण अधिक सुरक्षित था। दुर्गम पहाड़ियों में स्थित होने के कारण शत्रुओं का वहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन था। इसके अतिरिक्त मगध के निकटवर्ती क्षेत्रों में लोहे की खानें उपलब्ध हो जाने से विभिन्न प्रकार के शस्त्र बनाकर आर्यों ने दुर्गम जंगलों को साफ किया और नये-नये उद्योग स्थापित हुए। नदी के कारण मगध के व्यापार में भी वृद्धि हुई, जिससे मगध के आर्थिक महत्त्व में भी वृद्धि हुई। मगध की भूमि अत्यधिक उपजाऊ

होने के कारण वह एक सम्पन्न राज्य था। मगध के निकटवर्ती वनों में हाथियों का बाहुल्य था तथा प्राचीनकाल में हस्ति सेना अत्यधिक शक्तिशाली थी किन्तु किसी राज्य के उत्कर्ष में उसके निवासियों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। मगध में आर्य और अनार्य जातियों का मिश्रण था, जिससे एक नई संस्कृति का जन्म हुआ, उसने मगध के लोगों में नई चेतना एवं स्फूर्ति उत्पन्न की। मगध की तत्कालीन प्रजा की यह विशेषता थी कि वह अपने शासकों को अपना सर्वस्व अर्पित कर देती थी। इसके अतिरिक्त मगध के लोग स्वतन्त्र चिन्तन एवं अन्वेषण

के प्रेमी थे, उद्यमी एवं उत्साही थे और प्रायः हर क्षेत्र में यथासम्भव नवीनता के पोषक थे। देश धन-धान्य से परिपूर्ण था और उसके सार्थवाह दूर-दूर के देशों की व्यापारिक यात्राएँ किया करते थे। मगध के लोगों के व्यवहार में लचीलापन था। ब्राह्मण लोग शूद्रों का सम्पर्क स्वीकार कर लेते थे तथा राजा भी अपने राजमहलों में शूद्र कन्याओं को स्थान दे देते थे। यहाँ के लोगों ने ब्राह्मण की रुढ़िवादिता एवं अन्धविश्वासों का खण्डन कर समाज में नई धार्मिक चेतना उत्पन्न करने वाले महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध का स्वागत किया। सामाजिक व्यवहार में इस प्रकार का लचीलापन उनके भावी विकास का सूचक था। आवश्यकता थी, केवल योग्य नेतृत्व की। मगध के राजा योग्य एवं कुशल प्रशासक थे। वे ऐसी व्यावहारिक प्रशासन पद्धति का अनुसरण करते थे जिसमें राजा, मन्त्री व गाँवों के मुखियाओं का समान रूप से हिस्सा होता था। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में आये विदेशी यात्रियों ने मगध के तत्कालीन शासकों की न्याय बुद्धि, आतिथ्य भावना, दानशीलता तथा जनहित की भावना का उल्लेख किया है। तत्कालीन मगध के शासक – बिम्बिसार, अजातशत्रु, शिशुनाग, महापद्मनन्द एवं चन्द्रगुप्त मौर्य एक सुसंगठित वृहत्तर भारत की महत्वाकांक्षाओं को कार्यान्वित करने का निरन्तर प्रयास करते रहते थे। वे सम्पूर्ण भारत को एक राजनीति सूत्र में बाँधने के उद्देश्य में सफल हुए तथा मगध को उत्तरी भारत की एक प्रमुख शक्ति बना दिया। एक छोटे से राज्य से मगध एक विशाल साम्राज्य बन गया। मगध साम्राज्य के अभ्युदय के तीन चरण हैं हर्षक वंश (545 ई. पू.), शिशुनाग वंश (412 ई. पू. से 344 ई. पू.) और नन्द वंश (344 ई. पू. से 322 ई. पू.)। हर्षक वंश – बिम्बिसार महात्मा बुद्ध का समकालीन था। वह कौन और किस वंश का था, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद था। पुराणों के अनुसार ईसा पूर्व छठी शताब्दी में मगध के वृहद्रथ वंश का अन्त हो गया और शिशुनाग नामक राजा ने एक नये राजवंश की प्रतिष्ठापना की। बिम्बिसार इस वंश का पाँचवाँ राजा था, परन्तु बौद्ध साहित्य (महावंश और दीपवंश) के अनुसार बिम्बिसार का शिशुनाग वंश से कोई सम्बन्ध नहीं था। बिम्बिसार हर्षक वंश का था। हर्षक वंश के पतन के बाद शिशुनाग नामक सरदार ने अपने वंश की स्थापना की थी। इस प्रकार, ब्राह्मण ग्रन्थों और बौद्ध ग्रन्थों में मतभेद है। पुराण शिशुनाग वंश की स्थापना पहले बतलाते हैं जबकि बौद्ध ग्रन्थ हर्षक कुल की स्थापना पहले बतलाते हैं।

र-

अधिकांश विद्वानों का मत है कि पुराण कथित वंशावली दोषपूर्ण है। वे दूसरे मत को अधिक सही मानते हैं। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(1) पुराणों में लिखा है कि शिशुनाग ही प्रद्योतों के ऐश्वर्य को नष्ट कर राजा होगा। बिम्बिसार और अवन्ति का राजा चण्डप्रद्योत समकालीन थे तथा चन्द्रप्रद्योग के समय अवन्ति का ऐश्वर्य सर्वाधिक था। स्वयं मगध के राजा उसकी शक्ति से आतंकित रहते थे। पुराणों के अनुसार चण्डप्रद्योत के बाद पालक, आर्यक, अवन्तिवर्धन और विशाखयुप नामक और राजा अवन्ति के सिंघासन पर बैठे

प्राचीन भारतीय इतिहास

थे। इससे स्पष्ट है कि बिम्बिसार के बाद भी अवन्ति के प्रद्योतों की सत्ता कायम रही थी। अतः शिशुनाग जिसने निस्सन्देह अवन्ति के राज्य को मगध साम्राज्य में मिलाया था, वह बिम्बिसार के पहले मगध का राजा कैसे हो सकता है? वह निश्चय ही बाद में

हुआ होगा।

(2) वैशाली को मगध साम्राज्य में मिलाने का श्रेय बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु को है। महालंकार वृत्यु नामक एक पालि ग्रन्थ से विदित होता है कि शिशुनाग ने राजगृह के स्थान पर वैशाली को मगध साम्राज्य की राजधानी बनाया। इसके बाद राजगृह का गौरव लुप्त हो गया। इससे स्पष्ट है कि शिशुनाग अजातशत्रु के बाद भी हुआ होगा, क्योंकि बिम्बिसार और अजात शत्रु के समय में राजगृह उन्नति की चरम सीमा पर था। तब फिर बिम्बिसार शिशुनाग वंश का पाँचवाँ शासक कैसे हो सकता

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

19

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

इमपर-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

110

है? वह निश्चय ही शिशुनाग वंश के पहले हुआ था।

(3) शिशुनाग के पुत्र कालाशोक (काकवर्ण) ने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया था, परन्तु पाटलिपुत्र की सबसे पहले स्थापना अजातशत्रु के पुत्र उदायि ने की थी। अतः कालाशोक और उसका पिता शिशुनाग निश्चय ही उदायि के बाद हुए होंगे। उदायि बिम्बिसार का पोता था तब भला शिशुनाग बिम्बिसार के पहले कैसे हो सकता है। इसके अलावा, बिम्बिसार के समय में पाटलिपुत्र का अस्तित्व ही नहीं था। स्पष्ट है कि पुराणों का वर्णन दोषपूर्ण है और बिम्बिसार हर्यक वंश का था, न कि शिशुनाग वंश का।

बिम्बिसार बिम्बिसार के प्रारम्भिक जीवन के विषय में हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। हमें उसके माता-पिता का सही नाम भी ज्ञात नहीं है। बौद्ध ग्रन्थों में उसे श्सेनीयश कहा गया है। इस आधार पर डॉ. डी. आर. भण्डारकर का मत है कि सेनापति पुष्यमित्र शुंग की भाँति बिम्बिसार भी मगध शक्ति का सेनानायक रहा होगा और बाद में वहाँ के राजा को हटाकर अपनी स्वतन्त्र सच्चा कायम कर ली होगी अर्थात् वे बिम्बिसार को ही हर्यक राजवंश का संस्थापक मानते हैं। परन्तु बौद्ध ग्रन्थ श्महावंशश के अनुसार जब बिम्बिसार पन्द्रह वर्ष का था तभी उसका राज्याभिषेक उसके पिता द्वारा सम्पन्न हुआ था। बिम्बिसार के पिता के नाम पर भी मतभेद है। पुराण में उसका नाम हेमजित क्षेत्रीजा मिलता है तिब्बती ग्रन्थों में उसका नाम महापद्म है। टर्नर महोदय के अनुसार उसके पिता का

नाम भद्विय अथवा भहिक था। कुछ भी हो, मगध पर बिम्बिसार का शासन एक नये युग का प्रारम्भ था। बिम्बिसार ने मगध महाजनपद को एक साम्राज्य में परिणत करने का विचार और तदनुसार कार्य करना भी प्रारम्भ किया।

साम्राज्य निर्माण के लिए यह आवश्यक था कि बिम्बिसार अपनी शक्ति को भली-भाँति संगठित करें। निर्बल मगध को पड़ोस के शक्तिशाली राज्यों—कोशल, वत्स तथा अवन्ति की विस्तारकारिणी उग्र नीति से सुरक्षित रखे क्योंकि जब बिम्बिसार मगध का राजा बना था, उस समय मगध में पटना, शाहाबाद और गया के भूभाग सम्मिलित थे। दक्षिणी बिहार का पूर्वी भाग भी मगध में सम्मिलित नहीं था। मगध की पुरानी राजधानी गिरिब्रज थी, जो वसुमति और बृहद्रथपुर के नाम से भी प्रसिद्ध थी। तत्कालीन मगध राज्य को साम्राज्य में परिवर्तित करने का कार्य बिम्बिसार ने किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह एक दुष्कर कार्य था।

कृ

वैवाहिक सम्बन्ध

साम्राज्य विस्तार की आकांक्षा रखने वाला बिम्बिसार एक विशाल सेनापति के साथ—साथ चतुर कूटनीतिज्ञ भी था। राज्यों के आपसी संघर्षों के उस युग में बिम्बिसार ने वैवाहिक सम्बन्ध की कूटनीति द्वारा अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने का निश्चय किया। उसने निम्न सम्बन्ध कायम किए—

(1) कोशल नरेश प्रसेनजित की बहन कोशल देवी के साथ विवाह किया। इस वैवाहिक सम्बन्ध से मगध को कोशल जैसे शक्तिशाली राज्य की मित्रता प्राप्त हो गई। इसके अलावा, विवाह के अवसर पर प्रसेनजित ने एक लाख वार्षिक आय का काशी क्षेत्र दहेज में प्रदान किया था। इससे मगध राज्य के क्षेत्रफल में वृद्धि हुई।

(2) वज्जि संघ में वैशाली के लिच्छवियों की प्रधानता थी। बिम्बिसार के समय में लिच्छवियों का सरदार राजा चेटक था। बिम्बिसार ने राजा चेटक की सबसे छोटी लड़की चेल्लना (छलना) के साथ विवाह किया। इस वैवाहिक सम्बन्ध से बिम्बिसार को तत्कालीन भारत के विख्यात युद्धप्रिय लिच्छवियों की मैत्री उपलब्ध हो गई।

(3) पंजाब में स्थित मद्र जनपद की राजकन्या के साथ उसका विवाह भी राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था।

उपर्युक्त विवाहों के अलावा कुछ अन्य सम्बन्धों की जानकारी भी मिलती है। बौद्ध साक्ष्यों से विदित होता है कि उसने क्षेमा नामक राजकन्या से भी विवाह किया था। क्षेमा बाद में बौद्ध भिक्षुणी हो गई थी। जैन साहित्य से उसकी एक अन्य रानी सुनन्दा अथवा नन्दा की जानकारी मिलती है, परन्तु विद्वानों का मत है कि सुनन्दा और चेल्लना एक ही स्त्री के दो नाम थे। इसी प्रकार, माद्री और क्षेमा भी एक ही स्त्री

के दो नाम थे। फिर भी इस बात की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता

प्राचीन भारतीय इतिहास

कि उसने तत्कालीन कुछ अन्य राजवंशों के साथ भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए हों।

—

साम्राज्य विस्तार मगध साम्राज्य के विस्तार की दिशा में पहला कदम काशी राज्य की प्राप्ति थी। जैसा कि बताया जा चुका है बिम्बिसार को कोशल देवी के साथ विवाह करने पर काशी दहेज में मिला था। दूसरा महत्वपूर्ण कदम अंग राज्य की विजय थी। अंग विजय बिम्बिसार के शासन की प्रमुख घटना थी। जनश्रुति के अनुसार अंग और मगध के आपसी सम्बन्ध बहुत पहले से खराब थे और अंग वालों ने बिम्बिसार के पिता को पराजित किया। बिम्बिसार ने अपने पिता की पराजय का बदला लेने का निश्चय किया। अंग पर आक्रमण करने से पूर्व बिम्बिसार ने वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा अपनी स्थिति को मजबूत बना लिया था, उस समय अंग पर ब्रह्मदत्त नामक राजा का शासन था। बिम्बिसार ने अंग पर आक्रमण कर

दिया। युद्ध में ब्रह्मदत्त मारा गया। अंग की सेना परास्त हो गई बिम्बिसार ने अंग राज्य को मगध राज्य में सम्मिलित कर लिया और अपने पुत्र अजातशत्रु को अंग का उपराजा नियुक्त किया। इस प्रकार, बिम्बिसार को मगध राज्य में काशी और अंग को मिलाने का श्रेय प्राप्त हुआ। इस समय उसका राज्य 300 योजन तक फैला हुआ था जिसमें लगभग 80,000 गाँव सम्मिलित थे।

मगध की प्राचीन राजधानी गिरिव्रज अथवा कुशाग्रपुर थी। इसकी उत्तरी सीमा वज्जि संघ राज्य से मिलती थी। अतः मगध की राजधानी को हर समय लिच्छवियों के आक्रमण का भय बना रहता था। अतः बिम्बिसार ने मगध के लिए नई राजधानी की बात सोची और उसने राजगृह नामक स्थान को अपने साम्राज्य की राजधानी बनाया। राजगृह वज्जि संघ राज्य की सीमा से काफी दूर था। ह्वेनसांग भी इस कथन की पुष्टि करता है। परन्तु फाह्यान ने लिखा है कि राजगृह की स्थापना अजातशत्रु ने की थी।

कृ

शासन प्रबन्ध बिम्बिसार की शासन व्यवस्था पर बौद्ध ग्रन्थ पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उनसे विदित होता है कि बिम्बिसार एक कुशल प्रकासक भी था। उसका शासन सुव्यवस्थित था। शासन—प्रबन्ध के मामले में वह काफी कठोर था। वह अपने मंत्रियों तथा बड़े-बड़े अधिकारियों पर कठिन अनुशासन और कड़ाई का व्यवहार करता था। सम्पूर्ण राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी राजा ही था तथापि प्रान्तों और ग्रामों को स्थानीय स्वशासन के पर्याप्त अधिकार थे। गाँवों में ग्राम सभायें ही वहाँ का शासन चलाती थीं। ग्राम का मुखिया ग्रामिक कहलाता था। महावग्ग नामक बौद्ध ग्रन्थ 70,000 गाँवों के मुखियाओं की महती सभा का उल्लेख करता है। सम्भव है कि बिम्बिसार की राजसभा में इन 80,000 मुखियाओं को स्थान प्रदान किया गया हो। प्रान्तों का शासन उपराजा के हाथ में था। उपराजा की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। उपराज्य को प्रान्त के मुख्य नगर में अपना मुख्यालय रखना पड़ता था। उसे प्रान्तीय शासन में काफी

स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

शासन कार्य में राजा की सहायता के लिए बहुत से महामात्र होते थे। सामान्यतया उच्च कुलीन लोगों को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। इनकी तीन श्रेणियाँ थी – सब्बात्थक, वोहारिक और सेनानायक। राज्य के सामान्य प्रशासन के पदाधिकारियों को सब्बात्थक कहा जाता था। न्याय का काम करने वाले अधिकारियों को वोहारिक कहा जाता था। सेना का संचालन करने वाले सेनानायक कहलाते थे। उस संघर्षमय काल में सेना का महत्त्व बहुत था। अतः सेना के प्रधान सेनापति का पद किसी विश्वस्त एवं अनुभवी व्यक्ति को सौंपा जाता था। उसकी सहायता के लिए अन्य सेनानायकों को नियुक्त किया जाता था। बिम्बिसार का दण्ड विधान काफी कठोर था। कारावास के अतिरिक्त नाना प्रकार के शारीरिक दण्ड भी दिए जाते थे। इनमें कोड़े लगाना, जीभ खींचना, पसली तोड़ना, तपे लोहे से दाग करना और सिर काट देना मुख्य था। राजा को कुमंत्रणा देने वाले बड़े अधिकारियों को भी कठोर दण्ड दिया जाता था। परन्तु कुमंत्रणा न देने वाले तथा ईमानदारी एवं निष्ठा के साथ सेवा करने वालों को पुरस्कृत भी किया जाता था।

बिम्बिसार ने अपने राज्य में विद्या एवं कला को प्रोत्साहन देने की नीति अपनाकर मगध को सभ्यता एवं संस्कृति का केन्द्र भी बना दिया। उस युग का प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक उसी के राज्याश्रय में था। इसी प्रकार प्रसिद्ध वास्तुकार महागोविन्द भी उसके राज दरबार की शोभा था।

—

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

स्व-प्रगति का परीक्षण करें रु

1. गणराज्यों की शासन प्रणाली से आप क्या समझते हैं?
2. गणराज्यों के पतन के कोई पाँच कारण बताएँ

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

112

बिम्बिसार एक ऐसे युग में पैदा हुआ था जिस युग में कई धार्मिक मतों और कृ

बिम्बिसार का धर्म बिम्बिसार एक ऐसे सम्प्रदायों का जन्म हो चुका था। प्राचीन वैदिक धर्म लड़खड़ा रहा था। भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध—दोनों ही



अपना—अपना धर्म प्रचार कर रहे थे। बिम्बिसार ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई, उसने दोनों ही नवीन धर्मों को आदर की दृष्टि से देखा। उसने अन्य सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखा और उनका आदर किया। बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है कि बिम्बिसार पहले वैदिक धर्म का अनुयायी था, परन्तु जब महात्मा बुद्ध पहली बार राजगृह आये तो बिम्बिसार उनके व्यक्तित्व से प्रभावित अवश्य हुआ था, परन्तु उसने तत्काल बौद्ध धर्म स्वीकार नहीं किया। बिम्बिसार के पुरोहित महाकश्यप नामक विद्वान् ब्राह्मण थे। सारे मगध में उनकी प्रतिष्ठा थी। महाकश्यप और महात्मा बुद्ध में वाद—विवाद हुआ, जिसमें परास्त होने पर महाकश्यप अपने 500 शिष्यों सहित बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया। इसके बाद जब बुद्ध पुनः मगध में आये तो बिम्बिसार ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और जीवनपर्यन्त बौद्ध धर्म के उत्थान में लगा रहा। बिम्बिसार ने अपने चिकित्सक जीवक की सेवाएँ भी बौद्ध संघ को उपलब्ध करा दीं। कहा जाता है कि बिम्बिसार ने बौद्ध संघ को काफी धन दान में दिया तथा बौद्ध भिक्षुओं के लिए कई विहार

बनवाए।

—

परन्तु जैन ग्रन्थों से विदित होता है कि सम्राट बिम्बिसार जैन धर्म में आस्था रखते थे। महावीर स्वामी का बिम्बिसार से पारिवारिक सम्बन्ध भी था। बिम्बिसार की रानी चल्लना रिश्ते में महावीर की बहन लगती थी। सम्भव है कि चल्लना के कारण बिम्बिसार पर जैन धर्म का प्रभाव पड़ा हो। उत्तराध्ययन सूत्र नामक जैन ग्रन्थ में महावीर स्वामी तथा बिम्बिसार की भेंट का भी उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि बिम्बिसार ने एक आदर्श भारतीय शासक की भाँति अपने राज्य में प्रचलित सभी धर्मों का समान रूप से आदर किया होगा।

कृ

बिम्बिसार के अन्तिम दिन बुद्धघोष के अनुसार सम्राट बिम्बिसार के अन्तिम दिन शोचनीय अवस्था में व्यतीत हुए। बिम्बिसार को अपने ही पुत्र अजातशत्रु के हाथों मरना पड़ा। बुद्धघोष के कथन की पुष्टि एक अन्य बौद्ध ग्रन्थ विनय—पिटक से भी होती है। बौद्ध ग्रन्थों से यह भी विदित होता है कि अपने चचेरे भाई चाचा देवदत्त के उकसाने पर अजातशत्रु ने अपने पिता को बन्दी बना लिया और थोड़े दिनों बाद उसका भोजन भी बन्द करवा दिया। कारागार में ही अन्न—जल बिना बिम्बिसार की मृत्यु हो गईय बौद्ध ग्रन्थों में अजातशत्रु द्वारा अपने पिता को दी गई यातनाओं का अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण भी मिलता है। जैन ग्रन्थों से पता चलता है कि बिम्बिसार ने कारावास में आत्महत्या कर ली। महात्मा बुद्ध द्वारा अजातशत्रु को दिए गए उपदेशों से पता चलता है कि अजातशत्रु पितृघाती था। राजनीति के क्षेत्र में इस प्रकार की घटना कोई नई बात न थी। विद्वानों का मानना है कि चूँकि बिम्बिसार दर्शक नामक पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था इसलिए राज्य के लोभी अजातशत्रु ने पिता को मरवाकर सिंहासन प्राप्त कर लिया।

बिम्बिसार ने कितने वर्ष शासन किया, इस प्रश्न पर भी मतभेद है। महावंश के अनुसार बिम्बिसार ने 52 वर्ष शासन किया था जबकि पुराणों के अनुसार उसने केवल 28 वर्ष शासन किया। डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय ने इसका समाधान इस प्रकार से किया है— बौद्ध ग्रन्थ दर्शक को बिम्बिसार का उत्तराधिकारी नहीं मानते। वे सीधे अजातशत्रु को उसका उत्तराधिकारी मानते हैं। इसके विपरीत पुराण तथा भास के स्वप्नवासवदत्ता में दर्शक को बिम्बिसार का उत्तराधिकारी माना गया है। अतः इस बात की संभावना है कि बिम्बिसार के शासन के अन्तिम 24 वर्षों में राज्य का सक्रिय भार दर्शक के नाम लिख दिया गया और शेष 28 वर्ष बिम्बिसार के नाम द्य सामान्यतः बिम्बिसार का शासनकाल 543 ई. पु. से लेकर 491 ई. पु. के आस-पास माना गया है।

सम्राट् अजातशत्रु (492 ई. पू. से 459 ई. पू. तक)

अजातशत्रु की माता का क्या नाम था, इस प्रश्न पर मतभेद है। अधिकांश विद्वान उसे लिच्छवी रानी चेल्लना का पुत्र मानते हैं। विदेह के शासक होने के कारण लिच्छवियों को विदेह भी कहा जाता था। अजातशत्रु के लिए वैदेही पुत्र का प्रयोग किया गया है, क्योंकि चेल्लना विदेह – राज की पुत्री थी। जैन साहित्य भी इस कथन की पुष्टि करता है। परन्तु संयुक्त निकाय ग्रन्थ में उसे प्रसेनजित की बहन कोशल देवी का पुत्र बताया गया है। जैन साहित्य में अजातशत्रु को कुणिक नाम से भी पुकारा गया है। साम्राज्य विस्तार— अजातशत्रु भी अपने पिता की भाँति साम्राज्यवादी था और मगध के साम्राज्य का प्रसार करना चाहता था। इसके लिए उसने अपने शासनकाल में तीन राज्यों – कोशल, वज्जि संघ और अवन्ति से युद्ध लड़ने पड़े। सर्वप्रथम उसे कोशल से युद्ध लड़ना पड़ा। इस युद्ध का विस्तृत विवरण बौद्ध ग्रन्थों में दिया गया है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार बिम्बिसार की दुःखद मृत्यु के बाद उसकी रानी कोशल देवी भी दुःखातिरेक से मर गई इस पर कोशल नरेश प्रसेनजित ने अपनी बहन के दहेज में दिया हुआ काशी का क्षेत्र वापस ले लिया क्योंकि अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार को मारकर उसके ससुराल से प्राप्त जायदाद का स्वामी बनने का अधिकार खो दिया था। परन्तु संघर्ष का मूल कारण मगध की बढ़ती हुई शक्ति को सीमित करना था। मगध कोशल का पड़ोसी राज्य था। अतः कोशल मगध की बढ़ती हुई शक्ति को कैसे सहन कर सकता था। काशी के प्रश्न पर दोनों राज्यों में भयंकर संघर्ष छिड़ गया जो काफी समय तक चलता रहा। दोनों ही पक्ष एकसमान थे। अतः कभी प्रसेनजित को सफलता मिलती, तो कभी अजातशत्रु को। अन्त में दोनों पक्षों में सुलह हो गईय प्रसेनजित ने अपनी पुत्री बजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया और काशी का क्षेत्र अपनी पुत्री को पुनः दहेज में दे दिया। इस प्रकार, काशी पर मगध का स्थायी अधिकार स्थापित हो गया।

अजातशत्रु का दूसरा युद्ध वैशाली के लिच्छवियों से हुआ। बौद्ध ग्रन्थों— महापरिनिर्वाण – सुत्र और महावग्ग में तथा जैन निरयावली –सूत्र में इस युद्ध का विस्तृत विवरण मिलता है। अजातशत्रु और लिच्छवियों के इस युद्ध के



कारण भिन्न-भिन्न रूप से विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं। जैन साहित्य के अनुसार बिम्बिसार की लिच्छवी रानी चेल्लना से दो पुत्र उत्पन्न हुए। बिम्बिसार ने अपने इन पुत्रों को अपना प्रसिद्ध हाथी सेचतक और अपना एक बहुमूल्य अठारह लरों (लड़ियों) वाला रत्नहार दिया था। राजा बनते ही अजातशत्रु ने अपने सौतेले भाइयों से इन उपहारों को वापस माँगा। उन्होंने उपहार लौने से मना कर दिया और अपनी रक्षा के लिए अपने नाना चेटक के पास वापस वैशाली चले गए। क्रोधित अजातशत्रु ने वैशाली पर आक्रमण कर दिया। बौद्ध धर्म ग्रन्थों में युद्ध का कारण दूसरा ही दिया गया है। उनके अनुसार ममय और वज्जि संघ के मध्य में गंगा नदी बहती थी। वहाँ पर बहुमूल्य रत्नों का भण्डार पाया गया जिस पर दोनों का ही समान अधिकार था, परन्तु बहुत दिनों वज्जि संघ मगध को इनका उपयोग न करने दे रहा था। इस पर अजातशत्रु ने लिच्छवियों का विनाश करने का निश्चय किया।

युद्ध का कारण चाहे जो रहा हो, युद्ध भयंकर रहा। अजातशत्रु ने सैनिक शक्ति के साथ-साथ कूटनीति एवं फूटनीति का सहारा लिया। उसके महामन्त्री वत्सकार के प्रयत्नों से लिच्छवियों में आपसी फूट पड़ गई और वे संगठित रूप से अजातशत्रु का सामना न कर सके। परिणामस्वरूप लिच्छवियों के राज्य पर अजातशत्रु का अधिकार हो गया और उसे मगध साम्राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार प्राचीन भारत के एक प्रमुख गणराज्य का अन्त हो गया, परन्तु इससे मगध साम्राज्य की नींव पक्की हो गई।

अजातशत्रु के जीवनकाल में मगध और अवन्ति के मध्य सम्मुख युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु दोनों राज्यों के मध्य युद्ध की संभावना बढ़ गई थीय इसके प्रमाण अवश्य मिलते हैं। मज्झिम-निकाय ग्रन्थ में उल्लेख है कि अवन्तिराज प्रद्योत के आक्रमण से मगध राज्य को बचाने के लिए अजातशत्रु ने अपनी राजधरानी उनी राजगृह के साथ-साथ पश्चिमी सीमा का दुर्गीकरण करवाया था। विद्वानों की मान्यता है कि अजातशत्रु ने जिस ढंग से अपने पिता को सिंहासनच्युत एवं मार कर सिंहासन हथियाया था, उससे अवन्तिराज प्रद्योत को भारी धक्का पहुँचा था और उसने अजातशत्रु को दण्ड देने के लिए मगध पर आक्रमण की तैयारी शुरू कर दी थी। कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि भारत में एकछत्र राजा की उपाधि के लिए दोनों में संघ आवश्यक था। परन्तु इस संघर्ष के पूर्व ही अजातशत्रु की मृत्यु हो गई। अजातशत्रु के उत्तराधि कारी को अवन्ति से निपटना पड़ा।

=

मृत्यु पुराणों के अनुसार अजातशत्रु ने 25 वर्ष तक शासन किया था, परन्तु ग्रन्थों के अनुसार उसने 32 वर्ष तक शासन किया। बौद्ध ग्रन्थ महावंश के अनुसार अजातशत्रु को उसके पुत्र उदायि ने मार डाला था,

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिन्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

114

अर्थात् उदायि पर पितृघात का आरोप लगाया गया है। परन्तु डॉ. जायसवाल तथा अन्य विद्वान् बौद्ध साहित्य के इस आरोप का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि गार्गी संहिता में उदायि के लिए श्रद्धामात्रा शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐसा व्यक्ति पितृघाती नहीं हो सकता। फिर, बौद्ध ग्रन्थों के कथन की पुष्टि अन्य स्रोतों से भी नहीं होती।

अजातशत्रु का धर्म जैन ग्रन्थों से विदित होता है कि प्रारम्भ में अजातशत्रु का झुकाव जैन-धर्म की तरफ रहा, इसका कारण भी था। अजातशत्रु ने बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त के कहने पर ही बिम्बिसार की हत्या की थी। दूसरी बात, जैन ग्रन्थों में अजातशत्रु को पितृघाती नहीं कहा गया है। राजा बनने के बाद अजातशत्रु अपनी रानी के साथ भगवान् महावीर स्वामी के दर्शन करने के लिए वैशाली गया था। परन्तु धीरे-धीरे अजातशत्रु को अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप होने लगा और अन्त में उसने महात्मा बुद्ध से अपने अपराधों की क्षमा माँगी। इसी समय से उसने बुद्ध, धम्म और संघ के उत्थान का प्रयत्न किया। अजातशत्रु द्वारा बुद्ध के दर्शन की घटना ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में बने भरहुत स्तूप में शिल्पांकित हुई है। बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद अजातशत्रु बुद्ध धातु के एक अंश को प्राप्त करने के लिए कुशीनगर पहुँचा था और वापस आकर बुद्ध की शरीर धातु पर उसने राजगृह में एक स्तूप का निर्माण करवाया। अजातशत्रु का शासनकाल प्रथम बौद्ध संगीति के लिए भी प्रसिद्ध है। यह संगीति राजगृह में ही हुई थी और अजातशत्रु ने सभी बौद्ध भिक्षुओं के भोजन और निवास की उत्तम व्यवस्था की थी। इन सब से स्पष्ट है कि बाद में अजातशत्रु बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया था।

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी पुराणों के अनुसार अजातशत्रु का उत्तराधिकारी दर्शक था, परन्तु बौद्ध ग्रन्थों (महावंश तथा दीपवंश) और जैन ग्रन्थों (परिशिष्टपर्वन, कथा कोष तथा आवश्यक सूत्र) के अनुसार अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उसका पुत्र उदायि (उदायिन अथवा उदायिभद्र) था। अधिकांश विद्वान् इसी मत को सही मानते हैं। बौद्ध ग्रन्थों ने उदायि को पितृहन्ता कहा है, परन्तु जैसा पहले बताया जा चुका है कि वह पितृहन्ता नहीं था। जैन ग्रन्थों के अनुसार वह अजातशत्रु की मृत्यु के समय चम्पा में था जहाँ उसके पिता ने उसको उपराजा के पद पर नियुक्त कर रखा था। उदायि के शासनकाल की प्रमुख घटना है – पाटलिपुत्र को स्थापना। इस समय तक मगध का साम्राज्य काफी बढ़ चुका था और विस्तृत साम्राज्य को सामरिक, व्यापारिक तथा प्रशासनिक दृष्टि से एक नई राजधानी की आवश्यकता थी। उदायि ने गंगा और सोन नदियों के संगम पर



पाटलिपुत्र को बसाया, जो आगे चलकर मगध की राजधानी बनी। यही उसका महान् कार्य था। उदायि की मृत्यु छल-कपट से हुई एक कपटी व्यक्ति ने जैन साधु का वेश बनाया और सोते हुए उदायि को मौत के घाट उतार दिया। पुराणों के अनुसार उदायि ने 33 वर्ष तक शासन किया, जबकि बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार उसने 16 वर्ष तक शासन किया।

उदायि के बाद हर्यक वंश में कोई योग्य शासक न हुआ। उदायि के बाद कौन व्यक्ति मगध के सिंहासन पर बैठा, यह प्रश्न विवादास्पद था। पुराण के अनुसार अनुरुद्ध, मुण्ड और नाग-दासक— ये तीनों क्रमशः राजा बने थे। अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि अनुरुद्ध और मुण्ड राजा बने थे। इन दोनों ने लगभग 8 वर्ष शासन किया। ये दोनों ही अयोग्य तथा निर्बल थे। हर्यक वंश का अन्तिम शासक नागदास हुआ। वह भी पितृघाती था। प्रजा उससे दुःखी थी। अतः जनता के प्रतिनिधियों तथा राज्य के अधिकारियों ने काशी के वायसराय शिशुनाग को राजपद स्वीकार करने के लिए आमन्त्रित किया। नागदासक को सिंहासन से हटा दिया गया और बिना किसी रक्तपात के मगध राज्य में क्रान्ति हो गई। हर्यक वंश का पतन हो गया।

शिशुनाग वंश

शिशुनाग वंश — नागदासक की पदच्युति के साथ ही हर्यक वंश का अन्त हो गया। शिशुनाग मगध का राजा बना। उसी के नाम पर मगध के नये राजवंश का नाम शिशुनाग वंश पड़ा। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार शिशुनाग वैशाली के एक लिच्छवी सरदार तथा वैशाली को ही एक वेश्या का पुत्र था। राजा बनने के बाद उसने गिरिव्रज को मगध की राजधानी बनाया। उसने वैशाली को मगध साम्राज्य की दूसरी राजधानी बनाया। पुरानी राजधानी राजगृह का गौरव धीरे-धीरे लुप्त होने लग गया।

जैसा कि बताया जा चुका है कि मगध और अवन्ति में सर्वोच्च सत्ता के लिए निरन्तर संघर्ष चल रहा था। अवन्ति ने भी वत्स राज्य को जीतकर अपनी शक्ति काफी बढ़ा ली थी। इधर मगध भी दिन-प्रतिदिन शक्तिसम्पन्न होता जा रहा था। अतः दोनों में संघर्ष अनिवार्य था। चण्ड प्रद्योत के बाद अवन्ति में कोई योग्य राजा नहीं हुआ। इस समय भी वहाँ उत्तराधिकार संघर्ष चल रहा था। अवसर का लाभ उठाकर शिशुनाग ने अवन्ति पर आक्रमण कर दिया। अवन्ति का अन्तिम शासक नन्दिवर्धन अथवा अवन्तिवर्धन परास्त हुआ। अचिन्त का राज्य मगध राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार अब मगध में काशी, अंग, वैशाली, अवन्ति, वत्स आदि महाजनपद विलीन हो गए। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार शिशुनाग ने 411 ई. पू. से 393 ई. पू. तक अर्थात् 18 वर्षों तक शासन किया।

—

कालाशोक शिशुनाग की मृत्यु के बाद उसका पुत्र कालाशोक मगध का सम्राट बना। इतिहास में वह काकवर्ण के नाम से प्रसिद्ध है। कालाशोक ने पाटलिपुत्र को मगध की राजधानी बनाया। उसके शासनकाल की दूसरी महत्वपूर्ण घटना

द्वितीय बौद्ध संगीति थी जो महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के सौ वर्षों बाद वैशाली में हुई थी।

हर्षचरित से विदित होता है कि कालाशोक राजमहल षड्यन्त्र का शिकार बनकर मारा गया। उसकी हत्या नगर के समीप उसके गले में छुरा भोंककर की गई थी। परन्तु हत्यारा कौन था? इस प्रश्न पर यूनानी इतिहासकार कर्टिअस से संकेत मिलता है। उसने लिखा है कि अग्रेमीज (औग्रसैन्य) का पिता एक नाई था जो अपने रूप के कारण राजा और रानी का प्रेमी हो गया था और उसी ने रानी की सहायता तथा अभिसन्धि से राजा की हत्या कर डाली। उसके बाद वह उस मृत राजा के पुत्रों का कुछ समय तक अभिभावक बनकर शासन करता रहा। अन्त में वह उन्हें भी मारकर सिंहासन पर बैठ गया। विद्वानों की मान्यता है कि हर्षचरित का काकवर्ण ही कर्टिअस का वह राजा था, जो धोखे से मारा गया। अब सवाल उठता है कि औग्रसैन्य कौन था? पुराणों के अनुसार नन्द वंश का प्रथम राजा महापद्म था। बौद्ध ग्रन्थों में उसे उग्रसेन कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि महापद्म उग्रसेन ने ही नन्द वंश की स्थापना की थी। इसी का लड़का था। औग्रसैन्य (यूनानियों का अग्रमीज) जो सिकन्दर और चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था। इस प्रकार शिशुनाग वंश का पतन हुआ और मगध के सिंहासन पर एक नये राजवंश का अधिकार कायम हो गया।

नन्द वंश

—

महापद्म उग्रसेन मगध के इतिहास में नन्द साम्राज्य की स्थापना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पहली बार मगध साम्राज्य की सीमाएँ गंगा की घाटी को पार कर सिन्धु नदी की घाटी में व्यास नदी तक फैल जाती हैं। देश के कई छोटे-छोटे राज्य मगध साम्राज्य में विलीन हो जाते हैं और एकछत्र सार्वभौम सत्ता की स्थापना का सिलसिला शुरू होता है। इस नन्द वंश का संस्थापक महापद्म नामक व्यक्ति था। वह निम्नवंशीय था। जैन अनुश्रुति के अनुसार वह एक नाई का पुत्र था। यूनानी लेखक भी जैन ग्रन्थों की पुष्टि करते हैं। बौद्ध ग्रन्थों में भी उसे साधारण वंश का बताया गया है। केवल मुद्राराक्षस और चाणक्य कथा नामक ग्रन्थों में नन्दों को क्षत्रिय बताया गया है, परन्तु विद्वानों को इन परवर्ती ग्रन्थों का मत मान्य नहीं है।

भागवत पुराण की टीका में लिखा है कि प्रथम नन्दराज के पास दस पद्म सेना अथवा इतनी ही सम्पत्ति थी, इसी कारण उसका नाम महापद्म पड़ा। उग्रसेन शब्द भी उसकी विशाल सेना को स्पष्ट करता है। महापद्म एक विख्यात विजेता भी था। उसने मगध साम्राज्य के विस्तार का काम पूरा किया। विष्णु पुराण में उसे महत्वाकांक्षी, महाशक्तिशाली और परशुराम के समान ही दूसरा सम्पूर्ण क्षत्रियों का नाश करने वाला कहा गया है। वस्तुतः महापद्म उत्तरी भारत का प्रथम ऐतिहासिक सार्वभौम राजा था जिसने अपनी सैनिक प्रतिभा और नीति-निपुणता से राजनैतिक एकता के आदर्श को प्राप्त किया। इस आदर्श की स्थापना वह अपनी विशाल सेना के सहारे ही कर सका था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

साहित्यिक साक्ष्यों के अनुसार उसकी सेना में दो लाख पदाति, बीस हजार अश्वारोही और दो हजार रथ तथा तीन-चार हजार हाथी थे। उसकी इस विशाल सेना की जानकारी मिलने के बाद ही विश्व विजेता सिकन्दर की सेना ने व्यास नदी से आगे बढ़ने से सर्वथा इन्कार कर दिया था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

115

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

पुराणों के अनुसार महापद्म ने इक्ष्वाकु, पांचाल, काशी, कलिंग, अश्मक, कुरु, मैथिल और शूरसेन आदि क्षत्रिय वंशों का उन्मूलन कर दिया था। इनमें काशी और मैथिल तो उसके पूर्ववर्ती मगध राजाओं ने जीते थे। शेष राज्यों को महापद्म ने ही जीता होगा। जैन ग्रन्थों परिशिष्टपर्वन और कलियुग – राज-वृत्तान्त में महापद्म की सफलताओं का वृत्तान्त मिलता है। कथा सरित्सागर से विदित होता है कि अयोध्या (कोसल) में नन्द राज्य का शिविर लगा था। इससे विदित होता है कि महापद्म के समय में कोसल राज्य भी मगध में मिला लिया होगा। खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख द्वारा कलिंग विजय पर प्रकाश पड़ता यूनानी लेखकों के कथन से पता चलता है कि व्यास नदी के पाटिलपुत्र तक का क्षेत्र नन्दों के अधिकार में था। डॉ. रायचौधरी का मत है कि दक्षिण भारत के महाजनपद अश्मक और उसके आस-पास की भूमि पर भी महापद्म ने अधिकार कर लिया था। गोदावरी तट पर स्थित नौनन्द देहरा नामक नगर भी नन्दों की सत्ता का संकेत करता है। जैन ग्रन्थ स्थविरावलिचरित के अनुसार नन्दों के एक मन्त्री कल्पक ने अपनी बुद्धि तथा नीति के द्वारा मगध साम्राज्य को समुद्रपर्यन्त फैला दिया था। उपर्युक्त साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में महापद्म एकराट था।

मत्स्य पुराण के अनुसार महापद्म ने अट्ठासी (अष्टाशीति) वर्ष शासन किया, परन्तु यह भूल से लिख दिया गया है। अष्टाशीति के स्थान पर अष्टविंशति (अट्ठाइस) होना चाहिए, क्योंकि वायु पुराण में प्रथम नन्द राजा का शासन 28 वर्ष का माना गया है। जैन ग्रन्थों और बौद्ध ग्रन्थ महावंश में सभी नन्दों का शासनकाल 22 वर्ष माना गया है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार नन्दों ने कुल 29 वर्ष तक राज्य किया। पुराणों के अनुसार महापद्म के बाद उसके पुत्रों ने 12 वर्ष शासन किया। इस प्रकार नन्दों की शासनावधि की सही जानकारी नहीं मिल पाती। उनका काल अवश्य ही अधिक रहा होगा।

अन्तिम नन्द सम्राट् – अधिकांश प्रमाणों के आधार पर नन्द वंश में नौ राजा हुए थे। बौद्ध ग्रन्थ महावंश के

अनुसार

नौ राजा (नवनन्दा) नौ भाई (नव भातारी) थे, परन्तु पुराणों के अनुसार ये नौ

नन्द पिता-पुत्र की परम्परा में थे। विष्णु पुराण में लिखा है कि महापद्म नन्द और उसके आठ पुत्र तस्य, अप्यष्टों, सुमाल्य आदि होंगे। मुद्राराक्षस के टीकाकार दुंदिराज ने सवार्थसिद्धि नामक एक अन्य नन्द राजा का उल्लेख किया है परन्तु इस राजा की ऐतिहासिकता प्रमाणों से सिद्ध नहीं होती। यूनानी लेखकों के विवरण से भी नन्द राजाओं की दो पीढ़ियों का ही उल्लेख मिलता है।

बौद्ध ग्रन्थ महाबोधिवंश के अनुसार अन्तिम नन्दराज का नाम धनानन्द था। यही अन्तिम सम्राट था। उसका नाम उसकी अतुल धन-सम्पदा का द्योतक है। इसी अन्तिम नन्द सम्राट को जो सिकन्दर महान का समकालीन था, यूनानी लेखकों अग्रमीज कहा है। महावंश और उसकी टीका के अनुसार अन्तिम नन्द सम्राट का अन्त महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के 140 वर्ष बाद हुआ, अर्थात् 326 ई. पू. के मध्य हुआ होगा। स्कन्ध पुराण के अनुसार 312 ई. पू. तक नन्दों का शासन कायम रहा था।

नन्दों की पीढ़ियों के बारे में काफी मतभेद हैं, परन्तु नन्दों के विनाश के बारे में प्रायः सभी प्रमाण एकमत हैं। उनके पतन का मुख्य कारण वह राज्य क्रान्ति थी जिसका नेतृत्व चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य ने किया था।

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

116

सारांश (नउउंतल)

वस्तुतः यह एक विडम्बना ही है कि उत्तरी भारत को राजनैतिक एकता के सूत्र में बाँधने तथा मगध साम्राज्य को उन्नति की ओर ले जाने वाले नन्द वंश के बारे में हमें पर्याप्त जानकारी नहीं मिल पाई। उसका मुख्य कारण शायद नन्द वंश का शूद्र अथवा साधारण वंशी होना रहा हो।

स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

1. गणराज्यों की शासन प्रणाली रू बौद्धकालीन गणराज्यों की शासन प्रणाली को समझने के लिए हमें लिच्छिवियों तथा शाक्यों के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्य से मिलने वाली जानकारी को आधार बनाना होगा। सम्भवतः छोटे गणराज्यों में भी शासन प्रणाली का मूल ढाँचा तो वैसा ही रहा होगा, हालांकि वह उतना विस्तृत नहीं रहा होगा। बौद्ध ग्रन्थों से हमें बौद्ध संघों के विधान, नियम और कार्यपद्धति के बारे में विस्तार से जानकारी मिलती है। अनेक विद्वानों का मानना है कि भगवान बुद्ध ने बौद्ध संघों के गठन तत्कालीन गणराज्यों में प्रचलित कार्यपद्धति के आधार पर किया था, अतः बौद्ध संघों के विवरण से भी गणराज्यों की शासन व्यवस्था को समझा जा सकता

2. उनके पतन के निम्नलिखित कारण थे—

(1) गणराज्यों में आपसी एकता का अभाव था। उनमें आपसी ईर्ष्या-द्वेष रहता था।

(2) संथागारों के प्रतिनिधि सदस्यों में भी आपसी दलबन्दी थी। उनमें परस्पर



Notes

प्राचीन भारतीय इतिहास

सहयोग और विश्वास

की कमी थी। वे भी अपनी ईर्ष्या-द्वेष से पीड़ित थे।

(3) गुटबन्दी के कारण बहुधा विभिन्न दलों के नेता गणराज्य के हितों को भूल जाते थे। वे अपने दलों के हित साधन के चक्कर में राष्ट्रीय हितों को नुकसान पहुँचाने में भी नहीं हिचकते थे। (4) गणराज्य के कुछ नागरिक साधारण एवं व्यक्तिगत लाभ के लिए देशद्रोह तक कर देते थे। वे शत्रुओं से पैसा, धान-सम्पत्ति लेकर उन्हें गणराज्य के गुप्त भेद देने से भी नहीं हिचकते थे। (5) मगध जैसे शक्तिशाली शत्रु देशों ने उनमें फूट डालने का सदैव प्रयत्न किया। उस चाल में वे सफल भी हुए। चाणक्य ने भी गणराज्यों को जीतने के लिए फूट डालने की शिक्षा दी है। बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि मगध नरेश अजातशत्रु ने महात्मा बुद्ध से वैशाली के लिच्छवियों की सफलता के कारण पूछे थे और फिर उनमें फूट डलवाकर उन्हें पराजित किया था।

स्वपरीक्षण करें (ज्मेज ल्वनतेमसर्णि)

1. सोलह महाजनपदों के बारे में आप क्या जानते हैं?

याच्यीत, भारतीय इतिहा

छब्बै

2.

बुद्धकालीन गणतान्त्रिक राज्यों पर एक निबन्ध लिखिए।

3.

छठी शताब्दी ईसा पूर्व के गणतान्त्रिक राज्यों के बारे में आप क्या जानते हैं? इन राज्यों की शासन – व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

4. बुद्धकालीन गणतन्त्रों के प्रशासन की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। इन गणतन्त्रों के पतन के

5.

6.

लिए कौन से कारण उत्तरदायी थे?

मगध के आरम्भिक इतिहास की विवेचना कीजिए तथा मगध साम्राज्य के उद्भव में हर्यक राजवंश के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

मगध साम्राज्य के विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण में बिम्बिसार एवं अजातशत्रु के प्रयासों का परीक्षण कीजिए।

7.

हर्यक वंश से लेकर नन्दों के काल तक मगध साम्राज्य के उत्कर्ष का विवरण दीजिए।

8.

मगध के विकास में विविध राजवंशों के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

मसर्णि-प्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

117

प्राचीन भारतीय इतिहास

इकाई 6 जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म

धार्मिक क्रान्ति के उदय के कारण

जैन धर्म, शिक्षाएँ एवं सिद्धान्त, जैन-धर्म के सात तत्त्व, अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

मोक्ष प्राप्ति के साधन, अणुव्रत एवं महाव्रत, जैन-धर्म का प्रसार, जैन-धर्म के सम्प्रदाय

जैन-धर्म के स्थायित्व के कारण, जैन संगीतियों, जैन-धर्म की विश्व को देन

☐ बौद्ध धर्म, धर्म चक्र प्रवर्तन, महापरिनिर्वाण, बौद्ध धर्म की शिक्षाएँ

क्षणिकवाद, अनात्मवाद, पुनर्जन्म, बौद्ध धर्म का विभाजन, हीनयान – महायान

☐ बौद्ध संगीतियों, बौद्ध धर्म ग्रन्थ, जैन-धर्म और बौद्ध धर्म की तुलना, समानताएँ

६ बौद्ध धर्म के प्रसार के कारण

“मसि-प्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

11।

अध्ययन उद्देश्य रू

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

☐ जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म ।

धार्मिक क्रान्ति के उदय के कारण ।

☐ जैन धर्म की शिक्षाएँ एवं सिद्धान्त, जैन धर्म के सात तत्त्व एवं

महावीर के पश्चात् जैन धर्म के प्रसार, इसके स्थायित्व के कारण

☐ बौद्ध धर्म की शिक्षाएँ एवं बौद्ध धर्म का विभाजन एवं महायान सम्प्रदाय का उदय

परिचय (पद्जतवकनबजपवद)

भारत में छठी शताब्दी ई. पू. की युगान्तकारी घटना महावीर एवं बुद्ध का जन्म है। यह वह समय था जब विश्व के कई भागों में बौद्धिक एवं धार्मिक क्रान्ति का जन्म हुआ। महावीर ने जैन मत को व्यवस्थित रूप दिया और महात्मा बुद्ध ने बौद्ध मत की स्थापना की। दोनों धर्म प्रवर्तकों ने उपनिषदों के समान आत्मज्ञान को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बताया। एक विचार यह भी है कि दोनों धर्म उपनिषद् के दर्शन से अनुप्राणित हैं। धार्मिक क्रान्ति के उदय के कारण

—

(1) नवीन धार्मिक विचारधारा का उदय वैदिक धर्म जन साधारण की धार्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति न कर सका था। ब्राह्मण ग्रन्थों में जटिल कर्मकाण्ड तथा यज्ञों का विधान था। यज्ञ बहुत लम्बे और खर्चीले हो गए थे। धर्म के क्षेत्र में

प्राचीन भारतीय इतिहास

पुरोहितों के एक संगठित वर्ग का उदय हो चुका था। दूसरी ओर उपनिषदों में दर्शन के रहस्यवाद की प्रधानता थी। इस प्रकार तत्कालीन समाज आध्यात्मिक रूप से घोर संकट में था ऐसी स्थिति में बुद्ध तथा महावीर ने सबके लिए सरल एवं सुबोध धर्म का उपदेश देकर समय की माँग को पूरा किया।

(2) वर्ण व्यवस्था की जटिलता जैन एवं बौद्ध धर्म केवल नैतिक या धार्मिक आन्दोलन ही नहीं, सामाजिक आन्दोलन भी थे। इन धर्मों के उदय से पूर्व जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था की प्रतिष्ठा थी। बुद्ध तथा महावीर ने जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का खण्डन किया और सबकी समानता की घोषणा की। बिना किसी ऊँच-नीच और भेद-भाव के बौद्ध धर्म के द्वार सबके लिए खोल दिए गए। बौद्ध धर्म ने नारी को किसी भी संघ में सम्मिलित होने तथा अपना आध्यात्मिक विकास करने का पूर्ण अधिकार प्रदान किया।

(3) नई अर्थव्यवस्था का प्रभाव धार्मिक नवजागृति में तत्कालीन समाज की परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था और उससे उत्पन्न स्थितियों की भूमिका को भी उल्लेखनीय माना जा सकता है। छठी शताब्दी ई. पू. में नगरों का विकास हो रहा था। व्यापारिक उन्नति इस युग की एक महत्वपूर्ण घटना है। इस प्रक्रिया में वैश्य वर्ग समृद्धि हुआ और अपने वैभव के बल पर ब्राह्मणों की भाँति सामाजिक श्रेष्ठता की खोज में था, जिसमें उसे उच्चतर स्थिति मिल सके। बौद्ध धर्म एवं जैन-धर्म ने उसकी इस आकांक्षा को साकार किया।

कृ

(4) निवृत्तिपरक परम्परा इन धर्मों के मूल में अवैदिक श्रमण संस्कृति का प्रभाव था, यह श्रमण संस्कृति निवृत्तिपरक थी। निवृत्तिपरक का अर्थ है—वैराग्यपूर्वक कर्मों का त्याग या संन्यास। जैन-धर्म और बौद्ध मत में संन्यास, वैराग्य और त्याग की जो प्रधानता है, वह इस अवैदिक श्रमण संस्कृति के प्रभाव का ही फल प्रतीत होती है। इन धर्मों के दुःखवाद ने प्रवृत्तिपरक अथवा वैदिक कर्मप्रधान संस्कृति के रूप को ही बदल डाला तथापि इन दोनों धर्मों पर उपनिषद् दर्शन का पर्याप्त प्रभाव है। उपनिषदों के कर्मफलवाद तथा पुनर्जन्म के विचार इन धर्मों में ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए गए।

(अ) जैन-धर्म

जैन-धर्म की प्राचीनता सम्भवतः प्रागैतिहासिक है। जैन-धर्म के प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव माने जाते

इनके पश्चात् तेईस तीर्थंकर और हुए। किन्तु 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ से पूर्व तक के तीर्थंकरों के बारे में ऐतिहासिक शोध की आवश्यकता है। यह निश्चित है कि आज से 2600 वर्ष पूर्व 24वें तीर्थंकर महावीर ने जैन धर्म को लोकप्रिय बनाया तथा इसी कारण जनसामान्य उन्हें जैन धर्म का प्रवर्तक मानता है।

महावीर का संक्षिप्त जीवनवृत्त

महावीर स्वामी से पूर्व ही जैन धर्म का विकास हो चुका था। जैन धर्म के तेईसवें

तीर्थंकर पार्श्वनाथ (काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र) ने महावीर के जन्म से 250 वर्ष पूर्व अपने अनुयायियों में जैन-धर्म के प्राचीन भारतीय इतिहास छव्जै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

119

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर, उन्हें संघ व्यवस्था में संगठित किया था। उन्होंने चतुर्वर्तों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के पालन पर विशेष जोर दिया था।

महावीर का जन्म 599 ई. पू. लगभग वैशाली के निकट कुण्डग्राम (मुजफ्फरपुर जिला, बिहार) में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ ज्ञातृक क्षत्रियों के संघ के प्रधान थे, जो वज्जिसंघ का एक प्रमुख सदस्य था। उनकी माता त्रिशला वैशाली के लिच्छवी कुल के प्रमुख चेटक की बहन थी। इस प्रकार मातृपक्ष से वे मगध के हर्यक राजा बिम्बिसार के निकट सम्बन्धी थे। महावीर के बचपन का नाम वर्द्धमान था। इनका पालन-पोषण राजसी ठाठ-बाट से हुआ। जैन धर्म की एक परम्परा के अनुसार युवावस्था में महावीर का विवाह कुण्डिन्य गोत्र की कन्या यशोदा के साथ हुआ। उससे उन्हें अणोज्जा (प्रियदर्शना) नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। कालान्तर में उनका विवाह जामालि के साथ हुआ। वह प्रारम्भ में महावीर का शिष्य बना किंतु उसने ही जैन-धर्म में प्रथम भेद उत्पन्न किया। शकल्पसूत्र में कहा गया कि वर्द्धमान के जन्म के समय ज्योतिषियों ने यह भविष्यवाणी की थी कि यह बालक बड़ा होकर चक्रवर्ती राजा बनेगा या महान संन्यास कालान्तर में यह भविष्यवाणी सच साबित हुई। वर्द्धमान ने निवृत्ति का मार्ग अपनाकर इतिहास रच दिया। ऐसा होना स्वाभाविक था क्योंकि वर्द्धमान प्रारम्भ से ही चिंतनशील थे। जब वे 30 वर्ष के हुए तो उनके पिता का देहावसान हो गया। तत्पश्चात् वर्द्धमान ने अपने बड़े भाई नन्दिवर्द्धन की आज्ञा लेकर गृह त्याग दिया और सत्य एवं मन की शान्ति की खोज में निकल पड़े। गृह त्याग के पश्चात् वर्द्धमान कठोर साधना, काया-क्लेश एवं तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करने लगे। आचारांगसूत्र में उनके इस काल के जीवन के बारे में विस्तृत वर्णन किया गया है। उसके अनुसार, प्रथम 13 महीनों में उन्होंने कभी भी अपना वस्त्र नहीं बदला। सभी प्रकार के जीव-जन्तु उनके शरीर पर रेंगते थे। तत्पश्चात् उन्होंने वस्त्र का पूर्ण त्याग कर दिया तथा नग्न घूमने लगे। लोगों ने उन पर नाना प्रकार के अत्याचार किए किन्तु उन्होंने अपना कभी धैर्य नहीं खोया। वे मौन तथा शान्त रहे। शकल्पसूत्र ने उनकी तपस्या का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा, श्वे भोजन भी हथेली पर ही ग्रहण करने लगे। 12 वर्षों तक

प्राचीन भारतीय इतिहास

वे अपने शरीर की पूर्ण उपेक्षा कर सब प्रकार के कष्ट सहते रहे। उन्होंने संसार के समस्त बन्धनों का उच्छेद कर दिया। संसार से वे सर्वथा निर्लिप्त हो गए। आकाश की भाँति उन्हें किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं रही। वायु की भाँति वे निर्बाध हो गए। शरद् काल के जल की भाँति उनका हृदय शुद्ध हो गया। श

□

1. जैन धर्म के 24 तीर्थंकर के नाम (तीर्थंकर परम्परा)

रू

1. ऋषभदेव या आदिनाथ, 2. अजितनाथ, 3. सम्भवनाथ, 4. अभिनन्दन, 5. सुमतिनाथ, 6. पद्मप्रभु, 7. श्वसुपार्श्वनाथ, 8. चन्द्रप्रभु, 9. पुष्पदंत, 10. शीतलनाथ, 11. श्रेयांसनाथ, 12. वासुपूज्य, 13. विमलनाथ, 14. अनन्तनाथ, 15. धर्मनाथ, 16. शान्तिनाथ, 17. कुन्थुनाथ, 18. अरहनाथ, 19. मल्लिनाथ, 20. मुनिसुव्रत, 21. नमिनाथ, 22. नेमिनाथ, 23. पार्श्वनाथ, 24. महावीर स्वामी ।

2. कतिपय विद्वान महावीर का जन्म 540 ई. पू. भी मानते हैं।

12 वर्ष की कठोर तपस्या के पश्चात् वर्द्धमान को 42 वर्ष की अवस्था में जम्भियग्राम (जृम्भिकग्राम के समीप) जुपालिका नदी के तट पर कैवल्य (शुद्धज्ञान) प्राप्त हुआ। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् वर्द्धमान केवलिनश् शजिनश् विजेता शर्हत्स् (योग्य) तथा निर्ग्रन्थ (बन्धन रहित) कहे गए। अपनी साधना में अटल रहने तथा अतुल पराक्रम दिखाने के कारण उन्हें श्महावीरश् नाम से सम्बोधित किया गया। उनके अनुयायी श्जैनश् नाम से जाने गए।

कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् महावीर ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ किया। वे वर्ष में आठ महीने भ्रमण करते तथा वर्षा काल के चार महीने एक ही स्थान पर रहते। जिन नगरों में उन्होंने अपने उपदेश दिए उनमें चम्पा, वैशाली, मिथिला, राजगृह, श्रावस्ती आदि थे। बिम्बिसार और अजातशत्रु उनसे कई बार मिले। वैशाली का लिच्छवी सरदार चेटकउनका मामा था तथा जैन धर्म के प्रचार में महावीर का सहायक रहा ऐसा भी माना जाता है कि अवन्ति का प्रद्योत, चम्पा का दधिवाहन और सिन्धु- सौवीर का उदयन

कृ

120

आदि राजा महावीर के श्रद्धालू थे। यद्यपि इनमें से कुछ राजा महात्मा बुद्ध के भी अनुयायी माने जाते हैं। भारतीय शासकों की सहिष्णुता एवं उदारता के कारण ऐसा हुआ तो उसमें आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। जैन श्रुतियों के अनुसार, उनकी सत्यवाणी तथा जीवन के प्रति शाश्वत दृष्टिकोण के कारण हजारों लोग उनके अनुयायी हो गए। धीरे-धीरे उनकी ख्याति काफी बढ़ गई और दूर-दूर से लोग उनके उपदेश सुनने आने लगे। अन्त में 72 वर्ष की आयु में 527 ई.पू. में राजगृह के समीप पावापुरी, बिहार शरीफ से 9 मील दूर उसने अपना शरीर त्याग दिया, जिसे जैन-धर्म में निर्वाण कहा जाता है। उनके निर्वाण के समय उत्तरी एवं पूर्वी भारत का एक हिस्सा उनके प्रभाव क्षेत्र में आ

गया था।

कुछ

कृ

महावीर के ग्यारह मुख्य शिष्य या गणधर थे, जिन्होंने संघ को उपयुक्त रूप से अनुशासित रखा था। ये सभी गणधर ब्राह्मण थे, जो बिहार की छोटी-छोटी बस्तियों से आये प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता कि महावीर के जीवनकाल में जैन धर्म का प्रसार एवं विस्तार पश्चिम बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश के भागों में केन्द्रित रहा। इसका यह अर्थ नहीं कि शेष स्थानों पर जैन धर्म का अस्तित्व नहीं था। महावीर के संगठन, कौशल और उनके गणधरों की निष्ठा ने जैन संघ को सुव्यवस्थित बनाये रखा। यद्यपि आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक श्रावस्ती निवासी गोसाल मखलिपुत्त ने महावीर के लिए कुछ परेशानियाँ खड़ी की थीं परन्तु आजीवक सम्प्रदाय को अधिक समर्थन न मिल सका। इसी प्रकार महावीर के काल में बहुरय तथा जीवपएसिय नामक दो पृथक संघ अस्तित्व में आये, किन्तु वे भी अल्पकालीन रहे। अन्त में दिगम्बर-श्वेताम्बर नामक संघभेद हुआ, जो महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग 300 ई. पू. में हुआ था। दिगम्बर श्वेताम्बर नामक संघभेद हो ऐसा हुआ, जिसने जैन धर्म के विकास क्रम, प्रसार क्षेत्र, मुनिश्चर्या और प्रतिमा – विज्ञान को प्रभावित किया।

शिक्षाएँ एवं सिद्धान्त

जैन-धर्म का इतिहास निश्चय ही पुराना है। जैन धर्म में तीर्थकरों की परम्परा का अपना इतिहास है। तीर्थकर शब्द का तात्पर्य संसाररूपी सागर से औरों का पार कराने के लिए घाट अथवा मार्ग बनाने वाला द्य 24वें तीर्थकर महावीर से जैन धर्म एक सशक्त धर्म एवं विचारधारा के रूप में प्रचारित हुआ। जर्मन विद्वान याकोबी ने जैन शास्त्रीय ग्रंथों का अनुशीलन कर यह बताया कि 23 वें तीर्थकर पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह को अपने सिद्धान्तों का आधार बनाया था किन्तु महावीर ने इसमें अपना ब्रह्मचर्य का पाँचवाँ सिद्धान्त जोड़ा। पार्श्वनाथ ने भिक्षुओं को वस्त्र धारण करने की अनुमति प्रदान की परन्तु महावीर ने उन्हें निर्वस्त्र रहने का उपदेश दिया। इस प्रकार महावीर ने जैन-धर्म को अधिक कठोर बनाया।

महावीर ने सत्य को जानने में वेदों को प्रमाण नहीं माना। जैन मत में सृष्टि करने वाले किसी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं किया जाता। उनके अनुसार सृष्टि अनादि तथा अनन्त है और सृष्टि का क्रम एक प्रवाह के रूप में चलता रहता है। जैन धर्म में कर्मों का बड़ा महत्त्व है और वह मानता है कि व्यक्ति कर्मों के कारण ही बन्धन में पड़ता है। जैन धर्म किसी भी प्रकार के ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखता है। इस दृष्टि से उसे अनीश्वरवादी कहा गया है। वस्तुतः जैन धर्म एक ऐसा धर्म है, जो रूढ़ियों को अस्वीकृत करता है तथा वैज्ञानिक आधार पर सृष्टि जीवन, कर्म, बन्धन, मोक्ष आदि की व्याख्या करता है। जैन धर्म भी बौद्ध धर्म की तरह आचार-प्रधान कर्म है परन्तु यहाँ कठोरता एवं अनम्यता अधिक है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

जैन धर्म के सात तत्त्व

जैन-धर्म के अनुसार मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य है और मोक्ष का अर्थ है— जीव को कर्मबन्धन से पूर्ण मुक्ति। यह समझाने के लिए कि जीव किस तरह कर्म से सम्बद्ध होता है और किस तरह से उससे मुक्त हो सकता है। जैन दर्शन सात तत्वों की योजना प्रस्तुत करता है। ये सात तत्व हैं— जीव, अजीव, बंध, आनव, संवर को निर्जरा और मोक्ष:

जीव जैन दर्शन समस्त जगत् को द्रव्यों में विभाजित करता है जीव और अजीव। जीव चेतन द्रव्य है और अजीव अचेतन। चेतन जीव का विशिष्ट लक्षण है। (चौतन्य लक्षण जीव) जीव— अपने शुद्ध रूप में सर्वज्ञ और स्वयं प्रकाशवान है। वह चेतन तत्व आत्मा है। वह अनन्त, अपार और सर्वव्यापक है। जीव की

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

सिद्धेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

121

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

सिद्धेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

122

यह जैन दर्शन की धारणा यद्यपि अन्य भारतीय दर्शनों की आत्मा की धारणा के समान ही है किन्तु जैन मत बहुसंख्यक जीवों की सत्ता में विश्वास करता है। इस प्रकार जैन मत में जीवों की संख्या अनन्त और सब नित्य है। बन्धन की अवस्था में जीव तब पड़ता है, जब वह पुद्गल या भूतद्रव्य से संयुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसका शुद्ध स्वरूप विलुप्त हो जाता है।

अजीव — अजीव अचेतन है। अजीव को पुद्गल (भूतद्रव्य) आकाश (स्थान), धर्म (गति की अवस्था), अधर्म (विश्राम की अवस्था) तथा काल (समय) में विभाजित किया जाता है। ये सब द्रव्य जीवन और चेतना से शून्य होते हैं। पुद्गल का जैन-धर्म में एक विशिष्ट अर्थ है। पुद्गल वह है, जिसे जोड़ा या तोड़ा जा सके। संसार की सभी वस्तुएँ भूत द्रव्य के अणुओं से मिलकर बनी हैं। धर्म और अधर्म का अर्थ पुण्य या पाप नहीं अपितु गति और विश्राम की अवस्थाएँ हैं। प्रत्येक वस्तु कुछ स्थान घेरती है, जिसे आकाश कहा गया है। काल का अर्थ समय है। बन्ध बन्धन से मुक्ति दिलाना जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य है। बन्धन का अर्थ है, जन्म ग्रहण द्य जीव चेतन शतत्व है किन्तु शरीर धारण करने से वह बन्धन की अवस्था में आ जाता है। जीव का अजीव द्वारा आवरण ही बन्धन है। जिस प्रकार प्रकाशमान मणि के ऊपर मिट्टी का आवरण चढ़ जाने से उसका प्रकाश छिप जाता है, उसी प्रकार अजीव का आवरण चढ़ जाने पर जीव का मूल स्वरूप छिप जाता है। कर्म ही वह कड़ी है, जो जीव को अपने शरीर से जोड़ती है। अतः कर्म ही बन्धन का कारण है। जैन धर्म में चार कषाय (चिपचिपे पदार्थ) बताए गए हैं— क्रोध, मान, लोभ और माया (भ्रम)। जब व्यक्ति अविद्या (सत्य

का उचित ज्ञान न होना) और कषायों के प्रभाव में कार्य करता है, तब कर्म के रूप में पुद्गल जीव की ओर आकृष्ट होते हैं और उसे आवृत्त कर लेते हैं। यह सिलसिला अनवरत चलता रहता है।

आस्रव — कर्म पुद्गल के जीव के ओर प्रवाह आस्रव है। दूषित मनोवेग एवं सत्य के ज्ञान के अभाव में कर्म

पुद्गल जीव की ओर खिंचते हैं। ऐसी अवस्था में जीव अपना मूल स्वरूप खोकर आवागमन के चक्र में फँस जाता है।

—

संवर एवं निर्जरा मोक्ष के लिए आवश्यक है कि जीव को कर्म के बन्धन से मुक्त किया जावे। इसके लिए पहले तो नये कर्मों के आगमन को रोकना आवश्यक है। कषायों के न रहने पर सम्यक्, दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के द्वारा यह सम्भव होता है। नए कर्मों के आगमन को रोकने की प्रक्रिया संवर कहलाती है। जैन-धर्म पूर्व संचित कर्मों से छुटकारा दिलाने के बारे में भी सुझाव प्रस्तुत करता है। क्योंकि संचिता के विनाश के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। जैन धर्म में इस हेतु कठोर तप का मार्ग दर्शाया गया है। इसे निर्जरा कहा गया है।

—

—

मोक्ष साधना का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, जिसमें जीव और कर्म के सम्बन्ध का पूर्ण विच्छेद हो जाता है। जीव कर्म बन्धन के कारण ही भौतिक तत्व शरीर में बँधा है। भौतिक तत्व के पृथक् होने पर जीव शुद्ध हो जाता है और उसे आत्मा में निहित ज्ञान का साक्षात्कार होने लगता है। इस भौतिक तत्व (कर्म पुद्गल) से आत्मा को मुक्त कर देना ही मोक्ष है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

जैन-धर्म के अनुसार सत्य नानात्मक है अर्थात् इसके कई पहलू हैं। इस बात को जैन-धर्म में एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है— जन्म से ही अन्धे लोगों के गांव में एक हाथी आया। उन्हें हाथी का कोई ज्ञान नहीं था। सबने हाथी के अलग-अलग अंगों को स्पर्श कर हाथी के बारे में अपना ज्ञान निश्चित किया। जिसने पैर को छुआ उसने उसे खम्भे की तरह, जिसने पीठ को छुआ उसने दीवाल की तरह और जिसने सूँड को छुआ, उसने उसे पेड़ के तने के समान बताया। कहने का अर्थ यह है कि इनमें से कोई कथन पूर्ण सत्य नहीं है, परन्तु असत्य भी नहीं है। जैनियों के अनुसार इसी प्रकार सत्य के विषय में समझना चाहिए।

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का विशिष्ट सिद्धांत है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी वस्तु का एक गुण या धर्म नहीं होता, दूसरे शब्दों में कोई भी वस्तु एकान्तवादी नहीं होती है। जैन धर्म में कहा भी गया है

कृ

शून्यधर्मक वस्तुश्च। इस दृष्टि से सत्य अथवा तत्व भी अनेकान्तमूलक हैं। जैन धर्म की मान्यता है कि केवलिन (पूर्णज्ञानी) ही पूर्ण सत्य को जान सकता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

इस प्रकार जैन दर्शन के इस तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त को, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म (गुण) वाली मानी जाती हैं, अनेकान्तवाद कहा जाता है। इस अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर ही जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त आधारित है। चूँकि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं, इसलिए किसी भी कथन में उस वस्तु के आशिक या सापेक्षिक सत्य की ही अभिव्यक्ति हो सकती है— यही स्याद्वाद है। तत्व या सत्ता की दृष्टि से जो अनेकान्तवाद है, ज्ञान की दृष्टि से वही स्याद्वाद है। स्यादवाद जिसे सप्तभंगीनय भी कहा जाता है, जैन सिद्धान्त के अनुसार सांसारिक वस्तुओं के विषय में हमारे सभी निर्णय सापेक्ष या सीमित होते हैं। न तो हम किसी को पूर्णरूपेण स्वीकार कर सकते हैं और नहीं अस्वीकार। अतः प्रत्येक निर्णय के पूर्व स्यात् (शायद) लगाना उचित है। स्याद्वाद के अनुसार किसी वस्तु अथवा सत्य के बारे में 7 प्रकार के कथन हो सकते हैं—

1. स्यात् अस्ति अर्थात् सापेक्षिक दृष्टि से

कृ

2. स्यात् नास्ति अर्थात् सापेक्षिक दृष्टि से

—

वस्तु है।

वस्तु नहीं है।

3. स्यात् अस्ति च नास्ति अर्थात् सापेक्षिक दृष्टि से वस्तु है और नहीं है।

.

4. स्यात् अवक्तव्यम् अर्थात् सापेक्षिक दृष्टि से वस्तु के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

—

5. स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् अर्थात् सापेक्षिक दृष्टि से वस्तु हैं और अवक्तव्य है।

कृ

6. स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् अर्थात् सापेक्षिक दृष्टि से वस्तु नहीं है और अवक्तव्य है। 7. स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् अर्थात् सापेक्षिक दृष्टि से वस्तु है, नहीं है और अवक्तव्य है।

—

स्यात् शब्द का सामान्य अर्थ शसम्भवतरुष या शशायदश् किया जाता है, जिसमें संशय का बोध होता है। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार स्यात् का प्रयोग ज्ञान की सापेक्षता का सूचक है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि स्यात् सापेक्ष सत्य का सूचक है। जैनियों के अनुसार, स्याद्वाद (सप्तभंगीनय) उदार और सहिष्णु सिद्धान्त है, न कि संशयवाद जैसा कि वेदान्ती कहते हैं।

अनेकात्मवाद — जैन-धर्म की मान्यता है कि जीव भिन्न-भिन्न होते हैं और उनमें आत्माएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। आत्मा के सम्बन्ध में जैन दर्शन का यह विचार उपनिषदों के आत्मा सिद्धान्त से बिल्कुल भिन्न है। उपनिषद् सारे संसार

में व्याप्त एक आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं, परन्तु जैन धर्म एक आत्मा पर विश्वास नहीं करता। अनेक आत्माओं के अस्तित्व को मानना ही अनेकात्मवाद है।

मोक्ष प्राप्ति के साधन रू त्रिरत्न एवं पंच महाव्रत

कृ

कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए जैन-धर्म त्रिरत्न का अनुशीलन एवं अभ्यास की शिक्षा देता है। ये त्रिरत्न हैं।

(अ) सम्यक् दर्शन जैन तीर्थकरों और उनके उपदेशों में दृढ़ विश्वास ही सम्यक् दर्शन या श्रद्धा इसके आठ अंग बताये गए हैं – (1) सन्देह से दूर रहना, (2) सांसारिक सुखों की इच्छा का त्याग करना, (3) शरीर के मोहराग से दूर रहना, (4) भ्रामक मार्ग पर न चलना, (5) अधूरे विश्वासों से विचलित न होना, (6) सही विश्वासों पर अटल रहना, (7) सबके प्रति प्रेम का भाव रखना, (8) जैन सिद्धान्तों को सर्वश्रेष्ठ समझना। इनके अतिरिक्त लौकिक अन्धविश्वासों, पाखण्डों आदि से दूर रहने की हिदायत दी गई है।

(ख) सम्यक् ज्ञान – जैन धर्म एवं उसके सिद्धान्तों का ज्ञान ही सम्यक ज्ञान है। सम्यक् ज्ञान के पाँच प्रकार बताये गए हैं – (1) मति अर्थात् इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान, (2) श्रुति अर्थात् सुनकर प्राप्त किया गया ज्ञान, (3) अवधि अर्थात् कहीं रखी किसी भी वस्तु का दिव्य ज्ञान, (4) मनः पर्याय अर्थात् व्यक्तियों के मन की बातें जान लेने का ज्ञान, (5) कैवल्य अर्थात् पूर्ण ज्ञान, जो कवल तीर्थकरों को प्राप्त है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

123

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

174

—

(स) सम्यक् चरित्र जिसे पूर्णतः जाना जा चुका है और जिसमें पूर्ण श्रद्धा है, उसे जीवन में लागू करने की क्रिया सम्यक् चरित्र है। यह जैन साधना का सबसे महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि सम्यक् चरित्र या आचरण द्वारा ही जीव अपने कर्मों से मुक्त हो सकता है। जैन दान की आधारशिला आचरण एवं व्यवहार है। इसमें व्यक्ति के लिए कर्मों का फल उसे और सिर्फ उसे ही भुगतना पड़ता है। ये बैंक के खाते के समान किसी को स्थानान्तरित नहीं किए जा सकते हैं और न जोड़ अथवा बाकी के द्वारा इनका हल किया जा सकता है। जैन धर्म में अच्छे अथवा बुरे दोनों ही कर्म बन्धन के कारण हैं। अतः यहाँ आचरण एवं क्रियाएँ ही समाध

प्राचीन भारतीय इतिहास

ज्ञान हैं।

सम्यक् चरित्र के अन्तर्गत साधुओं के लिए पंच महाव्रत और गृहस्थों के लिए पाँच अणुव्रत बताये गए हैं, जिनमें मूल भेद केवल उनके पालन की कठोरता अथवा लचीलेपन में है।

—

(1) अहिंसा जैन धर्म में अहिंसा परमोधर्मः कहा गया है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञानी होने का सार यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। वस्तुतः अहिंसामूलक समता को जैन दर्शन में धर्म कहा गया है। जैन दर्शन के अनुसार सब जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। अतः जीव हत्या पाप है। मन, वचन और काया से दूसरे का दिल दुःखाना भी हिंसा माना गया है। जैन मतानुसार चराचर जगत् पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, कीड़े-मकोड़े, दानव मानव सभी में जीव है। यहाँ तक कि वायु, पानी, मिट्टी में भी असंख्य अदृश्य जीव हैं। अतः इनके प्रयोग में सावधानी बरतनी चाहिए, तभी अहिंसा का पालन हो सकेगा। कठोर वाणी से किसी को पीड़ा पहुँचाना भी हिंसा मानी गई है। वस्तुतः जैन दर्शन में अहिंसा का विवेचन सूक्ष्म से सूक्ष्मतर किया गया है।

(2) सत्य जैन-धर्म के अनुसार सदैव ऐसी वाणी बोलनी चाहिए जो सत्य एवं मधुर हो। सत्य बोलने

में पाँच बातों का ध्यान रखने को कहा गया है—

1. सोच-विचार कर बोलना चाहिए।
2. क्रोध आने पर शान्त रहना चाहिए।
3. लोभ होने पर मौन रहना चाहिए।
4. हँसी में भी झूठ नहीं बोलना चाहिए।
5. मय होने पर भी झूठ नहीं बोलना चाहिए।

(3) अस्तेय चोरी न करना अस्तेय है। बिना अनुमति के किसी अन्य की वस्तु को ग्रहण करना भी अस्तेय की श्रेणी में आता है। बिना आज्ञा के न तो किसी के घर में प्रवेश किया जाए और न उसकी किसी वस्तु का प्रयोग किया जाए।

—

(4) अपरिग्रह किसी भी वस्तु का आवश्यकता से अधिक संचय न करना ही अपरिग्रह है। महावीर स्वामी का कहना था कि संचय करने से ही मानव हृदय में नाना प्रकार की कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। जैन धर्म में माना गया कि वस्तुओं का संग्रह करने से वस्तुओं के साथ लगाव पैदा होता है और

.

यह अन्ततः बन्धन का कारण बनता है।

.

(5) ब्रह्मचर्य पार्श्वनाथ ने चार व्रतों का निदेश किया था, उनमें महावीर ने ब्रह्मचर्य का पाँचवाँ व्रत जोड़ दिया। उन्होंने मोक्ष के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक माना। नारी से वार्तालाप, उसका दर्शन, उसका ध्यान, उसका समीप्य

और उसके साथ अन्तरंग सम्बन्ध ब्रह्मचर्य में बाधक माने गए।

अणुव्रत एवं महाव्रत में अन्तर

उपर्युक्त पाँच व्रतों का विधान सभी के लिए आवश्यक है, चाहे वह साधु हो या गृहस्थ। जहाँ साधु के लिए कठोरता से इनके पालन की अपेक्षा की गई है, वहीं गृहस्थ को इनके पालन में कुछ ढिलाई दी गई है। साधुओं द्वारा कठोरता से पालन किए गए व्रत महाव्रत हैं, जबकि गृहस्थ अथवा श्रावक द्वारा पालन किए गए व्रत अणुव्रत हैं। पाँच महाव्रतों की कठोरता एवं अतिवादिता को कम करके इनका विधान जैन गृहस्थ अनुयायियों के लिए रखा गया है। उदाहरणार्थ— ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अन्तर्गत विवाह तो कर सकता

है, परन्तु परस्त्रीगमन निषेध है। अपरिग्रह अणुव्रत के अनुसार व्यक्ति वस्तुएँ तो रखे परन्तु आवश्यकतानुसार। परन्तु महाव्रतधारी के लिए किसी भी वस्तु का संग्रह उसके मार्ग में बाधक माना गया है।

महावीर के पश्चात् जैन-धर्म का प्रसार

महावीर के जीवनकाल में हो उनके मत का मगध तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में व्यापक प्रचार हो गया था। मगध नरेश अजातशत्रु तथा उसके उत्तराधिकारी उदायिन ने इसके प्रचार में योगदान दिया। महावीर ने अपने जीवनकाल में एक संघ की स्थापना की। उसमें 11 गणधर (प्रमुख अनुयायी) रखे गए और इन्हें अलग-अलग समूहों का अध्यक्ष बनाया गया। महावीर के निर्वाण के पश्चात् केवल एक गणधर सुधर्मन बचा, जो जैन संघ का प्रथम अध्यक्ष बना। इस प्रकार महावीर अपने निर्वाण के समय तक इस धर्म को लोकप्रिय बना चुके थे। महावीर के निर्वाण के पश्चात् जैन धर्म का मगध से पश्चिम और दक्षिण की ओर प्रसार हुआ। जैन साहित्य के अनुसार सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य तथा जैन साधु भद्रबाहु बहुत से जैन भिक्षुओं के साथ दक्षिण में श्रवणबेलगोला (मैसूर) में बसे थे। सम्राट अशोक के पौत्र सम्प्रति को जैन धर्मावलम्बी बताया गया है। कलिंगराजा खारवेल जैन-धर्म का महान् संरक्षक था। प्रथम से तीसरी शताब्दी ई. के मध्य जैन-धर्म उत्तर भारत विभिन्न क्षेत्रों, विशेषतः मगध, मथुरा, मालवा, गुजरात आदि में प्रसारित हो चुका था। इसी काल में दक्षिण में आन्ध्र, कर्नाटक तथा तमिलनाडु में जैन धर्म का प्रचार हो चुका था। पाँचवीं शताब्दी ईस्वी के बाद दक्षिणी भारत के बहुत से राजवंशों जैसे गंग, कदम्ब, चालुक्य तथा राष्ट्रकूटों ने भी जैन-धर्म को संरक्षण प्रदान किया। इसी समय गुजरात में जैन धर्म प्रभावी हो गया था। बाद में चालुक्य नरेश कुमारपाल और जयसिंह सिद्धराज (12 वीं शताब्दी) दोनों ही जैन धर्म के महान् संरक्षक सिद्ध हुए। पूर्व मध्यकाल में राजस्थान में जैन धर्म का विशेष प्रसार हुआ। भीनमाल जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था ! बारहवीं शताब्दी से पूर्व राजस्थान में झालरापाटन, रणकपूर, माउन्ट आबू, ओसियां आदि जैन-धर्म के रूप में स्थापित हो चुके थे। आज भी गुजरात एवं राजस्थान में इस धर्म के अनुयायी बड़ी संख्या में हैं।

जैन धर्म के सम्प्रदाय

कृ

प्राचीन भारतीय इतिहास

कृ

वे पूर्ण

महावीर के पश्चात् कालान्तर में जैन धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया— श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय लगभग 310 ई.पू. मगध में 12 वर्षों का लम्बा दुर्भिक्ष पड़ा। इस विपदा से बचने के लिए आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में 12000 भिक्षु दक्षिण चले गए, नग्नता के नियम का पालन करते थे। उनकी अनुपस्थिति में मगध में आचार्य स्थूलभद्र ने इसमें छूट दे दी और भिक्षुओं को श्वेत वस्त्र धारण करने की अनुमति प्रदान कर दी। साथ ही, इसी समय स्थूलभद्र ने मगध में एक संगीति बुलाकर भगवान महावीर के वचनों का संग्रह और संकल्प कार्य करवाया। संगीति 1, अंगों को ही प्रस्तुत कर सकी किन्तु 12 वाँ अंग प्रस्तुत नहीं कर सकी। अकाल पश्चात् भद्रबाहु मगध वापस लौटे, तो उन्हें स्थूलभद्र के कृत्य एवं व्यवहार उचित नहीं लगे। उसने स्थूलभद्र द्वारा संकलित ग्रंथों को भी मान्यता नहीं दी। इस सब बातों को लेकर मूल संघ दो सम्प्रदायों में बँट गया, यथा— श्वेताम्बर एवं दिगम्बर जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों में मुख्य अन्तर निम्न हैं—

(1)

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोग श्वेत वस्त्र धारण करते हैं तथा वस्त्र धारण को वे मोक्ष प्राप्ति में बाधक नहीं मानते हैं। इसके विपरीत दिगम्बर मतानुयायी पूर्णतया नग्न रहकर तपस्या करते हैं तथा वस्त्र धारण को मोक्ष के मार्ग में बाधक मानते हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

स्व-प्रगति का परीक्षण करें रु

(2)

श्वेताम्बर मत के अनुसार स्त्री मोक्ष की अधिकारिणी है, जबकि दिगम्बर मत के का स्त्रीत्व ही मोक्ष में बाधक है।

अनुसार

स्त्री

1. निवृत्तिपरक का क्या अर्थ है।

2.

अणुव्रत एवं महाव्रत में क्या अन्तर हैं?

(3)

श्वेताम्बर मत के अनुसार महावीर का यशोदा से विवाह हुआ, दिगम्बर इसे नहीं मानते हैं और कहते हैं कि वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे।

3. बौद्धधर्म की आधारशिला किसमें

निहित है।

(4)

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार 19वें तीर्थंकर मिल्लिनाथ स्त्री थे, जबकि दिगम्बर

परम्परा के अनुसार वे पुरुष ही थे।

(5)

श्वेताम्बर समुदाय के साधु जैन-धर्म के सिद्धान्तों में लचीलापन दिखाते हैं, जबकि दिगम्बर परम्परा के

समुदाय के साधु को नियमों का कठोरता से पालन करना अपेक्षित है।

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

125

चीन भारतीय इतिहास

छब्बै

पिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प नि

जैन धर्म के सीमित प्रचार के कारण

जैन-धर्म का प्रचार— क्षेत्र बहुत सीमित दिखाई देता है। महावीर स्वामी के जीवनकाल में वह मुख्यतः मगध और अंग में ही प्रचारित हुआ। उनकी मृत्यु के बाद भी उसका प्रचार क्षेत्र मूलतः दक्षिण भारत एवं पश्चिमी भारत तक ही सीमित रहा। जैन धर्म कभी भी देशव्यापी नहीं बन सका। जैन धर्म के सीमित प्रचार के कई कारण थे—

.

कृ

(1) आचार — मार्ग की कठोरता जैन-धर्म का आचार-मार्ग बहुत कठोर तथा कष्टसाध्य था जो सामान्य जनता के लिए अव्यावहारिक था, इसलिए वह उन्हें आकर्षित नहीं कर सका। जैन धर्म के अहिंसा, वस्त्रहीनता, कायाक्लेश, अनेकात्मवाद जैसे सिद्धान्तों को जनसामान्य सहजता से आत्मसात् नहीं कर पाया। दूसरी ओर बौद्ध धर्म के सिद्धान्त अपेक्षाकृत अधिक सरल एवं व्यावहारिक थे।

—

(2) ब्राह्मण-धर्म से अपृथक्ता ब्राह्मण धर्म के विरोध में जैन धर्म अपनी प्राचीन नूतनता और स्वतन्त्र अस्तित्व को धीरे-धीरे खोता चला गया। कालान्तर में ब्राह्मण धर्मों की बहुत-सी बातें जैन-धर्म ने स्वीकार कर लीं। ब्राह्मण धर्म का भक्तिवाद, उसके अनेक देवी-देवता जैन-धर्म का अंग बन गए। जैन-धर्म के बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि को कृष्ण का अवतार मान लिया गया। बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म की जटिलता के विरोध में अपनी नवीनता के कारण लोकप्रिय हुआ था, जैन-धर्म यह विशिष्टता हासिल नहीं कर सका।

कृ

कृ

(3) व्यापक राज्याश्रय का अभाव जैन धर्म को उस प्रकार का राजकीय आश्रय एवं समर्थन नहीं मिल सका जैसा कि बौद्ध धर्म को एक लम्बी अवधि तक निरन्तर मिलता रहा। बौद्ध धर्म को तो अशोक, कनिष्क एवं हर्ष जैसे नरेशों का

प्राचीन भारतीय इतिहास

विपुल राजकीय संरक्षण एवं प्रोत्साहन मिला लेकिन ऐसे सम्राटों का राज्याश्रय जैन-धर्म को उपलब्ध नहीं हो सका।

महान्

रू

(4) जनतन्त्रात्मक संघ का अभाव बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का कारण उसके संघों का जनतन्त्रात्मक गठन एवं संचालन था। जैन संघों में इस प्रकार का कोई स्पष्ट विधान नहीं था, वहाँ शक्ति संघ के प्रमुख धर्माचार्यों के हाथ में ही प्रायः केन्द्रित रही। इसका परिणाम यह हुआ कि समत्व की भावना के अभाव में, जनसामान्य या जनमानस जैन संघों की ओर अधिक आकृष्ट नहीं हो पाया।

(5) कर्मठ साहसिक प्रचारकों का अभाव बौद्ध धर्म के कर्मठ एवं साहसिक प्रचारकों ने तमाम बाधाओं को पार करते हुए, देश एवं विदेश दोनों जगह अपने धर्म का खूब प्रचार किया। जैन धर्म के अनुयायियों में इस प्रकार की उत्कट प्रचार भावना का अपेक्षाकृत अभाव दिखाई देता है। जैन धर्म के स्थायित्व के कारण

—

जैन-धर्म भारतवर्ष में आज भी जीवित है। दूसरी ओर, बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि भारत में

—

—

लुप्तप्राय हो गया, यद्यपि दूसरे देशों में वह आज भी प्रचलित है। भारत में जैन धर्म के स्थायित्व के क्या कारण हैं? इसके तीन प्रमुख कारण जान पड़ते हैं, एक तो जैन धर्म के अनुयायी जाति के रूप में संगठित हो गए। दूसरे उसके अनुयायियों की संख्या कम रही और उन्होंने इसकी परम्परा को बनाये रखा, तीसरे, कालान्तर में जैन ब्राह्मण-धर्म से अभिन्न दिखाई देने लगा और ब्राह्मण धर्माचार्यों ने जैन धर्म का उतना कटु विरोध नहीं किया, जैसा शंकराचार्य आदि ने बौद्ध धर्म का किया था।

जैन संगीतियाँ

—

जैन-धर्म ग्रन्थों को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए दो सभायें (संगीतियाँ) समय

— समय पर आयोजित की गई थीं—

प्रथम जैन संगीति— यह चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में (लगभग 300 ई.पू.) पाटलिपुत्र में सम्पन्न हुई थी। यह संगीत स्थूलभद्र एवं सम्भूति विजय नामक स्थविरों के नेतृत्व में आयोजित की गई थी। इस संगीति में अंगों का सम्पादन किया गया। इस सभा के निर्णयों को भद्रबाहु और उसके अनुयायियों ने नहीं माना। परिणामतः जैन धर्म दो शाखाओं में विभक्त हो गया।

द्वितीय जैन संगीति — यह संगीति गुजरात के वल्लभी में 513 ई. में आयोजित की गई इस संगीति की अध्यक्षता देवखधगणि ने की थी। इसमें धर्मग्रन्थों का संकलन कर उन्हें लिपिबद्ध किया गया था।

जैन धर्म की विश्व को देन

—

यद्यपि जैन धर्म का प्रचार—प्रसार अधिक नहीं हो पाया, फिर भी इस धर्म ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न पक्षों को बहुत प्रभावित किया। संक्षेप में, इसके योगदान का विवेचन निम्न प्रकार है—

(1) जैन धर्म की अहिंसा नीति प्रारम्भ से ही भारतीयों का अंग रही है। जैन विचारधारा ने सदाचार एवं संयमित जीवन की जो उपयोगिता बताई, वह भारतीय धर्मों का आधार बनी। अनेकान्तवाद का सिद्धान्त विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायों के बीच भेदभाव मिटाकर समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास माना जा सकता है।

(2) जैन—धर्म की देन साहित्य के क्षेत्र में भी कम नहीं रहीं। जैन विद्वानों ने विभिन्न कालों में लोकभाषाओं में माध्यम से अपनी कृतियों की रचना करके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, तेलुगू आदि भाषाओं में जैन साहित्य का विशाल भण्डार आज भी जैन ग्रन्थ भण्डारों में मौजूद है। अकेले राजस्थान में ही अनेक दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध जिनमें ताड़पत्रों पर लिखे हुए ग्रन्थ भी शामिल हैं। राजपूत काल में हेमचन्द्र आदि जैन विद्वानों ने अनेक अन्थों को लिखकर भारतीय साहित्य को समृद्ध बनाया।

कृ

□

(3) जैन धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में रहा। उड़ीसा के पुरी जिले में उदयगिरी एवं खण्डगिरि की 35 जैन गुफाएँ स्थापत्य के क्षेत्र में विरासत हैं। एलोरा में भी कई जैन गुफाएँ हैं। मध्यभारत में खजुराहो के कतिपय जैन मन्दिर दसवीं एवं ग्यारहवीं शताब्दी के हैं। राजस्थान में आबू पर्वत के देलवाड़ा मन्दिर विश्व प्रसिद्ध हैं, जो संगमरमर के हैं। इन मन्दिरों की मूर्तिकला के अलावा तोरण द्वार, नक्काशी आदि का काम मन को मुग्ध कर देता है। यहाँ की बारीक नक्काशी को कला—मर्मज्ञों ने प्रशंसा की है। राजस्थान में ही ओसियाँ, रणकपुर और झालरापाटन के जैन मन्दिर भारत में प्रसिद्ध हैं। गुजरात की गिरनार की पालीताना पहाड़ियों पर जैन मन्दिरों के समूह हैं। मध्य प्रदेश के बुन्देलखण्ड क्षेत्र में प्राचीन जैन मूर्तियाँ बिखरी पड़ी श्रवणबेलगोला, कर्नाटक में 983 ई. की बाहुबली प्रथम तीर्थंकर के पुत्र की 56 फुट ऊँची खण्डगासन मूर्ति विश्व प्रसिद्ध है। यह एक ही कठोर पाषाण से निर्मित है। इस मूर्ति में शक्ति तथा साधुत्व और बल तथा औदार्य की उदात्त भावनाओं का अपूर्व प्रदर्शन है। शत्रुंजय पहाड़ी पर 500 जैन मन्दिरों का समूह दर्शनीय है।

(ब) बौद्ध धर्म

भारतीय धर्मों के इतिहास में बौद्ध धर्म का इतिहास अद्वितीय है। इस धर्म का उदय छठी शताब्दी ई. पू. में महात्मा बुद्ध के द्वारा हुआ था। बौद्ध धर्म तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम था। धार्मिक क्रांति के इस युग में बौद्ध धर्म का आगमन एक ध्रुव तारे के समान था। बौद्ध धर्म आज भी लोगों के लिए आकर्षक

प्राचीन भारतीय इतिहास

है। बौद्ध धर्म का उदय निवृत्तिवादी श्रमण परम्परा को ही एक कड़ी थी। वैदिक परम्परा का विरोध मुखरित कर बौद्ध धर्म ने एक सामाजिक एवं नैतिक आन्दोलन की शुरुआत की।

बुद्ध का संक्षिप्त जीवन वृत्तान्त

—

जन्म एवं बचपन बुद्ध का जन्म 563 ई.पू. में शाक्य गणराज्य की राजधानी कपिलवस्तु से 14 मील दूरी पर अवस्थित लुम्बिनी, वर्तमान रूमिनदेई वन में हुआ था, जो नेपाल की तराई में है। महात्मा बुद्ध के जन्म का नाम सिद्धार्थ था। गौतम गोत्र से सम्बन्धित होने के कारण उन्हें गौतम भी कहा जाता है। इनके पिता शुद्धोदन कपिलवस्तु के शाक्य गणराज्य के प्रधान थे। बुद्ध की माता का नाम महामाया था, जो कोलिय गणराज्य की राज्यकन्या थी। बुद्ध के जन्म के सातवें दिन माता महामाया का निधन हो गया। उसके बाद बुद्ध का लालन-पालन उनकी मौसी महाप्रजापति गौतमी ने किया। कहा जाता है कि बुद्ध के

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

127

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

123

जन्म पर कालदेवल नामक तपस्वी एवं भविष्यवेत्ता ब्राह्मण कौण्डिन्य ने यह भविष्यवाणी की थी कि यह बालक बड़ा होकर एक चक्रवर्ती शासक या महान् संन्यासी बनेगा।

—

महाभिनिष्क्रमण शब्दोदन के प्रयासों के बावजूद सिद्धार्थ बचपन से ही चिंतनशील रहने लगे। पिता द्वारा रास रंग में बांधे रखने के प्रयास सफल नहीं हो पाये। उनका विवाह 16 वर्ष की आयु में कोलिय गणराज्य की रूपलावण्यमयी राजकुमारी यशोधरा के साथ कर दिया गया। कहीं-कहीं उनकी भार्या का नाम गोया या बिम्बा भी दिया गया है। विवाह के 12 वर्ष पश्चात् उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम राहुल रखा गया। राहुल के जन्म का समाचार सुनकर गौतम ने कुछ विचलित भाव से कहा, 'आज मेरे बन्धन की श्रृंखला में एक कड़ी और जुड़ गई।' १

लगभग 13 वर्ष तक गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी सिद्धार्थ का मन सांसारिक प्रवृत्तियों में नहीं लग सका। सिद्धार्थ के मन में वैराग्य भावना बढ़ती जा रही थी। बौद्ध साहित्य में ऐसी अनेक घटनाओं और दृश्यों के उल्लेख मिलते हैं, जिनसे सिद्धार्थ की चिन्तनशील प्रवृत्ति को नई दिशा मिली। बौद्ध साहित्य के अनुसार, नगर भ्रमण के दौरान भिन्न-भिन्न अवसरों पर सिद्धार्थ ने

मार्ग में पहले जर्जर शरीर वृद्ध, फिर व्यथापूर्ण रोगी, फिर मृतक और अन्त में प्रसन्नचित संन्यासी को देखा। इन दृश्यों को देखकर सिद्धार्थ को पक्का विश्वास हो गया कि संसार दुःखों का घर है और यह शरीर, यौवन और सांसारिक सुख क्षणिक हैं। धीरे-धीरे सिद्धार्थ के मन में वैराग्य का विचार दृढ़ीभूत हो गया। इसी वैराग्य भावना ने उन्हें तृष्णा की जंजीर को तोड़ने, अज्ञान का कोहरा दूर भगाने तथा अपनेपन की मिथ्या मति को मिटाने की प्रेरणा प्रदान की तथा एक रात्रि को अपने पुत्र, पत्नी और पिता तथा सम्पूर्ण राज्य-वैभव को त्यागकर वे ज्ञान की खोज में निकल पड़े। उनके जीवन की इस घटना को बौद्ध धर्म एवं साहित्य में श्महाभिनिष्क्रमण के नाम से पुकारा जाता है।

उस महाभिनिष्क्रमण की रात्रि को वह अपने घोड़े कंधक पर 30 योजन निकल गए और गोरखपुर के समीप अनोमा नदी के तट पर उन्होंने अपने राजसी वस्त्र उतार दिए और तलवार से अपने राजसी बाल काट डाले एवं अपने आभूषण तथा राजसी वस्त्र एक साधारण किसान को देकर स्वयं उसके वस्त्र धारण कर लिए। निश्चय ही अमावस्या की वह रात्रि अपने आगोश में अनेक विचारों एवं द्वंद्वों के समेटे हुए होगी क्योंकि दुनिया में मानव जाति के लिए व्याकुल कोई व्यक्ति राजसी ठाट-बाट को छोड़कर एक बृहत् उद्देश्य के लिए जंगल की ओर निकल रहा था।

कृ

सम्बोधि ज्ञान की खोज में गौतम एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करने लगे। सबसे पहले उनका सम्पर्क वैशाली के समीप आलार कालाम नामक तपस्वी से हुआ, जो सांख्य दर्शन का विद्वान था। इसके बाद वे घूमते हुए राजगृह के निकट रुद्रक रामपुत्र नामक आचार्य के आश्रम में पहुँचे, जो योग की शिक्षा प्रदान करते थे। यहाँ रहकर भी गौतम को सन्तोष नहीं मिला। यहाँ से वे उरुवेला की सुरम्य वनस्थली में आये और तपस्या में लीन हो गए। यहाँ उन्हें कौण्डिन्य आदि पांच ब्राह्मण साधक संन्यासी भी मिल गए। अपने इन ब्राह्मण साथियों के साथ वे उरुवेला में कठोर तपस्या करने लगे। गौतम ने तपस्या को अधिक कठोर कर आहार का भी त्याग कर दिया, जिससे उनका शरीर निश्चल एवं शक्तिहीन सा हो गया, लेकिन उन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। ऐसी जनश्रुति है कि एक दिन नगर की कुछ स्त्रियाँ गीत गाती हुई उस ओर से निकलीं, जहाँ सिद्धार्थ तपस्यारत थे। उनके कान में स्त्रियों का एक गीत पड़ा, जिसका भावार्थ था, श्वीणा के तारों का ढीला मत छोड़ो। ढीला छोड़ देने से उनसे सुरीला स्वर न निकलेगा। परन्तु तारों को इतना भी मत कसो, जिससे वे टूट जाएं। कहते हैं कि सिद्धार्थ के हृदय में गीतों के भावों का गहरा असर पड़ा। यहीं से उन्हें जीवन में मध्यम मार्ग का दर्शन — ज्ञान हुआ। उन्होंने जान लिया कि योग सायना में हल्का आहार बाधक नहीं है। अतः गौतम ने पुनः अन्न ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। उन्हें ऐसा करते देख अनके पाँच ब्राह्मण साथियों ने नाराज होकर कहा कि श्मौतम भोगवादी है। वह अपने पथ से भ्रष्ट हो गया है। ऐसा कहकर वे गौतम का साथ छोड़कर चले गए।

प्राचीन भारतीय इतिहास

उरुवेला से गौतम गया चले आए और वहीं एक वटवृक्ष के नीचे बैठकर ध्यानस्थ हो गए। सात दिन अखण्ड समाधि में स्थित रहने के बाद आठवें दिन वैशाखी पूर्णिमा की रात को उन्हें सम्बोधि (आन्तरिक ज्ञान)

प्राप्त हुआ और अब वे बुद्ध (जिसे ज्ञान प्राप्त हो) के नाम से विख्यात हुए। अब वे तथागत,

जिसने सत्य को जान लिया, बौद्ध के नाम से भी जाने गए। जिस वृक्ष के नीचे उन्हें बोध प्राप्त हुआ था, उसका नाम बोधिवृक्ष पड़ गया अब बोधगया के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस घटना के बाद भी महात्मा बुद्ध चार सप्ताह उसी बोधिवृक्ष के नीचे रहे और धर्म के स्वरूप का चिन्तन करते रहे।

धर्म-चक्र-प्रवर्तन – बुद्ध ने ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् पीड़ित मानवता के उद्धार के लिए ज्ञान का सबको उपदेश देने का निश्चय किया। वे गया से सारनाथ (बनारस) पहुँचे और वहाँ उन्होंने सर्वप्रथम धर्म का उपदेश उन ब्राह्मण साथियों को दिया, जो उन्हें गया में छोड़कर चले गए थे। बौद्ध साहित्य में प्रथम धर्म उपदेश की यह घटना धर्म चक्र प्रवर्तन (धर्मरूपी चक्र का चलना) कहलाती है। चक्र यहाँ धर्म के चक्रवर्ती साम्राज्य का प्रतीक है।

—

इसके बाद महात्मा बुद्ध काशी पहुँचे। वहाँ एक धनिक व्यक्ति यश महात्मा बुद्ध का शिष्य एवं बौद्ध भिक्षुक हो गया और उसके परिवारजन भी बौद्ध धर्म के अनुयायी हो गए। शीघ्र ही महात्मा बुद्ध के शिष्यों की संख्या आठ हो गई उन्होंने इन शिष्यों को धर्म प्रचार का दायित्व सौंपते हुए कहा— श्रेष्ठ भिक्षुओ, आरम्भ में कल्याणकर, मध्य में कल्याणकर और अन्त में कल्याणकर, इस धर्म का अपदेश करो। लोगों के हित के लिए, लोगों के कल्याण के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। १

□

काशी से बुद्ध उरुवेला पहुँचे, जहाँ काश्यप के नेतृत्व में अनेक ब्राह्मण पुरोहित बुद्ध के शिष्य बन गए। उरुवेला से अपने शिष्यों के साथ बुद्ध राजगृह पहुँचे, जहाँ मगध नरेश बिम्बिसार अपने अनुचरों के साथ बुद्ध के दर्शन एवं उनके उपदेश सुनने के लिए स्वयं उपस्थित हुआ। इसी समय सारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन भी

बुद्ध

के शिष्य बन गए। बौद्ध धर्म के प्रचार कार्य में इन ब्राह्मण विद्वानों का उल्लेखनीय हाथ रहा। कुछ ही समय में बुद्ध के शिष्यों की संख्या 60 हो गई। तब उन्होंने एक संघ की स्थापना की, जिनकी सहायता से लगभग 45 वर्षों तक बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया।

धर्म प्रचार करते हुए बुद्ध अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु पहुँचे। वहाँ उनका भव्य स्वागत हुआ। उसी समय उनका पुत्र राहुल एवं परिवार के अन्य सदस्य उनके शिष्य बन गए। यहाँ से तथागत वैशाली पहुँचे। वैशाली की विख्यात नगरवधू आम्रपाली बुद्ध की शिष्या बन गई और उसने भिक्षुओं के निवास के लिए अपनी

आम्रवाटिका प्रदान की। यहीं पर महात्मा बुद्ध ने महाप्रजापति गौतमी के विशेष आग्रह पर स्त्रियों को संघ में प्रवेश की स्वीकृति प्रदान की। इसके बाद कोसल जनपद की राजधानी श्रावस्ती पहुँचे। वहाँ का एक अत्यन्त धनी सेठ अनाथपिण्डक बुद्ध का अनुयायी बन गया। उसने राजकुमार जेत से बहुमूल्य जेतवन विहार खरीदा और उसे बौद्ध संघ को प्रदान किया। कौशल नरेश प्रसेनजित भी महात्मा बुद्ध की शरण में आ गया और उसने संघ के लिए पूर्वाराम नामक विहार बनवाया। कौशल जनपद में ही अंगुलिमाल नामक दुर्दान्त डाकू उनका शिष्य बन गया।

बुद्ध जीवनपर्यन्त मगध, काशी, कौशल, वज्जि, मल्ल, वत्स, शाक्य, कोलिया, मोरिय, अंग आदि जनपदों में विचरते रहे और अपनी शिक्षाओं का प्रचार करते रहे। उन्होंने अपना सर्वाधिक समय कोसल जनपद में बिताया। अर्वोति राज्य में उन्होंने महाकच्चायन के नेतृत्व में अपने शिष्यों का एक दल भेजा था, जिसका वहाँ अभूतपूर्व स्वागत हुआ।

महापरिनिर्वाण अपने जीवन के अन्तिम दिनों में बुद्ध भ्रमण करते हुए मल्ल जनपद की राजधानी पावा पहुँचे। वहाँ उन्होंने चुन्द नामक व्यक्ति के यहाँ भोजन किया, जिसके बाद उन्हें अतिसार हो गया। इस कष्ट को सहन करते हुए वे कुशीनगर पहुँचे। यहाँ 483 ई.पू. में अस्सी वर्ष की अवस्था में, उन्होंने हिरण्यवती नदी के तट पर शरीर त्याग दिया। इस घटना को बौद्ध ग्रन्थों में महापरिनिर्वाण कहा जाता है। निर्वाण के पूर्व उन्होंने भिक्षुओं को संबोधित किया। आनन्द सम्भवतः तुमने ऐसा सोचा कि हमारे शास्त्र चले गए, अब हमारा शास्त्र नहीं है आनन्द इसे ऐसा मत समझना मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किए हैं, प्रज्ञप्त किए हैं, मेरे बाद वे ही तुम्हारे शास्त्र होंगे। इसलिए आनन्द आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप, धर्मशरण होकर विहरो! (महापरिनिर्वाण सुत्त दीर्घानिकाव्य) प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

ख२९

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

130

बौद्ध धर्म की शिक्षाये

बौद्ध धर्म मूल रूप से आचारमूलक और व्यावहारिक धर्म है। महात्मा बुद्ध ने धर्म के दार्शनिक पक्ष के स्थान पर व्यवहार पर अधिक बल दिया है। निःसन्देह वे व्यावहारिक और नैतिक धर्म के संस्थापक थे। उनकी दृष्टि में धार्मिक क्रियाओं और गूढ़ चिन्तन की अपेक्षा शुद्ध आचरण, शुद्ध विचार, शुद्ध कर्म और शुद्ध भावना अधिक महत्वपूर्ण है। उनका धर्म मानवता की उच्चतम सीमा तक

प्राचीन भारतीय इतिहास

पहुँच गया था। वे दार्शनिक प्रश्नों में नहीं उलझें। कई जटिल प्रश्नों को उन्होंने श्रव्याकृत कक्षा। अनावश्यक एवं अव्यावहारिक प्रश्न में उलझने की दृष्टि को बुद्ध ने श्रुष्टियों का जंगल, दृष्टियों का जाल एवं दृष्टियों का बन्धन कहा है। बुद्ध अपने उपदेशों में कहा करते थे, श्रुष्टियों! मैं दो बातों का ही उपदेश देता हूँ। – दुःख और दुःख निरोध द्य दुःख संसार है और दुःख निरोध निर्वाण है। चार आर्य सत्य बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की आधारशिला उसके चार आर्य सत्यों (चत्वारि आर्य सत्यानि) में निहित है। ये चार आर्य सत्य हैं— (1) दुःख (2) दुःख समुदाय (3) दुःख निरोध और (4) दुरुख निरोध मार्ग

1. दुःख प्रथम आर्य सत्य है कि जीवन दुःखमय है। संसार में सर्वत्र दुःख छाया हुआ है। श्रजन्म भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रिय लोगों से मिलना भी दुःख है, प्रिय लोगों का बिछुड़ना भी दुःख है और इच्छा करने पर किसी वस्तु का न मिलना भी दुःख है।

2. दुःख समुदाय द्वितीय आर्य सत्य यह है कि दुःख अकारण नहीं है। जब दुःख है तो कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। बौद्ध धर्म के प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम के अनुसार, सृष्टि का चक्र कार्य-कारण श्रृंखला में बाँधा है। इसका अर्थ है कि कारण के होने पर ही कार्य होता है, यह नियम अटल है। इसलिए दुःख का भी कारण है। दुःख का मूल कारण अविद्या है, जिसका अर्थ है— अपने वास्तविक स्वरूप के बारे में मिथ्या धारण। अविद्या से तृष्णा उत्पन्न होती है, जो मनुष्य को अन्ततः दुःखों के सागर में डुबो देती है।

3. दुःख निरोध तृतीय आर्य सत्य है कि जहाँ दुःख का कारण है, वहाँ उससे छुटकारा भी है। दुःख को दूर करने के उपाय उसके कारण को दूर करना है। दुःख का कारण तो तृष्णा है, उसको जड़ से उखाड़ फेंक देने से दुःख का निरोध हो सकता है। अविद्या एवं तृष्णा की समाप्ति ही दुःख के अन्त का उपाय है।

कृ

निरोध मार्ग चतुर्थ आर्य सत्य यह है कि यदि दुःख का कारण है, दुःख का निदान सम्भव दुःख

है तो फिर इसका कोई तरीका अथवा मार्ग भी होना चाहिए। महात्मा बुद्ध ने इस मार्ग को दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा या दुःख निरोध मार्ग कहा। इसे अष्टांगिक मार्ग भी कहा गया है क्योंकि इसमें आठ चरणों का उल्लेख है, जो इस प्रकार हैं—

—

1. सम्यक दृष्टि सत्यदृष्टि, सत्य-असत्य को पहचानने का ज्ञान। सभी प्रकार के अच्छे-बुरे

कर्मों का ज्ञान। बुद्ध के वचनों में विश्वास और आर्य सत्यों का ज्ञान।

कृ

2. सम्यक् संकल्प इच्छा एवं हिंसारहित संकल्प आत्मकल्याण का पक्का निश्चय ही सम्यक् संकल्प है।

3. सम्यक् वाणी सत्य एवं मृदु वाणी । झूठ, चुगली, कटुभाषण एवं अनावश्यक वाणी प्रयोग से बचना। वाणी पर संयम ।

4. सम्यक् कर्मान्त सभी कर्मों में पवित्रता रखना। हिंसा, चोरी, व्यभिचार रहित कर्म दया, दान, करुणा, मैत्री, अहिंसा का आचरण ।

5. सम्यक् आजीव

—

जीवन—यापन

जीवन यापन का सदाचारपूर्ण एवं उचित मार्ग जीवन निर्वाह के लिए निषिद्ध मार्गों का त्याग। हथियार व्यापार, मांस व्यापार, मदिरा एवं विष का व्यापार मादि अनुचित । नैतिक नियमों के अनुकूल जीविका के साधन

=

6. सम्यक् व्यायाम विवेकपूर्ण प्रयत्न, शुद्ध एवं ज्ञान युक्त प्रयत्न, मानसिक दोषों को हटाकर अपने व्यक्तित्व को शुद्ध बनाने के लिए प्रयत्न अशुभ कर्मों का त्याग और शुभ कर्मों के लिए प्रयत्नशील द्य

कृ

7. सम्यक् स्मृति शरीर एवं मन की दुर्बलता की निरंतर स्मृति एवं मन को ठीक विषय पर

लगाना। चित्त को संताप से बचाना। उत्तम शिक्षाओं का स्मरण द्य सदा जागरूक बने रहना।

8. सम्यक् समाधि चित्त की एकाग्रता, चित्त के विक्षेप को दूर करना, चार आर्य सत्त्यों का

निरन्तर ध्यान द्य

इस प्रकार दुःख निरोध मार्ग एक मध्यम मार्ग है। इस मध्यम प्रतिपदा भी कहा जाता है। यह मार्ग दो अतियों के बीच का मार्ग है, जिसमें अत्यधिक शारीरिक कष्ट एवं अत्यधिक शारीरिक सुख, इन दोनों स्थितियों का निषेध है। बुद्ध ने न तो अत्यधिक तपस्या का विधान किया और न आधिक भोग—विलास का । वास्तव में उन्होंने भोग और त्याग के बीच का मार्ग अपनाया। इस प्रकार बुद्ध मध्यम मार्ग के प्रवर्तक थे ।

प्रतीत्यसमुत्पाद— प्रतीत्यसमुत्पाद का शाब्दिक अर्थ है— किसी वस्तु के प्राप्त होने पर दूसरे की उत्पत्ति अथवा एक कारण के आधार पर कार्य की उत्पत्ति अथवा ऐसा होने पर वैसा उत्पन्न होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के तीन सूत्र बताये गए हैं— (1) इसके होने पर यह होता है (2) इसके होने पर यह नहीं होता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

(3) इसका निरोध होने पर यह निरुद्ध हो जाता है। इस नियम के अनुसार संसार के सारे पदार्थ तथा अवस्थाएँ किन्हीं कारणों पर निर्भर हैं। प्रत्येक वस्तु या घटना का कोई—न—कोई कारण अवश्य होता है किसी कारण के बिना किसी भी घटना या कर्म का जन्म नहीं होता है। इसी प्रकार कर्म या घटना को उत्पन्न किए बिना कारण भी नहीं रह सकता। प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम को बुद्ध ने दुःखमय संसार पर लागू किया और दुःख के कारणों में ढूँढा। प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम एवं दुःख के कारणों का ज्ञान हो जाने से ही सिद्धार्थ अन्त में महात्मा बुद्ध बन सके। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दुःख की उत्पत्ति का कारण अविद्या है। अतः अविद्या के निवारण द्वारा उससे उत्पन्न होने वाले दुःख से भी छुटकारा पाया जा सकता है। बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद के नियमों को इतना महत्वपूर्ण मानते थे कि उन्होंने इसका नाम धर्म दिया।

—

कृ

□

निर्वाण निर्वाण बौद्ध धर्म का चरम लक्ष्य है। जिसे हिन्दू धर्म में मोक्ष एवं जैन धर्म में कैवल्य कहा गया है, उसी स्थिति को बौद्ध धर्म में निर्वाण कहा गया है। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है, दीपक के समान बुझ जाना या शान्त हो जाना। परन्तु बौद्ध दर्शन के अनुसार, निर्वाण परम आनन्द, परम सुख परम ज्ञान और परम शान्ति की अवस्था है। निर्वाण कोई ऐसी अवस्था नहीं है, जो मरणोपरान्त प्राप्त होती है। मनुष्य के जीवित रहते हुए भी पूर्णता की यह अवस्था प्राप्त हो सकती है। महात्मा बुद्ध ने मृत्यु के पूर्व ही निर्वाण प्राप्त किया था।

निर्वाण का अर्थ निष्क्रियता नहीं है, क्योंकि निर्वाण प्राप्ति के बाद भी बुद्ध धर्म प्रचार के कार्य में निरन्तर लगे रहे। अतः निर्वाण जीवन काल में ही प्राप्त होने वाली परम शान्ति की वह अवस्था है, जिसकी तुलना किसी भी प्रकार के सांसारिक सुखों से नहीं की जा सकती, जो वर्णनातीत है। निर्वाण प्राप्ति के साथ ही दुःखों तथा पुनर्जन्म से मुक्ति मिल जाती है।

—

कर्मवाद बौद्ध धर्म कर्म प्रधान है। कर्म का बौद्ध धर्म में अर्थ मनुष्य की समस्त शारीरिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओं से है। बौद्ध धर्म सृष्टि के कर्ता या नियन्ता के रूप में किसी ईश्वर या दैवीय शक्ति को नहीं मानता है। उसके अनुसार, समस्त जगत् के कार्य—व्यापारों का नियन्ता कर्म है। बौद्ध धर्म में कर्म का ही स्थान है, जो आस्तिक धर्म में ईश्वर का है। बुद्ध ने कहा था, श्रमो भी व्यक्ति, चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो अथवा शूद्र हो, सम्यक् कर्म करेगा, वह निर्वाण प्राप्त कर सकेगा। महात्मा बुद्ध ने कर्म के आधार पर प्राणियों की हीनता और उत्तमता के भेद की व्याख्या करते हुए कहा था, श्रमणी कर्म के अधीन है, कर्म ही उसकी वर्तमान दशा का कारण है। कर्म ही प्राणियों का बन्धु और आश्रय

। प्राणियों में जो हीनता और उत्तमता दिखाई देती है, उसका कारण भी कर्म

है। ३

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

131

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

ख32

क्षणिकवाद, अनात्मवाद, पुनर्जन्म

बौद्ध दर्शन जगत् की किसी वस्तु या विचार की नित्यता में विश्वास नहीं करता है। उसके अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु अनित्य और क्षणिक है। आत्मा और जगत् प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। परिवर्तन जीवन और जगत् का वास्तविक नियम है। किसी भी वस्तु या विचार में स्थायित्व या अपरिवर्तनशीलता मन की एक झूठी कल्पना है। जिस प्रकार नदी में जल और जलते हुए दीपक की लौ की स्थिति में प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहने पर भी उसका रूप एक-सा प्रतीत होता है, वैसे ही आत्मा और जगत् भी क्षणिक और अनित्य होने पर भी प्रवाह के रूप में बने रहने के कारण नित्य और स्थायी प्रतीत होते हैं।

बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है। अनात्मवाद का सिद्धान्त क्षणिकवाद के सिद्धान्त का ही परिणाम है। बौद्ध मत स्थायी आत्मा की सत्ता को नहीं मानता। आत्मा शरीर के ही समान नाशवान् है। आत्मा में वे सभी विकार हैं, जो शरीर में हैं। आत्मा भी शरीर के साथ बदलती है। जिसे हम आत्मा मानते हैं, वह एक विज्ञान संघात मात्र है। उनका कथन था कि जिस प्रकार एक कारीगर पहिया और धुरी आदि को मिलाकर गाड़ी तैयार करता है, उसी प्रकार हमारे शरीर की रचना भी संस्कार, संज्ञा, रूप, वेदना एवं विज्ञानरूपी तत्वों के समूह से मिलकर हुई है। जब तक इन तत्वों की समष्टि बनी रहती हैं, तभी तक मनुष्य बना रहता है और जब ये नष्ट हो जाते हैं, तब मनुष्य का भी अन्त हो जाता है। अतः संसार में आत्मा जैसी कोई सत्ता नहीं है।

अन्य भारतीय दर्शनों की तरह बौद्ध धर्म भी पुनर्जन्म में विश्वास करता है किन्तु आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है। जैसा पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि बौद्ध धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। कर्मों का फल भोगने के लिए मनुष्य को बार-बार जन्म लेना पड़ता है। जिस प्रकार जल प्रवाह में एक लहर के पश्चात् दूसरी लहर आती है और यह क्रम अनवरत जारी रहता है और उसमें कहीं भी व्यवधान नहीं पड़ता है, उसी प्रकार एक जन्म की अन्तिम चेतना के विलय होते

श्र

ही दूसरे जन्म को प्रथम चेतना का उदय होता है। यह परिवर्तन इस प्रकार होता है कि विलय और उदय के बीच कोई व्यवधान नहीं पड़ता।

प्राचीन भारतीय इतिहास

बौद्ध धर्म का विभाजन एवं महायान सम्प्रदाय का उदय

सामान्यतः यह माना है कि महायान सम्प्रदाय का उदय बौद्धों की चतुर्थ संगीति के परिणामस्वरूप हुआ था। रलिनसन का कथन है कि कनिष्क के शासनकाल में होने वाली चतुर्थ बौद्ध संगीति बौद्ध धर्म के इतिहास में नवीन युग के प्रारम्भ होने की सूचना देती है। यह नवीन युग था – महायान का उदय, जो हीनयान के प्रारम्भिक बौद्ध धर्म से उतना ही भिन्न था, जितना कि मध्यकलीन ईसाई धर्म प्रथम शताब्दी ईस्वी के ईसाइयों के सरल सिद्धान्त से भिन्न है। यह विचार भी है कि महायान पंथ का उदय कुछ तो अश्वघोष जैसे विद्वान् ब्राह्मणों के प्रयत्नों का प्रतिफल था, जिन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और जो इसे हिन्दू धर्म के निकट लाना चाहते थे। उनका कहना है कि इसके उदय के कारणों में अधिकांशतः यह बात थी कि पश्चिम भारत में अनेक नवीन प्रभावों का प्रवेश हो चुका था। विदेशी आक्रमणकारियों में से अनेक जातियाँ भारत में बस गईं और अनेक विदेशी वर्गों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इन विदेशी बौद्ध धर्मावलम्बियों ने धीरे-धीरे अपनी अनेक मान्यताओं को भी बौद्ध धर्म में प्रविष्ट करा दिया। इस विचारधारा के विद्वानों का कहना है कि जब बौद्ध धर्म विदेशों में पहुँचा तो उस पर विदेशी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। बौद्ध धर्म को विशेष रूप से मध्य एशिया और ईरान की धार्मिक अवस्थाओं ने बड़ा प्रभावित किया। इसी प्रभाव के अन्तर्गत बौद्ध धर्म के अन्तर्गत महायान सम्प्रदाय का उदय हुआ।

हीनयान धर्म सिद्धान्तमूलक था। इसकी दृढ़ आचारवादिता साधारण जनता की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं थी। इसकी निरीश्वरवादिता और स्वावलम्बन पर अत्यधिक बल आदि ऐसे तत्त्व थे, जो जनसाधारण के लिए नितान्त दुर्बोध थे। परन्तु महायान सम्प्रदाय में उन तत्त्वों का समावेश किया गया, जिनसाधारण की भावनाओं को प्रतिबिम्बित करता था। महायान ने विदेशों में धर्म प्रचार को सुगम कर दिया। भारत में भी बौद्ध धर्म को लोकप्रिय बनाने में महायान सम्प्रदाय का प्रमुख हाथ है। महायान मार्गो बौद्धों को बौद्ध धर्म विकसित करने का श्रेय प्रमुख रूप से है क्योंकि उन्होंने ही इसे जनता के अधिक निकट पहुँचाया। उसके उदार, सरल, सरल एवं सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य बनाने का श्रेय महायान सम्प्रदाय के प्रवर्तन एवं उनके

अनुयायियों को ही है। ए. एल. बॉशम का मत है कि बौद्धों में यह भावना जागृत हो गई थी कि महात्मा बुद्ध साधारण मनुष्य नहीं वरन् भगवान् के अवतार थे। अतः वे उनकी पूजा करने लगे।

हीनयान – महायान में तुलना

हीनयानी अपने को मूल बौद्ध धर्म का संरक्षक मानते हैं और उसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना को स्वीकार नहीं करते। महायानी सम्प्रदाय के अनुयायियों ने बौद्ध धर्म के प्राचीन स्वरूप में काफी परिवर्तन कर उसे अधिक उदार एवं लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। इस अर्थ में महायानी स्वयं को महाशयान या बड़ी गाड़ी का स्वामी मानते हैं और तिरस्कारस्वरूप दूसरे

वर्ग को शहीनश श्यानश यानी छोटी गाड़ी का संवाहक मानते हैं। कालान्तर में ये शब्द महायान और हीनयान दोनों वर्ग के अनुयायियों के लिए रूढ़ हो गए। एक जापानी विद्वान् लेखक के अनुसार, श्महायान ने बुद्ध की शिक्षाओं के आन्तरिक महत्त्व का खण्डन किए बिना बौद्ध धर्म के मौलिक क्षेत्र को विस्तृत कर दिया। शहीनयान का प्रसार श्रीलंका एवं दक्षिण – पूर्वी एशिया में हुआ, जबकि महायान का प्रसार केन्द्रीय एशिया, चीन एवं जापान में हुआ। हीनयान और महायान के निम्नांकित अन्तर इस प्रकार हैं—

हीनयान

1. बुद्ध महापुरुष
2. मुख्यतया दर्शन
3. शील को प्रमुख स्थान
4. व्यक्ति को निर्वाण के लिए स्वयं के प्रयासों की आवश्यकता
5. व्यक्तिवादी, लक्ष्य – स्वयं की मुक्ति
6. कठोर नियम एवं अपरिवर्तनशील
7. केवल बुद्ध की शिक्षाओं में विश्वास
8. ग्रंथ पाली भाषा में

महायान

ईश्वर का अवतार

मुख्यतया धर्म

करुणा पर अधिक बल

व्यक्ति को निर्वाण के लिए बुद्ध की करुणा की आवश्यकता

समष्टिवादी, लक्ष्य – सम्पूर्ण विश्व की मुक्ति लचीले नियम एवं परिवर्तनशीलता

बुद्ध के साथ अनेक बोधिसत्त्वों, अवलोकितेश्वरों की पूजा—अर्चना में विश्वास

ग्रंथ संस्कृत भाषा

9. प्राचीन एवं मौलिक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं परिवर्तन का आग्रही
- अवतारवाद, भक्तिवाद,

10. निर्वाण के लिए भिक्षु जीवन आवश्यक

बौद्ध संगीतियाँ

मूर्तिपूजा आदि तत्वों का समावेश

निर्वाण गृहस्थ को भी सम्भव

बौद्ध धर्म के विकास में बौद्ध संगीतियों या धर्मसभाओं अथवा धर्म सम्मेलनों का विशिष्ट योगदान है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

प्रथम बौद्ध संगीति 483 ई. पू. राजगृह में, शासक अजातशत्रु, महाकस्यप, अध्यक्ष, बुद्ध की शिक्षाओं के संकलन हेतु सत् एवं विनय पिटक तैयार । आनन्द एवं उपालि क्रमशः धर्म एवं विनय के प्रमाण ।

2. द्वितीय बौद्ध संगीति 383 ई. पू. वैशाली में, शासक कालाशोक, साबकमीर, अध्यक्ष, बौद्ध भिक्षु के आचरण सम्बन्धी विवादपूर्ण विषयों के मतभेदों को दूर



करने हेतु वैशाली के भिक्षु नियमों में दिलाई के इच्छुक, बौद्ध संघ में मतभेद के कारण दो शाखाएँ बन गई— (प) स्थविर (थेरवादी) — परम्परागत नियमों के अनुयायी, नेतृत्वकर्ता महाकच्चायन, कालान्तर में स्थविर हीनयानी कहलाये । (पप) महासांघिक जो नवीन नियमों के हामी नेतृत्वकर्ता — साबाकमीर कालाशोक, कालान्तर में महासंघिक महायानी कहलाये ।



प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

633

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

134

3. तृतीय बौद्ध संगीति 250 ई. पू. पाटलिपुत्र में, शासक सम्राट अशोक, अध्यक्ष—मोग्गलिपत्त तिस्स, अभिधम्मपिटक का संकलन, थेरवादियों की प्रधानता रही, भारत के बाहर बौद्ध धर्म के प्रचार की प्रक्रिया का शुभारम्भ ।

—

4. चतुर्थ बौद्ध संगीति प्रथम शताब्दी ई. में कश्मीर (कुण्डलवन) में शासक — कनिष्क अध्यक्ष—वसुमित्र, उपाध्यक्ष— अश्वघोष । महायान का जन्म एवं मान्यता, परम्परागत सम्प्रदाय हीनयान कहलाया, महासांघिकों का बोलबाला, बौद्ध ग्रन्थों के ऊपर टीकाएँ, विभाषा में लिपिबद्ध हुई, पाली के स्थान पर संस्कृत को अपनाया ।

बौद्ध धर्म ग्रन्थ

है

प्रारम्भिक बौद्ध ग्रंथ पाली, पवित्र पाठ भाषा में हैं । भाषा के रूप में पाली प्राचीन प्राकृत है तथा बुद्ध के समय यह मगध तथा समीपवर्ती प्रदेशों में बोली जाती थी । बौद्ध धर्म ग्रन्थों में पाली भाषा में लिपिबद्ध पिटक सबसे प्रमुख हैं, जो संख्या में तीन हैं

(1)

(2)

(3)

—

—

विनय पिटक इसमें बौद्ध संघ के लिए आचरण सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है । प्रत्येक नियम के साथ उन परिस्थितियों का भी उल्लेख है, जिनमें बुद्ध ने उस नियम का विधान किया । इसमें 226 प्रकार के पापों की सूची तथा उनके प्रायश्चित्त दिए हैं । भिक्षु भिक्षुणियों के लिए विस्तृत आचरण सम्बन्धी नियमों,

जिनका पालन उन्हें करना होता था, का उल्लेख है। वस्त्र धारण, भोजन ग्रहण एवं शयन विद्या से सम्बन्धी नियमों का भी इनमें विचरण है।

—

सुत्तपिटक यह तीनों पिटकों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं विस्तृत है। यह पाँच निकायों में विभक्त है

(प) दीर्घ निकाय इसमें भगवान बुद्ध की शिक्षाओं और संवादों का संकलन है। उन परिस्थितियों का भी वर्णन है, जिनसे प्रेरित होकर बुद्ध ने उनका प्रवचन दिया। सुत्तों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रमहापरिनिब्बान सुत्त है।

(पप) मज्झिमनिकाय दृ इनमें उपदेश तथा वार्तालाप के साथ बहुत से आख्यान भी हैं जो

गद्य—पद्य में वर्णित हैं।

=

(पपप) संयुक्त निकाय इसमें बौद्ध धर्म से सम्बन्धित प्रायः सभी विषयों का उल्लेख है, तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक दशा का विवरण है। इसमें नैतिक तथा दार्शनिक समस्याओं से संबन्धित विषयों का वर्णन है।

—

(पअ) अंगुत्तर निकाय इसमें 2000 से कुछ अधिक संक्षिप्त कथनों का संग्रह है, जिन्हें अप्रकृत रूप से प्रत्येक कथन के विषय की संख्यानुसार क्रमबद्ध किया गया।

(४) खुद्दक निकाय — इसका अर्थ है— सुत्तों का क्षुद्र संग्रह। इसकी रचनाएँ विभिन्न समय की हैं तथा किसी एक संग्रह का अंश नहीं है। इसके अन्तर्गत बौद्ध धर्म—दर्शन से सम्बन्धित 15 ग्रंथों का संकलन है।

अभिधम्म पिटक — इसमें बुद्ध की शिक्षाओं से उपलब्ध दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख है। सुत्तपिटक तथा अभिधम्मपिटक में प्रतिपादित विषय एक से है। अन्तर केवल इतना है कि अभिधम्मपिटक में इनकी चर्चा, व्याख्या, वर्गीकरण, विभाजन आदि विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया गया है। इसके अन्तर्गत सात पुस्तकें हैं, जिनमें मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा रचित शकथावस्तु सर्वाधिक महत्त्व की है। बौद्ध दार्शनिक प्रश्नों का इसमें विशद विवेचन है।

बौद्ध धर्म की विश्व को देन

महात्मा बुद्ध तथा अन्य बौद्ध विचारकों ने अपनी—अपनी शिक्षाओं में सदाचार के उच्च आदर्श— क्षमा, अहिंसा, शील, विनय, मानव—कल्याण, करुणा आदि पर बल दिया। इन आदर्शों ने भारतीय जन—जीवन

□

में नैतिक चेतना जागृत की। बौद्ध धर्म ने ऊँच—नीच के भेद का खण्डन किया और सबकी समानता की। घोषणा की। बौद्ध धर्म की देन को निम्न बिन्दुओं में विभक्त किया जा सकता है।



—
कृ

(1) धार्मिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन महात्मा बुद्ध ने एक ऐसा सरल धर्म विश्व को दिया, जो सब प्रकार से कर्मकाण्ड तथा अन्धविश्वासों से रहित था, जो बुद्धिवाद तथा मानववाद पर आधारित था और जो दुःखी मानव को मुक्त करने हेतु कृत संकल्प था। बौद्ध धर्म ने त्याग तथा सन्यासीय निवृत्ति की विचारधारा को भारत में लोकप्रिय बनाया। सभी वर्णों एवं जातियों के लिए बौद्ध धर्म एवं बौद्ध संघ के द्वार खोल दिए गए थे। बुद्ध ने जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था का खण्डन किया। स्त्रियों को बौद्ध संघ में प्रवेश की आज्ञा देकर बुद्ध ने उनकी समानता एवं स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया। बौद्ध संघ के आदर्श ने भारत में लोकतान्त्रिक मूल्यों की स्थापना में सहयोग दिया।

—

(2) साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में देन हीनयान के लेखकों ने पालि भाषा के साहित्य को तथा महायान के लेखकों ने संस्कृत भाषा के साहित्य को समृद्ध बनाया। महात्मा बुद्ध ने स्वतन्त्र विचार को हमेशा प्रोत्साहन दिया। बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष, नागार्जुन, बसुबन्ध तथा धर्मकीर्ति की संसार के

महान् दर्शन — शास्त्रियों में गणना की जा सकती है। बुद्ध चरित नामक महाकाव्य तथा दिव्यावदान नामक ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के समझे जाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में बौद्ध मठों अथवा विहारों का योगदान अनूठा रहा। इनमें नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला, उदन्तपुरी आदि प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों के रूप में विकसित हुए।

कृ

(3) कला के क्षेत्र में देन भारतीय कला का वास्तविक इतिहास बौद्ध कलाकृतियों से ही प्रारम्भ होता है। अशोक द्वारा निर्मित स्तम्भों से भारतीय कला का अत्यन्त गौरवपूर्ण अध्याय प्रारम्भ होता है। साँची, भरहुत एवं अमरावती के स्तूप, कन्हरी (मुम्बई), कार्ले — भाजा और अजन्ता से प्राप्त गुहायें, चौत्य और विहार बौद्ध कला के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। शीघ्र ही मथुरा, नालन्दा और सारनाथ में मूर्तिकला की प्रसिद्ध शैलियाँ विकसित हुईं सारनाथ केन्द्र की बुद्ध प्रतिमा मूर्तिकाल का सुन्दरतम नमूना है। मूर्तिकाल के क्षेत्र में धर्म की देन स्वर्ण अक्षरों में लिखे जाने योग्य है। महायान सम्प्रदाय के विकास के पश्चात् बौद्ध धर्म में मूर्तियों के बनने का ऐसा सिलसिला चला, जो इस्लाम की आँधी से पहले तक कमोवेश चलता रहा। चित्रकला के क्षेत्र में अजन्ता की चित्रकारी विश्व प्रसिद्ध है। बादामी, बाघ, सित्तनबासल तथा बराबर की गुफाओं में भी बौद्ध चित्रकला के अनुपम उदाहरण हैं।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म की तुलना

जैन-धर्म और बौद्ध धर्म की तुलना करने से ज्ञात होता है कि बहुत से स्तरों पर इनमें बड़ी समानता है, लेकिन कुछ अन्य स्तरों पर इनमें व्यापक भेद भी हैं —

समानताएँ

(1) दोनों ही धर्म वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते। (2) दोनों ही ब्राह्मण धर्म के यज्ञवाद, देववाद एवं जन्म-आधारित वर्ण व्यवस्था का विरोध करते हैं। (3) दोनों ही ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। (4) दोनों ही कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। (5) दोनों ही निवृत्तिमार्गी हैं और संसार त्याग पर जोर देते हैं। (6) दोनों ही अहिंसामूलक हैं और नैतिकता तथा आचार-तत्त्व को प्रधानता देते हैं। (7) दोनों ही जनवादी तथा मानवतावादी आन्दोलनों के रूप में विकसित हुए। महावीर और बुद्ध दोनों ने लोगों की जन-भाषा में अपने धर्मों का उपदेश दिया, जाति प्रथा की निन्दा की तथा स्त्री और पुरुष की समानता का समर्थन किया।

कृ

असमानताएँ (1) जैन धर्म बौद्ध धर्म से कहीं अधिक प्राचीन है। (2) जैन धर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है, जबकि बौद्ध धर्म अनात्मवादी है। (3) जैन-धर्म कठोर तपस्या पर बल देता है जबकि बौद्ध धर्म अत्यधिक काया क्लेश और भोग-विलास के बीच मध्यम वर्ग का अनुसरण करता है। (4) जैन धर्म बौद्ध धर्म की अपेक्षा अहिंसा के सिद्धान्त पर कहीं अधिक जोर देता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

135

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

बौद्ध धर्म के प्रसार के कारक

—

महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया, वह उनके जीवन काल में ही उत्तरी भारत का एक लोकप्रिय धर्म बन गया था। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार बुद्ध के जीवनकाल में ही उनके उपदेशों का प्रसार कोसी से कुरुक्षेत्र और हिमालय से विंध्याचल के प्रदेशों के बीच हो चुका था। महात्मा बुद्ध के अनुयायियों के प्रयत्नों से बहुत कम समय में बौद्ध धर्म का प्रसार भारत और विदेशों में हो गया। यह धर्म मध्य एशिया, कोरिया, चीन जापान, तिब्बत आदि देशों में फैल गया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में भी इसका व्यापक प्रसार हुआ। लंका, वर्मा, कम्बोडिया, चम्पा, इण्डोनेशिया आदि देश भी बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ गए। बौद्ध धर्म का इतना व्यापक प्रसार विश्व इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय है। बौद्ध धर्म के प्रसार के निम्नांकित कारक रहे

(1)

प्राचीन भारतीय इतिहास

महात्मा बुद्ध का व्यक्तित्व महात्मा बुद्ध का आकर्षक व्यक्तित्व एवं उनकी रोमांचकारी जीवनी ने उनके धर्म को एक विशिष्ट स्थान प्रदान किया। आम व्यक्ति की चिन्ता उनके मन में समायी हुई थी। वे जहाँ भी जाते, उनके आगमन की चर्चा पहले से ही पहुँच जाती। जनाख्यान महात्मा बुद्ध के

आगमन के पूर्व ही गाँव-गाँव में होने लगता था। परिणाम यह होता था कि स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, ऊँच-नीच, राजा रंक, सभी उनके दर्शन के निमित्त एकत्र हो जाते थे।

निःसन्देह महात्मा बुद्ध का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रभावोत्पादक था। कैसा भी व्यक्ति हो, उनके समक्ष आकर विनीत हो जाता था। सम्बोधि प्राप्त करने के पश्चात् महात्मा बुद्ध के मुखमण्डल पर अनुपम तेज देखकर उनका पूर्ण निर्णय छू-मन्तर हो जाता था और किसी अन्तर्भावना से प्रेरित सहज ही उनका आदर-सत्कार करने लगता था। विषम से विषम परिस्थिति में भी वे उद्विग्न, क्षुब्ध अथवा क्रुद्ध नहीं होते थे। वे विनीत इतने थे कि उन्होंने किसी के ऊपर भी अपने मत का अरुचिपूर्ण आरोपण न किया। वस्तुतः उनका व्यक्तित्व चिन्तक, सुधारक, उपदेशक, जनसेवक और आदर्शवादी नीति प्रचारक के विभिन्न गुणों का सम्मिश्रण था। ३

—

(2) सरल एवं प्रभावी धम्म बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म सरल एवं सुबोध था। न उसमें कर्मकाण्ड की जटिलता थी और न दर्शन — शास्त्र की दुर्बोधता। उन्होंने दुःख से त्रस्त मानवता की चिन्ता कर सम्पूर्ण दुनिया का तारणहार बनने में पहले की। उन्होंने सार्वभौम समस्याओं पर ही अपने चिन्तन को केन्द्रित किया। वे दार्शनिक विचारों में नहीं उलझे दुःख निरोध का जो मार्ग तथागत ने बताया, वह वस्तुतः नैतिक मार्ग था, सदाचार का मार्ग था। उन्होंने कहा, ष्मनुष्य के कर्म ही उसे मोक्ष दिला सकते हैं। दुष्कर्म मनुष्य का कोई भी उद्धार नहीं कर सकता। इस प्रकार के विचार व्यक्त कर उन्होंने एक ओर तो भारतीय नैतिक जीवन को बल दिया और दूसरी ओर मानव और मोक्ष के बीच खड़े हुए शत-शत अवरोधों को गिराकर एकमात्र कर्मवाद की स्थापना की। उन्होंने धम्म को मानववादी स्वरूप प्रदान करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। श्जाति मत पूछश का उद्घोष युग-युग तक बौद्ध धर्म के निर्विशेष मानववाद की दुहाई देता रहेगा।

(3) संघ का अनूठा स्वरूप महात्मा बुद्ध की संगठनात्मक प्रतिभा का सर्वप्रमुख उदाहरण उनके द्वारा बौद्ध संघ की स्थापना है। बौद्ध संघ भिक्षुओं की जीवन प्रणाली का नियामक और बौद्धधर्म का सर्वश्रेष्ठ प्रचारक था। महात्मा बुद्ध ने गणतन्त्रात्मक प्रणाली को धार्मिक क्षेत्र में भी कार्यान्वित किया। उनका भिक्षु संघ वस्तुतः एक धार्मिक गणतन्त्र था। उसमें समस्त सदस्यों के अधिकार समान थे। महात्मा बुद्ध ने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया था।

महात्मा बुद्ध ने संघ के सदस्यों को सम्बोधित करते हुए कहा था, भिक्षुओ! जब तक भिक्षु लोग एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभाएँ करते रहेंगे, तब तक

भिक्षुओं की वृद्धि समझना, हानि नहीं।

‘मसिन्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

136

भिक्षुओं! जब तक भिक्षु लोग एक ही बैठक करते रहेंगे, एक ही उत्थान करते रहेंगे और संघ के कार्यों को सम्पन्न करते रहेंगे तब तक भिक्षुओं की वृद्धि समझना, हानि नहीं।

एक ही

भिक्षुओं! जब तक भिक्षु लोग संघ विदित नियमों का उल्लंघन नहीं करेंगे, संघ विरुद्ध नियमों का अनुसरण नहीं करेंगे, पुरातन भिक्षु नियमों का पालन करते रहेंगे तब तक उनकी वृद्धि होगी, हानि नहीं।¹⁸ आदि।

इस प्रकार नियमों में आबद्ध कर महात्मा बुद्ध ने संघ के अन्तर्गत भिक्षु जीवन को जिस कुशलता के साथ संगठित किया था, वह कालान्तर में सफल हुआ। संघ के संगठित रूप से जिस त्यागपरता, सदाचारिता, अध्ययनशीलता और अध्यवसायशीलता का परिचय दिया, उससे बौद्ध धर्म जनता की अपूर्व श्रद्धा का केन्द्र बन गया।

—

(4) अनुयायियों की धर्मपरायणता बौद्ध धर्म को प्रारम्भ से ही ऐसे बौद्ध भिक्षु और गृहस्थ उपासक, दोनों ही प्राप्त हुए, जिन्होंने अपनी धर्मपरता और निःस्वार्थ साधना से ही महती सेवा की तथा नये अनुयायियों के समक्ष आदर्श प्रस्तुत किया। महात्मा बुद्ध का कथन श्रद्धा देशना अखण्ड रहेगी उनसे अनुयायियों के लिए आदर्श बन गया था। भिक्षु तन, मन एवं धन से धर्म प्रचार में तल्लीन हो गए। सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकश्यप आनन्द आदि भिक्षुओं, बिम्बिसार, अनाथपिण्डक आदि श्रावकों विशाखा, सुप्रवासा आदि श्राविकाओं ने जिस श्रद्धा-भक्ति के साथ बौद्ध धर्म के प्रसार में योग दिया, वह चिरस्मरणीय रहेगा।

(5) नयी आर्थिक व्यवस्था को समर्थन

—

बौद्ध धर्म की सफलता का एक महत्वपूर्ण कारक यह था कि इसने नयी अर्थव्यवस्था को समर्थन दिया। छठीं शती ई. पू. के पहले ही शालेय क्षेत्र में लौह प्रौद्योगिकी के प्रयोग के फलस्वरूप कृषि में भारत में अपूर्व उन्नति हुई। अधिशेष उत्पाद से गृहशिल्प और लघु का विकास हुआ। अतः व्यापार वाणिज्य गतिमान हुआ। कृषक एवं व्यवसायी वर्गों तथा व्यापारियों को राहत मिली। समुद्री व्यापार, व्यक्तिगत सम्पत्ति, कर्ज, सूद आदि पर बौद्ध साहित्य का रुख नकारात्मक नहीं रहा। ये सब बातें वैश्यों के माफिक थीं। अतः बहुत बड़ी संख्या में व्यापारी बुद्ध

के समर्थक बन गए। श्रावस्ती के अनाथपिण्डक, बनारस के यश जैसे अनेक धनाढ्य

व्यापारियों ने बौद्ध धर्म को अपनाया तथा इसे अभूतपूर्व आर्थिक सहयोग प्रदान किया।

(6) राजकीय प्रश्न — बौद्ध धर्म के प्रसार में शासकों एवं राज्य परिवारों का सहयोग भरपूर रहा। महात्मा बुद्ध शाक्य नरेश के पुत्र थे। अतः शाक्य जाति उन्हें अति सम्मान की दृष्टि से देखती थी। शाक्यों ने अपने नवनिर्मित संधागार का उद्घाटन महात्मा बुद्ध से ही कराया था। लिच्छवि गणराज्य में बुद्ध धर्म प्रचार के लिए कई बार आये थे। शाक्यों एवं लिच्छवियों की भाँति मल्लों का गणराज्य भी महात्मा बुद्ध में अपार श्रद्धा रखता था। मल्लों के प्रति प्रेम के कारण महात्मा बुद्ध ने अपनी देह का त्याग कुशीनारा में ही किया। इस प्रकार शाक्य, लिच्छवी एवं मल्ल गणराज्यों ने बौद्ध धर्म के प्रसार में योगदान दिया। इनके अतिरिक्त कोलिय (रामग्राम के), मोरियय पिप्पलिवन के, भग्ग (सुसुमारगिरि के), कालामय कंसपुत्र के बलि (अलकप्प के) आदि गणराज्यों ने महात्मा बुद्ध के अवशेषों के लिए अपनी-अपनी मांग प्रस्तुत की थी। इससे प्रकट होता है कि गणराज्य महात्मा बुद्ध के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थे। इन गणराज्यों की सहायता बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत सहायक रही



होगी।

गणराज्यों की भाँति राजतन्त्रात्मक राज्य भी महात्मा बुद्ध के प्रति आदर भाव रखते थे। मगध शासक बिम्बिसार महात्मा बुद्ध का विशेष भक्त था। कौशलराज प्रसेनजित भी महात्मा बुद्ध में अपार श्रद्धा रखता था। तथागत अनेक बार उसकी राजधानी श्रावस्ती गए थे। बत्स नरेश उदयन प्रारम्भ में बौद्ध धर्म का विरोधी होने के बावजूद अपने जीवन के अन्तिम चरण में महात्मा बुद्ध में श्रद्धा रखने लगा

था।

मौर्य शासक अशोक, कुषाण शासक कनिष्क तथा वर्धन शासक हर्षवर्धन ने बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए कार्य किया, वह अप्रतिम है। सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। हेमचन्द्रराय चौधरी ने अनुसार, सम्राट अशोक ने गंगा की घाटी में फैले बौद्ध धर्म को विश्व धर्म बना दिया। तृतीय बौद्ध संगीति अशोक के समय हुई थी। कनिष्क को कीर्ति

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

127

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

(7)

उसकी विजयों की अपेक्षा शाक्य मुनि के धर्म को राज्याश्रय प्रदान करने पर अवलम्बित है। चतुर्थ श बौद्ध संगीति का आयोजन कनिष्क के शासन काल की महत्वपूर्ण घटना थी। महायान सम्प्रदाय का उदय इसी समय हुआ। इस सम्प्रदाय ने बौद्ध धर्म को जनता के अत्यधिक निकट पहुँचाया। बौद्ध धर्म को उदार, सरस व सर्वग्राह्य बनाने का श्रेय महायानियों को ही जाता है। हर्षवर्धन ने बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय को विशेष प्रश्रय एवं प्रोत्साहन दिया था। वह स्वयं बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया था। धम्म के प्रचार के लिए उसने कन्नौज एवं प्रयाग में क्रमशः धार्मिक सभा एवं धार्मिक सम्मेलन भी आयोजित किया। इन शासकों के अतिरिक्त बंगाल के पाल शासकों ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार में योगदान किया।

जन साधारण की भाषा में प्रचार – यद्यपि महात्मा बुद्ध अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे परन्तु उन्होंने अपने उपदेश जनभाषा में दिए। उन्होंने अभिजात वर्ग की भाषा संस्कृत में अपने उपदेश नहीं देकर बौद्ध धर्म को बहुत लाभ पहुँचाया। इससे बौद्ध धर्म जनसाधारण तक पहुँच सका। उन्होंने मागधी अथवा पाली भाषा में अपने उपदेश दिए, जो एक क्रान्तिकारी कदम था। अपनी भाषा में कहे गए धर्म को समझना जनता के लिए सुगम था।

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

1.36

सारांश (नउउंतल)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म अपनी अन्तर्निहित विशेषताओं एवं अन्य कारणों से विश्व का लोकप्रिय धर्म बन गया। इसका प्रसार तत्कालीन संसार के अनेक भागों में हुआ। आज भी इसके अनुयायियों की संख्या संसार में तीसरे नम्बर पर है। आज भी एशिया में इसके अनुयायी सर्वाधिक हैं।

स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

1. निवृत्तिपरक परम्परा — इन धर्मों के मूल में अवैदिक श्रमण संस्कृति का प्रभाव था, यह श्रमण संस्कृति निवृत्तिपरक थी। निवृत्तिपरक का अर्थ है— वैराग्यपूर्वक कर्मों का त्याग या संन्यास। जैन-धर्म और बौद्ध मत में संन्यास, वैराग्य और त्याग की जो प्रधानता है, वह इस अवैदिक श्रमण संस्कृति के प्रभाव का ही फल प्रतीत होती है। इन धर्मों के दुःखवाद ने प्रवृत्तिपरक अथवा वैदिक कर्मप्रधान संस्कृति के रूप को ही बदल डाला तथापि इन दोनों धर्मों पर उपनिषद् दर्शन का पर्याप्त प्रभाव है। उपनिषदों के कर्मफलवाद तथा पुनर्जन्म के विचार इन धर्मों में ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए गए।

2. अणुव्रत एवं महाव्रत में अन्तर उपर्युक्त पाँच व्रतों का विधान सभी के लिए आवश्यक है, चाहे वह साधु हो या गृहस्थ। जहाँ साधु के लिए कठोरता से इनके पालन की अपेक्षा की गई है, वहीं गृहस्थ को इनके पालन में कुछ ढिलाई दी गई है। साधुओं द्वारा कठोरता से पालन किए गए व्रत महाव्रत हैं, जबकि गृहस्थ अथवा श्रावक द्वारा पालन किए गए व्रत अणुव्रत हैं। पाँच महाव्रतों की कठोरता एवं अतिवादिता को कम करके इनका विधान जैन गृहस्थ अनुयायियों के लिए रखा गया

उदाहरणार्थ— ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अन्तर्गत विवाह तो कर सकता है, परन्तु परस्त्रीगमन निषेध है। अपरिग्रह अणुव्रत के अनुसार व्यक्ति वस्तुएँ तो रखे परन्तु आवश्यकतानुसार। परन्तु महाव्रतधारी के लिए किसी भी वस्तु का संग्रह उसके मार्ग में बाधक माना गया है।

3. चार आर्य सत्य बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की आधारशिला उसके चार आर्य सत्यों (चत्वारि आर्य सत्यानि) में निहित है। ये चार आर्य सत्य हैं— (1) दुःख (2) दुरुख समुदाय (3) दुरुख निरोध और (4) दुःख निरोध मार्ग

दुःख प्रथम आर्य सत्य है कि जीवन दुःखमय है। संसार में सर्वत्र दुःख छाया हुआ है। जन्म भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रिय लोगों से मिलना भी दुःख है, प्रिय लोगों का बिछुड़ना भी दुःख है और इच्छा करने पर किसी वस्तु का न मिलना भी दुःख है। १

२

इ. दुःख समुदय — द्वितीय आर्य सत्य यह है कि दुःख अकारण नहीं है। जब दुःख है तो कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। बौद्ध धर्म के प्रतीत्यसमुत्पाद



Notes

प्राचीन भारतीय इतिहास

के नियम के अनुसार, सृष्टि का चक्र कार्य-कारण श्रृंखला में बाँधा है। इसका अर्थ है कि कारण के होने पर ही कार्य होता है, यह नियम अटल है। इसलिए दुःख का भी कारण है। दुःख का मूल कारण अविद्या है, जिसका अर्थ है – अपने वास्तविक स्वरूप के बारे में मिथ्या धारण। अविद्या से तृष्णा उत्पन्न होती है, जो मनुष्य को अन्ततः दुःखों के सागर में डुबो देती है।

स्वपरीक्षण करें (ज्मेज ल्वनतेमसॉ)

1.

2.

3.

चं

षुद्ध का युग एक विचार मन्थन का युग था। ई. पू. छठी शताब्दी के धार्मिक आन्दोलनों के प्रकाश में इस कथन की विवेचना कीजिए।

जैन धर्म के प्रवर्तक के जीवन चरित्र एवं शिक्षाओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
बौद्ध धर्म की शिक्षा एवं दर्शन पर प्रकाश डालिए। जैन धर्म से इसकी समानताओं एवं असमानताओं को स्पष्ट कीजिए।

भारतीय संस्कृति को जैन धर्म की क्या देन है?

प्राचीन भारतीय इति

छव्जै

4.

5.

स्याद्वाद को समझाइये

6.

बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्त्यों की विवेचना कीजिए।

7.

बौद्ध तथा जैन धर्मों के सिद्धान्तों के प्रमुख अन्तर लिखिए।

8.

9.

हीनयान तथा महायान में अन्तर समझाइये

श्रुतीत्यसमुत्पादश की व्याख्या कीजिये।

10. बौद्ध धर्म के अष्टांगिक मार्ग पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

11. बौद्ध धर्म की भारतीय संस्कृति को क्या देन है ?

माड्यूल 3**इकाई 7****मौर्य साम्राज्य – उद्भव, विस्तार एवं प्रशासनिक**

परिचय धार्मिक साहित्य

ब्राह्मण साहित्य, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य

६

मौर्य शासन का उद्भव, मौर्य साम्राज्य की स्थापना: चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार अशोक के उत्तराधिकारी एवं मौर्यशासन का पतन, मौर्य प्रशासन अध्ययन उद्देश्य रू

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

—

- ☐ मौर्य साम्राज्य का परिचय, स्रोत तथ साहित्यिक स्रोत ।
- ☐ मौर्य शासन का उद्भव ।
- ☐ चन्द्रगुप्त मौर्य साम्राज्य की स्थापना ।

परिचय (पद्मजतवकनबजपवद)

मौर्य साम्राज्य की स्थापना के साथ भारत में एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। इस वंश के शासकों ने एक अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना कर सुव्यवस्थित शासन प्रबन्ध प्रारम्भ किया जिससे भारत में पहली बार सही अर्थों में राजनीतिक एकता की स्थापना हुई इसके अतिरिक्त मौर्य साम्राज्य की स्थापना सं अपेक्षाकृत एक निश्चित तिथि क्रम की भी शुरुआत होती है और हम इतिहास की एक सुदृढ़ धरा पर अवतरित होते हैं। साथ ही मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत भारत के विदेशी राज्यों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध भी स्थापित हुए। परिणामस्वरूप भारतीय इतिहास की घटनाओं के कालक्रम का अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है

मौर्य साम्राज्य के स्रोत

भारतीय इतिहास में मौर्य वंश प्रथम प्रसिद्ध ऐतिहासिक वंश है जिसके विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए पर्याप्त ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध हैं जिनके आधार पर वी. ए स्मिथ के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मौर्य वंश के साथ इतिहासकार अन्धेरे से उजाले में आ जाते हैं और कालक्रम भी प्रायः स्पष्ट होने लगता है। मौर्यकालीन इतिहास के स्रोतों में साहित्यिक साक्ष्य, पुरातात्विक साक्ष्य एवं विदेशी यात्रियों के वृत्तान्त महत्वपूर्ण हैं।

साहित्यिक स्रोत

कृ

साहित्यिक स्रोतों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (प) धार्मिक साहित्य एवं (पप) धर्मतर साहित्य द्य धार्मिक साहित्य में ब्राह्मण साहित्य, बौद्ध



Notes

प्राचीन भारतीय इतिहास

साहित्य एवं जैन साहित्य की गणना की जा सकती है।

धार्मिक साहित्य – ब्राह्मण साहित्य

ब्राह्मण साहित्य में विभिन्न पुराणों एवं उनकी टीकाओं का उल्लेख किया जा सकता है। इनसे मौर्य शासकों के नाम,

उनके शासनकाल की अवधि, तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति एवं मौर्य की जाति पर प्रकाश पड़ता है। किन्तु मौर्यों के सन्दर्भ में पुराणों के उल्लेखों को आधुनिक विद्वान स्वीकार नहीं करते हैं। पुराणों के विवरण को अन्य प्राप्त स्रोतों के सन्दर्भ में देखना आवश्यक है।

बौद्ध साहित्य

बौद्ध धर्म का वास्तविक विस्तार मौर्य काल में अशोक के समय दिखाई देता है।

बौद्ध साहित्य में दीप वंश – महावंश, महाबोधिवंश, अट्टकथा, दिव्यावदान, मिलिन्दपन्हो एवं आर्य मंजूश्रीमूलकल्प का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध साहित्य से विशेष रूप से अशोक के जीवन पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

जैन साहित्य

—

जैन साहित्य भी मौर्यकालीन इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने बाद के जीवन में जैन धर्म को अपना लिया था। इस कारण जैन साहित्य ने मौर्यकालीन इतिहास पर आरम्भ से ही प्रकाश डाला है जबकि बौद्ध साहित्य ने अशोक के समय से अपने विवरणों का आधार बनाया। जैन साहित्य में भद्रबाहुरचित वृहत्कल्पसूत्र पर नियुक्ति हरिभद्र की आवश्यक सूत्रवृत्ति, हेमचन्द्र का परिशिष्ट पर्व, जिनप्रभासूरि द्वारा रचित विविध तीर्थकथा, श्रीचन्द्र रचित कथाकोष, हरिषेण रचित वृहत् कथाकोष का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(पप) धर्मेतर साहित्य – धर्मेतर साहित्य में कौटिल्य का अर्थशास्त्र, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, सोमदेव का कथा सरित्सागर, क्षेमेन्द्र द्वारा रचित बृहत् कथामंजरी, कालीदास के मालविकाग्निमित्र तथा अन्य कृतियों में पातंजलि का महाभाष्य बाण का हर्षचरित तथा कल्हण की राजतरंगिणी आदि ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं। मौर्य कालीन इतिहास के लिए अर्थशास्त्र को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रमाणिक ग्रंथ माना जाता है। इसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री विष्णुगुप्त जिन्हें कौटिल्य एवं चाणक्य के नाम से भी जाना जाता

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

140

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

है, ने की। विष्णुगुप्त इनका व्यक्तिगत नाम था। कुटल गोत्र में उत्पन्न होने के कारण उन्हें कौटिल्य कहा जाता था। चणक उनके पिता का नाम था, इस कारण वह चाणक्य कहलाए। चन्द्रगुप्त के शासन काल की राजनीतिक आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति पर अर्थशास्त्र से अच्छा प्रकाश पड़ता है। अर्थशास्त्र में राजा के कर्तव्यों, गुप्तचर संगठन, तत्कालीन भूव्यवस्था, वित्तीय नीति तथा वैदेशिक नीति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

पुरातात्विक साक्ष्य पुरातात्विक साक्ष्यों में अभिलेखों का महत्वपूर्ण स्थान है। अशोक के अभिलेख भारत के प्राचीन सर्वाधिक सुरक्षित एवं तिथियुक्त आलेख हैं। ये लेख शिलाओं, स्तम्भों, गुफाओं में उत्कीर्ण करवाये गए। इन लेखों को उसने अपने शासन काल के विभिन्न वर्षों में उत्कीर्ण करवाया। इन अभिलेखों की भाषा प्राकृत (पाली) तथा बहुसंख्यक लेखों की लिपि ब्राह्मी है जो बायीं ओर से दायीं ओर लिखी जाती थी। शहबाजगढ़ी एवं मानसेहरा (पश्चिमोत्तर प्रदेश) से प्राप्त अभिलेख खरोष्ठी लिपि में हैं जो दायीं ओर से बायीं ओर लिखी जाती थी। तक्षशिला एवं लमगान, (अफगानिस्तान) से प्राप्त अभिलेख अरेमाइक लिपियों में हैं। शार-ए-कुना (कन्धार – अफगानिस्तान) द्विभाषी अभिलेख हैं जिसमें अरेमाइक एवं यूनानी लिपियों का प्रयोग है। अशोक के अभिलेखों को पढ़ने का श्रेय बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लोकसेवा अधिकारी जेम्स प्रिंसेप को दिया जाता है जिन्होंने 1837 में दिल्ली के टोपरा स्तम्भ लेख के सम्पूर्ण भाग को पढ़ा। गुजरा (दतिया – मध्यप्रदेश), मास्की (रायचूर – आन्ध्र प्रदेश), नितूर एवं उदेगोलिम (दोनों ही बेल्लारी-कर्नाटक) के लघु शिलालेख ऐसे लेख हैं जिनमें अशोक के नाम का उल्लेख है। उसके अन्य लेखों में उसे शदेवानांश प्रिय प्रियदर्शी राजाश कहा गया है। अशोक के प्राप्त अभिलेखों को इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है— (प) चौदह प्रमुख शिलालेख – वे विशाल शिलाखण्डों पर उत्कीर्ण हैं। इनकी संख्या चौदह है। इनके कई संस्करण विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं जैसे गिरनार (जूनागढ़ – गुजरात), कालसी (देहरादून – उत्तरांचल), शहबाजगढ़ी और मानसेहरा (दोनों ही पाकिस्तान में), धौली और जौगढ़ (दोनों उड़ीसा) येरागुडी (आन्ध्रप्रदेश), मुम्बई के निकट सोपरा में अष्टम् शिलालेख का आंशिक रूप एक शिला पर प्राप्त हुआ है। यहाँ भी संभवतः चौदह लेख विद्यमान थे।

(पप) लघुशिलालेख ये शिलालेख रूपनाथ (जबलपुर – मध्यप्रदेश), सहसराम (बिहार), बैराठ (जयपुर-राजस्थान), मास्की (रायचूर – आन्ध्रप्रदेश), गुजरा (दतिया – मध्यप्रदेश), ब्रह्मगिरी, सिद्धपुर तथा जटिंग रामेश्वरम् (कर्नाटक), येरागुडी (आन्ध्रप्रदेश), गोविमठ, पालकिगुण्डि (कर्नाटक), राजुलमण्डगिरी (आन्ध्र

प्राचीन भारतीय इतिहास

प्रदेश), अहरौरा (मिर्जापुर – उत्तरप्रदेश), गुर्जरा पनगुडिरिया (सिहोर – मध्य प्रदेश), सारोमारो (शहडोल– मध्यप्रदेश), सन्नती (कर्नाटक), बाहापुर (नई दिल्ली), नितूर एवं उदेगोलिम (दोनों ही कर्नाटक), आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं।

1

(पपप) सात स्तम्भ लेख ये संख्या में सात हैं तथा दिल्ली – टोपरा (अम्बाला – सरसावा के मध्य, हरियाण), दिल्ली–मेरठ, कौशाम्बी (कोसम) – इलाहाबाद, लौरिया – अरराज (राधिया के निकट, बिहार), लौरिया – नन्दनगढ़ (मठिया – बिहार) एवं रामपुरवा (बिहार) आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। दिल्ली – टोपरा स्तम्भ में ही अशोक के सात अभिलेख प्राप्त होते हैं, अन्य सभी पर छह अभिलेख ही उत्कीर्ण हैं। टोपरा एवं मेरठ के स्तम्भ लेखों को फिरोजशाह तुगलक द्वारा वहाँ से हटाकर दिल्ली में स्थापित कराया गया।

—

(पअ) लघु स्तम्भ लेख अशोक के तीन लघु स्तम्भ लेख कौशाम्बी (वर्तमान कोसम – इलाहाबाद) साँची एवं सारनाथ से प्राप्त हुए हैं। रुम्मिनदेई (लुम्बिनी) एवं निग्लीव (निगलीसागर सरोवर के तट पर) (दोनों ही स्थान नेपाल की तराई में) से भी अशोक के लघु स्तम्भ लेख प्राप्त हुए हैं। ये दोनों स्तम्भ लेख अशोक की यात्रा के स्मारक के रूप में हैं। कोसम (इलाहाबाद) से प्राप्त रानी के स्तम्भ लेख की भी गणना लघु स्तम्भ लेख की श्रेणी में की जाती है।

—

—

(अ) पृथक् कलिंग शिलालेख अशोक द्वारा नवविजित कलिंग प्रदेश में जौगढ़ (प्राचीन खेपिंगल पर्वत) तथा धौली (दोनों ही स्थान उड़ीसा) में दो पृथक् शिलालेख स्थापित करवाए। ये दोनों ही चौदह प्रमुख शिलालेखों की श्रृंखला के अनुपूरक हैं।

(अप) गुहालेख – गया के निकट बराबर की पहाड़ियां (प्राचीन स्खलतिक पर्वत) से अशोक के गुहालेख

प्राप्त हुए हैं, जिनमें इन गुफाओं को अशोक द्वारा आजीविका सम्प्रदाय के भिक्षुओं को दान में दिए जाने का उल्लेख है। इसी पहाड़ी के दूसरे भाग जिसे नागार्जुनी पहाड़ी कहते हैं, से अशोक के पौत्र दशरथ के गुहालेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें इन गुफाओं को दशरथ द्वारा आजीविक सम्प्रदाय के भिक्षुओं को दान में दिए जाने का उल्लेख है।

(अपप) बैराठ (भानु) शिलालेख – यह बैराठ (जयपुर–राजस्थान) की एक पर्वत की चोटी से प्राप्त हुआ था तथा वर्तमान में रायल एशियाटिक सोसायटी बंगाल (कोलकाता) में रखा हुआ है। इस लेख से अशोक के बौद्ध धर्म एवं संघ के प्रति श्रद्धा का पता चलता है। इस लेख की खोज करने वाले कैप्टन बर्ट ने इसे गलती से बैराठ से लगभग 21 कि. मी. दूर भाबू, जहाँ पुरातत्त्ववेत्ताओं का शिविर लगा हुआ था, लिख दिया। वास्तव में यह लेख बैराठ से प्राप्त हुआ था।

।

अशोक के उपर्युक्त लेखों के अतिरिक्त रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख से भी मौर्य इतिहास (सुदर्श के निर्माण) के बारे में पता चलता है।

Notes

सिक्के मौर्य साम्राज्य के इतिहास के स्रोत के रूप में सिक्के का भी महत्वपूर्ण स्थान है। मौर्यकाल में आहत सिक्कों (पंच मार्कड) का प्रचलन था। इन सिक्कों पर किसी शासक का नाम या तिथि अंकित नहीं है अपितु चिन्ह उत्कीर्ण हैं। जिन सिक्कों पर मयूर चिन्ह उत्कीर्ण हैं उन्हें मौर्य द्वारा प्रचलित माना जाता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मुद्राओं का उल्लेख प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र में टकसाल के अधिकारियों के रूप में सौवर्णिक एवं लक्षणाध्यक्ष का उल्लेख प्राप्त होता है।

स्मारक मौर्यकालीन स्मारकों से भी तत्कालीन इतिहास को जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अशोक द्वारा निर्मित स्तम्भ, स्तूप, बिहार, चौत्य एवं संघारामों के अवशेष विभिन्न स्थानों से प्राप्त होते हैं। दशरथ द्वारा निर्मित करवायी गई कुछ गुफाएँ भी विद्यमान हैं। पाटलीपुत्र में हुए उत्खनन से मौर्यकालीन भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। पटना के निकट कुम्हार तथा बुलंदीबाग के उत्खननों से मौर्यकालीन राजप्रासाद के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन अवशेषों से ज्ञात होता है कि मौर्यकालीन वास्तु एवं स्थापत्य कला में काष्ठ का भी प्रयोग होता था।

विदेशी यात्रियों के वृत्तान्त विदेशी यात्रियों के वृत्तान्त से भी मौर्यकालीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इनमें सिकन्दर के समकालीन लेखकों में निर्कस, अरिस्टोबुलस एवं आनेसिक्रिटस का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि इनके ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं किन्तु इन ग्रन्थों के अंश परवर्तीकालीन यूनानी एवं रोमन लेखकों द्वारा उद्धृत किए गए हैं। इनके बाद चन्द्रगुप्त मौर्य के राजदरबार में नियुक्त यूनानी राजदूत मेगस्थनीज का महत्वपूर्ण स्थान है जिसने इण्डिका की रचना की। दुर्भाग्यवश इण्डिया मूलरूप में उपलब्ध नहीं है किन्तु परवर्ती यूनानी लेखकों की कृतियों में उसके उद्धरण प्राप्त होते हैं। इण्डिका से चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन व्यवस्था, सैन्य संचालन, नगर-व्यवस्था तथा राज्य की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इन यात्रियों के अतिरिक्त परवर्ती यूनानी – रोमन लेखकों में डियोडोरस स्ट्रेबो, प्लिनी, प्लूटार्क, एरियन एवं जस्टिन आदि का महत्वपूर्ण स्थान है जिन्होंने अपने पूर्व के लेखकों की रचनाओं को उद्धृत किया है। इन लेखकों के विवरणों से मौर्यकालीन इतिहास पर भी आंशिक रूप से प्रकाश पड़ता है। उपर्युक्त यूनानी एवं रोमन लेखकों के अतिरिक्त चीनी एवं तिब्बती लेखकों एवं यात्रियों की कृतियों से भी मौर्यकालीन इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। फा युएन-चू-लिन ग्रन्थ में अशोक सम्बन्धी अनेक सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। बौद्ध तीर्थस्थलों एवं ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए अनेक चीनी यात्री भारतवर्ष की यात्रा करने आये। इनमें फाह्यान, संगयुन, ह्वेनसांग आदि महत्वपूर्ण हैं। इन यात्रियों ने अपने वृत्तान्तों में अशोकयुगीन स्तूपों एवं अनुश्रुतियों का उल्लेख किया है। चीन के समान तिब्बत के निवासी भी बौद्ध मतानुयायी हैं। अनेक भारतीय स्थविरों व विद्वानों ने तिब्बत जाकर बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। ऐसे बहुत से बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ वर्तमान में अपने मूलरूप में भारत में उपलब्ध नहीं हैं वे तिब्बती भाषा के अनुवादों के रूप में आज भी सुरक्षित हैं। अशोक एवं उसके वंश का वृत्तान्त एवं कथाएँ इन तिब्बती ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छठ्ठे

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

147

प्राचीन भारतीय इतिहास

छठ्ठे

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

ख44

प्राचीन भारतीय इतिहास

मौर्य शासन का उद्भव

प्रायः प्रतिभाशाली सशक्त व्यक्तियों ने इतिहास में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर उसकी गतिविधि को बदला। जिन दो प्रतिभा सम्पन्न एवं दूरदर्शी व्यक्तियों ने नन्द वंश को समूल उखाड़ने एवं मौर्य साम्राज्य की स्थापना में नेतृत्व किया वे थे चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त। चाणक्य की यह इच्छा थी कि छोटे-छोटे राज्यों को समाप्त कर एक संगठित एवं केन्द्रित साम्राज्य की स्थापना की जाए। दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी की यह मान्यता है कि सिकन्दर के उत्तर-पश्चिम भारत पर आक्रमण का अप्रत्याशित एवं अविलम्ब परिणाम यह हुआ कि इसने सम्पूर्ण देश पर मौर्यों की विजय का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इससे पंजाब में निवास करने वाली आयुधजीवी जनजातियों को पर्याप्त शक्तिहीन कर दिया एवं चन्द्रगुप्त को पंजाब पर अधिकार करने में किसी विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। गंगा घाटी के बहुसंख्यक भाग पर नन्दों का अधिकार था जो जनता में लोकप्रिय नहीं थे। ऐसा कहा जाता है कि स्वयं चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर से मुलाकात कर मगध पर आक्रमण करने की सलाह भी दी थी। सिकन्दर के पलायन के बाद चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य द्वारा भारत के यूनानी क्षेत्रों पर अधिकार स्थापित करना कठिन कार्य नहीं रहा। प्रायः प्रत्येक भारतीय साक्ष्य की यह मान्यता है कि चन्द्रगुप्त ने तक्षशिला निवासी चाणक्य नामक ब्राह्मण जिसे विष्णुगुप्त एवं कौटिल्य के नाम से भी जाना जाता है की सहायता से मगध के सिंहासन पर अधिकार किया।

चन्द्रगुप्त के वंश एवं जाति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। स्पूनर चन्द्रगुप्तकालीन भारत एवं फारस की कतिपय सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक प्रथाओं में साम्यता के आधार पर मौर्यों को पारसीक मानते स्पूनर के मत को आज बहुसंख्यक विद्वान स्वीकार नहीं करते। द्वितीय मत ब्राह्मण साहित्य जिसमें पुराण, रत्नगर्भ की विष्णु पुराण पर टीका, मुद्राराक्षस, मुद्राराक्षस पर दुण्डिराज की टीका, कथा सरित्सागर एवं वृहत्कथामंजरी आदि के आधार पर मौर्यों को शूद्र माना गया है। तृतीय मत बौद्ध साहित्य एवं जैन साहित्य पर आधारित है जो मौर्यों को क्षत्रिय मानता है। ब्राह्मण साहित्य में मौर्यों को शूद्र मानने का सम्भावित कारण यह हो सकता है कि मौर्य ब्राह्मण धर्मावलम्बी नहीं थे। चन्द्रगुप्त के बारे में कहा जाता है कि वह जैन धर्मानुयायी था। अशोक बौद्ध धर्म को मानने वाला था तथा अशोक का वंशज सम्प्रति जैन धर्मानुयायी था। चन्द्रगुप्त ने यवन राजकुमारी सेल्यूकस की पुत्री से भी विवाह किया। अतः ब्राह्मण व्यवस्थापकों एवं परम्परावादी लेखकों ने मौर्यों को ब्राह्मण (वैदिक धर्म से पतित) एवं वृषल (शूद्र) घोषित कर दिया। हेमचन्द्र रामचौधरी, राजवली पाण्डेय एवं आर. एस. त्रिपाठी आदि अनेक विद्वान मौर्यों को क्षत्रिय स्वीकार करते हैं।

मौर्य साम्राज्य की स्थापना: चन्द्रगुप्त मौर्य

मौर्य साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य था। इसका प्राचीनतम उल्लेख

रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में प्राप्त होता है। यूनानी लेखकों के विवरण में चन्द्रगुप्त के भिन्न-भिन्न रूपान्तर प्राप्त होते हैं। स्ट्रेबो, एरिअन एवं जस्टिन ने जहाँ इसे श्सेण्ड्रोकोटसस कहा है वहीं एपिअन और प्लूटार्क ने इसे श्सेण्ड्रोकोटसस के नाम से अभिहित किया है जबकि फिलार्कस ने इसे श्सेण्ड्रोकोटसस के नाम से पुकारा है। सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स ने सन् 1793 में उपर्युक्त सभी नामों का समीकरण भारतीय इतिहास में उल्लिखित चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ किया। चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन के विषय में प्रामाणिक तथ्य ज्ञात नहीं हैं। महावंश टीका से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त के पिता मौर्यनगर के राजा थे जो एक राजा के द्वारा मौर्यनगर पर आक्रमण के समय मारे गए। उस समय चन्द्रगुप्त अपनी माता के गर्भ में थे। चन्द्रगुप्त की माता अपने भाई के पास पुष्यपुर (पाटलीपुत्र) चली गईं वहीं पर बालक चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ। जन्म के बाद उसे एक उचखली में रखकर एक स्थान पर फेंक दिया गया तब एक चन्द्र नामक वृषभ ने उसकी रक्षा की तभी से इस बालक का नाम चन्द्रगुप्त (चन्द्र द्वारा रक्षित) पड़ा। आगे चलकर चन्द्रगुप्त नामक इस बालक को एक गोपालक ने खरीद लिया तथा गोपालक ने इसे एक शिकारी के हाथों बेच दिया। बालक चन्द्रगुप्त शिकारी के गाँवों में एक दिन शराजकोलम्भ (राजकीय खेल) खेल रहा था। इस खेल में वह स्वयं राजा बनता तथा अपने मित्रों को अन्य पद देकर न्याय का कार्य करता था। चाणक्य ने एक बार उसके इस खेल को देखा। वह बालक चन्द्रगुप्त की सहज प्रतिभा से अत्यन्त प्रभावित हुआ तथा शिकारी से बालक चन्द्रगुप्त को उसने खरीद लिया। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की शिक्षा-दीक्षा का तक्षशिला में पर्याप्त प्रबन्ध

किया। चाणक्य नन्द नरेश घनानन्द जो जनता में भी अलोकप्रिय था, से कुपित था, साथ ही वह ग्रीक आक्रमणों से भी देश की सुरक्षा चाहता था। अतः चाणक्य ने घनानन्द को पदच्युत करने तथा ग्रीक आक्रमणकारियों को स्वदेश से बाहर निकालने के प्रयत्न चन्द्रगुप्त के साथ प्रारम्भ कर दिए। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर से मुलाकात भी की थी। चन्द्रगुप्त की निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता से अप्रसन्न होकर सिकन्दर ने उसका वध करने का आदेश भी दिया था परन्तु चन्द्रगुप्त वहाँ से बच निकला। सिकन्दर के वापस जाने के बाद चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य ने पंजाब की आयुधजीवी जातियों में से सैनिकों की भरती कर विदेशी यूनानियों को भारत से खदेड़ने का आदर्श जनता के सामने रखा जिसमें वह सफल रहा। इस कार्य में उन्हें एक पहाड़ी शासक पर्वतक से भी पर्याप्त सहयोग मिला।

इतिहासकारों में इस विषय पर मतभेद हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने पहले पंजाब को जीता अथवा मगध को। बौद्ध एवं जैन अनुश्रुतियों से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त ने प्रथम आक्रमण मगध पर किया। लेकिन इस आक्रमण में वह असफल रहा। महावंश टीका में कहा गया है कि

चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त ने सेना संगठित करके मगध राज्य के मध्य में गाँवों एवं नगरों पर आक्रमण कर दिया। इससे जनता इनके विरुद्ध सामूहिक रूप से उठ

प्राचीन भारतीय इतिहास

खड़ी हुई तथा सेना को घेरकर नष्ट कर दिया। जब चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त छुपते छुपते जान बचाकर भाग रहे थे तब एक घर में एक माता का संवाद सुना जो अपने पुत्र को यह बता रही थी कि गरम चपाती खाने से उसके हाथ इसलिए जल रहे हैं क्योंकि वह किनारों को छोड़कर मध्य में से रोटी तोड़कर खा रहा है, जैसे चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त ने सीमावर्ती क्षेत्रों को जीते बिना मध्य में आक्रमण कर जनता को विरोध में कर लिया है। यह संवाद सुनकर चाणक्य— चन्द्रगुप्त को अपनी गलती का अहसास हुआ तथा पुनः सेना संगठित करके सीमान्त प्रदेशों से विजय अभियान आरम्भ किया।

सिकन्दर की वापसी पर यूनानियों का प्रभुत्व भारत से धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। सिकन्दर के समय में ही उसके दो गर्वनरों फिलिप्स एवं निकेतर की हत्या कर दी गई इससे भारत के यूनानी क्षेत्रों में अशान्ति पैदा हो गई। चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त ने इस अवसर का लाभ उठाकर सेना को संगठित किया। 323 ई. पू. में बेबीलोन में सिकन्दर की मृत्यु हो गई उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों में साम्राज्य विभाजन के लिए संघर्ष छिड़ गया। इससे पंजाब सिन्ध क्षेत्र में यूनानियों की शक्ति को काफी धक्का लगा। इससे चाणक्य — चन्द्रगुप्त का कार्य काफी आसान हो गया और विदेशियों को भारत से खदेड़ दिया। सम्भवतः चन्द्रगुप्त ने पंजाब पर 322—321 ई. पू. तक अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया होगा। इस बात की पुष्टि जस्टिन के लेखों से भी होती है। वह लिखता है कि सिकन्दर की मृत्यु के बाद भारत ने अपने आपको दासता की जंजीरों से मुक्त करवा लिया। उसके गर्वनरों का वध कर दिया गया। इस स्वतन्त्रता संग्राम का नायक सेण्ड्रोकोटस (चन्द्रगुप्त) था। सिन्ध — पंजाब क्षेत्र से यूनानी प्रभुत्व के अन्त की पुष्टि ट्रिपेरेडिसस की सन्धि से भी होती है। सिकन्दर की मृत्यु के बाद साम्राज्य विभाजन के लिए हुए गृहयुद्ध के बाद साम्राज्य विभाजन को निश्चित करने के लिए सेनापतियों के मध्य दो सन्धियों हुई प्रथम बेबीलोन की सन्धि (323 ई. पू.) द्वितीय ट्रिपेरेडिसस की सन्धि (321 ई. पू.) ट्रिपेरेडिसस की सन्धि के द्वारा सिन्ध क्षेत्र से यूनानी क्षत्रप पैथान को वहाँ से हटा लिया गया तथा किसी अन्य की नियुक्ति वहाँ पर नहीं की गई इस सन्धि में सिन्धु नदी के पूर्वी भारत का कोई भी भाग यूनानी साम्राज्य का अंग नहीं माना गया। इससे स्पष्ट है कि 321 ई. पू. तक भारतवर्ष में यूनानी साम्राज्य का अन्त हो चुका था। कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि चन्द्रगुप्त ने पंजाब विजय का कार्य 317 ई. पू. में किया था, क्योंकि इस समय तक (317 ई. पू.) सिकन्दर का एकमात्र सेनापति यूडीमस भारत में था तथा 317 ई. पू. में वह भारत छोड़कर यूनान लौट गया था।

कृ

विदेशियों को बाहर निकालने के बाद चन्द्रगुप्त ने एक विशाल सेना इकट्ठी की और मगध पर आक्रमण कर दिया चन्द्रगुप्त एवं मगध के शासक धननन्द के मध्य भीषण युद्ध हुआ जिसमें चन्द्रगुप्त विजयी रहा। धनानन्द के पतन के साथ ही सत्ता परिवर्तन से चन्द्रगुप्त मौर्य विशाल सेना तथा अथाह धन का स्वामी बन

गया। इस प्रकार बल एवं धन की प्राप्ति के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए साम्राज्य के संगठन का कार्य कठिन नहीं रहा। सैन्य विजय की दृष्टि से चन्द्रगुप्त मौर्य की एक अन्य महान् उपलब्धि सेल्यूकस को प्राचीन भारतीय इतिहास

छाँजे

स्व-प्रगति का परीक्षण करें

1. जैन साहित्य ने किस प्रकार मौर्य कालीन इतिहास पर प्रकाश डाला है? स्पष्ट करें।

12. बिन्दुसार कौन था?

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

145

प्राचीन भारतीय इतिहास

छाँजे

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

146

पराजित करना है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि सिकन्दर के साम्राज्य विभाजन के लिए उसके सेनापतियों के मध्य संघर्ष हुआ। यह संघर्ष मुख्यरूप से ऐण्टीगोनस एवं सेल्यूकस के मध्य लम्बे समय तक चलता रहा। अन्ततः इस युद्ध में सेल्यूकस विजयी रहा। 306 ई. पू. में उसका विधिवत राज्याभिषेक हुआ तथा निकेटर (विजयी) को उपाधि धारण की। वह अपने स्वामी सिकन्दर के भारत विजय के स्वप्न को पूरा करना चाहता था, अतः 305-304 ई. पू. में काबुल के मार्ग से होते हुए सिन्धुनदी को पार कर भारतवर्ष पर आक्रमण कर दिया। किन्तु इस समय भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ काफी बदल चुकी थी। भारतीय राजनीति के रंगमंच का नायक चन्द्रगुप्त मौर्य था। युद्ध में भारतीय सम्राट के सम्मुख यूनानी आक्रान्ता को पराजय का मुख देखना पड़ा और उसे विवश होकर सन्धि के लिए बाध्य होना पड़ा। सेल्यूकस की इस पराजय का स्पष्ट उल्लेख यूनानी लेखकों ने नहीं किया है। कंवल सन्धि की शर्तों का उल्लेख किया है। उसे अपने चार प्रान्त एरिया अरकोसिया, गेड्रोसिया तथा परोपनिसदाई अर्थात् हेरात, कन्धार, मकरान एवं काबुल चन्द्रगुप्त मौर्य को सौंपने पड़े। अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त से करना पड़ा तथा एक यूनानी राजदूत मेगस्थनीज भी पाटलीपुत्र के दरबार में रहने लगा। चन्द्रगुप्त ने बदले में सेल्यूकस को 500 हाथी भेंट किए। सन्धि की उपर्युक्त शर्तों को देखते हुए ऐसा लगता है कि सेल्यूकस इस युद्ध में बुरी तरह पराजित हुआ। इस प्रकार इस युद्ध को पुरु की पराजय का भारतीय प्रतिशोध माना जा सकता। इस युद्ध के बाद भारतीय साम्राज्य हिन्दुकुश पर्वत तक विस्तृत हो गया। स्मिथ के अनुसार श्भारत के प्रथम सम्राट ने उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त कर लिया जिसको प्राप्त करने के लिए अंग्रेज लम्बे समय तक प्रयत्न करते रहे और जिसे मुगल सम्राट भी पूर्णरूपेण प्राप्त न कर सके।

प्राचीन भारतीय इतिहास

अधिकांश विद्वानों की यह मान्यता है कि चन्द्रगुप्त ने न केवल उत्तर पश्चिमी क्षेत्र एवं गंगा के मैदान पर ही अपना प्रभुत्व स्थापित किया अपितु पश्चिमी भारत एवं दक्षिण के क्षेत्रों पर भी उसका नियंत्रण था। रुद्रदामन के 150 ई. के जूनागढ़ अभिलेख से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त के राष्ट्रीय प्रान्ताधिकारी पुष्यगुप्त द्वारा सौराष्ट्र में सुदर्शन झील का निर्माण करवाया गया। सौराष्ट्र एवं काठियावाड़ चन्द्रगुप्त द्वारा ही जीते गए थे क्योंकि चन्द्रगुप्त के पूर्वगामी नन्दों के अधीन ये क्षेत्र सम्मिलित नहीं थे। सौराष्ट्र के साथ-साथ अवन्ति (मालवा) पर भी उसका अधिकार रहा होगा। जैन साहित्य में चन्द्रगुप्त को अवन्ति का शासक बताया गया है तथा अशोक के समय अवन्ति राष्ट्र का एक अलग प्रान्त के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। परवर्ती स्रोतों से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त को दक्षिण भारत पर भी अधिकार था। संगम ग्रन्थों में प्रारम्भिक तमिल लेखकों द्वारा मोरियार का उल्लेख मौर्यों का प्रतीक है, जिनका दक्षिण से सम्पर्क हुआ। जैन साहित्य से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त अपने अन्तिम दिनों में जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण में श्रवणबेलगोला चला गया, वहीं तपस्या करते हुए उसने प्राण त्याग दिए। इससे यह संकेत मिलता है कि यह क्षेत्र चन्द्रगुप्त के अधीन रहा होगा। बौद्ध ग्रन्थ महावंश में भी चन्द्रगुप्त को सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का एकछत्र सम्राट कहा है। इसी प्रकार मुद्राराक्षस में भी चन्द्रगुप्त को हिमालय से दक्षिणी समुद्र तक सभी राजाओं का आश्रय दाता कहा गया है। कश्मीर, नेपाल तथा बंगाल विजय का श्रेय भी चन्द्रगुप्त को दिया जा सकता है। राजतरंगिणी में अशोक को कश्मीर का शासक स्वीकार किया गया है तथा बौद्ध साहित्य में अशोक द्वारा नेपाल में ललित पाटन नामक नगर की स्थापना का उल्लेख है। जैसा कि सुविदित है अशोक ने कलिंग विजय के अतिरिक्त कोई अन्य विजय नहीं की तथा बिन्दुसार की कोई विजय प्रमाणित नहीं होती। अतः वी. सी. पाण्डेय की यह मान्यता है कि कश्मीर एवं नेपाल विजय का श्रेय भी चन्द्रगुप्त मौर्य को दिया जाना चाहिए। बंगाल पर चन्द्रगुप्त के आधिपत्य का संकेत महास्थान अभिलेख से प्रकट होता यह अभिलेख प्रारम्भिक मौर्य लिपि में उत्कीर्ण है तथा इसमें काकिनी मुद्रा का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्राप्त होता है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य विस्तार हिन्दूकुश से लेकर बंगाल तक तथा हिमालय से लेकर मैसूर तक विस्तृत था।

बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार 298 ई. पू. में पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठा। यूनानियों ने उसका उल्लेख अमित्रोचेटस अमित्रांचेडस, अलित्रोचेडस तथा अभित्रकेटे के नाम से किया है, जो संस्कृत के अभिन्नघात या अमित्रखाद (शत्रुओं का नाश करने वाला) का रूपान्तर है। सम्भवतः यह उसका विरुद्ध रहा होगा। पौराणिक अनुश्रुतियों में उसे बिन्दुसार, भद्रसार व नन्दसार के नाम से तथा बौद्ध एवं जैन साहित्य में उसे बिन्दुसार के नाम से जाना गया है। उसके समय के इतिहास के बारे में अधिक जानकारी नहीं है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं

कि बिन्दुसार अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य की सुरक्षा तथा व्यवस्था करने में सफल रहा। तारानाथ के अनुसार चाणक्य, बिन्दुसार का भी मंत्री रहा। चाणक्य ने सोलह राज्यों के राजाओं एवं सामन्तों का नाश किया और बिन्दुसार को पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्रपर्यन्त भू-भाग का स्वामी बनाया। ऐसा लगता है कि चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद कुछ राज्यों ने मौर्य सत्ता के विरुद्ध विद्रोह किया – हो। दिव्यावदान में तक्षशिला में इसी प्रकार के विद्रोह का उल्लेख मिलता है जिसे शान्त करने के लिए अशोक को भेजा गया था। बिन्दुसार के सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम के अपने पड़ोसी यूनानी राजाओं से अच्छे रहे। मेगस्थनीज के बाद भी यूनानी राजदूत मौर्य दरबार में आते रहे। स्ट्रेबी ने लिखा है कि पश्चिमी एशिया के यूनानी शासक ऐण्टियोक्स ने बिन्दुसार के दरबार में इयमेक्स नामक राजदूत भेजा था। बिन्दुसार के सम्बन्ध सीरिया के सेल्यूसिड वंश के राजा से भी रहे जिससे उसने मीठी मदिरा, सूखा अंजीर तथा एक दार्शनिक भेजने का आग्रह किया था। बिन्दुसार की धार्मिक आस्था आजीविकों के प्रति थी। बौद्ध स्रोतों के अनुसार बिन्दुसार की मृत्यु 273–272 ई. पू. के लगभग हुई थी। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्रों के मध्य राजसिंहासन के लिए चार वर्षों तक संघर्ष चलता रहा। अन्ततः 269–268 ई. पू. के लगभग अशोक बिन्दुसार का उत्तराधिकारी बना।

मौर्य साम्राज्य का विस्तार रु अशोक

प्रारम्भ

मैं जब अशोक के अभिलेख प्रकाश में आये तो यह ज्ञात नहीं था कि ये अभिलेख मौर्य नरेश अशोक के हैं, क्योंकि बहुसंख्यक अभिलेखों में शदेवानापिय प्रियदसि लाजाश शब्द का प्रयोग मिलता है। श्रीलंका के बौद्ध ग्रन्थों में भी एक महान एवं उदार मौर्य राजा का उल्लेख पियदस्सी (प्रियदर्शी) के नाम से मिलता है। 1915 में प्राप्त शिलालेख से यह स्पष्ट हो सका कि यह प्रियदर्शी राजा अशोक ही है। केवल मास्की, गुर्जरा, नितूर तथा उदेगोलम के लघु शिलालेख ही ऐसे अभिलेख हैं जिनमें अशोक का नाम प्राप्त होता है। बौद्ध परम्परा में अशोक को उसके प्रारम्भिक जीवन में अत्यन्त निर्दयी एवं क्रूर बताया गया है तथा दीपवंश में उसने 99 भाइयों की हत्या करके सिंहासन पर कब्जा करने की बात कही गई है। इस संख्या में अतिशयोक्ति हो सकती है क्योंकि स्वयं अशोक ने अपने पाँचवें शिलालेख में अपने जीवित भाई-बहनों का उल्लेख किया है। किन्तु इस बात पर भी विश्वास किया जा सकता है कि किसी भी शासक के अनेक पुत्र

होने पर उनके मध्य उत्तराधिकार का संघर्ष स्वाभाविक है, अतः यह सम्भव है कि अपने कुछ भाइयों को मारकर अशोक ने राज्य प्राप्त किया होगा।

—

त

बौद्ध साहित्य में बौद्ध धर्म अपनाने से पूर्व अशोक के क्रूरतापूर्ण एवं निर्दयी स्वभाव का चित्रण अतिरंजित एवं काल्पनिक प्रतीत होता है। सम्भवतः इसका



प्राचीन भारतीय इतिहास

उद्देश्य यह बताना रहा हो कि बौद्ध धर्म के प्रभाव से एक क्रूर व्यक्ति कितना धार्मिक बन गया।

अशोक ने एकमात्र कलिंग (उड़ीसा) विजय की थी। नन्दों के समय कलिंग मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था। ऐसा लगता है कि नन्दों एवं अशोक के शासन काल के मध्य कलिंग स्वतंत्र हो गया होगा। कदाचित बिन्दुसार के समय में मौर्य साम्राज्य के कई क्षेत्रों में विद्रोह हुए थे। कलिंग मौर्य साम्राज्य की सीमाओं से लगा हुआ एक शक्तिशाली राज्य था। साथ ही दक्षिण भारत से व्यापारिक सम्बन्धों को बढ़ाने के लिए कलिंग की भूमि और उसके समुद्र तट पर अधिकार करना आवश्यक भी था। राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद उसने कलिंग को विजय किया। 13वें शिलालेख में इस युद्ध की भीषणता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस युद्ध में 100,000 लोग मारे गए, 150,000 लोग बन्दी बना लिए गए और उसने कई गुने अधिक लोग काल कवलित हुए। युद्ध की विभीषिका ने अशोक के मन को बुरी तरह झकझोर दिया। 13वें शिलालेख में अशोक कहता है कि इस घटना के 1६100 वें या 1६1000 वें भाग की भी यदि पुनरावृत्ति हो तो उसे असीमित दुःख होगा। अपने चतुर्थ शिलालेख में वह कहता है कि युद्ध की भेरी हमेशा के लिए शान्त कर दी गई अब उसने धम्म विजय की नीति अपनाई और अपने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। अशोक की इस शान्तिप्रिय नीति ने उसे सदैव के लिए अमर बना दिया।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

147

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

749

कलिंग विजय के साथ ही अशोक का साम्राज्य पर्याप्त विस्तृत हो गया। 14वें शिलालेख में वह स्वयं कहता 'महालके हि विजितं' (मेरा साम्राज्य बहुत विस्तृत है) अशोक के अभिलेखों के प्राप्तिस्थलों के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि उसका साम्राज्य पूर्व में बंगाल से लेकर उत्तर पश्चिम में हिन्दुकुश तक तथा उत्तर में हिमालय की तराई से लेकर दक्षिण में मैसूर तक विस्तृत था। कलिंग एवं सौराष्ट्र पर भी उसका अधिकार था। आर. एस. त्रिपाठी ने लिखा कि प्राचीन भारत का कोई सम्राट इतने विस्तृत भूखण्ड का स्वामी नहीं था। एच. जी. वैल्स ने उसे सम्राटों में महानतम सम्राट माना है। वास्तव में अशोक की महानता के कारण उसका विशाल साम्राज्य नहीं था अपितु उसका चरित्र, उसके आदर्श और वे सिद्धान्त थे जिनके आधार पर उसने शासन किया।

अशोक के उत्तराधिकारी एवं मौर्यशासन का पतन

232 ई. पू. में अशोक की मृत्यु के बाद मौर्यों का साम्राज्यवादी प्रभुत्व कमजोर पड़ने लगा और लगभग पाँच दशक के अन्दर उसका पतन हो गया। अशोक के उत्तराधिकारियों के विषय में पुराणों, बौद्ध ग्रन्थों तथा जैन ग्रन्थों में अलग-अलग विवरण प्राप्त होता है। अशोक ने अपने 7वें स्तम्भलेख में अपने अनेक पुत्रों तथा राजकुमारों का उल्लेख किया है। शिलालेखों में केवल शतीवरष का उल्लेख प्राप्त होता है। यह राजकुमार सम्भवतः कभी सिंहासनासीन न हो सका। ऐसा माना जाता है कि अशोक की मृत्यु के बाद साम्राज्य का विभाजन कर दिया गया। यह विभाजन कब हुआ? यह निश्चित नहीं है। अशोक के उत्तराधिकारियों के विषय में जो विवरण प्राप्त होते हैं उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं – कुणाल, दशरथ, सम्प्रति, शालिशूक, देववर्मन शतधनुस एवं बृहद्रथ। बृहद्रथ मौर्य वंश का अन्तिम राजा था जिसकी हत्या लगभग 185 ई. पू. में उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने कर दी तथा मगध के सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए अनेक कारण उत्तरदायी थे जिनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं— अधिकांश इतिहासकारों को मान्यता है कि अशोक के बाद उसके निर्बल उत्तराधिकारी हुए। वे साम्राज्य के विभिन्न भागों में हुए उपद्रवों एवं विद्रोह को नहीं दबा सके। परिणामस्वरूप पश्चिमोत्तर एवं दक्षिणी भाग सर्वप्रथम स्वतंत्र हो गए। अशोक की शान्तिवादी नीति ने भी साम्राज्य को कमजोर बनाया। वह सैन्य दृष्टि से दुर्बल हो गया। केन्द्रीकृत साम्राज्य को बहुत ही दृढ़ संकल्प वाले शासकों की आवश्यकता होती है। लेकिन अशोक के उत्तराधिकारी ऐसे नहीं होते थे। हरप्रसाद शास्त्री ने अशोक के शासन के विरुद्ध हुई ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया को मौर्य वंश के पतन के लिए उत्तरदायी माना है। उनके अनुसार पशु बलि की समाप्ति, धर्म महामात्यों द्वारा ब्राह्मण धर्म का दमन तथा ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों की समाप्ति ने ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया को जन्म दिया जिसकी परिणति ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग द्वारा बृहद्रथ की हत्या थी। शास्त्री के इस मत का विरोध एच. सी. रायचौधरी ने किया है। वास्तव में अशोक की कोई

अशोक की कोई भी नीति ब्राह्मण विरोधी नहीं थी। उसके शिलालेखों में ब्राह्मणों को सम्मान एवं दान देने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

पुष्यमित्र का सेनापति बनना ही इस बात का प्रमाण था कि मौर्य शासक ब्राह्मण विरोधी न थे। डी. डी. कोसम्बी ने मौर्य शासकों की आर्थिक दुर्बलता को उनके पतन का कारण माना है। विस्तृत एवं विशाल साम्राज्य के संचालन के लिए नये-नये कर लगाये गए तथा धन की कमी के कारण तत्कालीन आहत सिक्कों में भी मिलावट की गई, इससे आर्थिक दुर्बलता आयी जो मौर्य वंश के पतन का कारण बनी। लेकिन उस समय अर्थव्यवस्था कमजोर थी ऐसा नहीं लगता। मौर्य युगीन बस्तियों की खुदाई से तो यह स्पष्ट नहीं होता। इसके विपरीत आवागमन के साधनों एवं व्यापारिक विकास के कारण आर्थिक अभिवृद्धि हुई व्यापारियों द्वारा सौँची एवं भरहुत जैसे स्तूपों के लिए दिए गए दान से इस बात की पुष्टि



होती है।

मौर्य प्रशासन

मौर्य शासकों ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। इस विशाल साम्राज्य के संचालन के लिए उन्होंने कुशल प्रशासनिक व्यवस्था भी स्थापित की। बी. ए. स्मिथ के अनुसार शमौर्य साम्राज्य अकबर के अधीन मुगल साम्राज्य से भी अधिक अच्छी तरह संगठित था।

—
—

केन्द्रीय प्रशासन

राजा राजा राज्य का प्रधान होता था। अतः बृहत् साम्राज्य के संचालन के लिए यह आवश्यक था कि राजा उत्साही, स्फूर्तिवान, उद्यमी एवं प्रजाहित के कार्यों में हमेशा तत्पर रहता हो। कौटिल्य ने लिखा है कि जब राजा दरबार में ही बैठा हो तो उसे प्रजा से बाहर प्रतीक्षा नहीं करवानी चाहिए। राजा राज्य की समस्त शक्तियों को स्रोत था। वह कानून का निर्माता होता था। मंत्रियों एवं समस्त कर्मचारियों की नियुक्ति वह स्वयं करता था। वह सर्वोच्च न्यायाधीश एवं सर्वोच्च सेनापति था। युद्ध के समय यह स्वयं सेना का नेतृत्व करता था। कौटिल्य ने राजा को सलाह दी है कि जब वर्णाश्रम धर्म लुप्त होने लगे तो राजा को धर्म की स्थापना करनी चाहिए। राजा के अधिकार एवं शक्तियाँ असीमित होने के बावजूद वह पूर्णतः निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी नहीं होता था। वह हमेशा प्रजा की भलाई का ध्यान रखता था। कौटिल्य ने लिखा है कि प्रजा की भलाई में ही राजा की भलाई है तथा प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है। राजा के ऊपर धर्म, नैतिकता एवं परम्परायें नियंत्रण रखती थीं। राजा को सहायता एवं परामर्श के लिए मंत्रिपरिषद भी होती थी। इसमें सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं होती थी। कौटिल्य के

अनुसार यह आवश्यकता पर निर्भर होनी चाहिए। मंत्रिपरिषद के सदस्यों का मनोनयन स्वयं राजा करता था। केवल उच्चकुलीन, बुद्धिमान, चतुर, विचारशील, चरित्रवान, निर्लोभी, योग्य, अनुभवी एवं देशभक्त को ही मंत्री बनाया जाता था। मंत्रिपरिषद की बैठक गुप्त होती थी तथा निर्णय बहुमत से लिए जाते थे। परन्तु उसके निर्णयों की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति राजा की इच्छा पर निर्भर था। मंत्रिपरिषद के प्रत्येक सदस्यों को 12,000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था। दैनिक कार्यों के सम्पादन के लिए राजा कुछ अन्य मंत्रियों की भी नियुक्ति करता था जो मंत्रिपरिषद के सदस्यों से पृथक् थे। इन्हीं की सलाह से राजा शासन करता था। इनका वेतन 48,000 पण वार्षिक था। अर्थशास्त्र में इन मंत्रियों को तीर्थ तथा महामात्र कहा गया है। इनमें से कतिपय मंत्रियों का उल्लेख इस प्रकार है। (1) प्रधानमंत्री (पुरोहित) यह राजा को शासन के प्रत्येक कार्य में सलाह देता था तथा प्रशासन के सभी विभागों पर नियंत्रण रखता था। (2) समाहर्ता — साम्राज्य के जनपद समाहर्ता नामक अमात्य के अधीन होते थे। राजस्व एकत्र करना, आय-व्यय का ब्यौरा रखना तथा वार्षिक बजट तैयार

करना आदि इसके कार्य थे। (3) सन्निधाता एक प्रकार से कोषाध्यक्ष (4) प्रशास्ता – रिकार्ड विभाग (अक्षपटल) का सर्वोच्च अधिकारी (5) सेनापति (6) कर्मान्तिक राज्य की ओर से संचालित कारखानों की देख-देख करने वाला अधिकारी (7) प्रदेष्टा (फौजदारी अदालत – कण्टक शोधन) तथा व्यावहारिक (दीवानी अदालतों) का अमात्य होता था।

कृ

प्रान्तीय शासन— सम्पूर्ण राज्य प्रान्तों में विभाजित था। अशोक के समय निम्नलिखित 5 प्रान्तों का उल्लेख मिलता है

(1)

(2)

उत्तरापथ

—

इसकी राजधानी तक्षशिला थी। गान्धार, कम्बोज एवं अफगानिस्तान का क्षेत्र इसमें सम्मिलित था।

मगध प्रान्त — इसकी राजधानी पाटलीपुत्र श्री जो केन्द्रीय राजधानी भी थी। इसमें आधुनिक उत्तर प्रदेश, बंगाल एवं बिहार के प्रदेश सम्मिलित थे। यह प्रान्त सीधा राजा के अधीन था।

कृ

(3) अवन्ति प्रान्त इसकी राजधानी उज्जयनी थी। इसमें आधुनिक मालवा, गुजरात एवं राजस्थान का भाग सम्मिलित था।

(4) दक्षिणपथ इसकी राजधानी सुवर्णगिरी थी। इसमें विन्ध्याचल पर्वत से लेकर मैसूर तक का प्रदेश सम्मिलित था।

(5) कलिंग इसकी राजधानी तोशाली थी। आधुनिक उड़ीसा का भाग इसमें सम्मिलित था। प्रान्त गर्वनरों के अधीन होते थे, जिन्हें कुमार या युवराज कहा जाता था। वे प्रायः राजकुमार या राजवंश के सदस्य होते थे। प्रान्त में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखना कर वसूल करना, युद्ध के समय राजा को सैन्य सहायता देना आदि उसके प्रमुख कर्तव्य थे। प्रत्येक प्रान्त को अनेक जनपदों में विभक्त किया जाता था। जनपद को भी उपविभागों में विभक्त किया गया था। स्थानीय 800 ग्रामों का समूह, द्रोणमुख — 400 ग्रामों का समूह, खार्वाटिक — 200 ग्रामों का समूह, संग्रहण 100 ग्रामों का समूह एवं ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई थी। ग्राम का मुखिया ग्रामिक कहलाता

—

कृ

प्राचीन भारतीय इतिहास



छब्बै

मसिन्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

149

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

था जो ग्राम के वृद्ध एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों की सहायता से ग्राम का शासन चलाता था। ग्राम भूतक या ग्राम भोजक के रूप में ग्राम में एक राजकीय पदाधिकारी की भी नियुक्ति की जाती थी।

—

नगर प्रशासन कौटिल्य एवं मेगस्थनीज दोनों ने ही नगर प्रशासन का विस्तृत विवरण दिया है। कौटिल्य ने प्रशासन की दृष्टि से नगर को 4 भागों में बाँटा है। सम्पूर्ण नगर का अधिकारी नागरिक कहलाता था तथा नगर के प्रत्येक भाग का अधिकारी स्थानिक कहलाता था। जो कर्तव्य सम्पूर्ण नगर के प्रति नागरिक के होते थे वही कर्तव्य नगर के चौथाई भाग के लिए स्थानिक के होते थे। नगर के प्रत्येक चौथाई भाग को 10, 20, 40 कुटुम्बों के संयोग से अलग-अलग संगठन का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। ये पारिवारिक संगठन गोप नामक कर्मचारी के अधीन होते थे। मेगस्थनीज ने नगर प्रशासन के लिए 6 समितियों का उल्लेख किया है, जिसमें प्रत्येक में 5 सदस्य होते थे।

(1)

(2)

(3)

(4)

(5)

(6)

—

शिल्प समिति यह समिति उद्योग शिल्पों का निरीक्षण करती थी तथा कारीगरों के हितों की रक्षा का भी ध्यान रखती थी।

—

विदेश समिति यह समिति विदेशियों की देखरेख, उनकी मृत्यु पर उनकी अन्त्येष्टि तथा सम्पत्ति को उचित उत्तराधिकारी को सुपुर्द करने के साथ-साथ विदेशियों की गतिविधियों पर नजर भी रखती थी।

—

जनसंख्या समिति यह समिति जन्म एवं मृत्यु का विवरण तैयार करती थी, ताकि कर लगाने में सुविधा हो।

कृ

व्यापार एवं वाणिज्य समिति यह समिति मापतौल का निरीक्षण तथा वस्तु विक्रय को व्यवस्थित करती थी। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखती थी कि प्रत्येक व्यापारी एक से अधिक वस्तुओं का व्यापार तो नहीं कर रहा, क्योंकि एक से अधिक

एक वस्तुओं का विक्रय करने वाले व्यापारी को अतिरिक्त शुल्क देना पड़ता था !

वस्तुनिरीक्षण समिति – यह समिति इस बात का ध्यान रखती थी कि नई एवं पुरानी वस्तुओं को मिलाकर नहीं बेचा जाए।

कर समिति इस समिति का कार्य बिक्रीकर एवं चुंगी वसूल करना था ।

कृ

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मौर्यशासन प्रणाली एक सुव्यवस्थित शासन प्रणाली थी। आर. सी. मजुमदार के अनुसार शमौर्य सरकार वास्तव में अच्छी प्रकार से सुगठित थी और पूर्णतः दक्ष एकतंत्र या अकबर से अधिक विस्तृत राज्य पर भलीभाँति शासन करने में दक्ष थी। इसने अनेक रूपों में आधुनिक संस्था की मानो पूरी जानकारी प्राप्त कर ली थी। ३

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

150

सारांश (नउउंतल)

ऐतिहासिक साक्ष्यों की उपलब्धता की दृष्टि से समृद्ध मौर्य युग भारत का प्रथम एकीकृत साम्राज्य था। मौर्य वंश की स्थापना से भारतीय इतिहास कालक्रम के ठोस धरातल पर अवतरित हुआ। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज की इण्डिका, अन्य यूनानी विद्वानों के विवरण, अशोक के अभिलेखों एवं समकालीन धार्मिक साहित्य से मौर्यकालीन इतिहास की पर्याप्त जानकारी मिलती है। चंद्रगुप्त मौर्य एवं अशोक जैसे प्रतिभावान नरेशों के नेतृत्व में मौर्य वंश ने न केवल भारतीय उपमहाद्वीप की प्राकृतिक सीमाओं को एक सूत्र में आबद्ध किया वरन् एक सुव्यवस्थित कार्य कुशल एवं लोक कल्याणकारी प्रशासन की स्थापना की। अशोक ने युद्ध एवं शान्ति दोनों ही क्षेत्रों में अपनी कालजयी छाप छोड़ी। अशोक ने लोक कल्याणकारी मौर्य प्रशासन में वांछनीय परिवर्तन कर उसे आध्यात्मिक एवं मानवतावादी स्वरूप प्रदान किया। भारत के सम्बंध विदेशों से स्थापित हुए एवं भारतीय धर्म एवं संस्कृति का व्यापक प्रचार हुआ।

स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

1. जैन साहित्य रू जैन साहित्य भी मौर्यकालीन इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने बाद के जीवन में जैन-धर्म को अपना लिया था। इस कारण जैन साहित्य ने मौर्यकालीन इतिहास पर आरम्भ से ही प्रकाश डाला है जबकि बौद्ध साहित्य ने अशोक के समय से अपने विवरणों का आधार बनाया। जैन साहित्य ने भद्रबाहुरचित वृहत्कल्पसूत्र पर नियुक्ति, हरिभद्र की आवश्यक सूत्रवृत्ति, हेमचन्द्र का परिशिष्ट पर्व, जिनप्रभासूरि द्वारा रचित विविध तीर्थकथा, श्रीचन्द्र रचित कथाकोष, हरिषेण रचित वृहत् कथाकोष का महत्वपूर्ण स्थान है।

समुद्र

2. बिन्दुसार चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार 298 ई. पू. में पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठा। यूनानियों ने उसका उल्लेख अमित्रोचेटस अमित्रोचेडस,



अलित्रोचंडस तथा अमित्रकेटे के नाम से किया है, जो संस्कृत के अभिघात या अमित्रखाद (शत्रुओं का नाश करने वाला) का रूपान्तर है। सम्भवतः यह उसका विरुद्ध रहा होगा। पौराणिक अनुश्रुतियों में उसे बिन्दुसार, मद्रसार व नन्दसार के नाम से तथा बौद्ध एवं जैन साहित्य में उसे बिन्दुसार के नाम से जाना गया है। उसके समय के इतिहास के बारे में अधिक जानकारी नहीं है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बिन्दुसार अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य की सुरक्षा तथा व्यवस्था करने में सफल रहा। तारानाथ के अनुसार चाणक्य बिन्दुसार का भी मंत्री रहा। चाणक्य ने सोलह राज्यों के राजाओं एवं सामन्तों का नाश किया और बिन्दुसार को पूर्वी से पश्चिमी समुद्रपर्यन्त भू-भाग का स्वामी बनाया। ऐसा लगता है कि चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद कुछ राज्यों ने मौर्य सत्ता के विरुद्ध विद्रोह किया हो। दिव्यावदान में तक्षशिला में इसी प्रकार के विद्रोह का उल्लेख मिलता है जिसे शान्त करने के लिए अशोक को भेजा गया था। बिन्दुसार के सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम के अपने पड़ोसी यूनानी राजाओं से अच्छे रहे। मेगस्थनीज के बाद भी यूनानी राजदूत मौर्य दरबार में आते रहे। स्ट्रेबो ने लिखा है कि पश्चिमी एशिया के यूनानी शासक ऐण्टियोक्स ने बिन्दुसार के दरबार में इयमेकस नामक राजदूत भेजा था। बिन्दुसार के सम्बन्ध सीरिया के सेल्यूसिड वंश के राजा से भी रहे जिससे उसने मीठी मंदिरा, सूखा अंजीर तथा एक दार्शनिक भेजने का आग्रह किया था। बिन्दुसार की धार्मिक आस्था आजीविकों के प्रति थी। बौद्ध स्रोतों के अनुसार बिन्दुसार की मृत्यु 273–272 ई. पू. के लगभग हुई थी। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्रों के मध्य राजसिंहासन के लिए चार वर्षों तक संघर्ष चलता रहा। अन्ततः 269–268 ई. पू. के लगभग अशोक बिन्दुसार का उत्तराधिकारी बना महत्त्व जाता रहा। उपनिषद्काल में सभा का उल्लेख भी न्याय प्रदान करने वाली संस्था के रूप में ही देखने को मिलता ८

स्वपरीक्षण करें (जमेज ल्वनतेमसि)

1. मौर्य साम्राज्य के इतिहास के स्रोतों का वर्णन कीजिये।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

2.

चन्द्रगुप्त मौर्य प्राचीन भारत का महान विजेता था। स्पष्ट कीजिये।

3.

मौर्य वंश के पतन के क्या कारण थे?

4.

मौर्य प्रशासन का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

151

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

अध्याय – 9

मौर्य युगीन समाज, अर्थव्यवस्था, कला तथा अशोक का धम्म (धर्म)

इस अध्याय में

परिचय

मौर्य युगीन समाज—वर्णाश्रम व्यवस्था, विवाह, स्त्रियों की दशा, दास प्रथा, जन—जीवन खानपान, वस्त्राभूषण

□ मनोरंजन, कृषि, पशुपालन, उद्योग—धन्धे, व्यापार एवं वाणिज्य, मुद्रा, कला, राजसी कला नगर योजना

राजप्रासाद, पाषाण स्तम्भ, शैल गुहायें, लोक कला, अशोक का धम्म,

अध्ययन उद्देश्य रू

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

□ मौर्य युगीन समाज—वर्णाश्रम व्यवस्था

राजसी कला – नगर योजना

परिचय (पद्मजतवकनबजपवद)

भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में मौर्य युग का अपना विशेष महत्व है। मौर्य शासकों की सुदूर व्यापिनी साम्राज्य सीमायें एवं सुसंगठित शासन व्यवस्था ने भारत को सुख—शान्ति एवं समृद्धि से अनुप्राणित कर उसके सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास में पर्याप्त योगदान दिया। मौर्य युगीन समाज, अर्थव्यवस्था, कला एवं अशोक के धम्म पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज की इण्डिका, अशोक के अभिलेखों, स्मारकों के अवशेषों, बौद्ध एवं जैन साहित्य, पुराण एवं युनानी लेखकों के विवरण से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

मौर्य युगीन समाज— वर्णाश्रम व्यवस्था

किसी भी समाज का मूलाधार पारिवारिक संगठन होता है। मौर्य युग में भी संयुक्त परिवार प्रथा का प्रचलन था। मौर्य युग से पूर्व ही समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था अच्छी तरह स्थापित हो चुकी थी। अशोक के पंचम शिलालेख से समाज में अनेक वर्णों की विद्यमानता का पता चलता है। चारों वर्णों में ब्राह्मण वर्ण का सम्मान था। तृतीय शिलालेख में अशोक कहता है कि ब्राह्मणों एवं श्रमणों की सेवा करना उत्तम है।

कौटिल्य ने वर्णाश्रम व्यवस्था को सामाजिक संगठन का आधार माना। कौटिल्य की यह मान्यता थी कि राजा को वर्ण—व्यवस्था बनाये रखने के लिए प्रयास करना चाहिए। किन्तु कौटिल्य वर्ण व्यवस्था के प्रति अपने पूर्ववर्ती स्मृतिकारों के समान कठोर दृष्टिकोण नहीं रखता था। उदाहरणार्थ कौटिल्य के पूर्ववर्ती आचार्य यह मानते थे कि वर्ण की श्रेष्ठता सैन्यबल की श्रेष्ठता निर्धारित करती है किन्तु कौटिल्य ने इस मत का खंडन करते हुए कहा कि जिस प्रकार युद्ध विद्या में कुशल एवं विनयशील क्षत्रिय सेना सर्वश्रेष्ठ होती है, उसी प्रकार वीर योद्धाओं से युक्त वैश्यों एवं शूद्रों की सेना भी उत्तम होती है। जिस प्रकार उसने



सेना में सभी वर्णों के लोगों की नियुक्ति की बात कही, उसी प्रकार वह कृषि कार्य में भी सभी वर्णों के लोगों को सम्मिलित होने की बात कहता है। अर्थशास्त्र में शूद्रों को आर्य कहा गया है। इन उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य ने वंश के आधार पर वर्ण की उच्चता एवं निम्नता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया बल्कि बौद्धिक योग्यता के आधार पर वर्णों की उच्चता एवं निम्नता के सिद्धान्त को स्वीकार किया। कौटिल्य का वर्ण व्यवस्था को बनाये रखने के पीछे मुख्य उद्देश्य यहीं रहा कि समाज के सभी वर्णों के लोग अपने-अपने निर्धारित कार्यों को निष्ठापूर्वक करें एवं अपने कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं करें। इसे अर्थशास्त्र में स्वधर्म की संज्ञा दी गई है। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि विजिगीशु राजा को विजय प्राप्ति के बाद वर्णाश्रम व्यवस्था को सुरक्षित रखने का प्रयास करना चाहिए, जिससे मनुष्य के जीवन में नैतिक उत्थान हो सके। अर्थशास्त्र में चारों वर्णों के लिए अलग-अलग कार्यों का उल्लेख मिलता है तथा किसी विशेष वर्ग या जाति को तिरस्कृत करने की बात नहीं कही, बल्कि वर्णों के मध्य सामन्जस्य एवं सहयोग करने का परामर्श दिया है। कौटिल्य राज्य की समृद्धि के लिए विभिन्न वर्णों के मध्य सहयोग एवं समन्वय आवश्यक मानता है। वह किसी भी वर्ण की उपेक्षा नहीं करने का परामर्श राजा को देता है। कौटिल्य राज्य तथा सामाजिक व्यवस्था में वैश्यों एवं शूद्रों को भी यथोचित स्थान देता है। वह उन्हें राजकीय कार्यों में सहभागिता प्रदान करता है। गुप्तचर जैसे महत्वपूर्ण पद पर शूद्रों की नियुक्ति की अनुशंसा कौटिल्य ने की है। अर्थशास्त्र में चार वर्णों के अतिरिक्त अनेक वर्णसंकर जातियों का भी उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है जिनको उत्पत्ति विभिन्न वर्णों के अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों के कारण हुई इन वर्णसंकर जातियों के अम्बष्ठ, निषाद, पारशव रथकार, वैदेहक, मगध, सूत पुल्लकस, वेण, चांडाल आदि प्रमुख हैं। कौटिल्य ने चांडालों के अतिरिक्त अन्य सभी वर्णसंकर जातियों को शूद्र की श्रेणी में माना है। इनके अतिरिक्त तुन्नवाय (दर्जी), सुवर्णकार, कमर (लुहार) लोहकारु (बढ़ई) तंतुवाय (जुलाहे) एवं रजक (धोबी) आदि व्यवसाय पर आधारित वर्ग जाति का रूप धारण कर चुके थे अशोक के लेखों में दास एवं भृत्य के प्रति सद् व्यवहार के आदेश प्राप्त होते हैं। मेगस्थनीज ने कौटिल्य से भिन्न तत्कालीन भारतीय समाज में सात जातियों का उल्लेख किया है जो उसके अनुसार इस प्रकार हैं— (1) ब्राह्मण एवं दार्शनिक (2) कृषक (3) ग्वाले एवं आखेटक (4) व्यापारी एवं श्रमजीवी (5) योद्धा (6) निरीक्षक (7) मंत्री एवं परामर्शदाता। ऐसा लगता है कि मेगस्थनीज ने तत्कालीन जाति व्यवस्था को समझने में भूल की तथा विभिन्न व्यवसायों को भी उसने जाति मान लिया। मेगस्थनीज ने लिखा है कि

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै-

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिन्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

154

कोई भी व्यक्ति अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर सकता था और न ही अपने व्यवसाय को दूसरी जाति के व्यवसाय में बदल सकता था। केवल ब्राह्मणों को ही अपनी विशेष स्थिति के कारण यह अधिकार प्राप्त था किन्तु अशोक के शिलालेखों तथा बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि जाति प्रथा एवं सामाजिक व्यवहार में लचीलापन था।

अर्थशास्त्र में वर्णव्यवस्था के साथ-साथ चारों आश्रमों, उनके लक्षणों एवं कार्यों का भी उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के अनुसार ब्रह्मचारी वह है जो नियमित स्वाध्याय करे, नित्य स्नान करे, अग्निहोत्र करे, भिक्षाटन करे, गुरु के समीप रहे एवं गुरु की अनुपस्थिति में गुरुपुत्र या अपने समकक्ष किसी ब्रह्मचारी के निकट रहे। गृहस्थ जीवन के विषय में कौटिल्य यह मानते थे कि गृहस्थ को जीविकोपार्जन हेतु कुछ कार्य करना चाहिए। उसे विवाह कर परिवार बसाना चाहिए एवं अपने परिवार का पालन-पोषण करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह देव, पितर अतिथि एवं भक्तजनों को भोजन कराने के बाद अन्त में भोजन करे। वानप्रस्थी के सन्दर्भ में अर्थशास्त्र में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य का पालन, भूमि पर शयन, जटा एवं मृगचर्म धारण करना, प्रतिदिन स्नान, पितर एवं अभ्यागतों की सेवा-पूजा तथा वन में पाये जाने वाले कन्द, मूल एवं फल को आहार रूप में ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार संन्यासी जीवन की चर्चा करते हुए अर्थशास्त्र में कहा गया है कि संन्यासी का धर्म है जितेन्द्रिय होना, सांसारिक कार्यों से मुक्त होना, अकेला रहना, प्राण रक्षा के लिए अतिस्वल्प आहार लेना तथा मन, वचन एवं कर्म की पवित्रता रखना। कौटिल्य की यह मान्यता थी कि यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी तथा बच्चों के जीवन निर्वाह का उचित प्रबन्ध किए बिना संन्यास ग्रहण कर लेता है तो राजा को उसे दंडित करना चाहिए। साथ ही कौटिल्य उस व्यक्ति को भी दण्डित करने का आग्रह करते हैं जो अपनी पुत्री को संन्यासिनी होने के लिए प्रेरित करता हो। विवाह

समाज की उन्नति एवं व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में सदाचार एवं नैतिकता बनाये रखने के लिए धर्मशास्त्रों में विवाह की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया। मौर्य युग में 12 वर्ष की अवस्था की लड़की को तथा 16 वर्ष की अवस्था के लड़के को विवाह योग्य माना जाता था। विवाह सामान्यतया अपने वर्ण अथवा जाति में ही किया जाता था। किन्तु उस समय अन्तर्जातीय विवाह के प्रचलन के प्रमाण भी मिलते हैं। बहुविवाह का भी प्रचलन था। कौटिल्य तथा मेगस्थनीज दोनों ने ही बहुविवाह का उल्लेख किया है। अशोक के शिलालेखों में उसकी दो रानियों का उल्लेख मिलता है। विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति था। कौटिल्य ने 8 प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है— (1) ब्रह्मविवाह (2) दैवविवाह (3) आर्ष विवाह (4) प्राजापत्य विवाह (5) गान्धर्व विवाह (6) आसुर

प्राचीन भारतीय इतिहास

विवाह (7) राक्षस विवाह एवं (8) पैशाच विवाह । कौटिल्य ने प्रथम चार प्रकार के विवाहों को श्धर्म्यश् (धर्म के अनुकूल) माना । मौर्य युग में दहेज प्रथा अधिक लोकप्रिय नहीं थी । नियार्कस के एक कथन से स्वयंवर प्रथा के भी संकेत मिलते हैं । पुरुष को अधिक अधिकार प्राप्त थे । पुरुष एवं स्त्री दोनों को ही विवाह विच्छेद (तलाक) का अधिकार प्राप्त था, कौटिल्य ने नियोग प्रथा का भी उल्लेख किया है ।

स्त्रियों की दशा

मौर्य

युग में स्त्रियों की दशा उन्नत थी । एक ओर उन्हें परिवार की सम्पत्ति में दाय का अधिकार प्राप्त था तो दूसरी ओर उन्हें पुनर्विवाह, नियोग, तलाक आदि का भी अधिकार प्राप्त था । पति द्वारा दुर्व्यवहार करने पर वह न्यायालय की शरण भी ले सकती थी । स्त्री की हत्या को ब्राह्मण हत्या के समान भयंकर पाप माना जाता था । स्त्रियाँ सैन्य शिक्षा भी ग्रहण करती थीं । चन्द्रगुप्त मौर्य के अंगरक्षकों में महिला अंगरक्षकायें भी नियुक्त थी । मेगस्थनीज ने लिखा है कि कुछ स्त्रियाँ अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर रथों, अश्वों तथा हाथियों पर सवार होती हैं । स्त्रियाँ गुप्तचरों का कार्य भी करती थीं, परन्तु बहुसंख्यक स्त्रियाँ घरों के अन्दर कार्य करती थीं । विवाहित स्त्रियों को घर से बाहर आने-जाने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी । डी. आर. भण्डारकर की मान्यता है कि मौर्यकाल में पर्दाप्रथा का प्रचलन था । अर्थशास्त्र में भी स्त्रियों के लिए अनिष्कासिनीनां (निकलने वाली) विशेषता का प्रयोग मिलता है । अशोक ने अपने अभिलेखों में स्त्रियों में प्रचलित अन्धविश्वासों एवं मंगल अनुष्ठानों का उल्लेख किया है ।

कृ

मौर्य युग में ऐसी स्त्रियों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं जो वेश्या या रूपजीवा के रूप में अपना जीवनयापन करती थीं । ये ललित कलाओं में प्रवीण होती थीं । राजकीय सेवा में कार्य करने वाली स्त्रियाँ गणिका कहलाती थीं । राजा के मनोरंजन के लिए राजमहल में अनेक गणिकायें हुआ करती थीं । राज्य की ओर से एक अलग विभाग भी स्थापित था, उसके अधिकारी को श्गणिकाध्यक्ष कहा जाता था । जो स्त्रियाँ राज की सेवा में न रहकर स्वतंत्र रूप से पेशा करती थीं उन्हें रूपजीवा (रूप द्वारा आजीविका कमाने वाली) कहा जाता था । इनसे राज्य को पर्याप्त आय होती थी । अर्थशास्त्र में उनके लिए अनेकानेक नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है ।

दास प्रथा

मौर्य युग में दास प्रथा का भी प्रचलन था । अशोक के अभिलेखों में दासों सेवकों नृत्यों तथा कई अन्य प्रकार के श्रमजीवियों का उल्लेख मिलता है । अर्थशास्त्र में भी दास प्रथा का विस्तृत वर्णन मिलता है । कौटिल्य की यह स्पष्ट मान्यता थी कि आर्य जाति के लोगों को दास नहीं बनाया जा सकता । कौटिल्य ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र इन चारों वर्णों को ही आर्य मानता था । उसने म्लेच्छों को दास बनाने की अनुशंसा की । विपत्ति या संकट की स्थिति में आर्य

भी दास बन सकता था। कौटिल्य की यह मान्यता थी कि यदि कोई दासता ग्रहण किया हुआ व्यक्ति दासता के बंधन से मुक्त हुए बिना भाग जाए तो उसे आजीवन दास बना रहना होगा। तत्कालीन समाज में दासों के साथ सद्व्यवहार किया जाता था। अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि दासों से अनुचित कार्य नहीं करवाये जाएं। किसी दास को कोई सम्बन्धी अथवा स्वयं दास द्वारा अपना मूल्य अदा करने की स्थिति में दासता के बंधन से छुटकारा भी मिल सकता था। दास को अपनी तथा अपने पिता की सम्पत्ति का भी अधिकार था। इन सुविधाओं के कारण भारतीय दास, सेवकों अथवा वेतनभोगी नौकरों के समान प्रतीत होते थे। सम्भवतः इसी कारण मेगस्थनीज ने उन्हें पहचानने में भूल की और उसने यह लिखा कि भारतवर्ष में दास प्रथा का प्रचलन नहीं है।

जन-जीवन खानपान

मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय मितव्ययी थे। इनका आचार-व्यवहार सरल एवं पवित्र था तथा इनका जीवन सुखी था। लोग खाने-पीने के बड़े शौकीन थे। शाकाहार एवं मांसाहार दोनों प्रकार के भोजन का प्रचलन था। अर्थशास्त्र एवं अशोक के शिलालेखों से विदित होता है कि मांसाहार सामान्य रूप से प्रचलन में था। अर्थशास्त्र में मांसपण्या (मांस का विक्रय करने वाले) एवं पक्वमासिका (पका मांस विक्रय करने वाले) का उल्लेख मिलता है। अशोक के रसोईघर में भी अनेक पशु-पक्षियों की हत्या की जाती थी। परन्तु बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बाद उसने अपने रसोईघर में इन पशु-पक्षियों की हत्या पर्याप्त कम कर दी तथा भविष्य में इसे पूर्णतः बन्द करने का आश्वासन भी दिया। अपने प्रथम शिलालेख में वह कहता कि उसके रसोईघर में पहले हजारों जीव मारे जाते थे किन्तु अब तीन जीव दो मोर एक हरिण मारे जाएंगे तथा भविष्य में इन्हें भी नहीं मारा जाएगा। मांस के साथ-साथ मदिरापान का प्रचलन था। मदिरा पीने एवं बेचने के स्थान सरकार द्वारा निश्चित होते थे। अर्थशास्त्र में औदनिका (पका हुआ चावल विक्रय करने वाले), आप्तापिका (चपाती विक्रय करने वाले), पक्वान्नपण्यारू (पकवान विक्रय करने वाले), का भी उल्लेख प्राप्त होता है। भोजन करने की विधि के सन्दर्भ में मेगस्थनीज लिखता है कि जब भारतीय भोजन ग्रहण करने बैठते थे तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने एक पौड़ा रख देते थे। इस पर सोने के कटोरे में पहले भात परोसते थे, फिर अनेक स्वादिष्ट व्यंजन डाले जाते थे। मेगस्थनीज ने यह भी लिखा है कि भारतीय अकेले भोजन करते हैं, सामूहिक भोजन के लिए उनके यहाँ कोई निश्चित समय नहीं होता। वस्त्राभूषण

कृ

मौर्य युग

में लोग अपने शरीर को ढकने एवं अलंकृत करने के लिए विविध प्रकार के वस्त्राभूषणों का प्रयोग करते थे। इस समय वस्त्र व्यवसाय पर्याप्त उन्नत अवस्था में था। रेशम, ऊन, कपास, सन तथा विभिन्न रेशों से वस्त्र तैयार किए जाते थे। अर्थशास्त्र में तुन्नवाय (दर्जी) का उल्लेख प्राप्त होता है। विविध प्रकार



के कम्बलों का वर्णन भी अर्थशास्त्र में हुआ है। पाटलीपुत्र से प्राप्त मृण्मूर्ति एवं यक्षी प्रतिमा से स्त्रियों द्वारा पहने जाने वाले वस्त्रों का अनुमान लगाया जा सकता है। मृण्मूर्ति में बालिका को जहाँ चौड़ा

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

1155

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

156

लहंगा पहने हुए दर्शाया गया है वहीं यक्षी को साड़ी या धोती पहने हुए दिखाया गया है। मौर्य युग में जहाँ एक ओर विविध प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था वहीं नानाविध आभूषणों को भी लोग अपने शरीर पर धारण करते थे। आभूषण स्वर्ण, मणि एवं मुक्ता द्वारा तैयार किए जाते थे। अर्थशास्त्र में प्रसाधन के साधनों में चूर्ण (पाउडर), अनुलेपन (मलने वाली क्रीम) आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है। मेगस्थनीज ने भारतीयों के सौन्दर्य – प्रेम का उल्लेख करते हुए लिखा है कि श्र अपने आचार की सादगी के बावजूद वे बारीकी एवं सुन्दरता के प्रेमी हैं। उनके वस्त्रों पर स्वर्ण का कार्य किया हुआ होता है तथा वस्त्रों में मूल्यवान रत्न जड़े हुए होते हैं। सेवकगण उनके पीछे छाता लगाये चलते हैं। वे सौन्दर्य का विशेष ध्यान रखते हैं और अपने रूप को सँवारने में कोई कमी नहीं छोड़ते।

मनोरंजन

आमोद-प्रमोद के अनेक साधन इस युग में प्रचलित थे। अर्थशास्त्र में ऐसे अनेक लोगों का उल्लेख मिलता जिनका व्यवसाय लोगों का मनोरंजन करना था जैसे नट (नाटक करने वाले), नर्तक (नाचने वाले), गायक (गाने वाले), वादक (बाजा बजाने वाले), वाग्जीवी (विभिन्न प्रकार की बोली बोलने वाले), सौमिक (मदारी), प्लवक (रस्से पर नाचने वाले) एवं चारण (यश-गान करने वाले) इत्यादि। अशोक के अभिलेखों में विहार यात्राओं एवं समाज का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें शिकार, मल्ल युद्ध, नृत्य, संगीत, घुड़दौड़ एवं हाथियों की दौड़ होती थी। लेकिन मनुष्यों एवं पशुओं के मल्लयुद्ध में अत्यधिक हिंसा होने का कारण अशोक ने बिहार यात्राओं एवं समाज पर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा इनके स्थान पर धर्मयात्रायें प्रारम्भ की। द्यूत क्रीड़ा का भी प्रचलन था। द्यूत क्रीड़ा गृहों पर राज्य का नियंत्रण था तथा इन पर शुल्क लगता था। प्रक्षामृहों में अभिनय से भी जनता का मनोरंजन होता था।

अर्थव्यवस्था

मौर्ययुगीन अर्थव्यवस्था कृषि, पशुपालन उद्योग एवं व्यापार तथा वाणिज्य पर

निर्भर थीं। इन्हें सामूहिक रूप से वार्ता (वृत्ति का साधन) कहा गया।

कृषि

—

भारतवर्ष प्रारम्भ से ही कृषि प्रधान देश रहा है। मौर्य युग भी इसका अपवाद नहीं था। मेगस्थनीज ने भारतीय समाज का जो वर्गीकरण किया है उसमें उसने कृषक वर्ग को द्वितीय स्थान पर रखा गया है तथा इनकी संख्या सबसे अधिक बताई है। राज्य की ओर से कृषकों को युद्ध एवं सार्वजनिक सेवाओं एवं कर्तव्यों से मुक्त रखा गया। इनका सम्पूर्ण समय कृषि के कार्यों में ही व्यतीत होता था। कृषक समाज पवित्र एवं अवध्य माना जाता था। मेगस्थनीज ने लिखा है कि युद्ध के समय शत्रु द्वारा कृषकों को कोई हानि नहीं पहुँचायी जाती थी क्योंकि किसान वर्ग को सर्वसाधारण द्वारा हितकारी माना जाता है। मौर्ययुग में कृषि योग्य भूमि दो प्रकार की थी सीता एवं करद । सीता राजकीय भूमि थी। इस पर खेती शसीताध्यक्ष द्वारा करायी जाती थी जबकि शकरद, भूमि पर करद (भाग देने) वालेन कृषक खेती करते थे। अर्थशास्त्र में कृष्ट (जुती हुई), अकृष्ट (बिना जुती हुई), स्थल (ऊँची) आदि भूमियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। खेती हल एवं बैलों की सहायता से होती थी। शालि (धान), ब्रीहि (चावल), कोद्रव (कोदों का धान), तिल, प्रियंगु (कंगनी चावल), दारक (दाल), वरक (मोठ), मुदग (मूंग), माष (उड़द), मसूर, कुलत्थ (कुल्थी), यव (जौ), गोधूम (गेहूँ), कलाय (चना), अतसी (अलसी), सर्वप (सरसों), इक्षु (ईख), एवं कार्पसि (कपास) आदि की खेती की जाती थी। अच्छी फसल के लिए बीजों को किस प्रकार तैयार किया जाए एवं खेतों में किस फसल में कौन-सी खाद डाली जाए इसका विशद विवेचन अर्थशास्त्र में उल्लिखित है।

यद्यपि मौर्य युग में कृषि वर्षा पर निर्भर थी फिर भी मौर्य शासकों ने सिंचाई की व्यवस्था की ओर पर्याप्त ध्यान दिया। राज्य की ओर से तालाबों, कुओं तथा झीलों पर बाँध निर्मित करवाकर पानी को एक स्थान पर एकत्रित किया जाता था । इस व्यवस्था को सेतुबन्ध कहा जाता था। मौर्य युग में सेतुबन्ध के निर्माण को सर्वोत्तम उदाहरण की जानकारी जूनागढ़ अभिलेख से मिलती है। लेख से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त के गवर्नर पुष्यगुप्त द्वारा सौराष्ट्र में सुदर्शन झील का निर्माण करवाया गया तथा अशोक के समय तुषारफ

ने इसमें से कई नहरों का निर्माण करवाया। अर्थशास्त्र में सिंचाई के अनेक साधनों का उल्लेख मिलता जिनमें नदी, सर, तड़ाग, कूप, रहट, चरस आदि प्रमुख हैं। सिंचाई के लिए अलग से राज्य को कर देना पड़ता था । राजकीय भूमि पर दासों, कर्मकारों (श्रमिकों) एवं दण्ड प्रतिकर्ताओं (कैदियों) द्वारा कृषि कार्य किया जाता था। इनकी सहायता के लिए कुट्टाक (कुट्टी करने वाले), मेदक (कुआँ खोदने वाले), रज्जुवर्तक (रस्सी बटने वाले) एवं सर्पग्राहि (साँप पकड़ने वाले) आदि लोग भी हुआ करते थे।

कृषकों को उपज का एक भाग कर के रूप में देना पड़ता था जो 1/4 भाग तक हो सकता था। इसे १ भेगश कहा जाता था। राज्य की भूमि की व्यवस्था शसीताध

प्राचीन भारतीय इतिहास

यक्ष्ण द्वारा होती थी तथा उससे होने वाली आय को श्सीताश् कहा जाता था। राजस्व एकत्रित करने के लिए राज्य की ओर से अनेक अधिकारी नियुक्त थे।

पशुपालन

कृषि एवं पशुपालन में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। एक ओर जहाँ पशुओं से घी, दूध एवं मांस की प्राप्ति होती थी वहीं दूसरी ओर कृषि में बैलों तथा युद्ध में हाथियों एवं घोड़ों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। अर्थशास्त्र में अलग से पशुविभाग की स्थापना का उल्लेख प्राप्त होता है। चरागाहों का विकास एवं उनकी सुरक्षा पशुओं की चिकित्सा एवं पशु हिंसा को रोकना आदि इस विभाग के प्रमुख कार्य थे। अर्थशास्त्र में गो अध्यक्ष (गाय, भैंस तथा दूध देने वाले पशुओं की जानकारी रखने वाला), गोपालक (गाय पालने वाले), पिण्डारक (भैंस पालने वाले), दोहक (दूध दुहने वाले), मंधक (दही मथने वाले), लुब्धक (हिंसक पशुओं से गाय-भैंस की रक्षा करने वाले) आदि कर्मचारियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। अर्थशास्त्र में उपर्युक्त कर्मचारियों को नकद वेतन अथवा भोजन एवं वस्त्र देने का प्रावधान है, क्योंकि कौटिल्य की यह मान्यता थी कि यदि इन कर्मचारियों को दूध, दही या घृत में से किसी प्रकार का हिस्सा दिया गया तो वे बछड़ों को भूखा मार सकते थे। दूध देने वाले पशुओं के अतिरिक्त अन्य पशुओं में अश्व एवं हाथी का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इन दोनों ही पशुओं का महत्त्व सैनिक दृष्टिकोण से था। अर्थशास्त्र में श्वअश्वध्यक्ष एवं हस्ताध्यक्ष का उल्लेख प्राप्त होता है। पशुओं की चिकित्सा की पूर्ण व्यवस्था राज्य की ओर से की जाती थी स्वयं अशोक ने न केवल द्विपद (मनुष्य) अपितु चतुष्पद (जानवरों) की चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध किया था।

उद्योग-धन्धे

यद्यपि मौर्य युग में कृषि जनता का प्रमुख व्यवसाय था किन्तु कृषि एवं पशुपालन के साथ-साथ अन्य अनेक व्यवसाय एवं उद्योग भी उन्नत अवस्था में थे। मेगस्थनीज ने अपने वर्णन में लिखा है कि श्वे कला-कौशल में बड़े निपुण हैं। ई. यू. एन. घोषाल ने मौर्यकालीन अनुकूल स्थितियों को उद्योग तथा देशी-विदेशी व्यापार की उन्नति का कारण माना है। अर्थशास्त्र एवं मेगस्थनीज के वर्णन से मौर्ययुगीन विविध उद्योगों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

वस्त्र उद्योग उस समय के प्रधान उद्योगों में से एक था। वस्त्र उद्योग पर राजकीय नियंत्रण था। अर्थशास्त्र में इस विभाग के अध्यक्ष को श्वसूत्राध्यक्ष कहा गया है। उर्णा (ऊन), बल्क (रेशे), कार्पास (कपास), तूल (रेशेदार पौधा), शण (सन) एवं क्षेम (रेशम) से सूत काता जाता था। विधवा, विकलांग, कन्या, प्रव्रजिता, कैदियों, वृद्ध वेश्याओं तथा वृद्ध दासियों से सूत कतवाया जाता था। अनेक शिल्पी भी सूत कातने का कार्य करते थे। काशी, वत्स, अपरान्त बंग एवं मदुरा सूती वस्त्र उद्योग के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। सन से निर्मित वस्त्र काशी एवं मगध के अच्छे माने जाते थे। मलमल बंगाल का प्रसिद्ध था। मगध, पुण्ड एवं सुवणकुडय छाल तथा रेशों के वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे। नेपाल के ऊनी वस्त्र प्रसिद्ध थे। अर्थशास्त्र में चीनपट्ट का उल्लेख है। ऐसा लगता है चीन से रेशमी

वस्त्र आयात किया जाता था ।

खनन एवं धातु कर्म दूसरा अन्य महत्वपूर्ण उद्योग था । इससे राज्य को पर्याप्त आय होती थी । अर्थशास्त्र में खान एवं खान से उत्पन्न होने वाले समस्त पदार्थों पर राज्य के अधिकार की बात कही गई है । साथ ही कुछ खानों को पट्टे पर भी देने का उल्लेख है । अर्थशास्त्र में खनन उद्योगों के प्रबन्ध अधिकारी श्र आकराध्यक्ष कहा गया है । उसकी सहायता के लिए खन्यध्यक्ष, लोहाध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष एवं लवणाध्यक्ष आदि अधिकारी होते थे । अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार के धातुओं की खानों के अलग-अलग लक्षणों का

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

157

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिधेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

रु

उल्लेख है । इन लक्षणों के आधार पर स्वर्ण, रजत, ताम्र, शीशा तथा लौह तथा अन्य प्रकार की धातुओं की खानों का पता लगाया जा सकता था । खानों से प्राप्त होने वाले धातुओं एवं पदार्थों का संग्रह, उनका परिष्कार, निर्माण एवं क्रय-विक्रय की व्यवस्था राज्य का कर्तव्य था ।

मौर्ययुगीन उद्योगों में सुरा उद्योग का भी महत्वपूर्ण स्थान था । यह उद्योग शसुराध्यक्ष के नियंत्रण में था । सुरा बनाने का कार्य सुरा के जानकार एवं अनुभवी व्यक्ति को ही दिया जाता था । अन्य कोई व्यक्ति यदि सुरा बनाता तथा उसका क्रय-विक्रय करता तो उसे दण्डित किया जाता था । राज्य की ओर से सुरापान के लिए स्थानों की व्यवस्था की जाती थी ।

इन उद्योगों के अतिरिक्त कई अन्य उद्योग भी मौर्यकाल में उन्नत अवस्था में थे जिनमें काष्ठ शिल्प, चमड़ा उद्योग, रत्नाभूषण उद्योग, मृदमाण्ड कला आदि प्रमुख हैं साथ ही प्रस्तर तराशने का व्यवसाय भी विकसित अवस्था में था । अशोक के समय प्रस्तर (एकाश्म) से निर्मित स्तम्भ इसके महत्वपूर्ण प्रमाण हैं । प्रस्तर पॉलिश का काम भी इस समय चरमोत्कर्ष पर था । इन विविध उद्योगों में काम करने वाले शिल्पी विभिन्न अध्यक्षों के अधीन कार्य करते थे तथा राज्य से वेतन पाते थे । किन्तु अनेक स्वतंत्र शिल्पी भी थे जो श्रेणियों में संगठित होने के कारण उनके अधिकार अधिक सुरक्षित थे । इस समय शिल्पियों को राज्य का पूर्ण संरक्षण प्राप्त था । किसी भी शिल्पी को हानि पहुँचाने पर कठोर दण्ड दिया जाता था । शिल्पी का अंग-भंग करने वाले को मृत्यु दण्ड दिया जाता था । साथ ही अधिक मुनाफा कमाने वालों, कम तौलने वालों तथा वस्तुओं में मिलावट करने वालों को भी दण्डित किया जाता था ।

व्यापार एवं वाणिज्य



मौर्य शासन में अखिल भारतीय साम्राज्य होने के कारण व्यापार वाणिज्य को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। मौर्य युग में अन्तर्देशीय (आन्तरिक) एवं परदेशीय (बाह्य) दोनों प्रकार का व्यापार उन्नत अवस्था में था। अन्तर्देशीय व्यापार स्थल मार्ग एवं जल मार्ग दोनों ही मार्गों से होता था। अर्थशास्त्र में जिस मार्ग से व्यापार करने में अधिक लाभ की सम्भावना बनती हो उसी का मार्ग का अनुसरण करने का निर्देश दिया गया

सम्पूर्ण व्यापार श्रण्याध्यक्ष के नियंत्रण में होता था। अर्थशास्त्र में व्यापारियों को स्वदेशी माल पर पाँच प्रतिशत तथा विदेशी माल पर अधिकतम दस प्रतिशत मुनाफा कमाने का उल्लेख है। इससे अधिक मुनाफा कमाने वाले व्यापारियों को दण्डित किया जाता था। मौर्य युग में चार राजमार्ग प्रमुख थे जो पाटलीपुत्र से चारों दिशाओं में जाते थे। ये चारों मार्ग जहाँ व्यापार के लिए उपयोगी थे वहीं सैन्य दृष्टि से भी इनका पर्याप्त महत्त्व था। अर्थशास्त्र में इनका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि शत्रु पर आक्रमण करने का अधिकार वाणिज्य पथ (व्यापारिक मार्ग) से ही है। वाणिज्यपथ से ही सेना एवं गुप्तचरों का आवागमन होता है, एवं सैन्य मामलों का क्रय भी उन्हीं से किया जाता है। इन मार्गों से कई उपमार्ग भी निकलते थे जो छोटे-छोटे नगरों को मिलाते थे। अशोक द्वारा यात्रियों की सुविधार्थ राजमार्गों पर वृक्ष लगवाने, कुएँ खुदवाने तथा सरायों के निर्माण का उल्लेख उसके अभिलेखों में प्राप्त होता है। मेगस्थनीज के अनुसार मार्गों पर मार्ग सूचक एवं दूरी के परिचायक चिन्ह बने हुए होते थे। मार्गों को सुरक्षित एवं व्यवस्थित रखने का कार्य राज्य के प्रमुख कर्तव्यों में सम्मिलित था। अन्तर्देशीय व्यापार स्थल मार्ग के साथ-साथ नदी मार्ग से नौकाओं के माध्यम से भी किया जाता था। सम्पूर्ण देश में वस्तुयें व्यापारियों द्वारा राज्य के एक भाग से दूसरे भाग में पहुँचायी जाती थीं। कश्मीर, कौशल एवं कलिंग से हौरा, काशी से विभिन्न प्रकार के वस्त्र, मगध एवं सुवर्णकुण्ड से रेशों से निर्मित वस्त्र, बंगाल से मलमल, नेपाल से ऊनी वस्त्र, दक्षिण भारत से चन्दन, बलख से अश्व, पाण्ड्य, केरल ताम्रपर्ण से मोती आदि, देश के एक भाग से दूसरे भाग में पहुँचाये जाते थे तथा विदेशी व्यापारी भी बड़ी संख्या में माल क्रय करने आते थे। मौर्ययुग से मुगलकाल तक बिना मुद्रा (पासपोर्ट) के कोई यात्रा नहीं कर सकता था।

इस समय परदेशीय व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। अर्थशास्त्र में विदेशी व्यापारियों के काफिलों (साथ) का उल्लेख मिलता है जो पश्चिमोत्तर भारत के स्थल मार्गों से व्यापार के लिए आते थे। साथ का मुखिया सार्थवाह कहलाता था। सार्थों की रक्षा का दायित्व राज्य पर होता था। विदेशी सार्थ के सीमा में प्रवेश करने के साथ ही उसके माल की किस्म एवं मात्रा की जाँच की जाती थी तथा उसे शुल्क के लिए

शुल्काध्यक्ष के पास भेज दिया जाता था। मौर्य शासकों के यूनानी शासकों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के कारण पश्चिमी एशिया एवं मिस्र के साथ भारत के व्यापार के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण हुआ। एक प्रमुख स्थल मार्ग

तक्षशिला से काबुल, बैक्ट्रिया और वहाँ से पश्चिमी देशों की ओर जाता था । पश्चिमी देशों के साथ जलमार्ग द्वारा व्यापार के लिए भारत के समुद्रतट पर मुजिरिस नामक बन्दरगाह था । मुजिरिस से भारतीय व्यापारी फारस (ईरान) की खाड़ी में स्थित मस्कत बन्दरगाह जाते थे । मस्कत भारतीय माल का प्रधान केन्द्र था । यहाँ से भारतीय माल असीरिया आदि पश्चिमी देशों को भेजा जाता था । इस समय भारत एवं मिस्र के मध्य होने वाला व्यापार भी उन्नत अवस्था में था । इस व्यापार को और अधिक प्रोत्साहित करने के लिए मिस्र नरेश टाल्मी फिलेडेल्फस से लाल सागर के तट पर श्बेरेनिस नामक बन्दरगाह स्थापित करवाया तथा बेरेनिस से भारतीय माल स्थल मार्ग द्वारा काप्टस नगर तक पहुँचाया जाता था तथा काप्टस से भारतीय माल नील नदी के मार्ग से एलेक्जेंड्रिया भेजा जाता था । भारत से हाथीदाँत, सीपियाँ, मोती, रंग, नील, बहुमूल्य लकड़ी एवं मसाले आदि निर्यात किए जाते थे । चीन से रेशमी वस्त्र (चीन पट्ट), फारस (ईरान) से कार्दमिक मुक्ता की माँग भारत में पर्याप्त मात्रा में थी । मौर्य शासकों की राजसभा में विदेशी दूतों की उपस्थिति तथा पाटलीपुत्र में विदेशियों की देखरेख के लिए विदेश समिति की स्थापना से यह सिद्ध होता है कि भारतवर्ष एवं विदेशों के मध्य आवागमन की अच्छी सुविधा थी ।

मुद्रा

अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार की मुद्राओं का उल्लेख है जो मौर्यकाल में प्रचलित थीं, जिनमें सुवर्ण (स्वर्ण मुद्रा), कार्षापण या पण या धरण (रजत मुद्रा) माषक एवं काकणी (ताम्रमुद्रा) आदि प्रमुख हैं । उत्खनन में भारी मात्रा में आहत (पंचमार्क) सिक्के भी प्राप्त हुए हैं । रजत एवं ताम्र धातु के इन सिक्कों के कुछ समूहों को मौर्ययुग से सम्बन्धित माना गया है । मौर्य युग में अनेक नगर जहाँ प्रशासन के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे वहीं वे व्यापार एवं वाणिज्य के भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन चुके थे । अतः मौर्य युग में मुद्रा आम उपयोग की चीज हो गई व्यापार में मुद्रा अर्थ व्यवस्था की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है । 12000 पण एवं 48000 पण वार्षिक वेतन के भुगतान का उल्लेख अर्थशास्त्र में प्राप्त होता है । ऐसी स्थिति में निश्चय ही नकदी अर्थव्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए सिक्कों की ढलाई तथा रजत एवं ताम्र जैसी धातुओं का महत्त्व बढ़ गया होगा । मौर्ययुगीन आहत सिक्के इस बात के प्रमाण हैं कि मौर्य युग में मुद्रा अर्थव्यवस्था सुव्यवस्थित रूप से लागू थी ।

कला

मौर्य काल में राजनीतिक एकता, सुख-समृद्धि, वैभव एवं संरक्षण से कला को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला । सिन्धु सरस्वती सभ्यता एवं मौर्य युग के मध्य लगभग डेढ़ हजार वर्ष के अन्तराल में कला का कोई भी भौतिक अवशेष उपलब्ध नहीं है । महाकाव्यों एवं बौद्ध ग्रन्थों में मिट्टी ईंट हाथीदाँत एवं काष्ठ धातुओं की कलाकृतियों का उल्लेख प्राप्त होता है । चन्द्रगुप्त के राजप्रासादों में भी ईंट एवं काष्ठ का प्रयोग हुआ, किन्तु अशोक के समय में पहली बार प्रस्तर का प्रयोग कुशलता से एवं व्यापक स्तर पर किया गया ।



मौर्य

युग में दो प्रकार की कला शैलियाँ दिखाई देती हैं। प्रथम, राजसी कला – यह राज शिल्पियों द्वारा निर्मित थी। इसमें मौर्य राज— प्रासादों तथा अशोक के स्तम्भों की गणना कर सकते हैं। द्वितीय, लोककला – यह जन सामान्य की कला थी। इसमें यक्ष— यक्षणियों की मूर्तियों की गणना कर सकते हैं जो बरोदा, घरखम (मथुरा), दीदार गंज (पटना), विदिशा आदि स्थानों से प्राप्त हुई है। लोक कला मिट्टी एवं काष्ठ निर्मित है जो प्राचीन अभिघटन कला (प्लास्टिक आर्ट) की परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है, जिसे मौर्य युग में प्रस्तर के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया।

राजसी कला

—

नगर योजना

मौर्य

युग में भारत का नगर तथा दुर्गवास्तु पर्याप्त सराहनीय हो उठा था। मेगस्थनीज के पाटलीपुत्र वर्णन तथा पुरातात्विक उत्खननों में चन्द्रगुप्त मौर्य के राज प्रासाद के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उनसे उनके वास्तु के गौरव का अनुमान लगाया जा सकता है। मेगस्थनीज के कथनानुसार श्भारत का सबसे बड़ा नगर

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

स्व-प्रगति का परीक्षण करेंरू

1. मौर्य युगीन दास प्रथा को स्पष्ट करें।

2. पशुपालन पर टिप्पणी लिखें?

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

159

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

160

पलिब्रोथा (पाटलीपुत्र) है। नगर की लम्बाई 80 स्टैडिया (लगभग साढ़े नौ मील) तथा चौड़ाई 15 स्टैडिया (लगभग पौने दो मील) है। इसके चारों ओर एक खाई बनी हुई है जो 6 प्लेया (लगभग 600 फुट) चौड़ी और तीस हाथ गहरी है। नगर के चारों ओर काष्ठ निर्मित एक प्राचीर बनी हुई है जिसमें 570 बुर्ज एवं 64 द्वार हैं। पाटलीपुत्र की रक्षा प्राचीर काष्ठ के मोटे लट्ठों से निर्मित थी जिसकी पुष्टि पटना के निकट बुलन्दी बाग, कुप्राहार के उत्खननों से हुई है। अर्थशास्त्र में भी स्थापत्य के सम्बन्ध में रोचक उल्लेख प्राप्त होते हैं। उक्त ग्रन्थ में ईंटों अथवा प्रस्तरों द्वारा प्राचीन निर्माण का विधान है।

अशोक प्राचीन भारत के महानतम निर्माताओं में से था उसे नवीन नगरों के

निर्माण करने तथा उन्हें सुसज्जित करने की विशेष अभिरुचि थी। उसने कश्मीर प्रदेश में श्रीनगर तथा नेपाल में ललितपाटन एवं देवपाटन नामक नगर बसाये। इन नगरों का भी वास्तु पाटलीपुत्र के समान रहा होगा।

राजप्रासाद

मौर्ययुगीन राजप्रासाद अत्यन्त भव्य, विशाल एवं सुन्दर होते थे। पाटलीपुत्र में चन्द्रगुप्त का राजप्रासाद सुन्दर एवं भव्य था। मेगस्थनीज के अनुसार उसके चारों ओर एक सुन्दर उद्यान था जिसमें मछलियों से युक्त सरोवर थे। राजप्रासाद का सबसे प्रमुख भाग उसका स्तम्भ युक्त भव्य विशाल कक्ष था। उसके काष्ठ स्तम्भों पर स्वर्ण के पत्तर चढ़े हुए थे। प्रासाद का आन्तरिक कक्ष राजसिंहासन पादपीठों तथा स्वर्णरजत की रत्नजड़ित वस्तुओं से सुसज्जित था। मेगस्थनीज ने अपने वर्णन में इस राजप्रासाद को ईरान के सूसा एवं एकबताना के राजप्रासादों से भी अधिक सुन्दर माना है। अर्थशास्त्र में भी प्रासाद तथा उसके विभिन्न भागों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। अर्थशास्त्र में उस स्थान को सुरक्षित रखने का उल्लेख है जहाँ दिन में राजा का अधिकांश समय गुजरता था। प्रासाद में तहखाने अनेक गुप्त कक्ष तथा गुप्त मार्ग बन होते थे।

अशोक ने भी पाटलीपुत्र में सुन्दर राजप्रासाद तथा सभा भवनों का निर्माण करवाया। इस राजप्रासाद में प्रस्तर का प्रयोग दीवारों एवं तोरणों में हुआ। इनमें चित्ताकर्षक नक्काशी तथा सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण थीं। अशोक द्वारा निर्मित राजप्रासाद चीनी यात्री फाह्यान के समय तक विद्यमान था। फाह्यान ने अपने वर्णन में लिखा है कि शनगर के मध्य में अशोक का राजप्रासाद एवं सभाभवन स्थित है। ये सभी असुरों द्वारा बनाये हुए

पत्थर चुनकर भीत (दीवार) एवं द्वार बनाये गए हैं। सुन्दर खुदाई एवं पच्चीकारी है। इस लोक के लोग उन्हें नहीं बना सकते। वे अब तक नये के समान हैं। ह्वेनसांग के समय तक यह राजप्रासाद नष्ट हो चुका था। पटना के निकट कुम्राहार से एक राजप्रासाद के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। राजप्रासाद के प्रधान कक्ष भी छत प्रस्तर के चमकदार स्तम्भों पर आश्रित थी। इन स्तम्भों को किसी दृढ़ आधार पर न टिका कर लकड़ी की चौकियों पर खड़ा किया गया था। डॉ. वी. एस. अग्रवाल के अनुसार यह ऐतिहासिक युग का प्रथम विशाल अवशेष है जिसके दिव्य स्वरूप को देखकर दर्शक मंत्र-मुग्ध हो जाता है। कुछ विद्वानों का यह अनुमान है कि यह सभा भवन चन्द्रगुप्त मौर्य के समय बन चुका था। परन्तु उसके अवशेषों के आधार पर कतिपय विद्वान इसे अशोक युगीन निर्मित मानते हैं।

स्तूप

स्तूप (पालि शूभ) से तात्पर्य चिता स्थल पर निर्मित टीले से था, जो प्रारम्भ में मिट्टी द्वारा निर्मित होता था। बौद्ध साहित्य में स्तूप शब्द का प्रयोग मृत व्यक्ति की अस्थियों पर निर्मित समाधि के लिए हुआ है, जिसका आकार उल्टे कटोरे के समान टीले जैसा हो। आगे चलकर स्तूप शब्द उन स्मारकों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा जो बुद्ध या बौद्धानुयायियों को स्मृति या किसी घटना विशेष

प्राचीन भारतीय इतिहास

की स्मृतियों हेतु बनाये जाते थे। महापरिनिर्वाण सूत्र में बुद्ध आनन्द से कहते हैं कि श्मेरी मृत्यु के बाद मेरे अवशेषों पर उसी प्रकार बनाये जाएं जिस प्रकार चक्रवर्ती राजाओं के अवशेषों पर बनते हैं। १९ बौद्ध अनुश्रुतियों से विदित होता है कि महापरिनिर्वाण के बाद बुद्ध के अस्थि अवशेषों को मगध नरेश अजातशत्रु, शाक्य, कोलिय, बुलि मल्ल (पावा के), लिच्छवि (वैशाली के), मल्ल (कुशी नगर के) तथा वेलदीप के ब्राह्मणों में बाँटा गया। पिप्पलीवन के ह्वेनसांग ने भी इनका उल्लेख किया है। अशोक द्वारा निर्मित स्तूपों में दो स्तूपों के अवशेष वर्तमान में भी उपलब्ध हैं— (1) सारनाथ (वाराणसी के निकट) का धर्मराजिका स्तूप तथा (2) सांची का मुख्य स्तूप (सं 1) सारनाथ स्तूप का अब केवल निचला भाग ही शेष है। यह ईंटों से निर्मित

स्तूप

गोलाकार स्तूप

है। स्तूप के पास से एक ही पत्थर से काटकर वेदिका भी प्राप्त हुई हैं, उस पर मौर्यकालीन चमकदार ओप है। यह वेदिका आरम्भ में धर्मराजिका स्तूप की हर्मिका (स्तूप के सिर पर निर्मित चौकोर घेरा) के रूप में रही होगी। इस स्तूप का पुनर्निर्माण 12वीं शताब्दी तक चलता रहा। स्तूप के चारों ओर अनेक पूजा स्तूपों के चबूतरे भी हैं। जिसे प्रकट होता है कि मुख्य स्तूप के पार्श्व में मनौती स्तूप बनाये थे। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काशीराज के मंत्री जगत सिंह द्वारा अज्ञानवश यह स्तूप नष्ट कर दिया गया। इस स्तूप को नष्ट करते समय प्रस्तर की बड़ी डिबिया (बॉक्स) भी प्राप्त हुई, जिसमें हरे संगमरमर के पात्र में राख रखी थी। सम्भवतः वह बुद्ध का अवशेष रहा होगा।

गए

विदिशा के निकट स्थित सांची का स्तूप अपनी विशालता एवं उसके चारों ओर निर्मित सुन्दर तोरण द्वारों के कारण प्रख्यात है। स्तूप के तल का व्यास लगभग 120 फुट तथा इसकी ऊँचाई लगभग 54 फुट है। मार्शल की यह मान्यता थी कि ईंटों से निर्मित अशोककालीन स्तूप का आकार परवर्ती पाषाण स्तूप के आकार का लगभग आधा रहा होगा। यह अर्धमण्डलाकार के रूप में निर्मित है तथा इसके चारों ओर एक ऊँची मेधि (प्रदक्षिणा पथ) है। प्रदक्षिणापथ तक पहुँचने के लिए स्तूप के दक्षिणी भाग में एक दोहरी सोपान (सीढ़ी) हैं स्तूप के चारों ओर एक अन्य प्रदक्षिणापथ भी है जो पाषाण से निर्मित पाषाण वेष्टनियों से घिरा हुआ है। सारनाथ के धर्मराजिका स्तूप के समान सांची के अशोक कालीन स्तूप का भी पुनर्निर्माण होता रहा। इसके अनेक अवयवों का निर्माण शंग काल से लेकर सातवाहन काल में सम्पन्न हुआ तथा अशोक द्वारा निर्मित मूल स्तूप बाद में परिवर्द्धित स्तूप के नीचे दब गया।

पाषाण स्तम्भ

मौर्ययुगीन कला के उत्कृष्ट नमूनों में अशोक के पाषाण स्तम्भ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हें अशोक की लाट भी कहा जाता है। बिहार के निकट स्थित

चुनार के लाल बलुआ पत्थर से निर्मित ये स्तम्भ 40 से 50 फुट तक ऊँचे हैं। इन स्तम्भों पर अशोक ने राजकीय घोषणाओं, आदेशों तथा धर्मलेखों को अंकित करवाकर देश के विभिन्न अंचलों में स्थापित करवाया। एक ही प्रस्तर से निर्मित इन स्तम्भों के शीर्ष भाग पर पशु मूर्तियाँ स्थापित हैं। पशु मूर्तियों वाला भाग दूसरे प्रस्तर को जोड़कर निर्मित किया गया है। इन स्तम्भों पर सुन्दर चमकौली ओप (पॉलिश) है, जिसे मौर्य काल की एक विशिष्ट उपलब्धि माना जा सकता है। स्मिथ के अनुसार कठोर पाषाण को चमकाने की कला इस पूर्णता तक पहुँच गई थी कि यह कहा जा सकता है कि वर्तमान युग की कलात्मक शक्तियों के लिए यह एक खोई हुई कला है। चीनी यात्री फाह्यान ने अशोक के छह स्तम्भों को तथा ह्वेनसांग ने बारह स्तम्भों को देखने का उल्लेख अपने-अपने वर्णन में किया है। इनमें से जो स्तम्भ आज दिल्ली, प्रयाग, लौरिया अरराज, लोरिया – नन्दनगढ़ तथा रामपुरवा में हैं उन पर अशोक के प्रमुख स्तम्भ लेख उत्कीर्ण हैं। लुम्बिनी, सौँची, सारनाथ, कौशाम्बी आदि स्थानों से प्राप्त स्तम्भों पर उसके लघुशिलालेख अंकित हैं। इन विभिन्न स्तम्भों में से बखरा तथा लौरियानन्दगढ़ के स्तम्भ आज भी अपने स्थानों पर देखे जा सकते हैं।

अशोक –कालीन इन स्तम्भों को दो भागों में बाँटा जा सकता है प्रथम, स्तम्भ या लाट, द्वितीय ऊपर का शीर्ष स्तम्भ की सम्पूर्ण लाट एक ही प्रस्तर से निर्मित है जिसको लम्बाई 40 से 50 फुट तक है। स्तम्भ का दण्ड शुण्डाकार हैं। वह नीचे की ओर अधिक मोटा तथा ऊपर की ओर उसकी माटाई धीरे-धीरे कम होती गई है। स्तम्भों का द्वितीय भाग जो लाट के ऊपर स्थापित है शीर्ष कहलाता है। इसे पृथक् पाषाण खण्ड से बनाकर स्थापित किया गया है तथा इसे पाँच भागों में विभाजित किया गया है (1) लाट के ऊपर स्थापित इकहरी या दुहरी मेखला (2) उसके ऊपर उल्टी कमल पंखुड़ियों का अलंकरण जो घण्टाकृति के समान है (3) उसके ऊपर कंठा (4) गोलाकार चौकी तथा (अ) एक या एक से अधिक पशु मूर्तियाँ। सारनाथ के शीर्ष को चौकी सर्वाधिक सुन्दर है। उस पर चक्र के मध्य सिंह, हाथी, वृषभ तथा अश्वाकृति दौड़ते हुए उत्कीर्ण है। ये चारों पशु दिशाओं के प्रतीक के रूप में हैं। सिंह, शौर्य निर्भीकता एवं स्फूर्ति का प्रतीक है। हाथी चातुर्य, विचारशीलता एवं ऐश्वर्य का प्रतीक है। वृषभ एवं अश्व आय के प्रिय पशु हैं, जिनमें से एक के माध्यम से उन्होंने भूमि को उर्वरा बनाया और दूसरे के माध्यम से राज्य का विस्तार और संस्कृति का प्रसार किया। चक्र, धर्मचक्र प्रवर्तन का प्रतीक है जिसका बुद्ध ने सारनाथ में किया था घ घ सिरे पर चार सिंहों का अंकन अत्यन्त सजीव है। चारों सिंहों को पीठ मिलाये हुए दर्शाया

प्राचीन भारतीय इतिहास

छठे

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्वै

मसिन्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

162

गया है। उनके अंग-प्रत्यंग गठीले हैं। सारनाथ का यह शीर्ष भारतीय मूर्तिकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। सारनाथ के इस शीर्ष भाग को स्वतंत्र भारत का राष्ट्रीय प्रतीक स्वीकार किया गया है।

विन्सेंट स्मिथ, नीहारंजन रे आदि विद्वान अशोक के स्तम्भों पर ईरान एवं असीरिया की कला का प्रभाव मानते हैं। वास्तव में यह सत्य नहीं है। ईरानी एवं अशोक के स्तम्भों के मध्य स्पष्ट अन्तर दृष्टिगत होता है। अशोक के स्तम्भ जहाँ एकाक्षर में निर्मित हैं तथा बनावट में शुण्डाकार एवं सपाट हैं वहीं ईरानी स्तम्भों का निर्माण कई प्रस्तर खण्डों को जोड़कर किया गया है तथा बनावट में बेलनाकार एवं नालीदार हैं साथ ही अशोक के स्तम्भों पर पाई जाने वाली चमकदार ओप ईरानी की स्तम्भों पर प्राप्य नहीं है। डा. बी. एस. अग्रवाल की यह मान्यता है कि चमकदार ओप तैयार करने की कला भारत में ईरान से भी पहले ज्ञात थी। यूप के रूप में स्तम्भों के निर्माण की परम्परा हमारे यहाँ वैदिक काल से ही रही है। यूप के रूप में स्तम्भों का निर्माण तथा उन पर लेख लिखने की परम्परा का निर्वहन राजस्थान में भी हुआ। राजस्थान में बर्नाला, बड़वा, विजयगढ़ आदि स्थानों से यूप लेख प्राप्त हुए हैं। लेकिन इन यूप लेखों की तुलना किसी भी रूप में मौर्ययुगीन स्तम्भों से नहीं की जा सकती है। अशोक के स्तम्भों पर पाये जाने वाले विभिन्न अलंकरणों की अवधारणा लाट, कमल पंखुड़ियाँ या घट, धर्मचक्र तथा विभिन्न पशु प्रतिमायें भारतीय अवधारणा ही हैं। तकनीक की दृष्टि से यह सम्भव है कि ईरान, असीरिया तथा यूनान के साथ हमारे राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण वहाँ के बहुत से तत्वों का आगमन भारतवर्ष में और यहाँ के कुछ तत्वों का पश्चिमी देशों में जाना स्वाभाविक था।

शैल गुहायें

ज

हुआ

भारत में शैलगृहों (पर्वत गुफाओं) की प्राचीन परम्परा रही हैं। मध्यप्रदेश तथा राजस्थान से प्रागैतिहासिक एवं औद्यतिहासिक काल की गुहाएँ प्रकाश में आई हैं जिनमें आदिवासी निवास करते थे। अशोक ने पहली बार चट्टानों को काटकर गुफाओं के निर्माण की परम्परा प्रारम्भ की, जिसे उसके पौत्र दशरथ ने आगे बढ़ाया। चट्टानों को काटकर गुफाओं के निर्माण की परम्परा आगे चलकर अजन्ता एलौरा की गुहाकला के रूप में विकसित हुई अशोक एवं दशरथ के समय की सात गुहायें हैं जिनका निर्माण आजीविक सम्प्रदाय के भिक्षुओं के निवास के लिए किया गया था। गुहाओं के अन्दर चमकदार ओप है तथा छत को गोलाकार बनाया गया है। अशांक द्वारा निर्मित चार गुहायें बराबर की

पहाड़ी (गया से लगभग 19 कि. मी.) दूर सीतामढ़ी नामक एक अन्य गुहा को भी मौर्यकालीन माना जाता है। बराबर को गुहाओं में सुदामा गुहा, कर्ण चौपाल गुहा तथा लोमश ऋषि की गुहा विशेष प्रसिद्ध है जबकि नागार्जुनी पहाड़ी की गुहाओं में गोपी गुहा सबसे अधिक विशाल है। बराबर की गुफाओं के सन्दर्भ में डा. आर. सी. मजूमदार का कथन कि ये कमरे कड़े तोलिया प्रस्तर से निर्मित है और उनकी आन्तरिक दीवारें आइने की तरह चमकती हैं। ये गुहायें धैर्यपूर्ण कारीगरी एवं असीम श्रम की अद्भुत प्रतीक हैं।

लोक कला

मौर्ययुगीन, लोककला की जानकारी यक्ष यक्षणियों की विशालकाय प्रतिमाओं से होती है जो अपने साथ विशिष्ट अभिघटन कला (प्लास्टिक आर्ट) की परम्परा सँजोये हुए हैं।

इनका सम्बन्ध राजभवन की परिष्कृत कला से नहीं था, अपितु इनकी कल्पना लोकजीवन से की गई ये प्रतिमायें बड़ौदा एवं परखम (मथुरा), दीदारगंज (पटना) बेसनगर (मध्यप्रदेश) नोह (भरतपुर), बड़ौदा, पवाया झील का नगरा (मथुरा) राजघाट (वाराणसी) आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं। प्राप्त प्रतिमाओं में सर्वाधिक सुन्दर एवं परिष्कृत दीदारगंज से प्राप्त चंचर धारिणी यक्षिणी की प्रतिमा है। इसके शरीर का ऊपरी भाग थोड़ा झुकाव लिए हुए हैं। कमर पतली है तथा उरोजों के मध्य माला लटकी हुई है। मस्तिष्क पर किरीट तथा खुली केशराशि पीछे पीठ पर झूल रही है। इसी प्रकार परखम से प्राप्त यक्ष की प्रतिमा भी विशालकाय है। यक्ष को बलिष्ठ तथा स्थूलकाय दर्शाया गया है। उदर बाहर निकला हुआ तथा घुटनों के नीचे तक धोती पहने हुए हैं। कमर है। कमर में दुपट्टा बंधा हुआ है जिसमें सामने की ओर गाँठ लगी हुई है एवं दुपट्टे के दोनों छोर नीचे लटके हुए हैं। इन प्रतिमाओं के ऊपर मौर्ययुगीन चमकदार ओप है।

अशोक का धम्म

कलिंग युद्ध के विकराल रूप को देखकर अशोक का हृदय पसीज गया तथा उसने यह घोषणा की कि यदि भविष्य में इस प्रकार की घटना की अंश मात्रा में भी पुनरावृत्ति होती है तो उसे असीम दुःख होगा। इसके बाद युद्ध की भेरी हमेशा के लिए शान्त कर दी गई तथा उसने धम्म विजय की नीति अपनाई। धम्म शब्द का उल्लेख उसके अभिलेखों में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। अभिलेखों में प्रयुक्त धम्म सम्बन्धी समस्त बातों पर गहनता से विचार किया जाए तो अशोक के धम्म को बड़ी सरलता से समझा जा सकता है।

धम्म से क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न को वह पूछता है तथा स्वयं उसका उत्तर भी देते हुए अपने द्वितीय स्तम्भ लेख में कहता है कि अपासिनव (पापों का अभाव) बहु कयाने (बहुसंख्यक का कल्याण), दया, दान, सत्य, एवं सोचये (शुद्धि) ही धम्म है। अशोक ने अपने अन्य अभिलेखों में धम्म की शिक्षाओं एवं नियमों का उल्लेख किया है। अपने तृतीय शिलालेख, चतुर्थ शिलालेख, ग्यारहवें शिलालेख तथा द्वितीय लघु शिलालेख में यह उल्लेख करता है कि माता-पिता की सेवा,

प्राचीन भारतीय इतिहास

गुरुजनों का आदर, मित्रों, परिचितों, सगे-सम्बन्धियों, ब्राह्मणों, श्रमणों के प्रति उदारता, दास एवं सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, सभी प्राणियों के प्रति संयम भाव तथा पशु हिंसा से दूर आदि कार्य करने चाहिए।

उपर्युक्त सभी बातें अशोक के धम्म के व्यावहारिक रूप को दर्शाती हैं। व्यावहारिक रूप के अतिरिक्त उसका धम्म का एक निषेधात्मक रूप भी था जिसमें वह ऐसे दुर्गुणों एवं कुप्रवृत्तियों का उल्लेख करता है जिनसे धर्मानुसरण में बाधा आती है। अपने तृतीय स्तम्भ लेख में इन दुर्गुणों की ओर संकेत करते हुए वह कहता है कि चड़िये (उग्रता), निटुलिये (निष्ठुरता), क्रोध (क्रोध), मान (अहं), इस्या (ईर्ष्या) आदि कुप्रवृत्तियों से बचना चाहिए। उपर्युक्त कुप्रवृत्तियों के लिए अशोक के लेखों में श्वासिनव शब्द प्रयुक्त हुआ है। जो व्यक्ति आसिनव (पाप) से दूर रहता है वह इन कुप्रवृत्तियों से भी दूर हो जाता है। अशोक ने नित्य आत्मपरीक्षण (परिवेक्षा) पर बल दिया। अपने तृतीय स्तम्भ लेख में वह कहता है कि मनुष्य अपने अच्छे कर्मों को ही देखता है और यह सोचता है कि मैंने यह अच्छा काम किया है। वह अपने पाप को नहीं देखता और न ही यह सोचता है कि यह पाप मैंने किया है या यह दोष मुझ में है। इस प्रकार अशोक आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने आसिनव (पाप) को पहचानने एवं उसे नष्ट करने के लिए आग्रह करता है। अशोक अपने धम्म की साधना में आचार मार्ग को ही उपयोगी मानता था। उसने कर्मकाण्ड एवं बाह्य आडम्बरों को निरर्थक एवं सारहीन माना। अपने नवम् शिलालेख में वह कहता है कि लोग विपत्ति में, पुत्र या कन्या के विवाह में, पुत्र के जन्म में, परदेश गमन के समय और इसी तरह के दूसरे अन्य अवसरों पर अनेक प्रकार के मंगलाचार करते हैं। ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ अनेक प्रकार के तुच्छ एवं निरर्थक मंगलाचार करती हैं। मंगलाचार करने चाहिए किन्तु इस प्रकार के मंगलाचार अल्पफल देने वाले होते हैं। धर्म मंगलाचार महाफल देने वाला होता है। धर्म मंगलाचार में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं— दास एवं सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुजनों का आदर, प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव भ्रमण एवं ब्राह्मणों को दान एवं इसी प्रकार के अन्य सत्कार्य हैं जो पिता या पुत्र या भाई या स्वामी, मित्र या परिचित या पड़ोसी सभी को करने चाहिए। मंगलाचार से इहलोक तथा परलोक दोनों में ही पुण्य की प्राप्ति होती है।

□

अशोक अपने धम्म की उपयोगिता को बहुत व्यापक बनाना चाहता था। वह धम्म को न केवल मानव मात्र अपितु समस्त प्राणियों के लिए उपयोगी मानता था। श्वानालम्बो प्राणिनां अविहिंसा भूतानां अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव उसके धम्म की मूल भावना थी। अशोक के द्वितीय शिलालेख एवं सप्तम स्तम्भ लेख से विदित होता है कि उसने मनुष्यों एवं जीवों के कल्याण के निमित्त अनेक कार्य करवाये यथा छायादार वृक्ष लगवाये, कुयें खुदवाये, धर्मशालायें बनवाई, मनुष्यों तथा पशुओं की चिकित्सा के लिए जगह— जगह औषधालय खुलवाये तथा औषधियाँ रोपी गईं।

धर्म सहिष्णुता, अशोक के धम्म का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। अपने

बारहवें शिलालेख में वह कहता है कि वह सभी सम्प्रदाय के लोगों का समान आदर करता है। अशोक की यह मान्यता थी कि प्राचीन भारतीय इतिहास छव्जै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

16

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

164

जो व्यक्ति अपने सम्प्रदाय को प्रशंसा करता है और दूसरे के सम्प्रदाय की निन्दा करता है, वह ऐसा करते हुए अपने सम्प्रदाय को भारी क्षति पहुँचाता है। दूसरों के सम्प्रदाय की भी बात सुननी चाहिए। मनुष्य में वाक् संयम होना चाहिए। इससे मनुष्य बहुश्रुत बनता है। धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अवलम्बन करते हुए

अपने सप्तम शिलालेख में वह सभी सम्प्रदाय के लोगों को सभी जगह निवास की स्वतंत्रता देता है। अष्टम शिलालेख से यह विदित होता है कि वह धर्मयात्राओं के समय ब्राह्मणों एवं श्रमणों के दर्शन करता है और उन्हें दान देता है।

अशोक का धम्म केवल उपदेश या आदर्श मात्र नहीं था वरन् यह व्यावहारिक सत्य था जिसे अशोक ने अपने जीवन में क्रियान्वित करने का यथासम्भव प्रयास भी किया। उसके अष्टम शिलालेख से विदित होता है कि विहार यात्राओं में जो शिकारादि हिंसात्मक मनोरंजन होते थे, उसने उनको बन्द करवा दिया तथा धर्म यात्राएँ प्रारम्भ की जिनमें श्रमणों, ब्राह्मणों के दर्शन, दान एवं उपदेश आदि होते थे। तत्कालीन समय में मांसाहार सार्वजनिक रूप से प्रचलित था। अशोक के रसोईघर में भी भोजन के लिए अनेक पशु—पक्षियों की हत्या की जाती थी, किन्तु उसके प्रथम शिलालेख से विदित होता है कि अब उसने इसे पर्याप्त कम करवा दिया तथा भविष्य में अपने रसोईघर में जीव हिंसा पूर्णतः बन्द करने की भी घोषणा कर दी थी। धम्म को अपने साम्राज्य के दूरस्थ क्षेत्रों में प्रचारित प्रसारित तथा उसे चिरस्थाई बनाने के निमित्त उसकी शिक्षाओं को धम्म लिपि के रूप में स्तम्भों पर उत्कीर्ण करवाया साथ ही वह अपने धर्म महामात्य, राजुक, युक्त आदि राजकर्मचारियों को भी धर्म की शिक्षाओं एवं उनके सिद्धान्तों की घोषणा करने का आदेश देता है।

वास्तव में अशोक ने जिस धम्म का प्रचार किया उससे अपने जीवन में अनुसरण भी किया। धम्म उसके सम्पूर्ण शासन का आधार था।

अशोक के धम्म के विषय में विद्वानों ने अपने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। जे. एफ. फ्लीट इसे भारतीय व्यवस्थाकारों द्वारा उल्लिखित राजधर्म मानते हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास

वी. ए. स्मिथ आर. के. मुखर्जी एवं आर. एस. त्रिपाठी इसे सभी धर्मों का सार मानते हैं। सेनार्ट, हुल्स, डी. आर. भण्डारकर, एच. सौ. राय चौधरी, जे. एस. नेगी ने इसे उपासक बौद्ध धर्म माना है। ज्ञातव्य है कि बौद्ध धर्म के दो रूप थे प्रथम भिक्षु भिक्षुणियों का धर्म जो अपेक्षाकृत अधिक कठोर अनुशासनपूर्ण एवं साधना प्रधान था एवं द्वितीय उपासक बौद्ध धर्म जो सरल, सुबोध एवं व्यावहारिक था जिसका अनुसरण गृहस्थ जीवन में रहते हुए किया जा सकता था। अशोक ने अपने धम्म में उन्हीं सिद्धान्तों को ग्रहण किया जो गृहस्थ उपासकों के लिए व्यावहारिक हो। अशोक स्वयं ही गृहस्थ था तथा उसकी बहुसंख्यक प्रजा भी गृहस्थ थी। अतः उसने उपासक बौद्ध धर्म के प्रचार को ही उपयुक्त समझा। दीर्घ निकाय के सिंगालोवाद सुत्त में उल्लिखित उपासक बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों एवं अशोक के धम्म के तत्वों में पर्याप्त समानता दिखाई देती है।

सारांश (नउउंतल)

सारांश में यह कहा जा सकता है कि मौर्य युग में चहुँमुखी विकास हुआ। मौर्ययुगीन समाज एवं संस्कृति उदारता एवं दृष्टिकोण की विशालता पर आधारित था। लोगों का जीवन परम्पराओं के बोध से अपेक्षाकृत मुक्त था। समाज में चातुर्वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था किन्तु वर्णव्यवस्था कठोर नहीं थी। शुद्ध वर्ण की गणना आय के अन्तर्गत ही होती थी। स्त्रियों की दशा को भी पर्याप्त सन्तोषजनक माना जा सकता मौर्य युग

में आर्थिक अवस्था पर्याप्त सुदृढ़ थी। शिल्प एवं विभिन्न व्यवसायों में विशेषज्ञता तथा उत्पादन में वृद्धि ने मौर्ययुगीन अर्थव्यवस्था को गतिशील बनाया। नगरीकरण की प्रक्रिया का इस युग में और अधिक विकास हुआ। इस समय के अनेक नगर व्यापार एवं वाणिज्य के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। शिल्प को राजकीय प्रोत्साहन से भी मौर्ययुगीन अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हुई है। मौर्य युग में कला के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति दिखाई देती हैं। राज्य की समृद्धि एवं मौर्य शासकों की प्रेरणा से कलाकृतियों को प्रोत्साहन मिला। वास्तुकला में प्रस्तर का प्रयोग मौर्य युग में ही प्रारम्भ हुआ। वैदिक युगीन काष्ठ यूपों की प्रेरणा में इस युग में से एकाश्म स्तम्भों का निर्माण हुआ जिनकी ऊँचाई 40 से 50 फुट तक है। इनकी पॉलिश आज भी शीशे की तरह चमकती है। जिसके बारे में यह कहा जा सकता है कि कठोर पाषाण को चिकना करने की कला इस पूर्णता तक पहुँच गई थी कि आज के युग की कलात्मक शक्तियों के लिए यह एक खोई हुई कला ही है। मौर्य युग में ही पहली बार चट्टानों को काट कर गुहागृहों के निर्माण करने की कला प्रारम्भ हुई जिसका विकास आगे चलकर अजन्ता, एलोरा की गुहा कला के रूप में हुआ।

मानव के निरन्तर नैतिक उन्नयन हेतु अशोक ने जिन सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया उसके लेखों में उन्हें धम्म कहा गया। अशोक के धम्म को सामाजिक नैतिकता की एक विधि संहिता के समान माना जा सकता है। जिसका उद्देश्य एक ऐसी मानसिकता का निर्माण करना था जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या समुदाय

के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझे। उसके सिद्धान्त देश, काल की सीमाओं से परे सभी के लिए स्वीकार्य रहे। वास्तव में लगभग डेढ़ शताब्दी के मौर्य शासन के युग में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का यथेष्ट प्रचार-प्रसार हुआ तथा भारत तत्कालीन समय के महान देशों में प्रतिष्ठापित हुआ।

स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

रू

1. दास प्रथा मौर्य युग में दास प्रथा का भी प्रचलन था। अशोक के अभिलेखों में दास सेवक नृत्यों तथा कई अन्य प्रकार के श्रमजीवियों का उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र में भी दास प्रथा का विस्तृत वर्णन मिलता है। कौटिल्य की यह स्पष्ट मान्यता थी कि आर्य जाति के लोगों को दास नहीं बनाया जा सकता। कौटिल्य ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र इन चारों वर्णों को ही आर्य मानता था। उसने म्लेच्छों को दास बनाने की अनुशंसा की। विपत्ति या संकट की स्थिति में आर्य भी दास बन सकता था। कौटिल्य की यह मान्यता थी कि यदि कोई दासता ग्रहण किया हुआ व्यक्ति दासता के बंधन से मुक्त हुए बिना भाग जाए तो उसे आजीवन दास बना रहना होगा। तत्कालीन समाज में दासों के साथ सद् व्यवहार किया जाता था। अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि दासों से अनुचित कार्य नहीं करवाये जाएं। किसी दास को कोई सम्बन्धी अथवा स्वयं दास द्वारा अपना मूल्य अदा करने की स्थिति में दासता के बंधन से छुटकारा भी मिल सकता था। दास को अपनी तथा अपने पिता की सम्पत्ति का भी अधिकार था। इन सुविधाओं के कारण भारतीय दास, सेवकों अथवा वेतनभोगी नौकरों के समान प्रतीत होते थे। सम्भवतः इसी कारण मेगस्थनीज ने उन्हें पहचानने में भूल की और उसने यह लिखा कि भारतवर्ष में दास प्रथा का प्रचलन नहीं है।

2. पशुपालन रू कृषि एवं पशुपालन में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। एक ओर जहाँ पशुओं से घी, दूध एवं मांस की प्राप्ति होती थी वहीं दूसरी ओर कृषि में बैलों तथा युद्ध में हाथियों एवं घोड़ों का महत्वपूर्ण स्थान होता था। अर्थशास्त्र में अलग से पशुविभाग की स्थापना का उल्लेख प्राप्त होता है। चरागाहों का विकास एवं उनकी सुरक्षा पशुओं की चिकित्सा एवं पशु हिंसा को रोकना आदि इस विभाग के प्रमुख कार्य थे। अर्थशास्त्र में गो अध्यक्ष (गाय, भैंस तथा दूध देने वाले पशुओं की जानकारी रखने वाला), गोपालक (गाय पालने वाले), पिण्डारक (भैंस पालने वाले), दोहक (दूध दुहने वाले), मंथक (दही मथने वाले), लुब्धक (हिंसक पशुओं से गाय-भैंस की रक्षा करने वाले) आदि कर्मचारियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। अर्थशास्त्र में उपर्युक्त कर्मचारियों को नकद वेतन अथवा भोजन एवं वस्त्र देने का प्रावधान है, क्योंकि कौटिल्य की यह मान्यता थी कि यदि इन कर्मचारियों को दूध, दही या घृत में से किसी प्रकार का हिस्सा दिया गया तो वे बछड़ों को भूखा मार सकते थे। दूध देने वाले पशुओं के अतिरिक्त अन्य पशुओं में अश्व एवं हाथी का महत्वपूर्ण स्थान था। इन दोनों ही पशुओं का महत्व सैनिक दृष्टिकोण से था। अर्थशास्त्र में ३ अश्वाध्यक्ष एवं हस्ताध्यक्ष का उल्लेख प्राप्त होता है। पशुओं को चिकित्सा की पूर्ण व्यवस्था राज्य की ओर से



की जाती थी स्वयं अशोक ने न केवल द्विपद (मनुष्य) अपितु चतुष्पद (जानवरों) की चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध किया था।

स्वपरीक्षण करें (जमेज ल्वनतेमसि)

1. मौर्ययुगीन सामाजिक जीवन पर एक निबन्ध लिखिए।
2. मौर्ययुगीन आर्थिक जीवन का वर्णन कीजिए।
3. मौर्य कला पर एक निबन्ध लिखिए।
4. अशोक के धम्म की प्रकृति को समझाइये प्राचीन

इकाई 8

शुंग, परिचमी क्षेत्रप और सातवाहन

□ शुंग वंश की स्थापना, शुंग कौन थे ?, पुष्यमित्र शुंग, विदर्भ—युद्ध, यवन — युद्ध ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार, पुष्यमित्र और बौद्ध धर्म, कण्व वंश, सातवाहन वंश शक— विजय, अन्य विजयें, यूनानी इण्डो—बेक्ट्रियन, डेमेट्रिअस, भारतीय—यूनानी सम्पर्क के प्रभाव

शक, शक क्षत्रप, पश्चिमी भारत के क्षत्रप, पहुष (पार्थियन)

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

□ शुंग वंश की स्थापना ।

सातवाहन वंश द्य

भारतीय यूनानी सम्पर्क के प्रभाव

शक क्षत्रप

परिचय (पद्मजतवकनबजपवद)

श्र

मौर्य साम्राज्य का प्रखर सूर्य भारत के राजनीतिक गगन पर लगभग एक शताब्दी तक अपने पूर्ण प्रकाश के साथ चमकता रहा, परन्तु इसके उपरान्त उसे भी अस्ताचल की ओर गमन करना पड़ा। अशोक के उपरान्त ही विशाल मौर्य

साम्राज्य, अपने मध्याह्न सूर्य के उत्कर्ष से पतन की ओर अग्रसर होने लगा। सम्राट अशोक के उत्तराधिकारियों में से कोई भी अपने पूर्वज (चन्द्रगुप्त) की तरह पराक्रमी नहीं हुआ और न किसी में अशोक जैसी शासन-निपुणता ही थी। विशाल मौर्य साम्राज्य के लिए अशोक जैसे या उससे भी अधिक योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी, किन्तु दुर्भाग्य से उसके उत्तराधिकारी राजनीति की दृष्टि से अकर्मण्य प्रमाणित हुए। मौर्य के अधीन जिस भारत ने एक प्रचण्ड राजनीतिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता का अनुभव किया था, उसी भारत में अशोक की मृत्यु के बाद शीघ्र ही विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रधान हो गई निःसन्देह अशोक के बाद भी मौर्यवंशी नरेश भारत पर राज्य करते रहे, किन्तु अशोक के बाद कौन सिंहासनारूढ़ हुआ, हमें इसकी ठीक-ठीक जानकारी उपलब्ध नहीं होती। शनैः-शनैः मौर्य साम्राज्य के विभिन्न प्रान्त इससे पृथक् होने लगे और केन्द्रीय शक्ति का प्रभाव कम हो जाने पर चारों ओर अराजकता और अव्यवस्था फैलने लगी। ज्यों ही पाटलिपुत्र का केन्द्रीय शासन शिथिल पड़ा, कई प्रान्तों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और अपनी-अपनी स्वतन्त्रता की घोषणाएँ करने लगे। अशोक के मरते ही उसके पुत्र जालौक ने अपने को कश्मीर का स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया और इसी प्रकार वीरसेन भी गान्धार प्रदेश का अधिकारी बन बैठा, दूरस्थ प्रान्तों की यह स्थिति देखकर निकटवर्ती प्रदेशों ने भी उसी नीति का अनुसरण किया। स्वाधीनताप्रिय कलिंग ने भी अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त कर ली। महाराष्ट्र प्रदेश और आन्ध्र में भी ऐसा ही हुआ। दक्षिण का प्रदेश न केवल साम्राज्य से पृथक् हुआ अपितु उसने मौर्य साम्राज्य के अवशिष्ट राजनीतिक गौरव को भी चुनौती देना प्रारम्भ कर दिया। देश की विश्रंखलित राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाते हुए यवनों ने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा को पार किया तथा गान्धार, सांकल (उत्तर – मध्य पंजाब) तथा अन्य स्थानों पर अपने शक्तिशाली राज्यों की स्थापना कर ली। ऐसी परिस्थितियों में मगध में भी एक महती क्रान्ति उत्पन्न हुई, जिसके फलस्वरूप शुंग वंश का भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर प्रादुर्भाव हुआ, जो मगध में सत्तारूढ़ हुआ और भारत को विदेशी आधिपत्य से बचाया।

7

शुंग वंश की स्थापना पुराणों के अनुसार अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ का सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अपने सम्राट की हत्या करके मौर्यवंश को समाप्त किया और एक नये राजवंश की स्थापना की, जो इतिहास में शुंग वंश के नाम से विख्यात हुआ। बाणभट्ट कृत शर्षचरित में भी लिखा है, ज्ञीचे सेनापति पुष्यमित्र ने अपने स्वामी बृहद्रथ को सेना का प्रदर्शन देखने का बहाना करके बुलाया तथा उसका बघ कर दिया, क्योंकि बृहद्रथ ने अपनी राज्यारोहण शपथ का ठीक से पालन नहीं किया था। शर्षचरित के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि बृहद्रथ श्राज्ञादुर्बल (दुर्बुद्धि अथवा निर्बल बुद्धि) शासक था तथा जनहित की रक्षा करने में असमर्थ था। इसी समय यूनानी आक्रान्ता पाटलिपुत्र तक बढ़

प्राचीन भारतीय इतिहास

आए थे, अतः जनसाधारण में भी भय एवं असंतोष की भावना व्याप्त थी। इन्हीं परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए तथा देश को यूनानियों के आधिपत्य में जाने से बचाने के उद्देश्य से पुष्यमित्र ने वृहद्रथ की हत्या कर दी। डॉ. आर. सी मजूमदार के अनुसार, यही कारण है कि यद्यपि पुष्यमित्र राजद्रोही व राजा की हत्या के लिए उत्तरदायी था तथापि आधुनिक इतिहासकार उसे दोषी नहीं मानते, क्योंकि उनका विचार है कि देश की सुरक्षा के लिए राजा की हत्या करना पुष्यमित्र के लिए आवश्यक था। वृहद्रथ के निर्बल शासन के अन्तर्गत राजदरबार में दो परस्पर विरोधी दलों मंत्री और सेनापति के दलों का विकास हो चुका था। प्रान्तीय राज्य धीरे-धीरे स्वतन्त्र होते जा रहे थे और बाह्य शत्रुओं के आक्रमण होने शुरू हो गए थे। यही कारण है कि राजा सम्पूर्ण सेना का निरीक्षण कर रहा था, तभी सेनापति ने सेना के सामने ही सम्राट को मार डाला और एक भी सैनिक ने विरोध नहीं किया। अतः स्पष्ट है कि दुर्बल शासक वृहद्रथ से सेना भी कुपित थी और सम्राट का वध कोई षड्यन्त्र नहीं था। सेनापति ने राष्ट्र-विरोधी शक्तियों का उन्मूलन करने के लिए ऐसे प्रज्ञादुर्बल सम्राट को मारना अपना कर्तव्य समझा।

कृ

डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय आदि विद्वानों ने मौर्यवंश के अन्त को ब्राह्मण प्रतिक्रिया बतलाया है। उनका मानना है कि क्षत्रिय देश के शासक और संरक्षक थे। परन्तु अहिंसावादी बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर बहुसंख्यक

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

167

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

16.

क्षत्रिय अपने कर्म से विरक्त होकर निवृत्तिमार्गी होते चले गए। इससे देश की सुरक्षा, संस्कृति और धर्म भी खतरे में पड़ गया। चूँकि ब्राह्मण देश के व्यवस्थाकार थे, अतः इस कुव्यवस्था से उन्हें भारी धक्का लगा और स्थिति को सुधारने के लिए उन्होंने शस्त्र धारण किए। वृहद्रथ की हत्या आकस्मिक घटना न थी। इसके पीछे बौद्ध धर्म के विरुद्ध ब्राह्मण धर्म का विद्रोह काम कर रहा था। परन्तु अन्य विद्वानों के अनुसार यह कथन पूर्णतरु सही नहीं माना जा सकता। पुष्यमित्र सेनापति था और सेना उसके पक्ष में थी। परन्तु क्या सेना में सभी सैनिक ब्राह्मण थे? इसके अलावा यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रजा भी पुष्यमित्र के साथ थी। अतः इसे मात्र ब्राह्मण प्रतिक्रिया कहना उचित नहीं होगा। निश्चय ही आयोग्य एवं दुर्बल मौर्य सम्राटों के शासन से प्रजा तंग आ चुकी थी। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए पुष्यमित्र शुंग ने सम्राट का वध कर

दिया और स्वयं मगध के सिंहासन पर बैठ गया।

कृ

शुंग कौन थे ? शुंग कौन थेय यह प्रश्न विवादास्पद है। प्रारम्भ में डॉ. हरप्रसाद शास्त्री ने शुंग राजाओं के नामों के अन्त में श्मित्रशब्द को देखते उन्हें पारसीक (ईरानी) बतलाया था क्योंकि पारसीक लोग श्मिश्र (सूर्य) की पूजा करते थे। परन्तु बाद में शास्त्रीजी ने स्वयं ही अपने मत को त्यागकर उन्हें ब्राह्मण घोषित किया। निस्सन्देह शुंग ब्राह्मण थे और श्शुंग उनका कुल रहा होगा। पाणिनि की अष्टाध्यायी से शुंगों का सम्बन्ध भारद्वाज गोत्र से स्थापित होता है। इतिहास में बहुत से ब्राह्मण सेनापतियों का उल्लेख मिलता है। द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा आदि ब्राह्मण ही थे। सिकन्दर की वापसी यात्रा में उसे सिन्ध के सशस्त्र ब्राह्मण से संघर्ष करना पड़ा था।

अब प्रश्न यह उठता है कि पुष्यमित्र कौन था? हरिवंश पुराण में एक ब्राह्मण सेनापति का उल्लेख है जिसने बहुत समय से बन्द अश्वमेध यज्ञ किया था और उसके बाद उसके किसी वंशज ने राजसूय यज्ञ भी किया था। डॉ. के. पी. जायसवाल ने इस काश्यप द्विज सेनानी की पहचान पुष्यमित्र शुंग से की है। पुराण में इस सेनानी के लिए शौदिभज्जशब्द का प्रयोग भी किया गया है। इस शब्द का अर्थ है ८ आकस्मिक रूप से उदय होने वाला । ८ पुष्यमित्र का उदय भी आकस्मिक रूप से हुआ था। डॉ. राय चौधरी भी जायसवाल के कथन से सहमत हैं। मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र को बैम्बिक कुल का बताया गया है। बैम्बिकों का सम्बन्ध बिम्बिका नामक पौधे या बिम्बिका नाम की नदी से जोड़ा गया है। ये बैम्बिक काश्यप ब्राह्मण थे। अतः स्पष्ट है कि शुंग ब्राह्मण थे।
पुष्यमित्र शुंग

—

राज्याभिषेक की तिथि पुराणों से ज्ञात होता है कि मौर्य वंश ने 137 वर्ष तक शासन किया। मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के सिंहासनारोहण की तिथि 322 ई. पू. मानी जाती है। इस हिसाब से 185 ई. पू. के आस-पास मौर्य वंश का अन्त तथा पुष्यमित्र शुंग का राज्याभिषेक होना चाहिए। वायु पुराण तथा ब्राह्मण पुराणों में पुष्यमित्र के 60 वर्ष तक शासन करने का उल्लेख है, किन्तु यह सत्य प्रतीत नहीं होता। सम्भवतः इन पुराणों ने इसमें पुष्यमित्र वंश का वह समय भी जोड़ दिया है, जब वह मौर्या के अधीन अवन्ति का गवर्नर था, यद्यपि यह अधीनता नाममात्र की थी। अन्य पुराणों में पुष्यमित्र के 30 वर्ष तक शासन करने का उल्लेख मिलता है जो अधिक तर्कसंगत और उचित प्रतीत होता है।

पुष्यमित्र शुंग ने रक्त से अपना राज्य आरम्भ किया था और रक्त से ही उसे कायम रखा। पुष्यमित्र का अपनी सेना से अन्त तक सम्बन्ध बना रहा। संभवतः यही कारण है कि उसने अपने लिए शसम्राट् की उपाधि धारण न करके श्सेनापति की उपाधि का ही प्रयोग किया। तत्कालीन सभी साक्ष्यों में उसके लिए श्सेनानी की ही उपाधि का ही प्रयोग किया गया है, जबकि उसके पुत्र और उत्तराधि

प्राचीन भारतीय इतिहास

आकार अग्निमित्र के लिए शराजाश की उपाधि का ही प्रयोग किया गया है। पुष्यमित्र ने जब वृहद्रथ की हत्या की थी तब मगध साम्राज्य की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। कलिंग महाराष्ट्र, आन्ध्र आदि राज्य स्वतन्त्र हो चुके थे तथा मगध साम्राज्य के लिए चुनौती बन रहे थे। सीमा प्रान्तों पर पूर्ण आधिपत्य न रहने के कारण यूनानी आक्रमण का खतरा बढ़ गया था। ऐसी परिस्थितियों में सर्वप्रथम उसने साम्राज्य की स्थिति को सुधार कर उसे दृढ़ता प्रदान की। अवन्ति का राज्य मगध से दूर होने के कारण पाटलिपुत्र से उस पर पूर्ण अधिकार बनाये रखना कठिन हो रहा था। अतः पुष्यमित्र ने विदिशा को अपनी दूसरी राजधानी बनाया और अपने पुत्र अग्निमित्र को वहाँ अपने राज्य प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किया। इस प्रकार उसने अपने साम्राज्य को संगठित कर केन्द्र को शक्तिशाली बनाया।

विदर्भ-युद्ध – पुष्यमित्र शुंग के राज्य की प्रमुख घटनाओं में से एक विदर्भ के विरुद्ध लड़ा गया युद्ध इस युद्ध का विस्तृत विवरण नहीं मिलता। केवल शमालविकाग्निमित्र नामक नाटक से थोड़ी-बहुत जानकारी मिल पाती है। इस नाटक के अनुसार विदर्भ (आधुनिक बरार) में हाल ही में एक नया राज्य स्थापित हुआ जिसका राजा यज्ञसेन था। यज्ञसेन पुष्यमित्र शुंग का स्वाभाविक शत्रु था। क्योंकि अन्तिम मौर्य शासक के समय में जिन दो परस्पर विरोधी गुटों का उदय हुआ था। उनमें से एक का नेता पुष्यमित्र शुंग और दूसरे का नेता मन्त्री था। यज्ञसेन इसी मन्त्री का निकट का सम्बन्धी था। सम्राट वृहद्रथ की हत्या के बाद पुष्यमित्र ने मन्त्री को बन्दी बना लिया। शायद इसी समय विदर्भ का प्रान्तीय शासक यज्ञसेन स्वतन्त्र हो गया। विदर्भ के पड़ोसी प्रान्त विदिशा में पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र नियुक्त किया गया था। यज्ञसेन का चचेरा भाई माधवसेन, अग्निमित्र का साथी था। एक दिन माधवसेन अपनी बहिन मालविका के साथ विदिशा को जा रहा था कि विदर्भ की सीमा पर यज्ञसेन के सैनिकों ने दोनों भाई बहिन को बन्दी बना लिया। इस पर अग्निमित्र ने यज्ञसेन को कहलाया कि वह उन दोनों को तत्काल रिहा कर दे। यज्ञसेन ने उन दोनों की रिहाई के बदले में अपने सम्बन्धी मन्त्री की रिहाई की माँग की। इस पर अग्निमित्र ने अपने सेनापति वीरसेन के साथ विदर्भ पर आक्रमण कर दिया। यज्ञसेन पराजित हुआ। उसे अपना आधा राज्य माधवसेन को देना पड़ा तथा पुष्यमित्र शुंग की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

रावन – युद्ध – पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल की दूसरी प्रमुख घटना है— यवन – आक्रमण। उसके समय में यवनों ने आक्रमण किया था। इसकी पुष्टि पतंजलि के महाभाष्य, गार्गी संहिता का युग-पुराण और मालविकाग्निमित्र से होती है। पतंजलि के महाभाष्य में अनद्यतन भूत क्रिया के उदाहरणस्वरूप में लिखा यवनों ने अयोध्या पर आक्रमण किया। यवनों ने माध्यमिका (नागरी – चित्तौड़) पर आक्रमण किया। गार्गी संहिता में यवनों के साकेत, मथुरा, पांचाल और पाटलिपुत्र पर आक्रमण का संकेत है। मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र और यवनों के मध्य संघर्ष का उल्लेख है। संघर्ष का कारण अश्वमेधके

घोड़े को यवनों द्वारा पकड़ना था। इन प्रमाणों से भारत पर यवनों का आक्रमण होना और उनकी पराजय सिद्ध होती हैं।

परन्तु किसी भी प्रमाण में यवन— आक्रान्ता के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। अतः यह प्रश्न उठ खड़ा होना स्वाभाविक ही है कि इस यवन— आक्रमण का नेता कौन था? इस प्रश्न पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। गोल्डस्टूफर, रैप्सन, स्मिथ आदि के मतानुसार इस यवन — आक्रमण का नेता मीनेण्डर था। भण्डारकर, राय चौधरी, जायसवाल के अनुसार डेमेट्रिअस ने आक्रमण किया था। डॉ. राय चौधरी ने सबल तर्क

प्रस्तुत करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि — प्लाहिन्य और सिक्कों, दोनों ही प्रमाणों के आधार पर, मीनेण्डर पुष्यमित्र का समकालीन नहीं हो सकता था, यही सिद्ध होता है। इसलिए डेमेट्रिअस ही वह व्यक्ति है जिसकी पहचान पतंजलि और कालीदास (मालविकाग्निमित्र) द्वारा उल्लेखित यवन आक्रान्ता से की जा सकती हैं। ८ परन्तु प्रोफेसर नागेन्द्रनाथ घोष ने कुछ विद्वानों की पुरानी मान्यता को पुनःस्थापित करते हुए लिखा है कि पुष्यमित्र शुंग के समय में दो बार यवन— आक्रमण हुए थे। पहला उसके शासकाल के प्रारम्भ में हुआ जिसका नेता मीनेण्डर था और जिसे पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र के हाथों पराजित होना पड़ा। टार्न महोदय का मत है कि डेमेट्रिअस और मीनेण्डर दोनों ने साथ ही आक्रमण किया और इस बात की संभावना है कि मीनेण्डर उस समय डेमेट्रिअस का एक सेनानायक रहा हो। जो भी हो, इतना निश्चित कि पुष्यमित्र के शासनकाल में यवनों ने भारत पर आक्रमण किया था और उन्हें परास्त होना पड़ा। पुष्यमित्र ने शायद इसी विजय के उपलक्ष्य में अश्वमेध यज्ञ किया होगा।

अश्वमेध यज्ञ — पतंजलि के महाभाष्य और मालविकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेध यज्ञ किया था द्य अर्थात् केवल एक अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख है। परन्तु सेनापति पुष्यमित्र के छठे घनदेव (!) की अयोध्या लिपि में पुष्यमित्र को शदो अश्वमेध यज्ञों का करने वाला कहा गया है। अन्य किसी साक्ष्य से दो अश्वमेध यज्ञों की पुष्टि नहीं होती। अतः यही अनुमान है कि उसने एक ही अश्वमेध यज्ञ किया होगा।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

169

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

170

—

ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार प्राचीन भारत में ब्राह्मणों और क्षत्रियों अथवा ब्राह्मण

प्राचीन भारतीय इतिहास

धर्म और बौद्ध धर्म में प्रभुता प्राप्ति के लिए जो संघर्ष शुरू हुआ था उसकी परिणति शुंग काल में हुई बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर जब क्षत्रिय शासकों ने ब्राह्मण धर्म और चतुर्वर्ण-व्यवस्था तथा ब्राह्मण सभ्यता एवं संस्कृति की अन्य मान्यताओं का त्याग कर दिया तो ब्राह्मण समाज का क्रोधित होना स्वाभाविक ही था। पुष्यमित्र के राजपुरोहित ने भी कहा था कि ब्राह्मणों और श्रमणों में शाश्वत विरोध है। 185 ई. पू. में ब्राह्मण समाज ने अन्तिम मौर्य सम्राट का अन्त करके राजसत्ता पर अधिकार जमा लिया। वस्तुतः यह एक महान क्रान्ति थी जिसमें राष्ट्रहित के साथ-साथ ब्राह्मणों के व्यक्तिगत स्वार्थ भी सम्मिलित थे। ब्राह्मण संगठन के परिणामस्वरूप ही ब्राह्मण शुंगों ने राज्य प्राप्त किया था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि राज सत्ता प्राप्त करके शुंग अपना अधिकांश समय ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने में लगाता। ब्राह्मण धर्म और व्यवस्था के पुनरुद्धार का काम कण्वों और सातवाहनों के समय में भी जारी रहा।

सम्राट वृहद्रथ की हत्या और अश्वमेध यज्ञ ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा के प्रयासों में ही थे। अश्वमेध यज्ञ ब्राह्मण व्यवस्था वाले राजतन्त्र की एक प्रतिष्ठित संस्था थी। मगध के शासकों के समय इस प्रथा का लोप हो गया। पुष्यमित्र द्वारा अश्वमेध यज्ञ का आयोजन इस प्राचीन राजोचित संस्था का पुनरुद्धार था। पतंजलि पुष्यमित्र के राजपुरोहित थे। मौर्य के शासनकाल में संस्कृत भाषा का महत्त्व लगभग समाप्त हो गया था। अतः जनता वेदों और वैदिक साहित्य को ही विस्मृत कर बैठी संस्कृत भाषा की जटिलता को दूर करने तथा उसे अधिक बोधगम्य बनाने की दृष्टि से ही पतंजलि ने व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायी को समझाते हुए महाभाष्य की रचना की। बहुत से विद्वानों का मानना है कि मनुस्मृति भी इसी काल में लिखी गई थी। इसमें भावी ब्राह्मण व्यवस्था की रूपरेखा थी। इससे स्पष्ट है कि शुंगों के शासनकाल में ब्राह्मण धर्म एवं सामाजिक व्यवस्था का वर्चस्व पुनः कायम हो गया था।

□

—

पुष्यमित्र और बौद्ध धर्म डॉ. एन. एन. घोष आदि विद्वानों का मानना है कि पुष्यमित्र शुंग बौद्ध धर्म का शत्रु था उसने बौद्ध अनुयायियों के साथ घोर अत्याचार किया था। इन विद्वानों ने अपने मत के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं— (1) पुष्यमित्र शुंग ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध हुई ब्राह्मण प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप सिंहासन प्राप्त किया था। अतः ब्राह्मण-धर्म और संस्कृति को पुनः प्रतिष्ठित करना तथा ब्राह्मण विरोधी बौद्धों का सफाया करना उसका मुख्य ध्येय रहा होगा। (2) दिव्यावदान में उल्लेख है कि पुष्यमित्र शुंग घोर बौद्ध-द्रोही था। उसने 84,000 स्तूपों को नष्ट करके ख्याति प्राप्त करने का प्रयत्न किया और बहुत से स्तूप नष्ट कर दिए। उसने यह घोषणा भी करवाई थी कि जो व्यक्ति उसे बौद्ध भिक्षु का सिर लाकर देगा उसे 100 दीनार देगा। (3) तिब्बती लेखक तारानाथ का मत है कि पुष्यमित्र ने मध्य प्रदेश से जालंधर तक बहुत से बौद्धों

का वध किया और उनके स्तूपों तथा विहारों को भूमिसात् किया। (4) आर्य मंजुश्रीमूलकल्प में भी इसी प्रकार का वर्णन है।

अधिकांश विद्वानों ने उपर्युक्त तर्कों का खण्डन किया है। उनका मानना है कि ब्राह्मण धर्म का प्रबल प्रचारक होने का अर्थ किसी अन्य धर्म का विनाशक होना नहीं होता। अशोक बौद्ध धर्म का प्रबल प्रचारक था, परन्तु उसने किसी अन्य धर्म का विनाश नहीं किया। भारतीय इतिहास में ऐसी परम्परा देखने को नहीं मिलती। दूसरी बात यह है कि दिव्यावदान, तारानाथ और मंजुश्रीमूलकल्प— ये सभी बौद्ध साक्ष्य बाद के अतः इन पर विश्वास करना सम्भव नहीं है। इनमें बहुत—सी कपोल कल्पित बातें भरी पड़ी उदाहरणार्थ, पुष्यमित्र शुंग के समय में शदीनार का प्रश्न नहीं था। फिर 100 दीनार देने की बात कैसे सही मान ली जाय। तीसरी बात यह है कि बौद्ध ग्रन्थों के विवरण की पुष्टि अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं होती। अतः उसे बौद्ध विनाशक कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

अधिकांश विद्वान् पुष्यमित्र शुंग को एक सहिष्णु शासक स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि पुष्यमित्र के शासनकाल में ही भरहुत, बोध गया और साँची के स्तूपों को नया रूप दिया गया और उनके आकार को बढ़ाया गया। दूसरी बात यह कि दिव्यावदान में यह उल्लेख मिलता है कि पुष्यमित्र शुंग ने कुछ बौद्ध को भी अपना मन्त्री बनाया था। मालविकाग्निमित्र से विदित होता है कि अग्निमित्र को राजसभा में एक बौद्ध धर्मावलम्बी भगवती कौशिकी नामक महिला भी थी जिसको काफी सम्मान दिया जाता था। अतः

स्पष्ट हैं कि पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण धर्म का प्रचारक होते हुए भी एक सहिष्णु शासक था ।

राज्य — विस्तार — मालविकाग्निमित्र, दिव्यावदान और तारानाथ के विवरणों के आधार पर कुछ विद्वानों का मानना है कि पुष्यमित्र शुंग का राज्य पंजाब की सिन्धु नदी तक विस्तृत था । इसके अनुसार यवनों के साथ जो युद्ध हुआ था वह सिन्धु के तट पर ही हुआ था। परन्तु विद्वानों का मानना है कि पुष्यमित्र शुंग के शासन के प्रारम्भिक काल में सिन्धु नदी तक उसका राज्य रहा होगा परन्तु मीनेण्डर और उसके उत्तराधिकारियों की मुद्राओं से स्पष्ट है कि मथुरा के आगे का पश्चिमी क्षेत्र यवनों के अधिकार में चला गया था। अतः पुष्यमित्र के राज्य की सीमा मथुरा तक ही रही होगी । मेरुतुंग के विवरण से पता चलता है कि दक्षिण—पश्चिम में अवन्ति पर पुष्यमित्र शुंग का अधिकार था । दक्षिणी सीमा पर स्थित विदिशा भी पुष्यमित्र के राज्य में सम्मिलित था। सम्भव है कि दक्षिण में नर्बदा नदी उसके राज्य की सीमा रही हो । दक्षिण—पूर्व में कलिंग का स्वतन्त्र राज्य था। अतः इस दिशा में उसके राज्य की सीमा कलिंग की सीमा से सटी हुई रही होगी। पूर्व पाटलिपुत्र उसकी राजधानी थी ही। अयोध्या लेख से कोशल पर उसके अधिकार की पुष्टि होती है। इस प्रकार उसका साम्राज्य

काफी विस्तृत था।

पुष्यमित्र शुंग के उत्तराधिकारी – पुराणों के अनुसार शुंगवंश के निम्न दस राजाओं ने 112 वर्ष तक शासन किया था (1) पुष्यमित्र (2) अग्निमित्र (3) वसुज्येष्ठ, (4) वसुमित्र (5) आन्धक, (6) पुलिण्डक, (7) घोष, (8) वज्रमित्र, (9) भाग और (10) देवभूता पुष्यमित्र के बाद उसका पुत्र अग्निमित्र सिंहासन पर बैठा। मालविकाग्निमित्र से विदित होता है कि पुष्यमित्र और अग्निमित्र के आपसी सम्बन्ध अधिक अच्छे न थे। मत्स्य पुराण में पुष्यमित्र शुंग के बाद अग्निमित्र का नाम न होकर वसुज्येष्ठ का उल्लेख है। कुछ विद्वानों का मत है कि पुष्यमित्र ने भारत की माण्डलिक परम्परा के अनुसार अपने साम्राज्य को अपने पुत्रों में बाँट दिया। डॉ. जायसवाल भी ऐसा ही मानते हैं परन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

—

संभवतः वसुज्येष्ठ और वसुमित्र ये दोनों अग्निमित्र के पुत्र रहे होंगे। अग्निमित्र के बाद पहले वसुज्येष्ठ ने शासन किया और उसके बाद वसुमित्र ने। वसुमित्र की किसी ने हत्या कर डाली द्य वसुमित्र के उत्तराधिकारी के कई नाम मिलते हैं आन्धक, ओद्रक, भद्रक और अन्तक। आन्धक के पश्चात् क्रमशः पुलिण्डक, घोष और वज्रमित्र राजा हुए। नव शुंग शासक भाग गया। इसके शासनकाल में यूनानी राजा ऐण्टिआलकिडस ने अपना राजदूत हेलिओडोरस भेजा था। यह राजदूत भागवत धर्म का अनुयायी था।

अन्तिम शुंग राजा देवभूति अथवा देवभूत था। उसके बारे में कहा जाता है कि वह अत्यधिक कामुक राजा था। उसके अमात्य वसुदेव कण्व ने उसकी हत्या कर दी। हर्षचरित से इस घटना की पुष्टि होती है। देवभूति के साथ ही शुंग वंश का अन्त हो गया और वसुदेव कण्व के राजा बनते ही एक नए राजवंश – कण्व वंश की प्रतिष्ठा हुई

कण्व वंश

कृ

अमात्य वसुदेव द्वारा स्थापित नया राजवंश भी ब्राह्मण वंश था। कण्व वंश ने लगभग 72 ई. पू. से 27 ई. पू. तक राज्य किया। इस वंश में क्रमशः चार राजा हुए – वसुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मा पुराणों से केवल इतनी जानकारी मिलती है कि कण्व वंश के शासक धर्मानुकूल शासन करेंगे। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शुंगों के शासन ब्राह्मण-धर्म और व्यवस्था के पुनरुद्धार का जो सिलसिला शुरू हुआ था वह कण्व वंशीय राजाओं के शासनकाल में भी जारी रहा होगा। इसके अलावा हमें इस वंश के शासकों के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाई है।

सातवाहन वंश

—

कृ

सातवाहनों की जाति कण्व वंश के अन्तिम शासक सुशर्मा के समय एक

सातवाहन वंशी सामन्त शासक शसिमुकश ने मगध पर आक्रमण कर अपना अधिकार कायम कर लिया। कण्व वंश को समाप्त कर मगध पर अधिकार करने वाले सातवाहन कौन और किस जाति के थे, इस विषय पर इतिहासकारों में भारी मतभेद है। पुराणों में सातवाहनों को आन्ध्र जातीय कहा गया है। इसलिए सातवाहन वंश को

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

स्थ प्रगति का परीक्षण करें रू

1.

सातवाहनों की जाति के बारे

2.

आप क्या जानते हैं?

कृ

भारत में शक क्षत्रों के केन्द्रों को कितने ग

है?

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

171

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

आन्ध्र— वंश भी कहा जाता है। किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में आन्ध्रों को अनार्य लिखा गया है। अतः कुछ विद्वान् सातवाहनों को अनार्य जाति से सम्बन्धित मानते हैं। सेनार तथा ब्यूलर आदि विद्वान् एक अभिलेख के आधार पर सातवाहनों को ब्राह्मण बताते हैं। किन्तु डॉ. डी. आर. भण्डारकर तथा डॉ. के. गोपालाचारी आदि इतिहासकार सातवाहन को क्षत्रिय मानते हैं। डॉ. हेमचन्द्रराय चौधरी का कथन है कि सातवाहन नागों तथा ब्राह्मणों का मिश्रित रक्त वाला कुल था। इस प्रकार, सातवाहनों की जाति के बारे में कोई एक निश्चित मत नहीं होने से यह प्रश्न अभी विवाद का विषय ही बना हुआ

—

सातवाहनों का मूल स्थान सातवाहनों की जाति की तरह ही उनके मूल स्थान के बारे में भी इतिहासकार एकमत नहीं हैं। डॉ. जायसवाल, प्रभाकर शास्त्री, रेप्सन तथा बर्नेट के मतानुसार सातवाहनों का मूल निवास स्थान दक्षिण भारत में कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच का आन्ध्र प्रदेश था। डॉ. सूक्यथर तमिलनाडु (मद्रास) के बेलारी जिले को सातवाहनों का मूल स्थान मानते हैं। प्रो. मिरासी बरार (विदर्भ) को इनका आदिस्थान मानते हैं। डॉ. चौधरी के मतानुसार सातवाहनों का मूल स्थान मध्यप्रदेश का दक्षिणी भाग था। किन्तु प्रारम्भिक सातवाहन शासकों के अभिलेखों, सिक्कों तथा सातवाहनों के समकालीन कलिंग के राजा खारवेल के हाथी — गुम्फा अभिलेख के आधार पर अधिकांश

प्राचीन भारतीय इतिहास

विद्वानों की मान्यता है कि सातवाहनों का मूल स्थान महाराष्ट्र था और उनकी राजधानी प्रतिष्ठान के निकट थी। आधुनिक आन्ध्र प्रदेश को उन्होंने बाद में जीता था।

कृ

सातवाहनों का उदय सातवाहनों को जाति और मूल स्थान की भाँति उनके उदय काल के बारे में भी विद्वानों में विवाद है। डॉ. स्मिथ और रेप्सन सातवाहनों के वंश-संस्थापक सिमुक का उदयकाल तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व मानते हैं। किन्तु हाथी-गुम्फा अभिलेख तथा अन्य ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर यह अधिक उपयुक्त लगता है कि सातवाहनों का उदय ई. पू. प्रथम शताब्दी में हुआ था। डॉ. राजबली पाण्डे का मत है कि सातवाहन मूलतः दक्षिण भारत के थे और 28 ई. पू. में (डॉ. राय चौधरी के अनुसार 70 ई. पू. में) सिमुक ने मगध पर आक्रमण कर उत्तरी भारत में अपनी सत्ता कायम की।

उत्तरी भारत में सातवाहनों की शक्ति अधिक समय तक कायम नहीं रही। मगध I पर अधिकार करने के कुछ समय बाद ही उत्तरी भारत पर होने वाले विदेशी आक्रमणों तथा इस भाग में स्थानीय राज्यों के उठने के कारण सातवाहनों का उत्तरी भारत से अधिकार समाप्त हो गया। लेकिन दक्षिण भारत में इनकी शक्ति ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी के मध्यकाल तक चलती रही और वे तत्कालीन भारत की एक प्रमुख शक्ति के रूप में बने रहे। इसी कारण सातवाहनों के काल में भारतीय राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के केन्द्र उत्तरी भारत से दक्षिणी भारत की ओर हट गए।

—

सातवाहन शासन सातवाहन राज्य का संस्थापक सिमुक था। उसने कण्वों तथा शुंगों की शेष शक्ति को समाप्त कर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसके इस साहसिक कार्य में अन्य आन्ध्र, भृत्य तथा रठिक और भोज भी सम्मिलित थे। सिमुक ने राजा होने पर इन लोगों को पुरस्कृत किया और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किए। पुराणों के अनुसार सिमुक ने 23 वर्ष तक राज्य किया। जीवन के अन्त में कुछ क्रूर होकर जैनों के प्रति अत्याचार करने के कारण उसे सिंहासन से हटाकर मार डाला गया।

—

सिमुक के बाद उसका भाई कृष्ण (कन्ह) राजा हुआ जिसके समय में सातवाहन राज्य पश्चिम में नासिक तक फैला। नासिक में उसका एक गुफा लेख मिला है। इससे यह भी पता चलता है कि ब्राह्मण होते हुए भी कृष्ण बौद्धों के प्रति उदार था। उसने लगभग 18 वर्ष तक शासन किया। परन्तु भण्डारकर तथा कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार उसने केवल 10 वर्ष तक ही शासन किया था। कन्ह के बाद ३ श्री शातकर्णी ३ राजा बना। वह सिमुक का पुत्र था। उसने अपने साम्राज्य की सीमाओं को बढ़ाया तथा मालवा के आस-पास तक के प्रदेशों को जीता। उसने अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञ किए और दक्षिणपथपति की उपाधि धारण की।

वह सातवाहन वंश का प्रथम महान राजा था। नायनिका के नाना घाट लेख में उसकी महानता के कार्यों का उल्लेख मिलता है। उसके राज्य काल में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। नाना घाट लेख में वैदिक देवताओं और यज्ञों—अश्वमेध तथा राजसूय का भी उल्लेख है।

गौतमीपुत्र शातकर्णी लगभग सौ वर्ष के निर्बल शासन के बाद सातवाहन वंश में एक महापराक्रमी राजा का उदय हुआ, जिसने शकों को पराजित करके अपने वंश की प्रतिष्ठा को पुनरुत्थापित किया। वह था गौतमीपुत्र शातकर्णी वह सातवाहन वंश का सबसे प्रतापी शासक हुआ। उसने अपनी अप्रतिम प्रतिभा, शौर्य एवं सैनिक कुशलता से अपने राजवंश के गिरे हुए गौरव को पुनः स्थापित किया और क्रमशः शक्ति—संचय करते हुए अपने शत्रु शकों को पराभूत किया। उसके शासनकाल की अवधि के बारे में काफी मतभेद है। परन्तु विभिन्न अभिलेखों के आधार पर उसकी शासन अवधि निर्धारित की जा सकती है। जुनार अभिलेखों में नहपान की अन्तिम तिथि 46 ई. का उल्लेख है, अर्थात् नहपान ने 46. 78 = 124 ई. तक महाराष्ट्र पर शासन किया होगा। इस तिथि के बाद ही शातकर्णी ने नहपान के राज्य पर अधिकार किया होगा। महाराष्ट्र में शातकर्णी का सर्वप्रथम लेख नासिक में मिला है जो उसके शासनकाल के 18वें वर्ष में उत्कीर्ण किया गया था, अर्थात् उसने अपने शासनकाल के 18वें वर्ष में महाराष्ट्र को जीता होगा। जिसका अर्थ हुआ वह 124 18 = 106 ई. के आसपास सिंहासन पर बैठा होगा। उसके अन्तिम अभिलेख में उसके शासनकाल के 24वें वर्ष की तिथि है। अतः उसने 24 वर्ष तक तो निश्चित रूप से शासन किया ही होगा। इस आधार पर हम उसका शासनकाल 106 ई. से लेकर 130 ई. तक निर्धारित कर सकते हैं।

कृ

(1) शक — विजय गौतमीपुत्र शातकर्णी ने शकों को परास्त किया। परन्तु इसके लिए उसे राजा बनने के बाद पूरे 18 वर्ष तक अपनी शक्ति को संगठित करने की तरफ ध्यान देना पड़ा होगा। उसके शासन के 18वें वर्ष के नासिक अभिलेख जो गोवर्धन विषय (नासिक) के अमात्यों को सम्बोधित है, में उस भूमिदान का उल्लेख है जो ऋषभदत्त के अधिकार में थी। यह ऋषभदत्त शक— नरेश नहपान का दामाद तथा शक— राज्य के दक्षिण प्रान्त (जिसमें नासिक भी सम्मिलित था) का राज्यपाल था। उस समय गौतमीपुत्र शातकर्णी नासिक के आस—पास वेण नदी पर अपना शिविर लगाए हुए था। इसी प्रकार, कार्ली अभिलेख में पूना जिले के करजिक ग्राम को दान में दिए जाने का उल्लेख है। इन अभिलेखों से यह सिद्ध तो हो जाता है कि उत्तरी महाराष्ट्र में शकों की शक्ति को समाप्त करके सातवाहनों ने पुनः अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। परन्तु इसका विस्तृत ब्यौरा नहीं मिल पाता।



प्राचीन भारतीय इतिहास

(2)

च

वाशिष्ठी पुत्र पुलुभावी के शासनकाल के 19वें वर्ष की सुप्रसिद्ध नासिक प्रशस्ति में गौतमीपुत्र शातकर्णी की विभिन्न उपलब्धियों का विस्तृत विवरण दिया हुआ है। इससे पता चलता है कि उसने शक, यवन एवं पल्लवों (शक-यवन-पल्लव-निसूदन) का विनाश कर सातवाहन कुल के गौरव की पुनःस्थापना की। उसका मुख्य उद्देश्य शकों के महाक्षत्रप नहपान सहित क्षहरातों का विनाश था। क्योंकि उनके कारण सातवाहन सत्ता घूमिल एवं निर्बल हो गई थी। उसने यह कार्य अपने शासन के 18वें वर्ष से पहले शुरू कर दिया था और 18वें वर्ष तक शकों को महाराष्ट्र से खदेड़ दिया। शातकर्णी की यह प्रारम्भिक सफलता थी। क्योंकि अभी तो सातवाहन राज्य का बहुत बड़ा भू-भाग शकों के अधिकार में रह गया था। नहपान की अन्तिम ज्ञात तिथि एक 46 है, अर्थात् 124 ई. यह शातकर्णी के शासन का 18वीं वर्ष था और इसी वर्ष वह शकों के विरुद्ध रण-यात्रा को निकला था। नासिक प्रशस्ति के अनुसार इस अभियान के फलस्वरूप सौराष्ट्र (काठियावाड़), कुकूर (गुजरात का पारियात्र क्षेत्र), अनूप (नर्मदा नदी पर स्थित महेश्वर क्षेत्र), अपरान्त (उत्तरी कोंकण), आकर (पूर्वी मालवा) और अवन्ति (पश्चिमी मालवा) के प्रान्त शातकर्णी के अधिकार में आ गए। ये सारे प्रान्त क्षहरातों से जीते गए थे और एक युद्ध में महाक्षत्रप नहपान भी मारा गया था। नहपान की मृत्यु के बाद पश्चिमी भारत एवं मालवा पर सातवाहनों का अधिकार हो गया। नासिक और उसके आस-पास नहपान के अनेक सिक्के मिले हैं, जिन पर शातकर्णी के लेख हैं जो नहपान पर उसकी विजय के प्रतीक हैं। अन्य विजयें नासिक प्रशस्ति से पता चलता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी ने केवल क्षहरातों पर ही विजय प्राप्त नहीं की, अपितु अन्य प्रदेशों को जीतकर उन्हें भी सातवाहन राज्य में सम्मिलित किया था। ये प्रदेश थे ऋषिक (कृष्णा तट पर स्थित ऋषिक का समीपवर्ती क्षेत्र), अश्मक

—

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

तक— पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

173

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मस—पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

174

(3)

(बोधन के समीप महाराष्ट्र का गोदावरी क्षेत्र), मूलक (प्रतिष्ठान क्षेत्र— आधुनिक पैथान) और विदर्भ (बरार) आदि।

साम्राज्य विस्तार उपर्युक्त विजयों के परिणामस्वरूप गौतमीपुत्र शातकर्णी के समय में सातवाहन राज्य दक्षिण में कृष्णा नदी से लेकर उत्तर में सौराष्ट्र एवं मालवा तक और पूर्व में विदर्भ से लेकर पश्चिम में कोंकण तक फैल गया था। उसके साम्राज्य में दक्षिणापथ के दो प्रदेश – दक्षिण कोंकण और आन्ध्र देश सम्मिलित नहीं थे। उपर्युक्त क्षेत्र पर शातकर्णी का सीधा शासन था। परन्तु उसका राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र सीधे शासन की परिधि के बाहर काफी विस्तृत हो चुका था। त्रावनकोर, पूर्वी घाट और पश्चिमी घाट तक उसका राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो चुका था।

(4) पराजय

—

अपनी

मृत्यु

के

कुछ दिनों पूर्व गौतमीपुत्र शातकर्णी को शकों के हाथों शायद पराजित होना पड़ा था। साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों ही साक्ष्य इस बात का प्रमाण हैं कि महाक्षत्रप चष्टन एवं रुद्रदामन के शासनकाल में शकों ने सातवाहन राजा को पराजित करके उसके राज्य के उत्तरी एवं पश्चिमी प्रान्तों पर, जिन्हें उसने क्षहरातों से छीना था, अधिकार कर लिया था। शक महाक्षत्रप रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से शकों की विजय की पुष्टि होती है, जिसमें उसे आकर, अवन्ति, अनूप, अपरान्त, सुराष्ट्र एवं आनर्त का स्वामी कहा गया है। इस अभिलेख में रुद्रदामन यह भी कहता है कि उसने दक्षिणापथ – नाथ शातकर्णी को दो बार परास्त किया परन्तु निकट सम्बन्धी होने के कारण उसका विनाश नहीं किया। वस्तुतः गौतमीपुत्र शातकर्णी उसका निकट सम्बन्धी था। रुद्रदामन की पुत्री कार्दमक का विवाह गौतमीपुत्र शातकर्णी के द्वितीय पुत्र वाशिष्ठी पुत्र शातकर्णी के साथ हुआ था। गौतमीपुत्र की यह पराजय सम्भवतः उस समय हुई होगी जब वह अपनी बीमारी के कारण निस्तेज पड़ा था। परन्तु डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय आदि लेखकों का मानना है कि शकों ने सातवाहनों से उपर्युक्त प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णी की मृत्यु के पश्चात् छीने थे।

पुत्र

(5) मृत्यु गौतमीपुत्र शातकर्णी के शासनकाल का अन्तिम नासिक अभिलेख उसके शासनकाल के 24वें वर्ष का मिला है। इस अभिलेख में उसकी माता के लिए महादेवी और राजमाता पदों का प्रयोग है और शातकर्णी के लिए श्जीवसुताश का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है – ५ जिसका जीवित है। विद्वानों का मानना है कि इसका यह अर्थ यह लिया जाना चाहिए कि अभिलेख उत्कीर्ण किए जाने के समय पुत्र आसन्न – मृत्यु था और सम्भवतः इसके बाद शीघ्र ही उसकी मृत्यु भी हो गई थी। इस हिसाब से गौतमीपुत्र शातकर्णी ने 24



वर्ष (106 से 130 ई.) तक शासन किया।

(6) व्यक्तित्व नासिक प्रशस्ति गौतमीपुत्र शातकर्णी की वीरता तथा विजयों के अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व के बारे में भी महत्वपूर्ण जानकारी देती है। प्रशस्ति में उसके शोभन शरीर, रम्य एवं दैदीप्यमान मुख – मण्डल, चारु गति एवं मांसल दीर्घ भुजाओं की प्रशंसा की गई है। वह माता के प्रति अतीव आज्ञाकारी, सकल आगम ज्ञाता एवं शिष्ट आधार का स्रोत था। सभी अधीनस्थ राजा उसके आज्ञाकारी थे! यह युद्ध में पराजित न होने वाला शासक था। वह अत्यन्त दयालु था और अपने शत्रुओं के प्रति हिंसा करने में उसे रुचि न थी। वह प्रजा से न्यायसम्मत कर लेने वाला, प्रजा के सुख में अभिरुचि तथा दुःख में सहानुभूति रखने वाला एवं समाज का कर्ता था। वह अद्वितीय धनुर्धर, अद्वितीय योद्धा, अतीव कौशलसम्पन्न एवं ब्राह्मणों का एकमात्र संरक्षक था। उसने क्षत्रियों के दंभ एवं मान का मर्दन किया, ब्राह्मणों के साथ-साथ कृषकों एवं व्यापारियों या हीन परिवार वालों के हित की वृद्धि की तथा समाज में वर्णसंकरता का विनाश किया। उसने ब्राह्मण धर्म की वर्ण-व्यवस्था को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह शूद्र जातियों के प्रति असहिष्णु था। वह उनकी भलाई के लिए भी सदा प्रयत्नशील रहा।

(7)

—

कृ

सहशासन (सम्मिलित राज्य) कुछ विद्वानों, विशेषतः सर आर. जी. भण्डारकर ने यह मत व्यक्त किया है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी और उसके पुत्र वाशिष्ठी पुत्र पुलुभावी, दोनों ने कुछ समय तक साथ-साथ राज्य किया था गौतमीपुत्र शातकर्णी ने धनकत में और वाशिष्ठी पुत्र पुलुभावी ने प्रतिष्ठान में। उन्होंने इस मत के समर्थन में निम्न तर्क दिए हैं – (1) राजमाता गौतमी बलश्री की नासिक प्रशस्ति में जो वाशिष्ठी पुत्र पुलुभावी के शासनकाल के 19वें वर्ष की है, उसमें उसको महाराज की माता और महाराज की पितामही दोनों कहा गया है, ऐसा तभी सम्भव है जबकि दोनों का सहशासन रहा हो तब वह एक को माता और दूसरे की पितामही कही जा सकती थी। (2) यदि यह माना जाए कि अभिलेख के समय से पूर्व ही गौतमीपुत्र की मृत्यु हो चुकी थी तो पुलुभावी अकेला शासन कर रहा था। ऐसी स्थिति में गौतमीपुत्र की उपलब्धियों के साथ-साथ शासनरत पुलुभावी की उपलब्धियों का भी उल्लेख होना चाहिए। परन्तु उसके बारे में अभिलेख मौन है। इसी प्रकार के अन्य तर्क भी प्रस्तुत किए गए हैं। परन्तु अधिकांश विद्वानों का मानना है कि सहशासन का सिद्धान्त सर्वथा निराधार है। वस्तुतः सर्वमान्य भारतीय परम्परा एवं अपनी कुल परम्परा के अनुसार पिता के बाद ही पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी हुआ।

कृ

गौतमीपुत्र के उत्तराधिकारी गौतमीपुत्र के बाद उसका लड़का वाशिष्ठी पुत्र पुलुभावी शासक बना। उसने भी सातवाहनों के साम्राज्य का विस्तार किया किन्तु शकों ने उससे पश्चिमी राजस्थान तथा मालवा के प्रदेश छीन लिए। उसके बाद उसका भाई वाशिष्ठी पुत्र शिवश्री शातकर्णी शासक बना। लेकिन सातवाहनों का अन्तिम प्रतापी शासक यज्ञश्री शातकर्णी था। उसने शकों से उत्तरी कोंकण जीतकर अपने राज्य का खूब विस्तार किया। यज्ञश्री के बाद विजय, चन्द्रश्री तथा पुलुभावी द्वितीय बने। किन्तु उनकी अयोग्यता के कारण इक्ष्वाकु अमीर तथा पल्लव लोगों ने सातवाहन साम्राज्य के विभिन्न भागों पर अपना अधिकार करना प्रारम्भ किया और तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सातवाहनों की केन्द्रीय शक्ति समाप्त हो गई।

पश्चिमी क्षत्रप

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद शुंग, कण्व तथा सातवाहनों ने उत्तरी भारत में शक्ति संस्थापना का प्रयत्न किया, लेकिन वे इसमें सफल नहीं हो सके तथा उत्तरी भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। इस काल में गंगा के दक्षिणी भाग में मथुरा, मगध, काशी तथा कौशाम्बी ने स्वतन्त्र अस्तित्व कायम कर लिए। मध्य भारत में भरहुत, विदिशा तथा उज्जैन के राज्य अस्तित्व में आए। भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग में छोटे-छोटे राजतन्त्रात्मक एवं गणतन्त्रात्मक राज्य उठ खड़े हुए तथा रावी और यमुना के बीच के भाग में स्वतन्त्र जातीय गणराज्यों का उदय हुआ। इस प्रकार, उत्तरी भारत राजनीतिक दृष्टि से कई इकाइयों में विभक्त हो गया। भारत की इस स्थिति का लाभ उठाना विदेशियों के लिए स्वाभाविक था। परिणामस्वरूप मौर्यों के पतन के बाद से भारत पर उत्तर-पश्चिम की ओर से पुनः विदेशियों के आक्रमण होने लगे, जिनका नेतृत्व क्रमशः यूनानियों (बेक्ट्रियनों), शकों, पह्लवों (पार्थियनों) तथा कुषाणों ने किया।

यूनानी इण्डो-बेक्ट्रियन

कृ

यूनानियों के आक्रमण दूसरी शताब्दी ई. पू. के प्रारम्भिक काल में भारत पर सबसे पहले आक्रमण करने वाले यूनानी (बेक्ट्रियन) लोग थे। ये हिन्दुकुश के उस पार बेक्ट्रिया में रहते थे। मूलतः ये लोग यूनानी थे, पर सैकड़ों वर्ष पूर्व बेक्ट्रिया में आकर वहाँ उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए थे। कुछ समय पहले तक यह माना जाता था कि बेक्ट्रिया में यूनानी उपनिवेशों की स्थापना सिकन्दर के आक्रमण के समय में हुई थी। किन्तु डॉ. बी. के. नारायण ने अपनी पुस्तक श्द इण्डोग्रीक्स में कई प्रमाण प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट किया है कि अफगानिस्तान और बेक्ट्रिया में सिकन्दर के आक्रमण से पहले ही यूनानी उपनिवेश या बस्तियाँ विद्यमान थीं। सिकन्दर ने अपने आक्रमण के दौरान इन पर अधिकार कर लिया था और सिकन्दर के बाद उसके सेनापति सेल्यूकस के सीरियाई साम्राज्य में बेक्ट्रिया भी सम्मिलित था। सेल्यूकस के एक उत्तराधिकारी एन्टिआकस द्वितीय के शासनकाल में (लगभग 250 ई. पू.) डिओडोरस बेक्ट्रिया प्रान्त का गवर्नर था। डिओडोटस ने अपने मालिक के विरुद्ध विद्रोह



करके बेक्ट्रिया में अपने
प्राचीन भारतीय इतिहास
छात्र

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस
175

प्राचीन भारतीय इतिहास
छात्र

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। विद्वानों का मानना है कि इसी समय पार्थिया का प्रान्त भी सीरियाई साम्राज्य से पृथक् हो गया और वहाँ भी एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई बेक्ट्रिया का नया राज्य हिन्दुकुश से लेकर आक्सस नदी तक विस्तृत था। 247 ई. पू. में एन्टिआकस द्वितीय की मृत्यु हो गई और सेल्यूकस द्वितीय सीरिया का शासक बना। सेल्यूकस द्वितीय ने पार्थिया के विरुद्ध डिजोडोटस का सहयोग प्राप्त करने के लिए उससे मैत्री कर ली और अपनी बहिन का विवाह भी उसके साथ कर दिया।

230 ई. पू. में डिमोडोटस की मृत्यु हो गई, उसका पुत्र डिओडोटस द्वितीय शासक बना। उसने अपने पिता की नीति के विपरीत पार्थिया से मैत्री सम्बन्ध कायम किया। इस पर उसकी प्रजा और उसके अमीर उसके विरोधी हो गए। उसकी विमाता भी उसके विरुद्ध हो गई और उसने यूथोडेमस नामक सरदार के साथ विवाह कर लिया। यूथोडेमस ने डिओडोटस द्वितीय का वध करके बेक्ट्रिया पर अपना अधिकार कर लिया। उधर सीरिया के शासक सेल्यूकस द्वितीय की मृत्यु हो गई और एन्टिआकस तृतीय नया शासक बना। उसने सीरिया के प्राचीन गौरव को पुनः स्थापित करने के लिए बेक्ट्रिया पर आक्रमण किया। काफी लम्बे संघर्ष के बाद दोनों में समझौता हो गया। एन्टिओकस ने बेक्ट्रिया की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लिया और अपनी पुत्री का विवाह यूथोडेमस के पुत्र डेमेट्रिअस के साथ कर दिया। इसके बाद एन्टिआकस ने भारत पर आक्रमण किया परन्तु उसे अधिक सफलता न मिली और वह काबुल की घाटी से ही लौट गया। उसके अधूरे काम को यूथोडेमस ने पूरा किया।

—

यूथोडेमस यूथोडेमस एक पराक्रमी और साहसी शासक था। वह एशिया माइनर में स्थित मैगनेशिया नामक नगर का रहने वाला था। उसने अपनी शक्ति और बुद्धि के बल पर बेक्ट्रिया का राज्य प्राप्त किया था। बेक्ट्रिया में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के बाद उसने अपने राज्य विस्तार का प्रयत्न किया और सर्वप्रथम फरगना प्रदेश को जीता। इसके बाद उसने सागुडिआना प्रदेश को जीता। उसने पार्थिया पर आक्रमण किया और पार्थिया राज्य का कुछ भाग अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद उसने अफगानिस्तान का अधिकांश भाग और पूर्वी फारस का कुछ भाग भी अपने अधिकार में कर लिया। कनिंघम आदि कुछ विद्वानों के अनुसार यूथोडेमस ने भारत पर भी आक्रमण किया था और

उसके कुछ प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था। उन्होंने अपने मत में दो तर्क दिए हैं— (1) रावलपिंडी क्षेत्र में यूथीडेमस की मुद्राएँ प्राप्त हुईं। (2) साकल (स्यालकोट) का नाम यूथीडेमीज था। परन्तु अन्य विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि किसी भी यूनानी अथवा भारतीय साक्ष्य के द्वारा यूथीडेमस को भारत विजेता नहीं कहा गया है।

गया

कृ

डेमेट्रिअस यूथीडेमस को मृत्यु के बाद डेमेट्रिअस बेक्ट्रिया का शासक बना। वह एक महान शासक था। उसने भारत पर आक्रमण किया और भारत पर यूनानी राज्य कायम किया। स्ट्रेबो और जस्टिन ने उसे भारतवर्ष का राजा कहा है। सिक्कों में डेमेट्रिअस को हाथी के सिर की तरह शिरस्त्राण पहने हुए दिखाया हाथी, उसके भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध को सूचित करता है। पश्चिम पंजाब में उसके बहुत से सिक्के भी मिले हैं। उसके सिक्कों पर भारतीय भाषा (प्राकृत) और अक्षरों (खरोष्ठी लिपि) में राजा की उपाधि और नाम प्राप्त होता है। उसने भारत पर आक्रमण कर साकल (स्यालकोट), मथुरा, साकेत तथा विदिशा की जीत लिया। सिन्ध पर भी उसका अधिकार हो गया। उसके बाद उसने मगध पर आक्रमण किया परन्तु पुष्यमित्र शुंग के हाथों परास्त होकर लौटना पड़ा। फिर भी, पख्तूनिस्तान, पश्चिमी पंजाब और सिन्ध पर उसका अधिकार बना रहा। परन्तु डेमेट्रिअस का भारत में अधिक फँसा रहना बेक्ट्रिया पर से उसके अधिकार को हटाने में सहायक हुआ !

यूक्रेटाइडीज नामक एक यूनानी सरदार ने परिस्थिति का लाभ उठाकर बेक्ट्रिया पर अपना अधिकार जमा लिया। अतः डेमेट्रिअस को वहाँ जाना पड़ा। परन्तु वह यूक्रेटाइडीज को परास्त न कर पाया और न ही उससे अपना राज्य वापस ले पाया। इसके विपरीत यूक्रेटाइडीज ने उसे वापस खदेड़ दिया और डेमेट्रिअस के भारतीय राज्य के झेलम नदी के पश्चिमी भाग तक अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार, भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में यूनानियों (बेक्ट्रियनों) के दो राज्य स्थापित हो गए एक, यूथीडेमस और उसके उत्तराधिकारी डेमेट्रिअस के वंशजों का तथा दूसरा राज्य यूक्रेटाइडीज और उसके वंशजों का।

कृ

176

डेमेट्रिअस के वंशजों का अधिकार पूर्वी पंजाब और सिंध पर था और यूक्रेटाइडीज के वंशजों का अधिकार पश्चिमी पंजाब और काबुल की घाटी पर था।

कृ

मीनेण्डर (मलिन्द) डेमेट्रिअस के बाद क्रमपूर्वक कौन-कौन शासक बनेय इसके बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। लेकिन यूनानियों के इस राज्य में मीनेण्डर नामक एक प्रसिद्ध राजा हुआ। वह एक महान विजेता था। भारत में अनेक स्थानों पर मिली उसकी मुद्राओं से यह कहा जा सकता है कि उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। इतिहासकारों के अनुसार उसका राज्य



प्राचीन भारतीय इतिहास

अफगानिस्तान के कुछ भाग, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, पंजाब, राजपूताना तथा काठियावाड़ तक विस्तृत था। विजेता होने के साथ ही मीनेण्डर एक कुशल और न्यायप्रिय शासक भी था। धर्म के क्षेत्र में वह बड़ा जिज्ञासु था। उसने नागसेन नामक बौद्ध भिक्षु से कई प्रश्न कर अपनी जिज्ञासु वृत्ति का परिचय दिया। सम्भवतरु नागसेन के उत्तरों एवं उपदेशों से प्रभावित होकर उसने बौद्ध धर्म अपना लिया। भारतीय साहित्य में इस शासक को शमिलिन्दश कहा गया है। उसकी राजधानी साकल (स्यालकोट) थी। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र स्ट्रेटों प्रथम राजा बना। उसके बाद स्ट्रेटो द्वितीय शासक हुआ। सम्भवतः उनके बाद भी कुछ राजा हुए होंगे परन्तु हमारे पास उनके बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं है।

—

यूक्रेटाइडीज का दूसरा यूनानी राज्य – भारत में यूक्रेटाइडीज के दूसरे यूनानी राजवंश में एन्टियालकिडस नामक राजा सबसे ज्यादा प्रसिद्ध हुआ। इसने कपिशा पुष्कलावती व तक्षशिला पर शासन किया। इस वंश का अन्तिम राजा हर्मियस था। इसके शासनकाल में कुषाणों ने उसके भारतीय साम्राज्य पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया। इस घटना के साथ ही भारत में इण्डो-बेक्ट्रियन (यूनानी) राज्य की समाप्ति हो गई

भारतीय यूनानी सम्पर्क के प्रभाव

सिकन्दर के आक्रमण के परिणामस्वरूप भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के कुछ क्षेत्रों पर थोड़ा-सा प्रभाव पड़ा था। परन्तु इस बार यूनानी लगभग 150 वर्षों तक भारतवर्ष के शासक रहे। दो विभिन्न संस्कृतियों का लम्बे काल तक मिलन, उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देती है। भारत और यूनानी का सम्पर्क भी इस तथ्य का अपवाद न रहा व दोनों की संस्कृतियों ने एक-दूसरे को प्रभावित किया।

साहित्य – टार्न महोदय ने अनुसार दोनों के मध्य भाषा के क्षेत्र में अधिक आदान-प्रदान हुआ। दोनों ने एक-दूसरे की भाषा के अनेक शब्दों को ग्रहण कर लिया। उदाहरणार्थ, भारतीयों ने यूनानियों से कलम, पुस्तक, सुरंग केन्द्र, कोण, कम्पन, होरा आदि शब्द ग्रहण किए तो यूनानियों ने भारतीयों के मक्रट, वैदूर्य, श्रृंगवेर, पिप्पसि, कपिश, शर्करा आदि शब्द ग्रहण किए। टार्न का यह भी मानना है कि बहुत से भारतीयों ने यूनानी भाषा सीख ली थी और शायद शमिलिन्दपन्होश और श्युग पुराणश के लेखक यूनानी जानते थे। जैकोबी महोदय का मत है कि भारतीयों ने शदोहाश यूनानियों से सीखा। परन्तु कीथ महोदय ने इसका खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि शदोहाश भारतवासियों में पहले से प्रचलित था। वेबर का मानना है कि संस्कृत नाटकों पर यूनानी नाटकों का प्रभाव है और कदाचित् भारतीय नाटकों का उदय भी यूनानी नाटकों से हुआ होगा। डॉ. विमलचन्द्र पांडेय ने उपर्युक्त सभी मतों का खण्डन किया है।

८

ज्योतिष – ऐसा माना जाता है कि ज्योतिष के क्षेत्र में भारत ने यूनानियों से कई नई बातें सीखीं। ज्योतिष के कई सिद्धान्तों, जैसे— भारतीय रोमक ज्योतिष पद्धति तथा पौलिश सिद्धान्त पर स्पष्ट रूप से यूनानी प्रभाव है। हमारी ज्योतिष के कई शब्द— केन्द्र, लिप्त, होरा आदि भी यूनानी हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि हमारी मेष, वृष, मिथुन आदि बारह राशियाँ यूनानी नामों की रूपान्तर प्रतीत होती हैं। गार्गी संहिता से ज्ञात होता है कि ज्योतिष के क्षेत्र में भारत यूनान का ऋणी है। प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिषी वाराहमिहिर ने यूनानियों को ज्योतिष का ज्ञाता होने की वजह से पूजनीय बतलाया, अन्यथा भारतीय उन्हें म्लेच्छ कहते थे। चिकित्सा शास्त्र – वोगेल महोदय का मत है कि चिकित्सा के क्षेत्र में भी भारत यूनान का ऋणी है। उनका मानना है कि भारतीय चिकित्सक चरक ने चिकित्सक के आचार सम्बन्धी जो नियम निर्धारित किए

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

रु

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

178

थे वे यूनानी चिकित्सक हिप्रोक्रेटीज के नियम से बहुत कुछ मिलते—जुलते हैं। परन्तु यह मत सही प्रतीत नहीं होता।

कृ

कला उस युग में अधिकांश भवन नष्ट हो चुके थे। अतः किस क्षेत्र में कितना प्रभाव पड़ा, यह कहना सरल नहीं है। तक्षशिला में एक मन्दिर तथा कुछ अन्य भवन मिले हैं, जिनके आधार पर विद्वानों का मानना कि इन पर यूनानी वास्तुकला का प्रभाव है। परन्तु अधिकांश विद्वानों का मत कि वास्तुकला की अपेक्षा स्थापत्य कला के क्षेत्र में यूनानी प्रभाव अधिक स्पष्ट है। भारतीय और यूनानी शैलियों के समन्वय से भारत में एक नवीन शैली का विकास हुआ, जो गान्धार—शैली के नाम से प्रसिद्ध है। इसका मुख्य क्षेत्र गान्धार होने से इसे गान्धार शैली कहा जाने लगा। इस शैली में भावना भारतीय थी तथा बनावट यूनानी कला के अनुरूप होती थी।

—

—

मुद्रा मुद्रा के क्षेत्र में भी भारत ने यूनानियों से कई बातें सीखीं। इससे पहले भारतीय मुद्राओं का आकार न तो संतुलित होता था और न ही उन पर सुंदर आकृतियाँ बनी होती थीं। चूँकि यूनानी मुद्राएँ सुन्दर होती थीं तथा राजाओं के

प्राचीन भारतीय इतिहास

नाम व आकृतियों वाली होती थी, अतः भारत में भी इस प्रकार की मुद्राएँ बनने लगीं।

धर्म धर्म—दर्शन — भारतीय संस्कृति के जिस क्षेत्र ने यूनानियों को सर्वाधिक प्रभावित किया, वह था और दर्शन द्य कई यूनानी शासकों ने भारतीय धर्म अपना लिया। मोनेण्डर ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। एन्टियालकिडस का राजदूत हेलियोडोरस विष्णु का उपासक था। इसने बेस नगर में गरुडध्वज की स्थापना की थी। इसी प्रकार दर्शन के क्षेत्र में भी यूनानियों पर भारत का खूब प्रभाव पड़ा। भारत में अपनी राज्य शक्ति के समाप्त होने पर भारत में आने वाले यूनानी आक्रमणकारियों ने समय के साथ भारतीय संस्कृति को अपना लिया और वे यहाँ के जीवन में इस प्रकार घुल-मिल गए कि पूर्णतः भारतीय बन गए।

शक

—

भारत पर शकों के आक्रमण पहली शताब्दी ईसा पूर्व में यूनानियों (बेक्ट्रियनों) के भारतीय राज्य का अन्त हो गया। उनके स्थान पर शकश नामक एक अन्य विदेशी जाति ने भारत में अपना राज्य स्थापित किया।

शक मध्य एशिया में सीर नदी के उत्तर में श्जेजटिकश के निकट रहने वाली एक घुमक्कड़ जाति थीं। इन्हीं के समीप पश्चिमी चीन श्यहुचीश नामक एक अन्य जाति रहती थी। लगभग 175 से 165 ई. पू. में यहूचियों पर एक अन्य घुमक्कड़ हुँगनू (हूण) जाति के लोगों ने आक्रमण कर दिया। परिणामस्वरूप यहूचियों को अपना मूल स्थान छोड़ना पड़ा और उन्होंने शकों पर आक्रमण करके उनको उनके मूल स्थान से खदेड़ दिया। यहूचियों से परास्त होकर शक दो समूहों में बंट गए। उनका एक समूह पूर्वी ईरान तथा पार्थिया होता हुआ शक स्थान में आकर बस गया और फिर वहाँ से कन्दहार और बलूचिस्तान होता हुआ सिन्धु नदी की निचली घाटी में आकर बस गया। दूसरा समूह सीधा भारत की ओर बढ़ा और कि—पिन (बेक्ट्रिया के दक्षिण—पूर्व में स्थित प्रदेश, या कपिशा या काबुल अथवा कश्मीर और पंजाब) नामक स्थान पर आकर बस गया। कालान्तर में इन्हीं स्थानों को केन्द्र बनाकर ईसा पूर्व की पहली शताब्दी में शकों ने भारत पर आक्रमण कर भारत में एक विस्तृत भू—भाग पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। भारत में अपना आधिपत्य जमाने के बाद कभी शक्तिशाली और कभी कमजोर होते हुए शकों ने ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी तक यहाँ शासन किया।

—

भारतीय शक राज्य और उसके शासक जॉन मार्शल के मतानुसार भारत में शकों का सबसे पहला शासक श मावेजश था। उसके शासनकाल की तिथियों अनिश्चित हैं। कुछ विद्वान् मावेज के शासनकाल को 32 ई.

पू. से 20 ई. पू. मानते हैं और कुछ 1 ई. पू. से 20 ई. तक मानते हैं। तिथि कोई भी रही हो, शक शासक मावेज एक शक्तिशाली राजा था। उसके राज्य में काश्मीर, पश्चिमी पंजाब और गान्धार के प्रदेश सम्मिलित थे। तक्षशिला उसके

राज्य का प्रमुख केन्द्र था । मावेज ने अपने राज्य के अलग-अलग भागों में शासन के लिए क्षत्रप (गवर्नर) नियुक्त कर रखे थे ।

उ

मावेज के बाद एवेज शकों का शासक बना, किन्तु कुछ समय के बाद एवेज को उसके एक अधीनस्थ सामन्त एलीजिसेज ने राज्य – सिंहासन से हटा दिया और वह स्वयं शकों के भारतीय राज्य का शासक बन बैठा । इसने लगभग 12 वर्ष तक शासन किया । इसके बाद एवेज द्वितीय शासक बना । इसने लगभग 43 ई. तक शासन किया । किन्तु इसके बाद पल्लव (पार्थियन) शासक फायोटीज ने तक्षशिला पर अधिकार कर लिया, जिसे हटाकर बाद में कुषाणों के नेता गाण्डोफार्नीज ने तक्षशिला पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार तक्षशिला से शकों के अधिकार का अन्त हुआ ।

शक क्षत्रप

—

भारत में शक शासकों ने एक विस्तृत राज्य स्थापित किया था । प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से उनका राज्य कई प्रान्तों में विभाजित किया था । शक शासक इन प्रान्तों में शासन संचालन के लिए जिन अधिकारियों को नियुक्त करते थे, शक क्षत्रप कहा जाता था । सामान्यतया शकों के प्रत्येक प्रान्त में दो क्षत्रप होते थे (1) क्षत्रप और (2) महाक्षत्रप । वैसे शक क्षत्रप प्रारम्भ में शक शासकों के अधीन थे, लेकिन शकों की केन्द्रीय शक्ति के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी एक लम्बे समय तक,

—

—

—

—

भारत में

शक क्षत्रप शासन करते रहे । भारत में शक क्षत्रपों के मुख्य केन्द्रों को चार भागों में बाँटा जाता है – (1) उत्तरी भारत के क्षत्रप, (2) पश्चिमी भारत के शक क्षहरात, (3) मथुरा

के क्षत्रप, और (4) उज्जयिनी

के क्षत्रप द्य

—

उत्तरी भारत के क्षत्रप उत्तरी भारत में शकों के मुख्यतः कपिश, पुष्पपुर, अभिसारप्रस्थ, कुसुलुक, मनिगुल, जिहोणिक तथा इन्द्रवर्मन क्षत्रप वंशों ने शासन किया । इनमें से कपिश, पुष्पपुर तथा अभिसारप्रस्थ वंशों ने आधुनिक काफिरिस्तान तथा तक्षशिला के उत्तर में स्थित प्रदेशों में राज्य किया तथा अन्य वंशों ने पंजाब के विभिन्न भागों में शासन किया ।

पश्चिमी भारत के क्षत्रप

पश्चिमी भारत में जिस क्षत्रप वंश ने राज्य किया, वह क्षहरात वंश के नाम से



प्रसिद्ध है। क्षहरात वंश के क्षत्रपों के शासन का केन्द्र नासिक था। इसलिए इसको नासिक के क्षत्रप भी कहा जाता है। इस वंश के प्रसिद्ध शासकों में भूमक और नहपान के नाम प्रसिद्ध हैं। भूमक के अधिकार क्षेत्र में सौराष्ट्र और मालवा का प्रदेश था। डॉ. डी. सी. सरकार के अनुसार पश्चिमी राजस्थान और सिन्धु पर भी भूमक का अधिकार था।

—

नहपान पश्चिमी भारत के क्षत्रपों में नहपान का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। जैन साहित्य में इसका उल्लेख नरवाहन के रूप में हुआ। कम-से-कम 8 गुहा लेखों में उसका उल्लेख मिलता है और उसकी बहुसंख्यक मुद्राएँ मिली हैं। वह एक महत्वाकांक्षी शासक था और उसका राज्य काफी विस्तृत था। अभिलेखों और मुद्राएँ मिलने के स्थानों के आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि नहपान के अधिकार में महाराष्ट्र का कुछ भाग, मालवा, अपरान्त, गुजरात, काठियावाड़ और पश्चिमी राजस्थान का कुछ भाग रहा था। शायद इसी समय सातवाहनों को महाराष्ट्र छोड़कर आन्ध्रप्रदेश में जाना पड़ा होगा। राज्य – विस्तार के लिए उसने कौन-कौन से युद्ध लड़े – इसकी हमें जानकारी नहीं मिलती। यह भी सम्भव है कि राज्य का इतना विस्तार उसके पूर्ववर्ती शासकों ने ही किया हो। नासिक गुहा लेख नं. 10 से उसके केवल एक युद्ध की जानकारी मिलती है जो मालवा के आक्रमणकारियों के विरुद्ध लड़ा गया था। नहपान की राजधानी मिन्नगर थी। इसका समीकरण मन्दसोर तथा दोहद से किया जाता है। डॉ. जायसवाल के मतानुसार नहपान की राजधानी भड़ौच थी। जोगलथम्भी मुद्रा भाण्ड ने नहपान की बहुत-सी मुद्राएँ मिली हैं। इनमें से अधिकांश मुद्राएँ ऐसी हैं जिस पर गौतमीपुत्र शातकर्णी ने अपना नाम मुद्रित करवाकर पुनः प्रसारित करवाया था। इससे स्पष्ट है कि गौतमीपुत्र ने नहपान को परास्त किया था। नहपान क्षहरात वंश का अन्तिम शासक था। उसकी मृत्यु के पश्चात् इस शक राज्य का अन्त हो गया।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

179

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

180

मथुरा के क्षत्रप – यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मथुरा में शक कब और कैसे पहुँचे। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मथुरा में शक मालवा से आए और कुछ विद्वानों की मान्यता है कि हगान और हगमाश मथुरा के सबसे पहले क्षत्रप थे, जिन्होंने वहाँ मिलकर शासन किया। इनके बाद शराजुबुलश

क्षत्रप बना। वह मथुरा के क्षत्रपों में सबसे प्रतापी था। उसने एक स्वतन्त्र शासक के रूप में शासन किया। राजुबुल के बाद उसका पुत्र शसोडास क्षत्रप बना। किन्तु उसके बाद मथुरा के क्षत्रपों की शक्ति क्षीण हो गई और सोडास के उत्तराधिकारी अन्य शासकों के अधीन होकर शासन करने लगे।

कृ

उज्जयिनी के क्षत्रप दक्षिणी भारत में एक दूसरे शकक्षत्रप वंश का उदय हुआ। इसका मुख्य केन्द्र उज्जैन अथवा उज्जयिनी था। अतः इन्हें उज्जयिनी के क्षत्रप भी कहा जाता है। इस क्षत्रप वंश का संस्थापक यशोमती था। किन्तु इस क्षत्रप राज्य का पहला स्वतन्त्र शासक चष्टन था। चष्टन बड़ा पराक्रमी था। उसी ने इस क्षत्रप वंश को राजपद दिलाया था। इस कारण उज्जयिनी का क्षत्रप वंश उसके नाम पर चष्टन वंश कहलाता है।

रुद्रदामन प्रथम

चष्टन के बाद इस क्षत्रप राज्य का उत्तराधिकारी रुद्रदामन बना। वह उज्जयिनी के क्षत्रप शासकों में सबसे अधिक पराक्रमी था। इतिहास में यह महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम के नाम से विख्यात है। चष्टन ने अपने जीवन काल में ही रुद्रदामन को क्षत्रप बना दिया था और वह उसके साथ-साथ राज्य का शासन कर रहा था। अन्धो अभिलेख से इस बात की पुष्टि होती है कि उसने चष्टन से साथ शासन किया था। उस अभिलेख में चष्टन और रुद्रदामन दोनों के साथ शराजा की उपाधि का प्रयोग समान रूप से

हुआ है।

हैं। इससे यह भी अनुमान लगाया जाता है कि उस समय रुद्रदामन चष्टन की अधीनता में शासन नहीं कर रहा था। संभवतः दोनों के अधिकार समान थे। स्फार्य में द्वैराज्य की प्रथा थी। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी उल्लेख किया है। उसी द्वैराज्य प्रणाली का ज्वलंत उदाहरण हमें चष्टन और रुद्रदामन की राज्य प्रणाली में मिलता है। अन्धी अभिलेख में चष्टन के साथ जयदाम के पुत्र रुद्रदामन को क्षत्रप के रूप में उल्लिखित किया गया है। इसमें यह स्पष्ट होता है कि चष्टन के पुत्र जयदाम की अपने पिता के जीवन काल में ही मृत्यु हो गई थी। अतः चष्टन ने अपने जीवन काल में ही अपने पौत्र रुद्रदामन को क्षत्रप बना दिया था।

इसका

—

तिथि अन्धौ-अभिलेख की तिथि 52 शक सवंत् अर्थात् 130 ई. है। इस समय रुद्रदामन चष्टन के साथ सिंहासनासीन था। लेकिन कुछ विद्वानों की मान्यता है कि रुद्रदामन 140 ई. के बाद सिंहासनारुढ़ हुआ था, क्योंकि 140 ई. के लगभग लिखे गए अपने भूगोल में टालमी, उज्जैन के राजा चष्टन का ही उल्लेख करता है। लेकिन ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि टालमी ने भूगोल लिखा है, इतिहास नहीं। संभवतः दोनों शासकों में से उसने वयोवृद्ध शासक चष्टन का नाम लिखना उचित समझा हो। जूनागढ़ अभिलेख रुद्रदामन की



प्रशस्ति है। इस अभिलेख की तिथि 72 शक संवत् अर्थात् 150 ई. है। इससे प्रकट होता है कि रुद्रदामन ने कम-से-कम 150 ई. तक राज्य किया था। रुद्रदामन ने चाँदी की मुद्राएँ निर्मित कराई थी। उसकी समस्त मुद्राओं में उसके लिए श्महाक्षत्रपश की उपाधि का प्रयोग किया गया है। इन मुद्राओं में उसके पिता जयदाम का नाम भी मिलता है। कुछ मुद्राओं पर श्जयदामन पुत्रस्व लिखा है और कुछ पर श्जयदाम पुत्रस्व बाद वाली मुद्राओं पर रुद्रदामन की आकृति वृद्धावस्था की-सी लगती है। इससे अनुमान लगाया जाता है कि उसकी दीर्घकालीन शासन के बाद मृत्यु हुई थी।

कृ

राज्य विस्तार — अन्यौ-अभिलेख से प्रकट होता है कि चष्टन और रुद्रदामन सम्मिलित रूप से कच्छ प्रदेश पर राज्य कर रहे थे। जूनागढ़ अभिलेख में रुद्रदामन को स्ववीर्यजित जनपदों वाला, अर्थात् अपने पराक्रम से राज्यों को जीतकर साम्राज्य का स्थापक और शासक (महाक्षत्रप) कहा गया है। जूनागढ़ अभिलेख से निम्नलिखित प्रदेश रुद्रदामन के राज्य के अन्तर्गत सिद्ध होते हैं आकर

कृ

—

यह पूर्वी मालवा का परिचायक है, जिसकी राजधानी विदिशा (मध्यप्रदेश में) थी।

अवन्ति

—

—

यह पश्चिमी मालवा का प्राचीन नाम था, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। अनूप अनूप देश नर्मदा के किनारे स्थित था और हैहयों का प्रसिद्ध नगर महिष्मती इसकी राजधानी थी। इसलिए अनूप देश हैहय देश भी कहलाता था। अवन्ति के निवासी भी हैहयों की एक शाखा थे। डॉ. सरकार ने इसकी पहचान आधुनिक मान्धाता (नीमाड़ प्रान्त, मध्य प्रदेश) से की है। नीवृत स्कन्द पुराण की कुमारिकाखण्ड देश तालिका में नीवृत को एक मण्डल कहा गया है जिसमें

रु

चार करोड़ गाँव सम्मिलित थे। जूनागढ़ अभिलेख में भी इसका नाम जनपद की तालिका में दिया गया

। यह पश्चिमी भारत में स्थित थी।

आनर्त — उत्तरी गुजरात जिसकी राजधानी द्वारिका थी।

सुराष्ट्र सौराष्ट्र या काठियावाड़ द्व

श्वन इस प्रदेश में खेटक (आधुनिक खेड़ या केरा प्रान्त) भी सम्मिलित था।

मरु

राजस्थान का प्रसिद्ध मारवाड़ देश है, जिसे मरु-मण्डल, मरुभूमि अथवा मरुस्थल भी कहा गया है। जल और वनस्पति की कमी के कारण ही इसका यह नाम पड़ा।

कच्छ यह प्राचीनकाल में कच्छेल्ल कहलाता था। यह आधुनिक कच्छ ही है।

सिन्धु- सौवीर सिन्धु की निचली घाटी ।

कृ

कुकुर सिन्धु और पारियात्र पर्वत के बीच स्थित भूखण्ड है जिसमें राजपूताना और उत्तरी गुजरात के कुछ भाग सम्मिलित थे।

अपरान्त दत्तरी कोंकणा

निषाद इन्हें विन्ध्य पर्वत का निवासी कहा गया है। डॉ. राय चौधरी पश्चिमी विन्ध्य और सरस्वती की घाटी में स्थित बताते हैं। इससे रुद्रदामन का समुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर आधिपत्य सिद्ध होता है।

इन प्रदेशों में सुराष्ट, कुकुर, अपरान्त और अनूप के प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णी के अधीन थे। अतः स्पष्ट है कि रुद्रदामन ने उन्हें गौतमीपुत्र के किसी उत्तराधिकारी से जीता होगा।

यौधेय – पराभव जूनागढ़ अभिलेख में बताया गया है कि रुद्रदामन ने उन यौधेयों को पराजित किया जिन्हें समस्त क्षत्रियों ने अपना बीर मान लिया था। इसलिए जो अपने को अजेय मानते हुए उद्धत स्वभाव के हो गए थे, रुद्रदामन ने बलपूर्वक उनका उन्मूलन किया। यौधेय एक प्राचीन प्रसिद्ध गण जाति थी, जिसने इतिहास में अपनी भूमि भक्ति और सैन्य शक्ति से विदेशियों के विरुद्ध युद्ध करते हुए अपने देश की रक्षा की थी। सिक्कों के आधार पर यह माना जाता है कि उन्होंने कुषाणों के विरुद्ध एक संघ बनाया था। इस अभिलेख के इस कथन से, कि सभी क्षत्रियों ने उन्हें अपना नेता चुना था, सिद्ध होता है कि उनका (यौधेयों का) तत्कालीन राजनीतिक जीवन में कितना महत्त्व था।

में

दक्षिणापथपति की पराजय जूनागढ़ अभिलेख में बताया गया है कि रुद्रदामन ने दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णी को युद्ध में दो बार पराजित किया, परन्तु सम्बन्ध की निकटता के कारण उसके प्राण नहीं लिए। इस युद्ध में रुद्रदामन ने शातकर्णी को पराजित कर यश प्राप्त किया। जिस शातकर्णी को प्रत्यक्ष युद्ध दो बार पराजित कर सम्बन्ध की निकटता के कारण जान से नहीं मारा था, वह शातकर्णी कौन था? डॉ. डी. आर. भण्डारकर का मत है कि यह शातकर्णी स्वयं गौतमीपुत्र शातकर्णी था। परन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जाता, क्योंकि



अनेक अभिलेख और मुद्राओं से प्रमाणित होता है कि गौतमीपुत्र ने स्वयं क्षहरातों को पराजित किया था। इसके अतिरिक्त वाशिष्ठापुत्र पुलुभावी के शासन के 19वें वर्ष तक गौतमीपुत्र शातकर्णी अपनी शक्ति के शिखर पर था। इसलिए उसकी पराजय का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। रैप्सन महोदय का मत है कि पराजित सातवाहन नरेश वाशिष्ठी पुत्र पुलुभावी था। अपने मत की पुष्टि करते हुए वे कहते हैं कि पुलुभावी के समय में सातवाहन राज्य संकुचित हो गया था, इसीलिए वाशिष्ठी

पुत्र के

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

181

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

182

शासनकाल के 19 वें वर्ष के अभिलेख में उसे मात्र श्दक्षिणापथेश्वरश कहा गया है। जूनागढ़ अभिलेख भी पराजित शक नरेश को श्दक्षिणापथपतिश कहता है। इसके अतिरिक्त रैप्सन महोदय ने कन्हेरी – अभिलेख की सहायता ली है। इस अभिलेख में उल्लिखित है कि वाशिष्ठी पुत्र श्रीशातकर्णी ने महाक्षत्रप रुद्र की पुत्री के साथ विवाह किया था। रैप्सन महोदय का कथन है कि वाशिष्ठी पुत्र श्रीशातकर्णी सातवाहन नरेश वाशिष्ठीपुत्र पुलुभावी था और महाक्षत्रप रुद्रदामन था। इस दामाद – श्वसुर के निकट सम्बन्ध को ध्यान में रखकर ही रुद्रदामन ने पुलुभावी का विनाश नहीं किया था। परन्तु रैप्सन महोदय के मत में भी अनेक दोष हैं, अतः रैप्सन का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। कुछ विद्वान पराजित शातकर्णी को वाशिष्ठी पुत्र पुलुभावी का कोई उत्तराधिकारी मानते हैं। परन्तु उसे गौतमीपुत्र शातकर्णी को कोई उत्तराधिकारी मानना अधिक न्यायसंगत होगा। क्योंकि गौतमीपुत्र शातकर्णी के पश्चात् ही सातवाहन राज्य का क्षय हुआ था। अतः पराजित नरेश गौतमीपुत्र का ही कोई उत्तराधिकारी रहा होगा। डॉ. राय चौधरी के अनुसार कन्हेरी अभिलेख का वाशिष्ठा पुत्र श्रीशातकर्णी, वाशिष्ठीपुत्र पुलुभावी का कोई पूर्वगामी भाई रहा होगा।

इन विजयों के अतिरिक्त रुद्रदामन को शत्रुओं को पराजित करने वाला बताया गया है। उसने अन्य भ्रष्ट राज्यों को भी प्रतिष्ठापित किया था। समुद्रगुप्त के समान उसने सम्भवतः पराजित राजाओं को अपना वंशवर्ती बनाकर फिर से प्रस्थापित कर दिया था। भ्रष्ट राज्यों से केवल उसके द्वारा ही पराजित राजाओं को स्थापित करने का तात्पर्य नहीं है। यहाँ सामान्य रूप से उन सभी राजाओं का उल्लेख है जो किसी दूसरे के द्वारा भी राज्य— च्युत किए गए हों। महाभारत में दान—धर्म का वर्णन करते हुए, विशेषकर – पृथ्वी – दान

— का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य राज्य से भ्रष्ट हुए राजा को फिर से राजसिंहासन पर बैठा देता है उसका स्वर्गलोक में निवास होता है तथा वह वहाँ बड़ा सम्मान पाता है। प्राचीन सम्राट भूमि दान को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। महाभारत में इसका महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि जो राजा अपने शस्त्रों से आसमुद्र पृथ्वी को जीतकर दान देता है उसकी कीर्ति संसार में लोग उस समय तक गाते रहते हैं जब तक कि पृथ्वी स्थित रहती है। जूनागढ़ अभिलेख में भी कहा गया है कि रुद्रादामन धर्मकीर्ति को बढ़ाना चाहता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि शक महाक्षत्रप रुद्रादामन प्रथम की बहुमुखी प्रतिभा, प्रज्ञा और पराक्रम के द्वारा स्थापित कीर्ति तत्कालिक राजनैतिक इतिहास में उसी प्रकार प्रसिद्ध हो गई जैसी कि उस युग के अन्य महान शासकों खारवेल और गौतमीपुत्र शातकर्णी की प्रतिष्ठा थी। परन्तु कुछ बातों में यह उनसे बढ़कर भी था और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह थी कि उसने एक विदेशी होते हुए

भी भारतीय संस्कृति, समाज, साहित्य और धर्म का संवर्धन किया। उसने अपने विजित राज्य को उदार शासन-व्यवस्था द्वारा संगठित किया और इसीलिए यह राज्य अन्ततः समकालीन शक्तियों से संघर्ष करता हुआ उस समय तक बचा रहा जबतक कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य को स्वयं ही उनके विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा और यदि रामगुप्त की ऐतिहासिकता स्वीकार करें तो रुद्रादामन के पौत्र, प्रपौत्र आदि उसके वंशजों ने समुद्रगुप्त के यश को रामगुप्त के अल्पशासनकाल में धूलि — धूसरित कर दिया।

शासन-प्रबन्ध — जूनागढ़ अभिलेख में कहा गया है कि वह (रुद्रादामन) जन्म से लेकर राजत्व की प्राप्ति तक राजगुणों और लक्षणों से विभूषित था, इसलिए सभी वर्णों के लोगों ने अपनी रक्षा के लिए उसे अपना स्वामी (राजा) चुना था। इससे उसकी लोकप्रियता का पता चलता है। उसके साम्राज्य में विभिन्न जनपदों, नगरों और निगमों के लोग दस्युओं, सर्पों, हिंसक पशुओं और रोगों से मुक्त थे तथा सम्पूर्ण प्रजा उससे अनुरक्त थी। इस जनानुराग का साक्ष्य इसी बात से मिलता है कि सुदर्शन झील की मरम्मत उसने अपने ही कोष से, प्रजा पर बिना कोई कर लगाये, प्रजा के ही सुख और समृद्धि के लिए करवायी थी। इस प्रकार रुद्रादामन प्रजावत्सल जनप्रिय शासक था।

किसी भी राज्य के शासन की सफलता उसके राजकोष की समृद्धि पर निर्भर करती है। रुद्रादामन का कोष सोना, चाँदी, वज्र, वैदूर्य, रत्न और अन्य बहुमूल्य वस्तुओं से भरा हुआ था, जिसे उसने न्याय से धर्मानुसार प्राप्त किया था। इन्हें बलि, शुल्क भाग रूप में प्राप्त किया था। इस प्रकार उसका कोष शईप्सित द्रव्य (आवश्यक सम्पत्ति और सामग्री) से परिपूर्ण था। कामन्दकीय नीतिसार में भी कोष को मुक्ता, कनक, रत्न आदि से भरा हुआ, पूर्वजों द्वारा प्राप्त तथा धर्मार्जित बताया गया है। कोष की सम्पदा विभिन्न प्रकार के करों (बलि, शुल्क, भाग) पर आधारित थी। बलि सम्भवतरु कर का परिचायक है। भाग राजा का प्रजा को सम्पदा (धान्य) के छठे भाग का परिचायक है। शुल्क भी एक प्रकार

प्राचीन भारतीय इतिहास

का राजदेय कर था । प्राचीन हिन्दू व्यवस्था का सिद्धान्त है कि कर नीति अत्यन्त उदार होनी चाहिए ।

एक विजेता होने के साथ-साथ रुद्रदामन अच्छा प्रशासक भी था । उसने अपने विशाल साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में बाँट रखा था और प्रत्येक प्रान्त में अपने अमात्य नियुक्त कर रखे थे । रुद्रदामन को शासन पद्धति में सचिवों और अमात्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान था । शासन में सहायता देने के लिए मतिसचिव (परामर्शदाता) और कर्म सचिव (कार्यकारी अधिकारी) नियुक्त थे । ये सचिव अमात्य गुणों से युक्त थे । इस प्रकार रुद्रदामन के शासन में श्मन्त्रि सम्पद्श का भी महत्त्व था । रुद्रदामन की शासन पद्धति प्रचलित प्राचीन सप्तांग राज्य-व्यवस्था थी ।

राज्य की समृद्धि के लिए सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध किया गया था । चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में उज्जयत अथवा रैवतक (गिरनार) की पहाड़ियों से निकलने वाली सुवर्णसिकता और पलाशिनी नदियों के पानी को रोक कर सुदृढ़ सुदर्शन झील का निर्माण किया गया था और अशोक के समय इसमें से नहरें निकाली गई थीं । परन्तु दुर्भाग्य से रुद्रदामन के राज्य काल में यह झील या बौध्भीषण वर्षा से टूट गया था । रुद्रदामन ने इसके महत्त्व को जानते हुए उसकी मरम्मत कराई और इसको और भी अधिक सुदृढ़ बनवा दिया ।

—

व्यक्तित्व और चरित्र किसी भी शासक की श्रेष्ठता का कारण उसका व्यक्तित्व और चरित्र होता है । शक क्षत्रपों में रुद्रदामन सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि उसके लेख और मुद्राएँ बहुलता से प्राप्त होती हैं । उसकी सबसे प्रसिद्ध लिपि जूनागढ़ अभिलेख है । जूनागढ़ अभिलेख में बताया गया है कि वह गुरुओं के सम्पर्क में आया था और उन्होंने ही उसे रुद्रदामन की संज्ञा दी थी । यद्यपि गुरुओं का अर्थ पिता व पितामह भी हो सकता है, किन्तु उसका यह नाम उसके पूर्वजों के नामों (चष्टन, जयदाम) की तरह न होकर संस्कृत नाम हैं । अतः सम्भव है कि यहाँ गुरुओं से तात्पर्य उसके आचार्यों और शिक्षकों से ही है । इसी लेख में उसे शब्दार्थ संगीत, न्याय आदि विद्याओं में कुशल होने के कारण यशस्वी कहा गया है । शब्दार्थ से तात्पर्य शब्द — शास्त्र और अर्थ — शास्त्र से भी हो सकता है । शब्दार्थ के प्रयोग से उसका काव्याभ्यास और काव्य-प्रतिभा का परिचय मिलता है । इसी लेख में उसे विविध शब्द और अलंकारों से युक्त गद्य-पद्य काव्य विधान में प्रवीण कहा गया है । उसकी वाणी संगीत व व्याकरण के नियमों से परिबद्ध तथा शुद्ध थी । इससे सिद्ध होता है कि वह गान्धर्व विद्या में भी प्रवीण था ।

जूनागढ़ अभिलेख प्रथम संस्कृत का अभिलेख है, जिससे हमें उस युग के संस्कृत गद्य-काव्य के स्वरूप का दर्शन होता है । अतः इसका न केवल राजनैतिक महत्त्व ही है वरन् उसका साहित्यिक महत्त्व भी है । सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि एक शक होते हुए भी उसके शासनकाल में भारतीय संस्कृति के मूलांकुर संस्कृत का रूप पहली बार उन्नत हुआ । सुदर्शन झील के लेख में संस्कृत के अभिमण्डित प्रवाह से उस युग में संस्कृत भाषा और काव्य की उन्नति का पता

चलता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि रुद्रदामन विद्या का कितना उन्नायक था।

जूनागढ़ अभिलेख में बताया गया है कि उसने घोड़े, हाथी और रथ विद्याओं में भी कुशलता प्राप्त की थी। असि चर्म (ढाल-तलवार) के युद्ध में भी यह कुशल था। इसी रणदक्षता के कारण वह शत्रुओं का नित्य पराभव कर रहा था। उसकी सेना राज्य का महत्वपूर्ण अंग थी, जिसकी कुशलता पर शासन की सफलता और राज्य की सुरक्षा निर्भर करती है। रुद्रामन प्रथम कुशल सेनानायक था, जो रण-विद्या में भी दक्ष था। वह विजेता अवश्य था, लेकिन निरर्थक हत्या करना उसे रुचिकर नहीं था। उसने युद्ध

के अतिरिक्त अन्यत्र नर-हत्या न करने की प्रतिज्ञा की थी।

उसके व्यक्तित्व और चरित्र में शिक्षा और विद्या का यह वांछनीय प्रभाव ही था कि उसमें धर्म के प्रति अनुराग था। गौ-ब्राह्मण की रक्षा अथवा उन्नति के लिए उसने धर्म कीर्ति का विस्तार किया था। उसका धार्मिक अनुराग इस तथ्य से भी प्रमाणित होता है कि उसने निरर्थक नर हत्या न करने की प्रतिज्ञा की थी। उसके चरित्र में दया का महत्वपूर्ण स्थान था, जिसके कारण शरण में आये हुए लोगों को शरण देता था और उसकी रक्षा करता था। जूनागढ़ अभिलेख में कहा गया है कि उसके पौरुष पराक्रम तथा

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

183

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

रूप- क्रान्ति का प्रमाण इस बात से भी प्राप्त होता है कि उसने स्वयंवरों में अनेक राजकन्याओं को प्राप्त कर अपनी शक्ति, शौर्य और सौन्दर्य से राजसभा को प्रभावित किया और फलस्वरूप वहीं उसको मालाओं से विभूषित किया गया।

यलमी के कषानुसार रुद्रदामन के पितामह चष्टन के राज्य की राजधानी उज्जयिनी थी। कदाचित् रुद्रदामन की भी यह राजधानी थी। उसके शासनकाल में उज्जयिनी का सभी दृष्टियों से विकास हुआ। रुद्रदामन के बाद चष्टन वंश में उसका पुत्र दामघसद (दामोजद श्री) प्रथम शासक बना और इसके पश्चात् जीवदामन शासक बना। इस वंश का अन्तिम राजा रुद्रसिंह तृतीय था। इसी काल में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उस पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। इसके साथ ही चष्टन वंश का अन्त हो गया।

शक भारत में विदेशी आक्रमणकारियों के रूप में आए थे, किन्तु यहाँ आने के बाद वे भारतीय जनजीवन में घुल मिल गए। यहाँ रहते हुए उन्होंने भारतीय आचार-विचार, धर्म और रहन-सहन को अपना लिया और यहाँ के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। इस प्रकार वे भारतीय समाज के अंग बन



गए।

पहलव (पार्थियन)

पहलव भी मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् बाहर से भारत में आक्रमणकारियों के रूप में आने वाली एक जाति थी। ये सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस के सीरियाई साम्राज्य के एक भाग शपार्थियाश के निवासी थे। जिस समय बेक्ट्रिया या सीरियाई साम्राज्य अलग हुआ था उसी समय पार्थिया भी स्वतन्त्र हो गया था। स्वतन्त्र पार्थिया का पहला शासक मिथ्रेडेटस था। उसके नेतृत्व में ही शपहुवोंश ने सबसे पहले भारत पर आक्रमण किया और यूनानी (बेक्ट्रियन) शासक डेमेट्रिअस की सेना को परास्त कर सिन्धु और झेलम के बीच के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार, भारत में उनका राज्य कायम हुआ।

पहलवों के भारतीय राज्य का पहला स्वतन्त्र शासक श्वोनेजीजश था। वह तक्षशिला के शक शासक मावेज का समकालीन था। उसका सीस्तान एवं दक्षिणी अफगानिस्तान पर भी अधिकार था। चोनेजीज ने श्महाराज रजरस महतसश (महाराजाधिराज) की उपाधि धारण की थी। वोनेजीज के बाद स्पैलिरिसिस शासक बना। किन्तु पहलवों के भारतीय राज्य का सबसे प्रतापी राजा श्गोण्डोफर्जीजश था। इसने भारत में अपने राज्य की शक्ति का खूब विस्तार किया। उसका राज्य पूर्वी फारस से लेकर भारत में पूर्वी पंजाब तक विस्तृत था। उसकी राजधानी गान्धार थी। शायद वह 19 ई. में सिंहासन पर बैठा और लम्बे समय तक शासन किया द्य कहा जाता है कि ईसाई धर्म प्रचारक रामस इसी के शासनकाल में भारत आया था।

गोण्डोफर्नीज के बाद पहलवों का राज्य दो भागों में विभाजित हो गया और राज्य के विभिन्न भागों में नियुक्त गवर्नर स्वतन्त्र होने लगे। उनकी शक्ति धीरे-धीरे कमजोर होने लगी। लगभग इसी समय कुषाणों के भारत पर आक्रमण हुए और उन्होंने पहलवों के राज्य का अन्त कर अपना अधिकार जमा लिया। यूनानियों और शकों की भाँति पहलव भी भारतीय समाज में घुल-मिल गए और यहाँ की भाषा, धर्म आदि को अपनाकर भारतीय समाज के अंग बन गए।

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

सारांश (नउउंतल)

किसी भी राज्य के शासन की सफलता उसके राजकोष की समृद्धि पर भिन्न करती है। राजकोष सोना, चाँदी, बज्र, वैदूर्य, रत्न, और अन्य बहुमूल्य वस्तुओं से भरा हुआ होता है। कामन्दकीय नीतिसार में भी कोष को मुक्ता, कनक, रत्न आदि से भरा हुआ, पूर्वजों द्वारा प्राप्त तथा धर्मार्जित बताया गया

द्य कोष को सम्पदा विभिन्न प्रकार के करों (बलि, शुल्क, भाग) पर आधारित थी। बलि सम्भवतः कर का परिचायक है भाग राजा का प्रजा की सम्पदा के छोटे भाग का परिचायक है। शुल्क भी एक प्रकार का राज देय कर था।

184

स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

कृ
कृ
श्र

1. सातवाहनों की जाति कण्व वंश के अन्तिम शासक सुशर्मा के समय एक सातवाहन वंशी सामन्त शासक शसिमुक ने मगध पर आक्रमण कर अपना अधिकार कायम कर लिया। कण्व वंश को समाप्त कर मगध पर अधिकार करने वाले सातवाहन कौन और किस जाति के थे, इस विषय पर इतिहासकारों में भारी मतभेद है। पुराणों में सातवाहनों को आन्ध्र जातीय कहा गया है। इसलिए सातवाहन वंश को आन्ध्र-वंश भी कहा जाता है। किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में आन्ध्रों को अनार्य लिखा गया है। अतः कुछ विद्वान् सातवाहनों को अनार्य जाति से सम्बन्धित मानते हैं। सेनार तथा न्यूलर आदि विद्वान् एक अभिलेख के आधार पर सातवाहनों को ब्राह्मण बताते हैं। किन्तु डॉ. डी. आर. भण्डारकर तथा डॉ. के. गोपालाचारी आदि इतिहासकार सातवाहन को क्षत्रिय मानते हैं। डॉ. हेमचन्द्रराय चौधरी का कथन कि सातवाहन नाग तथा ब्राह्मणों का मिश्रित रक्त वाला कुल था। इस प्रकार, सातवाहनों की जाति के बारे में कोई एक निश्चित मत नहीं होने से यह प्रश्न अभी विवाद का विषय ही बना हुआ है।

—

2. भारत में शक क्षत्रपों के मुख्य केन्द्रों को चार भागों में बाँटा जाता है (1) उत्तरी भारत के क्षत्रप, (2) पश्चिमी भारत के शक — क्षहरात, (3) मथुरा के क्षत्रप, और (4) उज्जयिनी के क्षत्रप

स्वपरीक्षण करें (जमेज ल्वनतेमसर्)

1. शुंग कौन थे? पुष्यमित्र शुंग की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।

2. पुष्यमित्र शुंग के जीवनकाल की प्रमुख घटनाओं का वर्णन करते हुए बौद्ध धर्म के प्रति उसकी नीति स्पष्ट कीजिए।

3. सातवाहन कौन थे? गौतमीपुत्र शातकर्णी की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।

4. गौतमीपुत्र शातकर्णी की विजयों एवं साम्राज्य विस्तार का विवेचन करते हुए उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन कीजिए।

5. इण्डो-यूनानी शासकों के बारे में आप क्या जानते हैं? भारतीय संस्कृति पर उनके प्रभाव की समीक्षा कीजिए।

6. शक कौन थे? शक राजा रुद्रदामन की उपलब्धियों की विवेचना कीजिए। प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

इकाई 9 कुषाण वंश

कुषाणों का प्राचीन इतिहास, सम्राट कनिष्क, कनिष्क की दिग्विजय, कनिष्क का साम्राज्य

☐ कनिष्क का धर्म, बौद्ध संगीति, महायान सम्प्रदाय का विकास, गान्धार – कला मथुरा कला – शैली, कनिष्क के उत्तराधिकारी, कुषाण साम्राज्य का पतन अध्ययन उद्देश्य रू

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

- ☐ कुषाणों का प्राचीन इतिहास छ
- ☐ कनिष्क साम्राज्य, गान्धार कला ।
- ☐ कुषाण साम्राज्य का पतन और उसके कारण ।

परिचय (पूजितवकनबजपवद)

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद भारत पर विदेशियों के आक्रमण शुरू हो गए थे। इन विदेशी आक्रमणकारियों में यूनानी, शक, पल्लव थे, जिन्होंने भारत में अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिए थे। विदेशी आक्रमणकारियों में कुषाणों का स्थान प्रमुख था, जिन्होंने भारत में न केवल विशाल साम्राज्य स्थापित किया, बल्कि उन्होंने देश की राजनीति पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा तथा कला के विकास और धार्मिक जीवन में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस कारण भारतीय इतिहास में कुषाण वंश का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

कुषाण कौन थे? इस विषय में विद्वानों में तीव्र मतभेद है। एफ. डब्ल्यू. टामस के मतानुसार कुषाण तुर्क अथवा मंगोल नहीं थे बल्कि शर्को अथवा सीधियनों को ही किसी शाखा से सम्बन्धित थे। उन्होंने अपने मत के समर्थन में तर्क दिया है कि शकों व कुषाण शासकों के नामों के अन्तिम दो अक्षर से समानता प्रतीत होती है, अतः कुषाण, शक ही रहे होंगे। इसी तरह हूल्स व केनेडी आदि विद्वान कुषाणों को तुर्क व कुछ अन्य विद्वान् उन्हें मंगोलिया का निवासी मानते हैं। परन्तु आधुनिक विद्वान् इन विचारों से सहमत नहीं हैं तथा कुषाणों को पश्चिमी चीन में गोबी प्रदेश में रहने वाली यूहची जाति से सम्बन्ध मानते हैं। यह मत सर्वाधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

—

कुषाणों का प्राचीन इतिहास कुषाणों के प्राचीन इतिहास का विवरण हमें चीनी-ग्रन्थों में मिलता है। चीनी इतिहासकारों के अनुसार कुषाण लोग यूहची

जाति की शाखा के थे और उत्तर-पश्चिम चीन के कानसू नामक प्रान्त में रहते थे। हूणों ने यूहची के शक्तिशाली कबीले को पराजित कर पश्चिम चीन से निर्वासित कर दिया। तत्पश्चात् यह जाति अनेक खानाबदोश जातियों से संघर्ष करती हुई बेक्ट्रिया और आक्सस नदी की घाटी में बस गई, जिसको उसने शकों से जीता था। किन्तु अपने इस नवीन आवास में यह जाति अधिक समय तक नहीं ठहर सकी क्योंकि यू-सुन जाति ने उनको वहाँ से खदेड़ दिया। विवश होकर वे आक्सस नदी पार कर ताहिया या तुषार प्रदेशों में प्रविष्ट हुए, जहाँ के अधिकांश निवासी व्यापारी थे और उनमें न तो दृढ़ राजनीतिक संगठन था और न उनकी प्रवृत्ति युद्ध करने की थी। फलस्वरूप उन्होंने युची जाति की अधीनता स्वीकार कर ली। यहाँ पर रहते हुए यूहची लोगों ने अपनी शक्ति संगठित की तथा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में अपने घुमक्कड़ जीवन का परित्याग कर स्थायी जीवन व्यतीत करना आरम्भ दिया। इस समय यूहची जाति पाँच भागों में विभक्त हो गई और प्रत्येक के ऊपर एक ही हू (साहू या साही) शासन करता था। ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ में कुएई- शुआंग का राज्य कृषाण नामक साही या सरदार को मिला। इसने शेष राज्यों को पराजित कर उन्हें अपने अधीन कर लिया और एक विशाल राज्य का निर्माण किया। कृषाण की अधीनता में हो जाने पर समस्त यूहची जाति को कृषाण कहा जाने लगा। किन्तु जैसा कि ऊपर बताया गया है कि कुछ विद्वानों की मान्यता है कि कृषाण शकों की शाखा थी। परन्तु अधिकांश विद्वान् उन्हें यूहची जाति की एक शाखा मानते हैं।

सम्भव है शकों का रक्त उनमें मिश्रित हो गया हो। जिस कृषाण ने विशाल राज्य का निर्माण किया उसका नाम कुजुल कदफिस (ज़नरनसं झीकचीपेमे) था। कुजुल कदफिस के नेतृत्व में कृषाण जाति में एक दृढ़ राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो गई। कदफिस एक वीर योद्धा और कुशल नेता था। अपनी शक्ति संगठित करने के बाद उसने अपने घोड़े की बाग भारतीय सीमा की ओर मोड़ी। उसने हिन्दुकुश पार किया और पार्थियन प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया। काबुल में जिस ग्रीक सत्ता का सिक्का जमा हुआ था उसे कदफिर ने उखाड़ फेंका। उसने दक्षिण अफगानिस्तान को भी जीत लिया। उसने जिस साम्राज्य की स्थापना की वह आक्सस नदी से लेकर सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। उसके साम्राज्य में बेक्ट्रिया, सम्पूर्ण वर्तमान अफगानिस्तान, ईरान का पूर्वी छोर तथा भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रदेश के परवर्ती क्षेत्र सम्मिलित थे। उसने महाराज, महन्त तथा महाराजाधिराज की उपाधियाँ धारण की थीं। इससे स्पष्ट है कि भारतीय प्रजा ने उसके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला और काफी अंशों तक वह भारतीयता के रंग में रंग चुका था। उसका उत्तराधिकारी वेम कदफिस (मउम झीकचीपेमे) अथवा कदफिस द्वितीय हुआ। कदफिस द्वितीय ने अपने पिता से प्राप्त

प्राचीन भारतीय इतिहास

छठवै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

छछ

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

135



हुए राज्य का विस्तार किया। भारत में उसने सम्पूर्ण पंजाब और संभवतया पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मथुरा और कुछ विद्वानों के अनुसार बनारस तक के क्षेत्र को जीत लिया था। डॉ. आर. एस. त्रिपाठी के अनुसार, उसके सिक्के के सुविस्तृत प्रचलन और महाराजा राजाधिराज जनाधिय ऐसे उसके समुन्नत विरुद्धों से प्रमाणित होता है कि उसका अधिकार सिन्धु नदी के पूर्व पंजाब और सम्भवतः संयुक्त प्रान्त के ऊपर भी था। वह अपने भारतीय प्रान्तों पर प्रतिनिधि शासक द्वारा शासन करता था। ताँबे के वे सिक्के जो साधारणतः शनामरहित राजा के बताये जाते हैं और जो उत्तर भारत के अनेक भागों में आमतौर पर पाये जाते हैं, इसी शासक के चलाये कहे जाते हैं। वस्तुतः वह प्रथम कुषाण सम्राट था जिसके साम्राज्य की सीमाएँ चीन और रोम के साम्राज्यों से मिलती थीं। उसके सिक्कों पर शिव, नन्दी त्रिशूल आदि की आकृतियाँ मिलती हैं। इससे ज्ञात होता है कि वह हिन्दू शैव सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसकी अनेक स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त होती हैं जो उसने रोम से प्राप्त होने वाले सोने से बनवायी थी। इस वंश का तीसरा महान शासक कनिष्क हुआ, जिसको प्राचीन भारत के महान सम्राटों में गौरवशाली स्थान प्राप्त है।

सम्राट कनिष्क

सम्राट कनिष्क एक महान भारतीय सम्राट था। वह कुषाण वंश का सबसे प्रतापी और प्रभावशाली सम्राट था। कनिष्क के राज्यारोहण तक कुषाण भारतीय समाज और संस्कृति के अंग बन चुके थे। कदफिस द्वितीय के समय कनिष्क, कुषाणों के पूर्वी भारतीय साम्राज्य का प्रान्तपति अथवा क्षेत्रपति था। उत्तर प्रदेश से प्राप्त सिक्कों से यह सिद्ध होता है कि कनिष्क कुषाण साम्राज्य के पूर्वी भाग का क्षेत्रपति था। कदफिस द्वितीय की

मृत्यु के बाद विभिन्न क्षेत्रों में संघर्ष हुआ और उसमें कनिष्क विजयी रहा। इस प्रकार आरम्भ से ही कनिष्क का सम्बन्ध भारत से रहा था और उसने अपने साम्राज्य का विस्तार भी उत्तर प्रदेश से प्रारम्भ किया। इसलिए उसे एक भारतीय सम्राट मानने में हमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। कनिष्क ने भारत में एक बार पुनः साम्राज्य का निर्माण किया था।

कनिष्क की तिथि कनिष्क की तिथि निर्धारण की समस्या प्राचीन भारतीय इतिहास की जटिल समस्याओं में से एक है। कनिष्क की तिथि के बारे में विभिन्न विद्वानों में मतभेद है और आज भी विद्वान् किसी एक सर्वसम्मत निर्णय पर नहीं पहुँच पाये हैं। डॉ. फ्लीट का मत है कि कनिष्क ने दोनों कदफिसों (कुजुल कदाफिस और वेम कदफिस) के पहले शासन किया था और उसने जो

नये संवत् का प्रचलन किया वह कालान्तर में विक्रम संवत् नाम से विख्यात हुआ। कनिंघम, डाउसन तथा फ्रांके ने इस मत का समर्थन किया था। किन्तु मार्शल ने बड़ी योग्यता से ठोस तर्कों के आधार पर इस मत का खण्डन किया 137रू मार्शल की खोजों के बाद फ्लीट के मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। मार्शल तथा स्मिथ के अनुसार कनिष्क का शासन लगभग 125 ई. पू. अथवा 144 ई. सन् के प्रारम्भ में हुआ और ईसा की द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाप्त हुआ था। किन्तु डॉ. राय चौधरी ने इस मत का खण्डन किया है। फरग्यूसन, टामस बनर्जी, रैप्सन आदि अनेक विद्वानों के अनुसार कनिष्क ने 78 ई. वाले इस संवत् की स्थापना की थी जिसका नाम बाद में शक संवत् पड़ा। अधिकांश आधुनिक विद्वान् कनिष्क संवत् का समीकरण शक— काल के साथ करते हैं। डॉ. डी. सी. सरकार का कथन है कि यदि कनिष्क संवत् का समीकरण शक— काल के साथ स्वीकार कर लिया जाय तो कनिष्क ने 78 ई. सन् से लेकर 101 या 102 ई. तक शासन किया। डॉ. सरकार का मत है कि कनिष्क कदफिस द्वितीय के बाद, किन्तु बहुत बाद नहीं हुआ था। चूँकि कदफिस द्वितीय का शासनकाल, जिसने अपने पिता के बाद लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी के मध्य में सिंहासन प्राप्त किया था, स्थूल रूप से 65—75 ई. के मध्य निश्चित किया जाए तो कनिष्क की तिथि को प्रथम शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश के बाद नहीं रखा जा सकता। प्रोफेसर एन. एन. घोष ने इसी मत को स्वीकार करते हुए कनिष्क की तिथि 78 ई. निर्धारित की है। इसी मत का समर्थन करते हुए डॉ. आर. एस. त्रिपाठी ने लिखा है कि, इस अनन्त वाद—विवाद के बावजूद भी हमें कनिष्क द्वारा 78 ईसव के शक संवत् का संचालन सही जान पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसने एक संवत् चलाया था, क्योंकि उसकी गणना पद्धति उसके उत्तराधिकारियों द्वारा भी प्रयुक्त हुई और भारत में प्रचलित हम किसी अन्य संवत् को नहीं जानते जिसका आरम्भ उस दूसरी शती ईसवी के प्रथम चरण में हुआ था जो तिथि कनिष्क के राज्यारोहण के सम्बन्ध में दी जाती है। इसके अतिरिक्त यदि प्रथम शती ईसवी के तृतीय चरण के मध्य के लगभग कुजुल कडफाइसिस (कदफिस) मरा तब कनिष्क उस तिथि से बहुत दूर नहीं हो सकता, क्योंकि अस्सी वर्ष तक जीवित रहने के कारण वेम कडफाइसिस (कदफिस) का शासन अल्पकालिक ही रहा होगा। इस प्रकार अधिकांश आधुनिक विद्वानों का मत है कि कनिष्क का राज्यारोहण लगभग 78 ई. में हुआ था। इस तिथि के सम्बन्ध में जो विवादजनक प्रश्न उठाये गए हैं उनका निराकरण भी डॉ. सरकार ने किया है।

कनिष्क की दिग्विजय कनिष्क अत्यन्त ही महत्वाकांक्षी शासक था। वह अपने पिता और पितामह द्वारा स्थापित साम्राज्य को और अधिक विस्तृत करना चाहता था अतः उसने दिग्विजय करने का निश्चय किया। उत्तर, दक्षिण और पूर्व तीनों दिशाओं में उसने अनेक युद्ध जीते, जिससे उसके साम्राज्य का अत्यधिक विस्तार हुआ। सर्वप्रथम उसने काश्मीर की सुन्दर घाटी को अपने राज्य का अंग बनाया। काश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण का कथन है कि कनिष्क

प्राचीन भारतीय इतिहास

के द्वारा काश्मीर में कई नगरों की स्थापना की गई। महत्वाकांक्षी कनिष्क ने पश्चिम में पार्थियन नरेश को परास्त किया। कनिष्क के पूर्व कुजुल कदफिस ने भी पार्थियन राजा को पराजित किया था। सम्भवतरु इसीलिए अपनी पराजय का बदला लेने के लिए पल्लव राजा ने कनिष्क के शासन काल के आरम्भ में ही जबकि कनिष्क अपने राज्य का ठीक तरह से संगठन भी न कर पाया था, आक्रमण कर दिया, किन्तु पहुँचों को कनिष्क के हाथों पराजित होना पड़ा और इस बार फिर उनको विजेता के सामने अपमानित होना पड़ा। चीन, तिब्बत और पंजाब के प्राचीन

—

कृ

—

—

ग्रन्थों के अनुसार कनिष्क ने साकेत और पाटलिपुत्र पर भी अधिकार किया था। कहा जाता है कि साकेत पर अपनी विजय पताका फहराने के बाद उसने पाटलिपुत्र का घेरा डाला और वहाँ के शासक को सन्धि करने हेतु बाध्य किया। इस सन्धि के फलस्वरूप प्रसिद्ध भिक्षु और दार्शनिक कवि अश्वघोष से भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अश्वघोष को वह अपने साथ राजधानी ले गया और वहाँ उसका राजकीय सम्मान किया गया। कनिष्क ने चीन के विरुद्ध भी युद्ध किया। इस युद्ध में पहले तो कनिष्क को असफलता ही हाथ लगी, किन्तु बाद में उसने चीन के सम्राट को अपनी शर्तें मानने के लिए बाध्य कर दिया। इस युद्ध का विवरण हमें बौद्ध अनुश्रुतियों में भी मिलता है। इस विवरण के अनुसार चीन देश का प्रसिद्ध सेनानायक पान — चाऊ बड़ा वीर और सफल विजेता था। ईसा की पहली शताब्दी के अन्तिम भाग में उसने काशगर, यारकन्द और खांतान पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। पड़ोस के राज्यों में उसका आतंक और सिक्का जम गया। कनिष्क जैसा महत्वाकांक्षी शासक पान चाऊ की बढ़ती हुई शक्ति को सहन करने वाला नहीं था। इसके अतिरिक्त कनिष्क को उसकी ओर से अपने राज्य के लिए भी भय था। अतः उसने पान — चाऊ से युद्ध करने का निश्चय किया। उस समय चीन की साम्राज्य सत्ता इतनी दृढ़ और प्रभावशाली थी कि उसे चुनौती देना कोई साधारण कार्य नहीं था। जब पान — चाऊ केस्पियन सागर के तट पर रोमन साम्राज्य की सीमा पर खड़ा था, कनिष्क ने चीनी साम्राज्य की भाँति शदेवपुत्र की उपाधि धारण की और अपना एक भेजकर चीनी राजकुमारी से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। पान चाऊ को यह प्रस्ताव न केवल अपने सम्राट के लिए बल्कि अपने देश के लिये अशोभनीय व अपमानजनक प्रतीत हुआ अतः कनिष्क के लिए युद्ध अनिवार्य हो गया। उसने अपने सेनानायक की अधीनता में 70 हजार घुड़सवारों की एक सुदृढ़ सेना पान चाऊ के विरुद्ध भेज दी। मार्ग में पर्वतीय प्रदेश की कठिनाइयों के कारण कनिष्क की सेना को अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि थकी-माँदी एवं क्षतिग्रस्त सेना जब चीनी सेना से युद्ध करने लगी तो वह बुरी

तरह पराजित हुई। कनिष्क को सन्धि करने को बाध्य होना पड़ा और उसने सन्धि के अनुसार चीनी सम्राट को वार्षिक कर देना स्वीकार किया।

दूत

कृ

कनिष्क को यह सन्धि अत्यन्त कष्टकर प्रतीत हुई, किन्तु वह इस पराजय से निराश होने वाला नहीं था। कनिष्क उपयुक्त अवसर की खोज में बैठा रहा। इधर पान – चाऊ की मृत्यु हो जाने से पास-पड़ोस के राज्यों पर जहाँ चीन की धाक जमी हुई थीय वह कम होने लगी। पान चाऊ का उत्तराधिकारी एवं पुत्र पान – यांग अत्यन्त ही अयोग्य एवं अनुभवहीन था। कनिष्क अब अपनी पराजय का प्रतिशोध ले सकता था। अतः कनिष्क एक विशाल सेना लेकर काश्मीर के मार्ग द्वारा युद्ध के लिए पहुँच गया। इस युद्ध में कनिष्क पूर्ण रूप से सफल हुआ और चीन के सम्राट को वार्षिक कर भेजने के अपमानजनक ऋण से मुक्त हो गया। इतना ही नहीं, उसने यारकन्द, काशगर और खोतान के चीनी प्रदेशों को भी अपने साम्राज्य में

श्र

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

189

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

सम्मिलित कर लिया। कहा जाता है कि जमानत के रूप में उसे दो चीनी राजकुमार भी मिले थे, किन्तु डॉ. आर. एस. त्रिपाठी इस तथ्य को सही नहीं मानते।

र

कनिष्क का साम्राज्य कनिष्क के साम्राज्य में भारत के बाहर अफगानिस्तान, बेक्ट्रिया काशगर, खेतान और यारकन्द निश्चित रूप से उसके राज्य के अन्तर्गत थे। अभिलेखीय साक्ष्यों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि कनिष्क का अधिकार आधुनिक उत्तरप्रदेश, पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा सिन्धु के उत्तर में भागलपुर राज्य पर था। कनिष्क के अनेक लेख मथुरा में प्राप्त होने से उसका मथुरा पर अधिकार स्वतः सिद्ध होता है। चीनी अनुश्रुतियों के आधार पर साकेत और पाटलिपुत्र पर भी उसका अधिकार था। कनिष्क के सिक्के श्रावस्ती, सारनाथ तथा कौशाम्बी से भी प्राप्त हुए हैं और पूर्व में गाजीपुर तथा गोरखपुर तक प्राप्त हुए हैं। इस आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि वाराणसी तक तो अवश्य ही उसका अधिकार था। यद्यपि बंगाल और बिहार में भी कनिष्क के सिक्के प्राप्त हुए हैं तथापि इन प्रान्तों का उसके साम्राज्य में सम्मिलित होना संदिग्ध है। भारतीय सीमा के अन्तर्गत अन्य प्रदेशों पर भी उसके राजनीतिक प्रभाव के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। इस बात के तो निश्चित



प्रमाण हैं कि सिन्ध, राजपूताना, मालवा और काठियावाड़ कनिष्क के राजनीतिक प्रभुत्व में तो नहीं, किन्तु उसके राजनीतिक प्रभाव में अवश्य थे। संभवतः महाराष्ट्र के उत्तरी भाग के शक क्षत्रपों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। ह्वेनसांग के अनुसार गान्धार प्रदेश भी उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। कल्हण की शराजतरंगिणी में काश्मीर में कनिष्क के शासन का उल्लेख मिलता है और बौद्ध अनुश्रुतियों से इसकी पुष्टि होती है। इस प्रकार कनिष्क एक बहुत ही बड़े भू-भाग का स्वामी था।

छछछछ

ग्रन्थ

सांध

सी

विच्यत

कुषाण साम्राज्य,

न

ममज

वर्णि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

190

हिन्द

म हा सागर

शासन प्रणाली – कनिष्क की शासन प्रणाली के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है, किन्तु कुछ स्थूल बातें अवश्य मालूम होती हैं। उसके सारनाथ वाले लेख से उसकी शासन व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि कनिष्क एक योग्य शासन प्रबन्धक था। वह अपने विशाल साम्राज्य का शासन – प्रबन्ध ३ क्षत्रप- शासन व्यवस्था द्वारा करता था। सारनाथ के लेख से विदित होता है कि उसका खरपल्लान नामक महाक्षत्रप संभवतः मथुरा में और क्षत्रप वनस्फर बनारस के समीप पूर्वी प्रान्तों के शासन के लिए नियुक्त था। साम्राज्य के उत्तरी भागों में हम सेना नायक लल, वेशपशि और लियक नामक क्षत्रपों के नाम सुनते हैं। प्रसिद्ध विद्वान स्मिथ का अनुमान है कि महाराष्ट्र का क्षहरातवंशी नहपान और उज्जैन का क्षत्रप चष्टन संभवतः कनिष्क के ही सामन्त थे। इसके अतिरिक्त कौशाम्बी में श्चनदेव तथा अयोध्या में शसत्यमित्र नामक क्षत्रपों का उल्लेख मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साम्राज्य के अन्य प्रान्त भी इसी प्रकार शासित होते थे। कनिष्क के साम्राज्य की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) श्री। पेशावर अफगानिस्तान से सिन्धु घाटी को जाने वाले प्रमुख राजमार्ग पर बसा हुआ था। अतः साम्राज्य के मध्य में स्थित यह नगर अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था। उसने अपनी राजधानी को अनेक भव्य भवनों, सार्वजनिक इमारतों और बौद्ध मठों व विहारों से अलंकृत किया था। काश्मीर की कनिष्कपुरी नगरी को भी सम्भवतः कनिष्क ने ही बसाया था। किन्तु डॉ. राय चौधरी का मत है कि इस नगर की स्थापना आरा अभिलेख वाले

कनिष्क ने की थी। चीनी यात्री ह्वेनसांग, जो पाँच सौ वर्ष बाद हर्ष के काल में भारत आया था इन भव्य इमारतों को देखकर दंग रह गया था।

कनिष्क का धर्म — डॉ. राय चौधरी का कथन है कि कनिष्क की कीर्ति उसकी विजयों की अपेक्षा शाक्यमुनि के धर्म को राज्याश्रय प्रदान करने पर अवलम्बित है। उसकी मुद्राओं तथा पेशावर अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने सम्भवतः अपने शासनकाल के आरम्भ में ही बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। इसलिए कनिष्क को द्वितीय अशोक के नाम से सम्बोधित किया जाता है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार प्राग्बौद्ध जीवन से कनिष्क भी अशोक की भाँति रक्त पिपासु और क्रूर था। किन्तु बाद में उसे अपने निकृष्ट कार्यों पर क्षोभ हुआ और उसने प्रायश्चित्त के रूप में बौद्ध धर्म को संरक्षण प्रदान किया। इस सम्बन्ध में कनिष्क प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष से भी प्रभावित हुआ था। उसने अपनी राजधानी पुरुषपुर में एक बौद्ध संघाराम का निर्माण कराया था। यह बौद्ध विहार एक बौद्ध तीर्थ के रूप में नवीं शताब्दी तक विद्यमान था, जबकि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वीरदेव ने इसकी यात्रा की थी। वीरदेव, मगध नरेश देवपाल के समय में नालन्दा का महास्थविर निर्वाचित किया गया था। चीनी यात्री फाह्यान और ह्वेनसांग ने इसका उल्लेख किया है तथा प्रख्यात मुस्लिम यात्री अलबरूनी भी कनिष्क के इस चौत्य से परिचित था।

यद्यपि कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, किन्तु भारतीय जीवन की परम्परा के अनुकूल उसने धार्मिक विषयों में अपने उदार दृष्टिकोण का भी परिचय दिया था। उसके विस्तृत साम्राज्य में विभिन्न धर्मों के अनुयायी निवास करते थे। उन सभी के साथ कनिष्क ने धार्मिक निष्पक्षता और सहिष्णुता का व्यवहार किया था। उसके सिक्के से उसी धार्मिक सहिष्णुता का हमें परिचय प्राप्त होता है। कनिष्क के चलाये हुए सिक्के दो प्रकार के थे। एक प्रकार के सिक्कों की लिपि यूनानी है और दूसरे प्रकार के सिक्कों की लिपि ईरानी है। इन सिक्कों पर यूनानी, ईरानी और हिन्दू देवताओं के चित्र मिलते हैं। इन देवताओं के नाम हेराक्लीज सेरापिज, सूर्य, चन्द्र, शिव, अग्नि आदि हैं। उसकी राजसभा को सभी धर्मों के अनुयायी एवं गुणवान् व्यक्ति अलंकृत करते थे।

बौद्ध संगीति कनिष्क ने केवल बौद्ध धर्म स्वीकार ही नहीं किया बल्कि उसके मूल तत्व और सिद्धान्तों को समझने की चेष्टा भी की किन्तु इसमें उसे अनेक कठिनाइयों का अनुभव हुआ, क्योंकि इस समय तक बौद्ध धर्म के स्वरूप में काफी अस्पष्टता आ गई थी। बौद्ध धर्म के मूल तत्व और सिद्धान्तों के प्रश्न पर बौद्धाचार्यों में तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गए थे। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की सूक्ष्मता, पेचीदगी और जटिलता के भार से बौद्ध धर्म की सरल शिक्षाएँ दब गई थीं। प्रचलित धार्मिक गुत्थियों को सुलझाने तथा विवादास्पद विषयों का हल निकालने हेतु कनिष्क के समय में बौद्ध संगीति का आयोजन करना अनिवार्य हो गया था। बौद्ध ग्रन्थों में भी कनिष्क के राजत्व काल में जो बौद्ध संगीति बुलाई गई थीय उसका उद्देश्य विवादास्पद सिद्धान्तों का हल निकालना था। अतः कनिष्क ने बौद्ध भिक्षुक पार्श्व की मंत्रणा से चतुर्य बौद्ध संगीति का आयोजन

प्राचीन भारतीय इतिहास

कश्मीर के कुण्डलवन बिहार में किया। वसुमित्र को इस सभा का अध्यक्ष नियुक्त किया गया तथा अश्वघोष ने उपाध्यक्ष का कार्यभार संभाला था। इस सभा में लगभग 500 बौद्ध विद्वानों ने भाग लिया। इस सभा में धर्मग्रन्थों के गूढ़ और जटिल स्थलों की परस्पर तर्क-वितर्क द्वारा

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

स्व-प्रगति के परीक्षण करें रु

1. कनिष्क के धर्म पर टिप्पणी

लिखें।

2. कनिष्क की मृत्यु के बाद कुषाण वंश का उत्तराधिकारी कौन और कैसे बना?

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

191

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

172

पूर्णरूपेण विवेचना की गई। इस सभा में हुए वाद-विवादों के आधार पर एक भाष्य संकलित किया गया। ये भाष्य विभाषाशास्त्र कहलाये। त्रिपिटिक पर एक प्रामाणिक भाष्य की रचना की गई। जिन्हें कनिष्क ने ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण करवाया। उनको पत्थर के एक सन्दूक में रखकर उसके ऊपर एक स्तूप का निर्माण करा दिया था। महायान सम्प्रदाय की प्रधानता होने के कारण महायान को राजधर्म घोषित किया गया और कनिष्क उसका संरक्षक बना। प्रोफेसर एन. एन. घोष ने लिखा है, प्लस संगीति ने मुख्य दो कार्य किए। एक तो उसने यह किया कि नये विचारों और बौद्ध दर्शन की कतिपय नवीन विचार – सारणियों के विकास के प्रकाश में धर्म-ग्रन्थों को नये ढंग से लिपिबद्ध किया। नवीन लिपिकरण में संस्कृत भाषा का प्रयोग किया गया। संगीति का दूसरा कार्य बौद्ध धर्म की महायान शाखा को राजधर्म का रूप देना था जिसके प्रचार के लिए कनिष्क उसका संरक्षक बना। इस संगीति का अधिवेशन छह माह तक चलता रहा।

कृ

महायान सम्प्रदाय का विकास मौर्य और मौर्योत्तर काल में जिस तीव्र गति से बौद्ध धर्म का प्रचार और प्रसार हुआ, उससे प्रभावित होकर अश्वघोष जैसे विद्वान् ब्राह्मणों ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। वे बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म के निकट लाना चाहते थे। फलस्वरूप बौद्ध धर्म में भक्ति भावना का प्रादुर्भाव हुआ और बोधिसत्त्वों की आराधना आरम्भ हुई इससे साथ ही विदेशी तत्वों का भी उसमें समावेश हो गया। इन दार्शनिक परिवर्तनों के फलस्वरूप बौद्ध धर्म में विभाजन हो गया और नवीन विचारधारा को महायान धर्म की संज्ञा दी गई। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि महायान धर्म का अभ्युदय कनिष्क के काल में

चतुर्थ बौद्ध संगीति के परिणामस्वरूप हुआ था। जैसा कि रालिन्सन महोदय ने लिखा है कि, यह बौद्ध धर्म के इतिहास में नवीन युग के आरम्भ होने को सूचित करती है। यह (नवीन युग) था महायान का उदय जो हीनयान के प्रारम्भिक बौद्ध धर्म से उतना ही भिन्न है जितना कि मध्यकालीन ईसाई धर्म प्रथम शताब्दी ई. के ईसाइयों के सरल सिद्धान्तों से भिन्न है। स्मिथ महोदय ने भी एलिन्सन के विचार से मिलता-जुलता मत व्यक्त किया है। स्मिथ का कहना है कि जबसे बौद्ध धर्म भारत की सीमा पार करके दूसरे देशों में गया, तभी से उसके प्राचीन रूप में परिवर्तन होने लगा और उसमें भिन्न-भिन्न धर्मों के तत्व आ मिले। परन्तु कतिपय भारतीय विद्वानों को यह मत मान्य नहीं है। वास्तव में हमें रालिन्सन का यह मत अधिक उचित प्रतीत नहीं होता है कि अश्वघोष सरीखे विद्वान ब्राह्मणों के प्रयत्नों का प्रतिफल था जो बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म के निकट लाना चाहते थे। महायान सम्प्रदाय के ऊपर विदेशी प्रभावों की अपेक्षा भागवत धर्म का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। अतः महायान का अभ्युदय कनिष्क के पहले हो चुका था जैसा कि डॉ. आर. एस. त्रिपाठी का मत है कि, इसका प्रारम्भ बौद्ध धर्म में भक्ति के समावेश के साथ माना जाना चाहिए। प्रो. एन. एन. घोष ने भी लिखा है कि, महायान के बीज हीनयान सम्प्रदाय में ही निहित थे। प्रो. मलिनाक्ष दत्त ने तो लिखा है कि पाली निकायों में ही ऐसे स्थल हैं जो महायान के सिद्धान्तों की शिक्षा देते हैं। इसीलिए डॉ. आर. एस. त्रिपाठी ने लिखा है कि, यद्यपि प्रमाण सर्वथा प्रस्तुत नहीं, तथापि इस बात को मान लेने के लिए विशिष्ट कारण है कि महायान का उदय वास्तव

है में कनिष्क के काल से काफी पहले हो चुका था। इन विद्वानों के मतों का सूक्ष्मता से परीक्षण करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि महायान धर्म कनिष्क के पूर्व ही एक सजीव शक्ति के रूप में विद्यमान था, तथापि महायान धर्म का एक स्वीकृत रूप कनिष्क के समय में ही बना था।

हीनयान धर्म शुष्क और सिद्धान्तपरक था। उसका मोक्ष पर विशेष आग्रह है और मोक्ष के लिए वह व्यक्ति की, इस कार्य हेतु निरन्तर प्रयत्नशीलता को ही सबसे बड़ा साधन बतलाता है। इसकी दृढ़ आचारवादिता साधारण जनता की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं थी, क्योंकि ज्ञान और वैराग्य उसकी शक्ति के बाहर थे। हीनयाल मुख्य रूप से ज्ञान, बुद्धिजीवी व्यक्तियों तथा संन्यासियों के लिए था। इसकी निरीश्वरवादिता और स्वावलम्बन पर प्रबल आग्रह ऐसे तत्व थे जो जनसाधारण के लिए नितान्त दुर्बोध थे। अतः महायान धर्म में उन तत्वों का समावेश किया गया जिसके द्वारा जनसाधारण की आध्यात्मिक पिपासा को तृप्त किया जा सके। इसके लिए महायान मत में भक्ति को समुचित स्थान देकर बुद्ध को देवता मानकर उसकी पूजा प्रारम्भ की गई। इसमें अवतारवाद के सिद्धान्त को भी स्थान दिया गया। साधारण जनता ऐसे ही इष्टदेव की खोज करना चाहती थी जिसकी उपासना बिना संसार का परित्याग किए की जा सके। महायान के उदय के कारण बौद्ध धर्म बड़ा ही लोकप्रिय हो गया। डॉ. त्रिपाठी ने ही लिखा है कि, बौद्ध धर्म का साधारण जनता में प्रचार कुछ हद

प्राचीन भारतीय इतिहास

तक इसका कारण हो सकता है, क्योंकि उसे हीनयान के आदर्शवाद के ऊपर उदार, जन-धर्म की आवश्यकता थी और हीनयान में उसकी भक्ति को प्रज्वलित करने की सामर्थ्य न थी। इसके अतिरिक्त भारतीय समाज में बाहरी जातियों का पुट तथा संस्कृतियों के अन्तः संघर्ष ने भी बौद्ध धर्म के इस नये सम्प्रदाय में योग दिया होगा। भारतीय सीमा के बाहर बौद्ध धर्म के प्रचार का श्रेय महायान को ही है। वह भारतीय सीमाओं को लौंघकर तिब्बत, चीन, बर्मा और जापान तक पहुँच गया। महायान धर्म के इस विस्तार में कनिष्क की सेवाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थीं।

कनिष्क का निधन कहा जाता है कि कनिष्क का निधन दुःखद रूप में हुआ। उसके सरदार और सेनापति उसकी युद्ध नीति से तंग आ चुके थे। अतः उन्होंने अपने सम्राट के विरुद्ध षड्यंत्र करके उसका वध कर दिया। कनिष्क ने कम-से-कम 23 वर्ष तक राज्य किया। किन्तु कुछ विद्वान् आरा अभिलेख के कनिष्क से उसका समीकरण करके उसका शासनकाल 41 वर्ष मानते हैं, किन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। अतः यही मत मान्य प्रतीत होता है कि उसने 23 वर्ष राज्य किया। तदनुसार उसकी मृत्यु (78. 23 = 101 ई.) 101 ई. के लगभग हुई थी।

—

कृ

कनिष्क का मूल्यांकन निःसन्देह कनिष्क कुषाण वंश का सर्वश्रेष्ठ एवं महान प्रतापी सम्राट था। इसलिए प्राचीन भारत के इतिहास में उसे अत्यन्त ही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। जहाँ एक ओर उसकी सैन्य सफलताएँ हमें समुद्रगुप्त का स्मरण कराती हैं, तो दूसरी तरफ उसकी बौद्ध धर्म के प्रति की गई अमूल्य सेवाएँ हमें महान अशोक की याद दिलाती हैं। समुद्रगुप्त की भाँति कनिष्क भी एक महान विजेता था। उसने अपने बाहुबल से भारत के विशाल भू-भाग पर अपनी विजय पताका फहराई थी। उसने अपने पूर्वजों द्वारा विरासत में जो राज्य प्राप्त किया उसकी उसने न केवल रक्षा ही की बल्कि उसकी सीमा का विस्तार भी किया। यद्यपि चीनी सेनानायक पान – चाऊ के साथ युद्ध करने जाती हुई उसकी सेना पर्वतीय मार्ग की कठिनाइयों के कारण बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गई थी और इसी कारण उसे पराजय का मुँह देखना पड़ा, तथापि उसने कुछ समय बाद अपने अपमान का प्रतिशोध लेकर अपनी महत्वाकांक्षा को सन्तुष्ट किया। उसने भारत के बाहर भी यारकन्द, काशगार तथा खोतान प्रान्त हस्तगत किए तथा पार्थियन राजाओं को नतमस्तक किया। बौद्ध धर्म ग्रहण करने के बाद भी उसकी राज्य विस्तार नीति में शिथिलता नहीं आई वह न केवल सफल सेनानायक और कुशल विजेता ही था, बल्कि उच्चकोटि का शासन प्रबन्धक भी था। मौयों के पतन के बाद कनिष्क ने सर्वप्रथम उत्तरी भारत में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित की थी। कनिष्क स्थानीय परिस्थितियों एवं स्थानीय आवश्यकताओं का अत्यधिक ध्यान रखता था। इसलिए उसके शासनकाल में जनता सर्वत्र सुखी और समृद्ध थी। उसकी राजधानी पुष्पपुर की महत्त्वपूर्ण

स्थिति के कारण सुदूर देशों से निष्कंटक व्यापार होता था ।

कृ

कृ

बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक की भाँति कनिष्क का भी अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। जो सेवाएँ अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु की थीं वैसी ही सेवाएँ, कनिष्क ने महायान (नवीन बौद्ध धर्म) के प्रसार हेतु कीं। महायान को उसने राज-धर्म घोषित कर उसे राज्याश्रय प्रदान किया। उसी के शासनकाल में चतुर्थ बौद्ध संगीति हुई जिसने महायान सम्प्रदाय को बौद्ध धर्म का एक स्वीकृत रूप प्रदान किया। बौद्ध धर्म को ग्रहण करके भी उसने अशोक की भाँति अपनी समस्त प्रजा के साथ सहिष्णुता प्रदर्शित की। एक बात में कनिष्क, अशोक से भी अधिक भाग्यवान् थाय हमें इस बात का कोई स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं है कि अशोक की राजसभा में गुणवान् व्यक्तियों का जमघट लगा रहता था, किन्तु कनिष्क की राजसभा को गुणवान् व्यक्ति अपनी उपस्थिति द्वारा अलंकृत करते थे। न केवल बौद्ध दार्शनिकों अश्वघोष, पार्श्व और वसुमित्र हो उसकी कृपा के पात्र थे, वरन् एक अन्य विद्वान् संघरक्ष भी सम्भवतः उसका पुरोहित था । नागार्जुन नामक प्रसिद्ध दार्शनिक जिसने शून्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था और जो महायान सम्प्रदाय का प्रबल समर्थक था तथा चरक जिसका आयुर्वेद – विषयक श्रृंखला संहिता नामक ग्रन्थ अब भी चिकित्सकों के लिए श्रद्धा और विस्मय का कारण है, कनिष्क की राजसभा सुशोभित करते थे। इस प्रकार विद्वानों को आश्रय देने की दृष्टि से भारत के सम्राटों में कनिष्क का निश्चय ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कनिष्क साहित्य का भी संरक्षक था, जैसा कि डॉ. राय चौधरी ने लिखा है कि यह युग महती साहित्यिक क्रियाशीलता का युग था । अश्वघोष कृष्ण युग की साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत था । तथागत के जीवन पर लिखा हुआ उसका महाकाव्य श्रुद्धचरित संस्कृत काव्य की उज्ज्वल एवं दैदीप्यमान मणि है। अश्वघोष

—

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

193

प्राचीन भारतीय इतिहास.

छव्जै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

194

यद्यपि दार्शनिक और नैतिकता का पुजारी था, किन्तु सबसे पहले वह एक कवि था। इसीलिए जीवन के उल्लासपूर्ण एवं श्रृंगारमय पक्ष की ओर भी वह उदासीन नहीं था। जिस समय युवक सिद्धार्थ को मोहित करने के लिए सुन्दर कन्याएँ

प्राचीन भारतीय इतिहास

आती है, अश्वघोष उनके रूप-वर्णन में बिना वैरागी संकोच के अपनी सम्पूर्ण कवित्व शक्ति को ही उँडेल बैठता है। अश्वघोष की दूसरी कवित्व कृति शसौन्दरानन्दश् है। अश्वघोष के काव्यों में अनेक मर्मस्थल उपलब्ध होते हैं। अश्वघोष एक नाटककार भी था। अनुश्रुति के अनुसार उसने तीन नाटकों का प्रणयन किया था। शसारिपुत्र प्रकरणश् निश्चित रूप से उसी की कृति है। प्रसिद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने दर्शन के ग्रन्थों की रचना की। श्मध्यमकारिकाश् और श्सुहल्लेखाश् उसके दो विख्यात ग्रन्थ हैं। नागार्जुन का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था, अतः वह ब्राह्मण शास्त्रों में पारंगत था। उसे इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसने महायान धर्म की व्याख्या इस रूप में की कि यह धर्म वृत्ति-जीवियों और विद्वानों को भी रुचिकर लगा। महायान धर्म पर लिखने वाला नागार्जुन ही सबसे प्रथम विद्वान् था। नागार्जुन के अतिरिक्त वसुमित्र भी इस युग का प्रसिद्ध दार्शनिक था। चरक को कनिष्क का राजवैद्य बताया जाता है जिसने चिकित्साशास्त्र पर अपना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्चरक संहिताश् लिखा था। इस ग्रन्थ का महत्त्व इस बात में है कि आज से बहुत पहले इस ग्रन्थ का अरबी व फारसी भाषा में अनुवाद किया गया। चिकित्सा विज्ञान में चरक के सिद्धान्त आज भी महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

अशोक की भाँति कनिष्क भी कलानुरागी तथा भवन निर्माता था। जिस प्रकार पाटलिपुत्र में अशोक द्वारा बनवाये हुए राजप्रासाद की प्रशंसा आगे चलकर फाह्यान नामक चीनी यात्री ने की थी, उसी प्रकार कनिष्क के बौद्ध चौत्य का प्रशंसा मिश्रित उल्लेख अलबरूनी ने किया था। अशोक ने नेपाल में ललित पाटन तथा काश्मीर में श्रीनगर की स्थापना की थी तथा कनिष्क को भी नगरों की स्थापना का श्रेय प्राप्त है। कनिष्क के काल तक महायान धर्म में भक्ति का समावेश हो चुका था जिससे कला के क्षेत्र में कुछ नवीनता उत्पन्न हो गई। कुषाण युग के पूर्व बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण नहीं किया जाता था। बुद्ध की उपस्थिति को संकेतों अथवा प्रतीकों द्वारा अंकित किया जाता था। यदि बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के दृश्य को चित्रित करना होता तो एक आरोही-रहित अश्व दिखा दिया जाता, जिसका अभिप्राय यह होता था कि इस अश्व पर आरुढ़ होकर तथागत ने अरण्यगमन किया था। किन्तु ज्यों-ज्यों बौद्ध उपासकों में भक्ति भावना का संचार होता गया, वे बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण करने लगे। इस प्रकार कुषाण काल में बौद्ध प्रतिमाओं का निर्माण आरम्भ हुआ। ये अधिकांश मूर्तियाँ गान्धार प्रदेश में उपलब्ध हुईं, जिसका केन्द्र पुरुषपुर था। अतः तत्कालीन कला को गान्धार शैली की संज्ञा दी गई

□

—

गान्धार — कला — गान्धार कला से तात्पर्य एक विशिष्ट शैली से है जिसका विकास ईसा की प्रथम द्वितीय शताब्दी में गान्धार तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश में हुआ था। गान्धार कला को श्इण्डो-ग्रीक श् (हिन्दू-यूनानी) कला के नाम से

भी पुकारा जाता है, क्योंकि इस कला के विषय तो भारतीय हैं, परन्तु उसकी शैली यूनानी है। चूँकि बौद्ध धर्म उसकी प्रेरणा था अतः इसे ग्रीको- बुद्धिष्ट भी कहा गया। इस शैली की शिल्प – विधि द्वारा जो बुद्ध की मूर्तियाँ निर्मित की गई, वे यूनानी देवता अपोलो की मूर्तियों से काफी साम्यता रखती हैं। उनकी मुद्राएँ तो बौद्ध हैं, जैसे कमलासन मुद्रा में बुद्ध बैठे हुए हैं किन्तु मूर्तियों के मुखमण्डल और वस्त्र निश्चित रूप से यूनानी हैं जो स्पष्टतया यूनानी अथवा रोमन कला का प्रभाव हैं। बोधिसत्त्वों की मूर्तियों में बोधिसत्त्व यूनानी राजाओं की तरह लगते हैं। उनके वस्त्र भड़कीले हैं तथा वे रत्नाभूषणों से मण्डित हैं। अतः उन्हें देखने से वे किसी भी प्रकार आध्यात्मिक पुरुष प्रतीत नहीं होते वरन् वे किसी देश के नृपति लगते हैं। भगवान बुद्ध को भी महाभिनिष्क्रमण के पूर्व उनकी मूर्तियों में यूरोपीयन वेशभूषा तथा रत्नाभूषणों से युक्त दिखाया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन मूर्तियों की मुद्राएँ भारतीय होने पर भी उनकी शिल्पविधि यूनानी अथवा रोमन है। डॉ. ए. एल. बाराम ने भी लिखा है कि, प गान्धार-शिल्पियों ने यूनानी रोमन संसार के देवताओं को अपना आदर्श माना। कभी-कभी उनकी प्रेरणा पूर्णतया पश्चिमी प्रतीत होती है।

८

गान्धार कला के नमूने बिमरन, लैरियन, हस्त- नगर, शाहजी की ढेरी, तक्षशिला, हड्ड आदि स्थानों पर प्राप्त हुए हैं। इनमें से अधिकांश पेशावर और लाहौर के अजायबघरों में सुरक्षित हैं। इन प्रतिमाओं के निर्माण में चूना, मसाला तथा सफेद रंग के पत्थर का प्रयोग किया गया था। आरम्भ में लगभग 150 वर्षों तक

कृ

कला प्रगति पर रही, दूसरी शताब्दी में इसमें गिरावट आ गई, किन्तु तौसरी शताब्दी के प्रारम्भ में इसकी फिर प्रगति हुई अन्तिम काल में इस पर मथुरा – शैली का भी प्रभाव पड़ा। इस कला – शैली की मुख्य विशेषताएँ- मानव शरीर की सुन्दर रचना तथा मांसपेशियों की सूक्ष्मता, पारदर्शक कपड़े और उनको सिलवटें तथा अनुपम नक्काशी हैं। अत्यधिक सुन्दर मूर्तियों के निर्माण के कारण एक समय ऐसा था जबकि गान्धार मूर्तिकला को भारतीय कलाओं में श्रेष्ठतम और अन्य सभी मूर्ति कलाओं की जननी माना जाता था, किन्तु अब इसे स्वीकार नहीं किया जाता।

पाश्चात्य कला समीक्षकों का विचार है कि भारत की सर्वश्रेष्ठ कला का निर्देशन गान्धार कला द्वारा ही होता है। किन्तु इस कथन में लेशमात्र भी सत्यता नहीं है। सत्य तो यह है कि कला के क्षेत्र में भारत पर पश्चिम का प्रभावी कभी गम्भीर न पड़ सका, क्योंकि भारतवासियों में विदेशी प्रभावों को ग्रहण करने की तत्परता तथा उन्हें अपने देश की मौलिक परम्पराओं में पचा लेने की अद्भुत क्षमता थी। भारतीय कलाकारों ने गान्धार-कला के माध्यम द्वारा मूर्ति निर्माण की जो शिक्षा प्राप्त की उसका एक दूसरे केन्द्र मथुरा में मौलिक और स्वतन्त्र

प्राचीन भारतीय इतिहास

रूप से विकास किया। यह कहना सर्वथा अनुचित है कि गान्धार – कला अत्यन्त उच्चकोटि की कला है। प्रो. कुमार स्वामी का तो मानना है कि गान्धार कला निगूढ़ मिथ्यात्व का आभास देती हैं तथा उसकी निर्जीव मुद्राएँ बौद्ध विचारधारा की आध्यात्मिक शक्ति को अभिव्यक्ति प्रदान नहीं कर पातीं। वस्तुतः गान्धार की मूर्तियों में निर्जीवता दिखाई देती है तथा उनमें कलाकार की सच्चाई का अभाव दृष्टिगोचर होता है। डॉ. निहार रंजन रे के शब्दों में— ऐसा मालूम पड़ता है कि वे किसी सिद्धहस्त कलाकार द्वारा निर्मित न होकर मशीनों से तैयार की गई हों।¹⁵

मथुरा कला—शैली कनिष्क के काल में गान्धार के अतिरिक्त मथुरा भी कला का केन्द्र था। मथुरा में जिस शैली का विकास हुआ उसे मथुरा—शैली के नाम से पुकारा गया। ईसा की प्रथम शताब्दी से प्रगति करती हुई इस शैली ने आने वाले समय में उत्तर भारत की मूर्तिकला की शैलियों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। गुप्तकाल की श्रेष्ठ मूर्तिकला को मथुरा—शैली का ही विकसित रूप माना गया है। मथुरा—शैली की समस्त कृतियाँ आसानी से पहचानी जा सकती हैं, क्योंकि इनके निर्माण में लाल पत्थर का प्रयोग किया जाता था जो मथुरा के समीप सीकरी नामक स्थान से प्राप्त होता है। मथुरा—शैली की मूर्तियाँ अपनी विशालता के लिए विख्यात हैं। गान्धार कला की तरह मथुरा की मूर्तियों पर मूँछें बिल्कुल नहीं हैं। बालों और मूँछों से रहित मूर्तियों के निर्माण की परम्परा विशुद्ध रूप से भारतीय है। मथुरा की कुषाणकालीन मूर्तियों के दाहिने कंधे पर वस्त्र नहीं रहता। दाहिना हाथ अधिकांशतः अभय मुद्रा में पाया जाता है। गान्धार कला में बुद्ध को बहुधा पद्मासन या कमलासन में दिखाया गया है किन्तु मथुरा की मूर्तियों में सिंहासन पाया जाता है। मूर्तियों में प्रभामण्डल का प्रयोग दोनों तक्षण कलाओं में दृष्टिगत होता है, किन्तु मथुरा की प्रतिमाओं के किनारों पर वृत्ताकार चिन्ह स्पष्ट दिखाई देता है। गान्धार और मथुरा शैलियों का सूक्ष्मता से अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों शैलियों का उद्भव और विकास पृथक—पृथक तथा स्वतन्त्र रूप से हुआ तथा मथुरा की कला स्वदेशी थी।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

मथुरा में प्राप्त कनिष्क की खण्डित मूर्ति

195

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

196

मथुरा के अजायबघर में सुरक्षित सम्राट कनिष्क की मूर्ति, बनारस के अजायबघर में सुरक्षित हाथ में शृंगारदान लिए एक दासी की मूर्ति और मथुरा तथा उसके

सीमावर्ती क्षेत्रों में प्राप्त बुद्ध और बोधिसत्त्वों, यक्ष-यक्षणियों तथा स्त्री-पुरुषों की विभिन्न मूर्तियाँ इस कला शैली के सुन्दर नमूने हैं। किन्तु इसमें अधिकांश नग्न अथवा अर्द्धनग्न स्त्रियों की मूर्तियों की संख्या अधिक है। दूसरी सदी के आरम्भ में इस कला पर कुछ प्रभाव गान्धार कला का और सम्भवतया कुछ प्रभाव रोमन कला का भी पड़ा था। सम्राट कनिष्क की मूर्ति, आकार तथा शारीरिक अवयवों की दृष्टि से विशाल एवं ठोस है, किन्तु उसकी वेशभूषा रोमन है। इस कला के मुख्य नमूने इन्द्रियपरक और सौन्दर्य से व्याप्त स्त्रियों की मूर्तियाँ हैं। स्त्रियों के गोल, सुडौल और उन्नत वक्ष एवं भारी व उमरे हुए कूल्हे न केवल स्त्री-प्रजनन शक्ति के प्रतीक हैं वरन् इनसे ज्ञात होता है कि इनका निर्माण करने वाले कलाकारों का, जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं था। मथुरा – शैली में आध्यात्मिक भावना को भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार मथुरा – शैली में भाव, भावना तथा शारीरिक सौन्दर्य सभी को प्रदर्शित किया गया और इसलिए यह कला – शैली धार्मिक विचार और शारीरिक सुख दोनों की अभिव्यक्ति का साधन बन सकी।

उ

पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि मथुरा-शैली पर न केवल गान्धार कला का प्रभाव है, बल्कि उसका उद्भव ही गान्धार कला की अनुकृति से हुआ है। किन्तु इस कथन को अन्य विद्वान् स्वीकार नहीं करते। जैसा कि एलिन्सन महोदय ने लिखा है— षुसी समय समकालीन कला का एक विशुद्ध देशी सम्प्रदाय जिसका भरहुत और साँची में उद्भव हुआ थाय मथुरा, भीटा, बेसनगर तथा अन्य केन्द्रों में प्रचलित था। पहले वह प्रवृत्ति थी कि बुद्ध, महावीर और हिन्दू देवताओं की मूर्ति निर्माण के आविष्कार को विदेशी प्रभावों के कारण बताया जाता थाय परन्तु अब सामान्यतया इस बात पर विद्वान् सहमत हैं कि इसका उद्भव मथुरा के देशी कलाकारों द्वारा खोजा जाना चाहिए, न कि गान्धार के। ३

गान्धार और मथुरा कला शैलियों के साथ उस समय कृष्णा और गोदावरी के मुहानों पर अमरावती तथा गुन्दूर जिलों में अमरावती कला शैली का भी विकास हुआ। अमरावती शैली भरहुत, गया और साँची तथा बाद में गुप्त और पल्लव कला को जोड़ने वाली कड़ी है। इस शैली में धर्म और त्याग की भावना ही प्रमुख नहीं है। बल्कि कलाकारों ने शकला को कला के लिए के आदर्श को अपनाया है। स्त्री-सौन्दर्य, भाव, मुद्रा आदि इस शैली में मथुरा-शैली से भी श्रेष्ठ है तथा इस शैली में वैराग्य और भक्ति को भी प्रदर्शित किया गया है। बुद्ध की प्रतिमा के समक्ष नतमस्तक उपासिकाओं का दृश्य उत्पन्न सुन्दर हैं। अमरावती शैली की मुख्य विशेषता मूर्तियों के निर्माण में सफेद संगमरमर का प्रयोग था।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत है कि कनिष्क एक महान निर्माता, कला का घोषक तथा साहित्य का संरक्षक था।

कनिष्क के उत्तराधिकारी

प्राचीन भारतीय इतिहास

कनिष्क की मृत्यु के बाद कुषाण वंश का गौरव क्षीण होने लगा। कनिष्क के उत्तराधिकारियों में से कोई भी उसके समान पराक्रमी अथवा प्रभावशाली नहीं हुआ। अतः वे कनिष्क द्वारा निर्मित विशाल साम्राज्य को अधिक समय तक जीवित नहीं रख सके। कनिष्क के बाद वासिष्क उसका उत्तराधिकारी हुआ। वासिष्क के विषय में इतिहास नितान्त मूक है और हमें उसके सिक्के भी प्राप्त नहीं हुए हैं। वासिष्क के बाद हुविष्क कुषाण सम्राट बना, जिसके बारे में हमारा ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक है। उसका एक अभिलेख काबुल के निकट वारदक में प्राप्त हुआ है जिससे सिद्ध होता है कि हुविष्क का अधिकार अफगानिस्तान पर था। सम्भवतः यह हुविष्क वही हुष्क है जिसके बारे में कल्हण ने लिखा है कि वह काश्मीर के हुष्कपुर नामक नगर का संस्थापक था। उसके सिक्कों तथा अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि वह एक शक्तिशाली सम्राट था और उसने कनिष्क के साम्राज्य को पूर्ववत् बनाये रखा। उसकी मुद्राओं पर हमें बुद्ध की आकृति नहीं मिलती, किन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह बौद्ध धर्म के प्रति उदासीन था। यद्यपि वह विष्णु का भक्त था, तथापि बौद्ध धर्म का रक्षक भी था। हुविष्क ने लगभग 30 वर्ष तक शासन किया। हुविष्क के बाद वासुदेव कुषाण साम्राज्य का स्वामी हुआ। इस सम्राट के नाम से पता चलता है कि कुषाण वंश का अब पूर्ण रूप से भारतीयकरण हो चुका था। उसके लेख और सिक्के

मथुरा, पंजाब और संयुक्त प्रान्त से ही प्राप्त हुए हैं जिससे सिद्ध होता है कि उसका अधिकार केवल इन प्रदेशों तक ही सीमित रह गया था। यद्यपि उसके नाम से उसके वैष्णव धर्मानुयायी होने का अनुमान होता है तथापि उसकी अधिकांश मुद्राओं पर शिव तथा नन्दी की आकृति खुदी हुई है, जिससे ज्ञात होता है कि वह शैव था। वासुदेव कुषाण वंश का अन्तिम सम्राट था। उसके समय से ही इस राजवंश का पतन आरम्भ हो गया था।

कुषाण साम्राज्य का पतन और उसके कारण

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि कनिष्क की मृत्यु के बाद कुषाण साम्राज्य पतनोन्मुख हो गया था। वासुदेव के समय (145 – 176 ई) कुषाण साम्राज्य का पतन तीव्र गति से आरम्भ हो गया। स्थानीय जातियों ने केन्द्रीय सत्ता की निर्बलता का लाभ उठाकर कुषाणों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। शक क्षत्रप की भौति शासन करने लगे। भारत के विभिन्न भागों में जहाँ कुषाण वंश का अधिकार था, विशेषकर वर्तमान उत्तर प्रदेश और राजपूताने में अधीनस्थ राजवंशों ने और यहाँ तक कि मथुरा से भी कुषाण शक्ति का उन्मूलन कर दिया गया, जहाँ एक नाग परिवार सत्तारूढ़ हो गया। नागों के प्रभुत्व में भारतीय राष्ट्रीय शक्ति की एक प्रचण्ड लहर बही, जिसके वेग में कुषाण साम्राज्य बह गया।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

।तजपहज (नउउंतल)

कुषाण साम्राज्य के पतन के कारणों में मुख्य रूप से आन्तरिक ह्रास था। कुषाण साम्राज्य का संगठन सुव्यवस्थित नहीं था। वह केवल सैनिक शक्ति पर आधारित था। सैनिक शक्ति पर आधारित साम्राज्यों का स्थायित्व सदैव संदिग्ध रहा है, क्योंकि सैनिक शक्ति के क्षीण होने पर साम्राज्य की इतिश्री अवश्यम्भावी हो जाती है। अतरु कनिष्क के बाद कुषाणों की सैनिक शक्ति क्षीण होने लगी और सैनिक शक्ति क्षीण होते ही साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। कनिष्क के उत्तराधिकारी इतने सबल नहीं थे कि विशाल साम्राज्य को शाश्वत रख सकें। पश्चिम से उदीयमान सासानी शक्ति ने निरन्तर आक्रमण कर कुषाण साम्राज्य को दुर्बल बना दिया था। कुषाणों को दुर्बलता का लाभ उठाते हुए भारतीय गणराज्यों ने, जिनमें यौधेय कुणिन्द, आर्जुनायन आदि प्रमुख थे, अपने को कुषाणों से मुक्त कर, पूर्वी पंजाब और राजपूताना के क्षेत्रों पर स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर ली। इसी प्रकार पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मथुरा और मध्यभारत के नागवंशी भारशिवों ने कुषाण नृपतियों पर प्रहार कर उनकी शक्ति को आघात पहुँचाया और अन्त में अपने पृथक् राज्य स्थापित कर लिए। अब जो कुछ इने-गिने कुषाणों के प्रदेश रह गए थे उन पर दो दिशाओं से प्रहार हुआ— पश्चिम में श्वेत हूणों ने और पूर्व में गुप्त नृपतियों ने कुषाण राज्य की इतिश्री कर दी। इस प्रकार कुषाण वंश एक उल्का के समान भारतीय इतिहास के क्षितिज पर दिखाई दिया और शीघ्र ही पुच्छल तारे के समान समाप्त हो गया।

स्व-प्रगति का परीक्षण के उत्तर रू

1. कनिष्क का धर्म — डॉ. राय चौधरी का कथन है कि कनिष्क की कीर्ति उसकी विजयों की अपेक्षा शाक्यमुनि के धर्म को राज्याश्रय प्रदान करने पर अवलम्बित है। उसकी मुद्राओं तथा पेशावर अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने सम्भवतः अपने शासनकाल के आरम्भ में ही बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। इसलिए कनिष्क को द्वितीय अशोक के नाम से सम्बोधित किया जाता है। बौद्ध ग्रन्थों के

अनुसार प्राग्बौद्ध जीवन से कनिष्क भी अशोक की भाँति रक्त पिपासु और क्रूर था। किन्तु बाद में उसे अपने निकृष्ट कार्यों पर क्षोभ हुआ और उसने प्रायश्चित्त के रूप में बौद्ध धर्म को संरक्षण प्रदान किया। इस सम्बन्ध में कनिष्क प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष से भी प्रभावित हुआ था। उसने अपनी राजधानी पुरुषपुर में एक बौद्ध संघाराम का निर्माण कराया था। यह बौद्ध विहार एक बौद्ध तीर्थ के रूप में नवीं शताब्दी तक विद्यमान था, जबकि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वीरदेव ने इसकी यात्रा की थी। वीरदेव, मगध नरेश देवपाल के समय में नालन्दा का महास्थविर निर्वाचित किया गया था। चीनी यात्री फाह्यान और ह्वेनसांग ने इसका उल्लेख किया है तथा प्रख्यात मुस्लिम यात्री अलबरूनी भी कनिष्क के इस चौत्य से परिचित था।

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

यद्यपि कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, किन्तु भारतीय जीवन की परम्परा के अनुकूल उसने धार्मिक विषयों में अपने उदार दृष्टिकोण का भी परिचय दिया था। उसके विस्तृत साम्राज्य में विभिन्न धर्मों के अनुयायी निवास करते थे। उन सभी के साथ कनिष्क ने धार्मिक निष्पक्षता और सहिष्णुता का व्यवहार किया था। उसके सिक्के से उसी धार्मिक सहिष्णुता का हमें परिचय प्राप्त होता है। कनिष्क के चलाये हुए सिक्के दो प्रकार के थे। एक प्रकार के सिक्कों की लिपि यूनानी है और दूसरे प्रकार के सिक्कों की लिपि ईरानी है। इन सिक्कों पर यूनानी, ईरानी और हिन्दू देवताओं के चित्र मिलते हैं। इन देवताओं के नाम हेराक्लीज, सेरापिज, सूर्य, चन्द्र, शिव, अग्नि आदि हैं। उसकी राजसभा को सभी धर्मों के अनुयायी एवं गुणवान व्यक्ति अलंकृत करते थे।

2. कनिष्क के उत्तराधिकारी

कनिष्क की मृत्यु के बाद कुषाण वंश का गौरव क्षीण होने लगा। कनिष्क के उत्तराधिकारियों में से कोई भी उसके समान पराक्रमी अथवा प्रभावशाली नहीं हुआ। अतः वे कनिष्क द्वारा निर्मित विशाल साम्राज्य को अधिक समय तक जीवित नहीं रख सके। कनिष्क के बाद वासिष्क उसका उत्तराधिकारी हुआ। वासिष्क के विषय में इतिहास नितान्त मूक है और हमें उसके सिक्के भी प्राप्त नहीं

हुए हैं। वासिष्क के बाद हुविष्क कुषाण सम्राट बना, जिसके बारे में हमारा ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक है। उसका एक अभिलेख काबुल के निकट वारदक में प्राप्त हुआ है जिससे सिद्ध होता है कि हुविष्क का अधिकार अफगानिस्तान पर था। सम्भवतः यह हुविष्क वहीं हुष्क है जिसके बारे में कल्हण ने लिखा है कि वह काश्मीर के हुष्कपुर नामक नगर का संस्थापक था। उसके सिक्कों तथा अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि वह एक शक्तिशाली सम्राट था और उसने कनिष्क के साम्राज्य को पूर्ववत् बनाये रखा। उसकी मुद्राओं पर हमें बुद्ध की आकृति नहीं मिलती, किन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह बौद्ध धर्म के प्रति उदासीन था। यद्यपि वह विष्णु का भक्त था, तथापि बौद्ध धर्म का रक्षक भी था। हुविष्क ने लगभग 30 वर्ष तक शासन किया। हुविष्क के बाद वासुदेव कुषाण साम्राज्य का स्वामी हुआ। इस सम्राट के नाम से पता चलता है कि कुषाण वंश का अब पूर्ण रूप से भारतीयकरण हो चुका था। उसके लेख और सिक्के मथुरा, पंजाब और संयुक्त प्रान्त से ही प्राप्त हुए हैं जिससे सिद्ध होता है कि उसका अधिकार केवल इन प्रदेशों तक ही सीमित रह गया था। यद्यपि उसके नाम से उसके वैष्णव धर्मानुयायी होने का अनुमान होता है तथापि उसकी अधिकांश मुद्राओं पर शिव तथा नन्दी की आकृति खुदी हुई हैं, जिससे ज्ञात होता है कि वह शैव था। वासुदेव कुषाण वंश का अन्तिम सम्राट था। उसके समय से ही इस राजवंश का पतन आरम्भ हो गया था।

स्वपरीक्षण करें (जमेज लवनतेमसा)
मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस
198

1.

कुषाण कौन थे? भारतीय इतिहास में कुषाण राजवंश की देन का विश्लेषण कीजिए ।

2

कुषाण कौन थे? कनिष्क की विजयों और सफलताओं की समीक्षा कीजिए ।

3.

कनिष्क की उपलब्धियों की विवेचना कीजिए ।

4.

बौद्ध इतिहास में कनिष्क का स्थान निर्धारित कीजिए ।

5.

कनिष्क की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों की विवेचना कीजिए ।

6.

कनिष्क एक महान् विजेता, महान् निर्माता, कला का पोषक तथा साहित्य का संरक्षक था । इस कथन के सन्दर्भ में कनिष्क का मूल्यांकन कीजिए ।

माड्यूल 4

इकाई 10

दक्षिण भारत साहित्य, समाज एवं राजनय

संगमकाल अभिप्राय, प्रथम संगम (मूदल संगम), द्वितीय संगम (इण्डसंगम)
तृतीय संगम (कूडल संगम)

संगम साहित्य रचना काल, संगमकालीन साहित्य,

पत्तुप्पाट्टु अथवा पत्तुपात्तु, पदिनेकिल्कणक्कु, शिलप्पदिकारम्

६ मणिमेकलै जीवक चिन्तामणि, संगमकालीन समाज, ब्राह्मण, राजन्यवर्ग (अरसर),

य

श्र

व्यापारी वर्ग (वेनिगर), भू-स्वामी एवं कृषक (वेल्लाल), अन्य व्यावसायिक जातियाँ

विदेशी जातियाँ, विवाह, सती प्रथा, स्त्रियों की स्थिति

आवास, खानपान, मनोरंजन, वेशभूषा एवं श्रृंगार,

अन्धविश्वास, मृतक संस्कार, संगमकालीन राजनय राजा, मन्त्रि परिषद, नगर

सभा तथा ग्राम सभा, न्याय-व्यवस्था, सैन्य व्यवस्था, राजस्व व्यवस्था

अध्ययन उद्देश्य रू



इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे –

- ☐ दक्षिण भारत के संगमकाल से अभिप्राय, संगमकालीन साहित्य छ
- ☐ संगमकालीन समाज, मंत्रिपरिषद्

इकाई 11 संगमकाल

परिचय

संगमकाल अभिप्राय

भारत का सुदूर दक्षिणी भाग शतमिलकम् श प्रदेश या शतमिलहमश कहा गया है, जो कृष्णा एवं तुंगभद्रा नदियों के दक्षिण के भू-भाग में स्थित है। शतमिलहमश तमिल भाषा की पहाड़ियों तक, उत्तर तथा उत्तर पश्चिम में कर्नाटक के पठार को दक्षिणी सीमा तक और पूर्व पश्चिम तथा दक्षिण में क्रमशः बंगाल की खाड़ी, अरब सागर और हिन्द महासागर तक है। दक्षिण की अधिकांश नदियाँ पूर्व की ओर बहकर बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। इन नदियों के प्रवाह से इस तट में बहुत से मार्ग बन गए, जिनके कारण प्राचीनकाल में भी आन्ध्र तथा तमिलनाडु प्रदेश से समुद्रतट के बीच आवागमन अपेक्षाकृत सरल था। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी से पहले यहाँ पर अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। इनमें चेर, चोल, पाण्ड्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। समुद्र से घिरे होने के कारण भारतीय इतिहास में इसकी विशिष्ट स्थिति रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि ई. पू. प्रथम शती तक ये तीनों राज्य अस्तित्व में आ चुके थे।

दक्षिण भारतीय राज्यों के बारे में प्रथम साहित्यिक उल्लेख ई. पू. चौथी शती में मेगस्थनीज द्वारा पाण्ड्यों के राज्य का वर्णन है। अशोक ने दूसरे एवं तेरहवें शिलालेख में चोल – पाण्ड्य राज्यों को सीमावर्ती राज्यों की सूची में रखा है। कलिंगराज खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख तमिल राज्यों का उल्लेख करने वाला एक अन्य शिलालेख है। इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि खारवेल ने तमिल प्रदेश के तीन राज्यों के संघ शत्रामिरदेश संघटम् को पराजित किया था, परन्तु प्राचीन दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश की जानकारी के लिए ये साधन पर्याप्त नहीं हैं। इस प्रदेश की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की जानकारी हमें उस तमिल साहित्य से होती है जिससे शसंगम साहित्य के नाम से अभिहित किया गया है। डॉ० के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री ने ईसवी सन् की प्रथम तीन या चार शताब्दियों में रचित तमिल साहित्य को शसंगम साहित्य के नाम से अभिहित किया है। शसंगम तमिल कवियों, बुद्धिजीवियों और चिन्तकों का एक संघ, परिषद्, अकादमी, विद्यालय अथवा सम्मेलन था, जो सम्भवतः राजा या सरकार के आश्रय में आयोजित होता था। इनके आयोजन मदुरा (मदुरै) में

पाण्ड्य शासकों की प्रेरणा से तथा उन्हीं के संरक्षण में हुए थे। इनका उद्देश्य तमिल देश के विद्वानों की विभिन्न विषयों पर उत्कृष्ट काव्य रचनाओं की समीक्षा, संकलन तथा सम्पादन करना था। के. आर. श्रीनिवास आयंगर ने संगमों की तुलना आधुनिक काल की फ्रांस- अकादमी से की हैं, जो अनुचित नहीं है।

तीन संगम

प्रथम संगम (मूदल संगम)

—

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार पाण्ड्य नरेशों के संरक्षण में यह संगम अगस्त्य ऋषि (अगत्तियनार, जो प्राचीन तमिल व्याकरण के प्रणेता माने जाते हैं) की अध्यक्षता में हुआ था। इसके अन्य सदस्य थे तिरिपुरमेरिघ, विरिसदैक्कदबुल, कुमेरिन्द, मुरुगंवल और मुरुचियूर मुदिनारायर तमिल साहित्य के अनुसार संगम के सदस्यों की कुल संख्या 549 थी। इसे 89 पाण्ड्य नरेशों का संरक्षण मिला था और इसमें 4499 लेखकों की रचनाएँ संकलित की गईं। इसका कार्यकाल 4500 वर्ष तक रहा, लेकिन यह वर्णन अतिरंजित लगता है। इस संगम की प्रमुख रचनाओं में अकत्तियम् (अगत्तियम्), परिपदल, मुदुना, मुदुकुरुकु, कलरियविरय आदि उल्लेखनीय हैं। लेकिन प्रथम संगम का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। प्राचीन मदुरई के समुद्र में समा जाने के कारण प्रथम संगम का अवसान हो गया।

द्वितीय संगम (इण्डेसंगम)

पाण्ड्य नरेशों के संरक्षण में कपाटपुरम् (अथवा अलैवै) में दूसरे संगम की स्थापना की गई। इसके संस्थापक अध्यक्ष भी अगस्त्य ऋषि थे, परन्तु बाद में उनके शिष्य तोलकाप्पियर ने इसकी अध्यक्षता की। इसकी सदस्य संख्या 49 थी और 59 पाण्ड्य नरेशों का इसे संरक्षण प्राप्त हुआ। परम्परा के अनुसार इस परिषद् में 3700 कवियों की रचनाएँ संकलित की गईं और यह 3700 वर्षों तक चली। यह वर्णन भी प्रथम संगम के समान अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है। इस संगम में 8149 ग्रन्थों का संग्रह था। इनमें

तोल्काप्पियम्, अगत्तियम्, मापुरानम्, व्यालयल, कलिन्यालमाले, भूतरानम्, वेन्दालि, कुरुकु आदि ग्रन्थ

प्रमुख

थे। इनमें केवल तोल्काणियम् नामक व्याकरण ग्रन्थ ही उपलब्ध है। इस दृष्टि से यह तमिल साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। डॉ. रोमिला थापर इसे बहुत बाद की रचना मानती हैं। इस संगम की भी केवल अनुश्रुतियाँ ही शेष हैं। कपाटपुरम् नगर के समुद्र में समा जाने से द्वितीय संगम भी समाप्त हो गया।

तृतीय संगम (कूडल संगम)

प्राचीन अनुश्रुतियों के अनुसार तीसरा संगम नवीन मदुरई (मदुरै) नगर में हुआ,

प्राचीन भारतीय इतिहास

जो 1850 वर्ष तक चला। यह भी अविश्वसनीय लगता है। इसके 49 सदस्य थे और 49 पाण्ड्य नरेशों का इसे संरक्षण प्राप्त था। इसमें 449 कवियों की रचनाएँ संकलित की गईं। इसके अध्यक्ष महाकवि नक्कीरर थे। इसके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में नृत्रैम्बत्थ, वरि, नत्रिने, नैडुन्थोकै, कृत्यु, परिपादल, ललिनै, कुरत्योके, सितिरिसै परिपादल, पेरिस आदि प्रमुख हैं। इस काल के प्रमुख व्यक्तियों में इरैयनार, कपिलर, परनल, सित्तलैसत्तनार एवं पाण्ड्य शासक उग्र के नाम मिलते हैं। संगम युग की उपलब्ध लगभग सभी काव्य रचनाएँ तृतीय संगम की मानी जाती हैं।

संगम साहित्य रचना काल

संगम साहित्य के रचना काल को लेकर विवाद है। तमिल तथा आर्य दो भिन्न संस्कृति के समन्वय से यह साहित्य विकसित हुआ है। इसमें उपलब्ध रचनाएँ निश्चित रूप से कुछ बाद की हैं। श्री निवास आयंगर के मतानुसार संगम साहित्य 500 ई. पू. से 500 ई. तक लिखा गया।

ई.

डॉ. आर. सी. मजूमदार के मतानुसार संगमों की तिथि के सम्बन्ध में विवाद है, परन्तु इनका समय 500 पू. से 500 ई. के मध्य निश्चित किया जा सकता है। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि संगमों की अवधि 1000 वर्ष की थी न कि 10,000 वर्ष, जैसा कि परम्परानुसार स्वीकार किया गया है। श्री निवासाचारी भी इनका प्रारम्भ छठीं पाँचवीं ई.पू. मानते हैं। एच. बी. श्रीनिवासमूर्ति के मतानुसार मणिमैखलै तथा शिलप्पादिकारम् को रचना द्वितीय शताब्दी ई. पू. में की गई थी तथा कुरल की कविताएँ 150 ई.पू. में रचित हुईं। अधिकांश विद्वानों के मतानुसार संगम साहित्य 150 ई. पू. से 550 ई. के मध्य रचित हुआ था। दक्षिण भारतीय इतिहासकारों का मत है कि संगम साहित्य का काल ई. सन् से कुछ पहले या कुछ बाद से कुछ शताब्दियों तक का प्रो. नीलकण्ठ शास्त्री इन रचनाओं को 100 ई. से 300 ई. के मध्य रखते हैं। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने निम्नलिखित तर्क दिए हैं

कृ

1. तीसरी शताब्दी ई. पू. में ब्राह्म लिपि में जो तमिल मिलती है, वह अविकसित तमिल है तथा इसमें संस्कृत शब्दों का मिश्रण है। इसके विपरीत संगम साहित्य की तमिल विकसित है। इस विकसित अवस्था में पहुँचने में कुछ शताब्दियाँ लगी होंगी।

2.

संगम साहित्य में उल्लिखित चेर राजा शेनगुडवन (दहनजजनअंद) का लंका के राजा गजबाहु प्रथम की समसामयिकता से भी तिथि निर्धारण में सहायता मिलती है। दोनों की समसामयिकता की जानकारी शिलप्पादिकारम् नामक रचना से मिलती है। गजबाहु प्रथम का समय 173 ई. से 195 ई. माना जाता है। इस आधार पर संगम युग का समय 100 ई. से 250 ई. तक माना जा सकता है।

3. संगम – साहित्य की कविताओं में यवनों के साथ तमिल राज्यों के व्यापारिक सम्बन्धों का जो वर्णन दिया गया है, वह स्ट्रेबी और टॉलमी के विवरणों से काफी मिलता-जुलता है। पुरातात्विक साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में तमिल राज्यों का रोमन जगत् के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। दक्षिण भारत के अनेक स्थानों से प्रथम दो शताब्दियों के रोमन सम्राटों के स्वर्ण और रजत के सिक्के प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इस प्रकार संगम साहित्य का काल ई. की प्रारम्भिक शताब्दियों में मानना ठीक है।
प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

डॉ. नीलकण्ठ शास्त्री के तिथिक्रम को अन्य विद्वान सही मानते हैं। आर सत्यनाथ अय्यर ने भी ई. सन् की प्रथम तीन शताब्दियों को तमिलककम अथवा तमिल देश के इतिहास का संगम काल माना है। संगमकालीन साहित्य तमिल साहित्य का इतिहास शसंगम से प्रारम्भ होता है। जैसा पूर्व में उल्लेख किया गया है, परम्परा से तीन संगमों की जानकारी मिलती है। पहला संगम प्राचीन मदुरई में स्थित था, लेकिन वह मदुरई तो अब हिन्द महासागर में डूब गया है। तमिल साहित्य के विवरण के अनुसार इसके सदस्यों की कुल संख्या 549 थी और 4499 लेखकों से ज्यादा ने अपनी कृतियों संगम को दी, लेकिन प्रथम संगम का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

दूसरा संगम कपाटपुरम् (अलैवे) में स्थित था। इस संगम में कुल 3700 कवियों की कृतियाँ संकलित की गईं। इस काल की प्रामाणिक रचनाएँ तोल्काप्पियम्, अगत्तियम्, मापुरानम्, कलिन्यालमाले, भूतपुरानम्, वेन्दालि, कुरुकु आदि ग्रन्थ हैं। इस संगम के पुस्तकालय में 8149 रचनाएँ संग्रहीत थीं, परन्तु वह भी समुद्र में समा गई। दूसरे संगम की एकमात्र रचना तोल्काप्पियम् बची है, जो तमिल व्याकरण है। तोल्काप्पियम् द्वितीय संगम का एक महान ग्रन्थ माना जाता है, परन्तु बहुत से विद्वान इसे बहुत बाद की रचना मानते हैं। यह तमिल व्याकरण का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। अगस्त्य ऋषि के सबसे योग्य 12 शिष्यों में से एक तोल्काप्पियर इसके लेखक है। यह तीन खण्डों और नौ-नौ उपखण्डों में विभाजित है। इसके प्रथम खण्ड में वर्ण – विचार (इलुथु), द्वितीय खण्ड में व्युत्पत्ति (मोल) और तीसरे खण्ड में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थितियों का प्रसंगवश वर्णन किया गया है। यह व्याकरण ग्रन्थ वस्तुतः भाषा प्रबन्ध के साथ-साथ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (अरम्, पोरुल, इनवम्, बिंदु) की नियमावली भी है। यह प्राचीनतम उपलब्ध तमिल साहित्य है। इस ग्रन्थ पर अनेक परवर्ती विद्वानों ने टीकाएँ भी लिखी हैं।

तृतीय संगम की रचनाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है प्रथम एट्टुत्तोकै अथवा एट्टुथोकै (अष्ट पदावली), द्वितीय पत्तुप्पाट्टु या पत्तुपत्तु (दस

प्राचीन भारतीय इतिहास

ग्राम्य गीत) और तीसरे पदिनेकिल्कणवकु (अष्टादश लघु उपदेश गीत) ।
एटुतोगे या एटुथोकै (अष्टपदावली)

कृ

(1) नापिणने या नारण— एटुतोकै का यह प्रथम संगम है। इसमें 40 पद मिलते हैं। जिन्हें 175 कवियों

र

ने लिखा है। इसमें अहवल छन्द में पंच तिणैयों का वर्णन है।

(2) कुरुन्योकै (कुरुतोगे) — इसमें अहवल छन्द में 400 लघु गीत मिलते हैं, जो 200 अलग-अलग

कवियों द्वारा लिखे गए हैं। इसका वर्ण्य विषय प्रेम है और यह भी पंच तिपणैयों पर आधारित है।

—

(3) एन्कुरुनुरु (ऐंगानूरु) यह 500 लघु गीत, पाँच शतकों (सेन्तुम) में विभाजित प्रेमगीत है।

जो पंच तिणैयों संयोग वियोग, प्रतीक्षा, विलाप एवं रुदन पर आधारित है।

—

६

(4) पदिनुपत्तु (पदिरुप्यत्तु) — इसमें 10 कविताएँ मिलती हैं। प्रत्येक में 10 छन्द है। इनमें आठ में चेर शासकों के शौर्य का वर्णन है। यह ग्रन्थ चेर शासकों के इतिहास का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। इस काल के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में यह लघु संग्रह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(5) परिपादल (परिपाडल)— इस संग्रह में मूलरूप से 70 गीत थे, किन्तु 22 ही उपलब्ध हैं। इसके

गीत देवताओं की स्तुति में लिखी वर्णनात्मक रचनाएँ हैं।

(6) कलिथोकै (कलित्तोग) यह पाँच कवियों की 150 कविताओं का संग्रह है। जिसकी रचना कपिलर के अतिरिक्त अन्य चार कवियों ने की। इसमें वर्ण्य विषय का पंच तिणैयों के आधार पर वर्णन किया गया है।

मसिप्पेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

202

(7) अहनानूरु इसका अन्य नाम नेडुन्थोके है। इसमें 145 कवियों की 400 कविताएँ अहवल छन्द

में लिखी गई। मदुराई निवासी रुद्रशर्मा ने इसका प्रणयन पाण्ड्य नरेश अग्रेपेरु वेणुदि के संरक्षण में किया था।

(8) पुरुनानूरु यह अन्तिम संकलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें 150 कवियों के 400 गीत संगृहीत हैं, जो कई स्रोतों से लिए गए हैं। इनमें कपिलर, अब्बै, कोवूलकिलार, पैरुन्थलै सत्तनार, पेरुम सित्तिरनार तथा उरैयूर एनिचेरि मुदमोसियार

प्रमुख हैं।

पत्तुप्पाट्टु अथवा पत्तुपात्तु (दस गीत)

(1) तिरुमुरुकात्रुप्पट्टै (तिरुमुरुगारुप्पडै) – पत्तुपाट्टु संग्रह का यह पहला गीत है। जिसकी रचना नक्कीरर ने की। इसका भाष्य नच्चिनागर किनियर ने किया। इसमें तमिल देव मुरुगन तथा उसके निवासों का वर्णन है।

(2) नैडुल्यादै इसकी रचना भी नक्कीरर ने की थी। इसमें वियोग— व्यथा का चित्रण है।

—

(3) पैरुम्पानानुप्पडै – रुद्रन कनार रचित यह 500 पंक्तियों का गीत है। इसमें कांची के ऐतिहासिक शासक तोण्डैमान इलाण्डियन के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। साथ ही इनमें तत्कालीन नगर— जीवन तथा प्रशासन का वर्णन भी है।

(4) पत्तिनप्पालै

यह रुद्रन कनार रचित प्रेम गीतों का संग्रह है। इससे प्रसन्न होकर चोलशासक करिवकाल ने अत्यधिक धन कवि को दिया था। इसमें कावेरीपत्तनम् बन्दरगाह का वर्णन उल्लेखनीय है।

(5) पोरुनरानुप्पडै – यह भी रुद्रन पुन्नवार द्वारा रचित है इसमें 500 गीत हैं। कांची के शासक तोण्डैयान इण्डियन के राज्यपाल का वर्णन है।

—

(6) मदुरैकांचि (मदुरैक्काचि) इसकी रचना मांगुदि मरुथनार ने की। इसमें पाण्ड्य शासक की प्रशंसा की गई है। यह तमिल भाषा एवं संस्कृति का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

(7) सिरुपानानुप्पडै (शिरुपानारुयडे) – यह नयनार द्वारा रचित है। काव्य का नाथक नल्लिय कोडन है जिसका समय 275 ई. माना जाता है। यह चेर, चोल और पाण्ड्य राज्यों की राजधानियों, प्रमुख शासकों, सामन्तों तथा तत्कालीन सामाजिक जीवन, आचार—विचार और रीति—रिवाजों की जानकारी के लिए महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

(8) मुल्लैपात्तु (मुल्लैपाट्टु) नष्युधनार द्वारा रचित इस ग्रन्थ में एक रानी के वियोग का 100 पदों

में वर्णन किया गया है। यह पाण्ड्य शासक तलैया लंगानम् की प्रशंसा में लिखा गया है। (9) कुरुन्विपात्तु (कुरुजिप्पट्टु) – इसमें कपिलर ने ग्राम्य जीवन एवं प्रेम का वर्णन किया है। इसमें

261 वाक्य हैं जो नक्कीकर के समकालिक हैं।

(10) मलैयडुकदाम (मलैपडुकडाम) 10 गीतों का यह अन्तिम संकलन है, इसमें 582 वाक्य हैं।

इसकी रचना कौशिकनार ने की थी। इसमें प्रकृति—चित्रण एवं नृत्य कला का वर्णन है।



पदिनेकिल्कणक्कु (अप्रष्टा दश लघु उपदेश गीत)

तृतीय संगम का यह विशाल साहित्य है। इसमें 18 लघु उपदेश गीतों का संकलन है, जो सूक्तरूप में नीति वाक्य है। इनकी रचना विशिष्ट छन्दों में हुई है। अधिकांश में 50 से अधिक श्लोक मिलते हैं।

(1)

(2)

नालटियार (नालडियार) — पदुपनार द्वारा लिखित यह 400 गीतों का संग्रह है जिसमें नीतिपरक आचार—व्यवहारादि का उल्लेख है।

मान्मणिवकदेकै (नान्मणिवकडिग) — इसके रचनाकार नागनार है और यह 100 चतुष्पदी है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छळ्ळै

मसिप्पेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

(3)

(4)

छळ्ळै

(5)

कारनार पशु (कारनादु)— इसका प्रमुख विषय प्रेम सम्बन्ध है। इसमें 40 पद हैं तथा मूलै का वर्णन है।

कलवलिनारपशु इसमें चेर— चोल संघर्ष का वर्णन है। यह 40 पृष्ठों का है। सम्भवतः यह पौक अप्रालवर द्वारा लिखा गया था।

इनियवैनारपथु (इनियनार्पदु) — यह एक विधेयात्मक उपदेश है। चालीस पदों की रचना का शेन्दनार है इनिय का अर्थ प्रारादायक वस्तुएं हैं, इसमें 124 वस्तुओं का उल्लेख है।

मसिप्पेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

204

(6)

इनारपथु (इनार्पदु)— इसमें निषेधात्मक निर्देश दिए गए हैं।

(7)

(11)

(12)

(13)

(14)

(15)

(8), (9), (10) ऐन्टिनै — इन सभी में प्रेम गीतों का संकलन है।

कुरल — इसे मुगल भी कहा जाता है, इसकी रचना कवि तिरुवल्लुवुर ने की,

जिसे तमिल परम्परा में ब्रह्मा का अवतार माना गया है। यह 133 खण्ड में है, प्रत्येक में 10 दोहे (कुरुल-वेण्व) है। इसमें धर्म, अर्थ, काम का वर्णन होने के कारण इसे साहित्यिक त्रिवर्ग में माना गया है। इसमें मोक्ष (बिंदु) का वर्णन धर्म में ही किया गया है। कुरल सम्पन्नपूर्ण तमिल साहित्य का आधार ग्रन्थ माना जाता है। दक्षिण भारत में इस अत्यधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ को लघुवेद अथवा बाइबिल माना जाता है।

तिरिक्कटुकम् (तिरिक्कडुगम्) (तीन मर्म भेदी) – 10 पदों के इस संग्रह के रचनाकार वैष्णव

प्रत्येक पद में तीन विचारों का उल्लेख है। इसमें औषधियों का वर्णन है।

आचारक्कोवै— यह शैव कवि की रचना है। इसकी रचना मूल्लीयार ने की थी।

पलमोलि 400 पदों के इस गीत काव्य के रचनाकार जैन धर्मानुयायी मनुरुरैचरैयर थे।

शिरुपंचमूलम् (शिरुपंचमूलम्) – इसमें 98 पद हैं। यह भी जैन विद्वान् द्वारा लिखित हैं जिसमें पाँच विचार मिलते हैं।

(16) पदुमोलिक कांचि (मुदुमोलिक्कॉजि)— इसके रचनाकार कुडुलरकीलार हैं। इस गीत में काव्य

में वर्णित नीतिपरक उपदेशों एवं निर्देशों में धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों का प्रभाव है।

(17)

(18) इलि (कैलि) – इसके रचनाकार पदीनेण है।

एलादि इसमें 80 पद हैं। इसके लेखक अज्ञात है, लेकिन जैन धर्मानुयायी प्रतीत होते हैं। इन 18 ग्रन्थों में कुरल, नालडियार, पलमोलि आदि ग्रन्थों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

८

महाकाव्य संस्कृत प्रभाव में परवर्ती संगमकाल में पाँच बड़े महाकाव्य भी लिखे गए। शिलप्पदिकारम्, मणिमेकलै (मणिमेखलै), जीवक चिन्तामणि, वलयपति और कुंदलकेशी। पहले दो महाकाव्यों की तुलना रामायण और महाभारत से की जाती हैं। इनसे ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों के तमिल इतिहास की महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। लघु महाकाव्यों में यशोधर का चूड़ामणि उदयन का व्यम्, नाग कुमार का व्यय तथा नीलकोशि हैं।

शिलप्पदिकारम् इसका शाब्दिक अर्थ है शनूपुर की कहानी। इस तमिल महाकाव्य का रचयिता इलंगो अडिगल है। उसका भाई चेर शासक शेनगुटुवन था। अपने भाई के भय से कवि ने सन्यासी जीवन अपना लिया था। इसमें कोलवन और कृष्णाकि की कथा का वर्णन है जो एक लोकप्रिय लोककथा पर आधारित है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

राजकीय कर्मचारियों द्वारा झूठे आरोप में अपने पति की हत्या के बाद कण्णकि के शाप से सम्पूर्ण मदुरा जलने लगता है। लेकिन बाद में कण्णकि अपना शाप नगर संरक्षिका देवी के आग्रह पर वापस ले लेती है जिससे आग बुझ जाती है। कण्णक्की नगर के बाहर एक पहाड़ी पर चली जाती है जहाँ उसकी मृत्यु हो जाती है और वह स्वर्ग में अपने पति कोलवन से मिलती है। इस कथा में वर्णित कण्णकि तमिल देवी के रूप में पूजी जाती है।

मणिमेकले (मणिमेखले) – इसकी रचना एक बौद्ध व्यापारी सित्तलै सत्तनार अथवा कूलवनिशन सत्तनार ने की थी। मणिमेकलै की रचना शिलप्पदिकार के कथानक के पूरक रूप में की गई है। उसमें कथानक को वहाँ से आगे बढ़ाया गया है, जहाँ से शिलप्पदिकारम् में छोड़ा था। इसकी नायिका कोलवन की प्रेमिका माधवी की पुत्री मणिमेकले हैं। माधवी प्रेमी की हत्या की खबर से बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है। राजकुमार उदय मणिमेकले को पाने का प्रयास करता है परन्तु नायिका अपने सतीत्व की रक्षा बड़ी कुशलता से करती अन्त में मणिमेकले भी मानवीय प्रेम को निस्सारता को समझकर बौद्ध भिक्षुणी हो जाती है। इस ग्रन्थ में बौद्धधर्म के तत्त्वों की प्रधानता है। लेखक ने इसमें मानवीय भावनाओं का सटीक एवं मर्मस्पर्शी चित्रण किया है।

—

जीवक चिन्तामणि एक जैन लेखक की रचना है। इसकी रचना सिद्धान्त वकदेवर ने की थी। वर्तमान ग्रन्थ में अप्रय छंद हैं, जिनमें मात्र 2700 मौलिक हैं। वह अनुचित रीति से सिंहासन हस्तगत करने वाले व्यक्ति का वध करने के बाद अपने पिता का सिंहासन त्यागकर जैन साधु बन जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त संगम साहित्य 2000 वर्ष पूर्व के तमिलों के जीवन के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करता है।

संगमकालीन समाज

—

यद्यपि संगम युग में तमिल और आर्य संस्कृतियों का सम्मिश्रण हो चुका था, फिर भी तमिल प्रदेश में आर्यों की चातुर्वर्ण व्यवस्था मान्यता प्राप्त नहीं कर सकी थी। तमिल साहित्य में कहीं भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों का उल्लेख नहीं मिलता। समाज गोत्रों तथा वर्गों में विभाजित था, जातियों में नहीं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संगमकालीन दक्षिणी समाज में वर्ण विभाजन नहीं था। परन्तु तमिल साहित्य में ब्राह्मणों का उल्लेख सिद्ध करता है कि इस काल में दक्षिणी भारत का आर्थिकरण तीव्रता से हो रहा था और ब्राह्मण अपनी व्यवस्था स्थापित करने में अत्यधिक सक्रिय थे। ब्राह्मणों को समाज में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। तमिलों में अवर समूह अति प्रतिष्ठित था और अल्लवार इनसे नीचे थे। सामन्तों, जमींदारों एवं मध्यम वर्ग की रचना इसी वर्ग से हुई थी। इन्हें वेल्लार भी कहा जाता था। चेर, चोल तथा पाण्ड्य इसी वर्ग के थे। राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग शबीलकुण्डीउल्वरश कहलाता था, जो छोटे कृषक थे। पशुपालक श अय्यरश तथा शिकारी शपदवरश

कहलाते थे। ये उल्हरो से होन थे। इनके नीचे लोहार, बढ़ई, सुनार, कुम्हार आदि थे। सैनिक भी इसी वर्ग में आते थे। पुरनानुरु नामक एक कविता में चार जातियों (कुडि) – तुडियन, पाणन, पडैयन एवं कडम्बन का उल्लेख हैं, परन्तु चातुर्वर्ण व्यवस्था का नहीं।

तोल्काप्पियम् नामक ग्रन्थ में ब्राह्मण, राजन्य (अरसर), व्यापारी (वेनिगर) और कृषक (बेल्लाल) चार वर्गों का उल्लेख मिलता है। इसमें प्रभुतासम्पन्न वेल्लालों को क्षत्रिय और राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से कमजोर बेल्लालों को शूद्र माना गया है। परन्तु यह विभाजन भी आर्यों की चातुर्वर्ण व्यवस्था के समान नहीं था।

ब्राह्मण

संगम पूर्व युग में ब्राह्मणों का अस्तित्व नहीं था, लेकिन दक्षिणी भारत के आर्यीकरण के परिणामस्वरूप ब्राह्मण वर्ण प्रकट हुआ। पुरोहित वर्ग का उदय ब्राह्मण वर्ग के रूप में हुआ। वैदिक धर्म के प्रचलन से दरबारों, धनिकों के यहाँ ब्राह्मणों की यज्ञकर्तृता के रूप में प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई इनका मुख्य कार्य वेदों का अध्ययन, यज्ञों का अनुष्ठान, पूजा-पाठ और अध्ययन-अध्यापन था। ब्राह्मणों की रक्षा तथा सम्मान राजा का मुख्य कर्तव्य था। ब्रह्म हत्या जघन्य अपराध माना जाता था। उन्हें राजा एवं सम्पन्न व्यक्ति उपहार, दान-दक्षिणा देते थे। करिकाल द्वारा 16 लाख स्वर्ण मुद्राएँ ब्राह्मण कवि को दी गई थीं। यहाँ के ब्राह्मण तमिल मूल के थे। उत्तर के वेदविज्ञ ब्राह्मण श्वेदमारश कहलाते थे। संगम साहित्य से ब्राह्मणों की दिनचर्या पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यह जाति जनेऊ धारण करती और कमण्डल में पवित्र जल लेकर चलती थीं। इनके सोने और बैठने के लिए लकड़ी की चौकी तथा तख्त हुआ करते थे। ये पृथक बस्तियों में गोबर से लिपे घरों में रहते थे तथा आँगन में गोवत्स बँधा रहता था। वे नियमित रूप से अग्निपूजा करते थे।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

स्व-प्रगति के परीक्षण करें रु

1. मूदल संगम (प्रथम) क्या हैं? 2. शिल्पाकारम्, का शाब्दिक अर्थ क्या है?

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

205

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

206

उनके यहाँ उपनयन के उपरान्त विद्याध्ययन का प्रचलन था। वे धार्मिक अनुष्ठानों के समय मृगचर्म पहनते थे। इनका जीवन नैतिकतापूर्ण था। राजन्यवर्ग (अरसर)

प्राचीन भारतीय इतिहास

ब्राह्मणों के पश्चात् इस वर्ग को समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त था। राज परिवार से जुड़े लोग इस वर्ग से सम्बन्धित थे और राजनीतिक दृष्टि से समाज में इनका विशेष महत्त्व था। इस जाति के लोग मुकुट और माला धारण करते थे और रथ, घोड़े तथा हाथी पर बैठकर निकलते थे। उस समय इनके हाथ में तलवार होती थी। इनका मुख्य कार्य जनता को आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना होता था। संगम कवियों ने राजाओं की विषय वासना, सुरापान एवं मनोरंजन का उल्लेख किया है। जनजातियों के शासक चोर, डाकू, लड़ाकू और निर्मम हत्यारे थे। ये मैदानी मार्गों से पशुओं का अपहरण करके उनके स्वामियों से लड़ाई एवं लूटपाट करते थे। पुरुनानुरु में एक कविता में नायकों द्वारा चरवाहों को मारकर गायों का झुण्ड छीनने और उन्हें उपहारस्वरूप बाँटने की प्रथा को ऐसी जनजातियों के नायकों का वीरोचित कर्म बताया गया है। शासन के समान सैनिकों को भी समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

व्यापारी वर्ग (वेनिगर)

व्यापारी वर्ग को संगम साहित्य में श्वेतियश कहा गया है। तमिल प्रदेश का आन्तरिक और बाह्य व्यापार का संचालन यही वर्ग करता था। आर्थिक दृष्टि से यह अत्यधिक सम्पन्न वर्ग था। पुहार (कावेरीपत्तनम्) के व्यापारी विदेशी व्यापार से धनी हो गए। वे दो मंजिले भवनों में रहते थे जिसमें नीचे की मंजिल का प्रयोग गोदाम के रूप और ऊपर की मंजिल का प्रयोग आवास के रूप में करते थे।

भू-स्वामी एवं कृषक (वेल्लाल)

ब्राह्मण तथा राजन्य के बाद समाज में भूस्वामियों का स्थान था। भूस्वामियों को श्वेल्लालश अथवा शउरारनडोरश कहा जाता था। इनका मुख्य कार्य कृषि कर्म था, लेकिन खेती की नवीन प्रविधियों के प्रयोग से पैदावार बढ़ी और वेल्लालों को समाज में प्रतिष्ठा मिली, जिसके परिणामस्वरूप कृषक भू-स्वामी बन गए। सम्पन्न वेल्लाल लोगों को उच्च राजकीय पदों पर नियुक्त किया जाता था। राज परिवारों के साथ इनके वैवाहिक सम्बन्ध होते थे और सेना के उच्च पदों पर भी इन्हें नियुक्त किया जाता था।

—

भूमिहीन तथा निम्न श्रेणी के किसान मजदूर वर्ग को वेल्लार अथवा पिनोर कहा जाता था। इनके पास अपनी कृषि भूमि नहीं थी। इस वर्ग के लोग सम्पन्न किसानों के खेतों पर मजदूरी करके अथवा अन्य प्रकार का कार्य करके जीवन-यापन करते थे। वे आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न नहीं थे और उनका सामाजिक स्तर भी निम्न था।

अन्य व्यावसायिक जातियाँ

संगम समाज में अन्य व्यावसायिक जातियों का उल्लेख मिलता है। जैसे गड़रिया, मछुवारे (पुरदवर) पट्टिनपलै में घुहार के मछुवारों का सजीव चित्रण है, सुनार, लुहार (कोलार), पुलैयन – रस्सी बनाने वाली जाति एनियर (शिकारी),

उमानार— नमक का व्यवसाय करने वाली जाति, कुम्हार (कूयावर), धोबी

—
□

(वनार), मलवर — उत्तरी तमिल सीमा में रहने वाली जाति। ये व्यासायिक जातियाँ कालान्तर में वंश परम्परागत बन गईं। संगम काल में उपर्युक्त व्यावसायिक जातियों को शूद्र नहीं समझा जाता था और इन जातियों में विवाह के लिए अन्तर्जातीय बन्धन नहीं थे, परन्तु समय के साथ-साथ ये बन्धन भी अस्तित्व में आ गए और इन जातियों में भी एक-दूसरी जाति से श्रेष्ठता की भावना विकसित होने लग गई थी।

विदेशी जातियाँ

संगम काल में दक्षिण में विदेशी व्यापार में अत्यधिक उन्नति हुई, जिसके परिणामस्वरूप बन्दरगाहों का अत्यधिक विकास हुआ। इन बन्दरगाहों में अनेक विदेशी व्यापारी रहते थे, जिनमें अधिकांश यूनानी — रोमन और अरब थे। सम्पन्न यवनों के निवास को श्मरुदूरु कहा जाता था। यवनों एवं अरबों की काया लम्बी

एवं सुदृढ़ होती थी, इसलिए उन्हें शासकों द्वारा अंगरक्षकों के रूप में भी रखा जाता था, परन्तु तमिल भाषा न आने के कारण उन्हें म्लेच्छ कहा जाता था।

विवाह

तमिल ग्रन्थ तोल्काप्पियम् के अनुसार तमिल देश में आयो द्वारा विवाह के पवित्र संस्कार का प्रतिष्ठापन किया गया। धर्मशास्त्र में उल्लिखित आठ प्रकार के विवाह का अनुसरण तमिलवासी करते थे, परन्तु उनके संस्कारों एवं कर्मकाण्डों को मान्यता प्राप्त नहीं थी। सामान्यतः दो प्रकार के विवाह होते थे, एक, माता-पिता की अनुमति के बिना प्रेम विवाह, जिसे श्कलावूश अथवा पाँच तिर्ण कहा जाता था और दूसरा, माता-पिता द्वारा तय सम्बन्ध, जिसे श्कारपूश कहा जाता था। विधि द्वारा एक पत्नी की प्रथा मान्य थी, परन्तु धनी लोग एकाधिक विवाह भी करते थे। निःसन्तान पुरुष को दूसरे विवाह की अनुमति थी। स्त्रियों को विवाह की स्वैच्छिकता का अधिकार था। निकट रक्त सम्बन्ध में भी विवाह मान्य थे। लड़के तथा लड़की की विवाह की आयु क्रमशः 18 एवं 12 वर्ष स्वीकार की गई थी। तमिल समाज में बाल-विवाह का प्रचलन नहीं था।

सती प्रथा

के

संगम साहित्य में सती प्रथा का स्पष्ट उल्लेख है। संगम काल के कवियों ने स्वेच्छा से सती होने वाली स्त्रियों की प्रशंसा में अनेक कविताएँ लिखी हैं। मणिमेकले के अनुसार सच्ची पत्नी वही कहलाती है, जो पति की मृत्यु के बाद सती हो जाती थी। पाण्ड्य शासक नेडुजेलियन के शासककाल में घुहार व्यापारी कोलवन की विधवा पत्नी कण्णकि सती हो गई थी। इसी प्रकार चोलशासक उपप्पहेदेर इलैयन तथा नेडुजेलियन की पत्नियाँ सती हो गई थीं। सती होना सामान्य नियम न होकर अपवादस्वरूप था। विशेषकर यह प्रथा



Notes

प्राचीन भारतीय इतिहास

राजपरिवारों में प्रचलित थी। परन्तु जो स्त्री सती नहीं होती थी, उसे दयनीय जीवन बिताना पड़ता था। तोल्काप्पियम् में एक विधवा कहती है कि, षुझे सती होने से रोकने में आप लोगों का अवश्य कोई स्वार्थ है। मैं तेलयुक्त चावल, वेलै की पत्तियाँ खाने तथा नंगी भूमि पर सोने के लिए क्यों जीवित रहूँ? विधवा को केश मुण्डित कराने पड़ते थे। उन्हें दिन में एक बार सामान्य और अल्पाहार की अनुमति थी।

स्त्रियों की स्थिति

संगमकालीन साहित्य से स्त्रियों की स्थिति के बारे में बहुत कम सूचना मिलती है। संगमयुगीन पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। पत्नी के विषय में तोल्काप्पियम् में कहा गया है कि उसके लिए, पति के आधीन रहना श्रेयस्कर है, लेकिन यह भी कहा गया है कि स्त्री से परामर्श एवं मार्गदर्शन लेना पुरुष के लिए लज्जा की बात थी। स्त्री शिक्षा का प्रचलन था, विशेष रूप से संगीत एवं नृत्य की। संगम काल में अनेक कवयित्रियों के उदाहरण मिलते हैं। अवियार उस युग की एक विदुषी महिला एवं श्रेष्ठ कवयित्री थी। नेच्चेलिमर भी एक अच्छी कवयित्री थी। संगमकालीन काव्य संग्रहों में स्त्रियों की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक जीवन में भागीदारी के विषय में स्पष्ट विवरण नहीं मिलता है।

आवास

संगमकाल के धनी लोग ईट और गारे से बने भव्य भवनों में रहते थे। घरों की दीवारों पर देवमूर्तियों एवं पशु पक्षियों के चित्र चित्रित किए जाते थे। घर के आगे विशाल अहाते होते थे जिनमें उद्यान होते थे और उन्हें आकर्षित करने वाली विविध वस्तुओं से सजाया जाता था। राजाओं के आवास भी सुन्दर उद्यानों से सजाए जाते थे। भवन वास्तुशास्त्र के विधान के अनुसार एवं शुभ मुहूर्त में बनाए जाते थे। दशग्रामगीत काव्य में एक गीत में राजा नेडुजेलियन के जनाने महलों के शयनागारों का वर्णन तत्कालीन भव्यता एवं शान-शौकतपूर्ण आवासों का ज्ञान कराते हैं। लेकिन सामान्यजन कच्चे एवं सामान्य मकानों में रहते थे। निर्धन एवं निम्न व्यवसायों के लोग तो घास-फूस की झोपड़ियों में ही रहते थे।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

207

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

208

खानपान

संगमयुगीन समाज के खानपान में सामिष एवं निरामिष दोनों का प्रचलन था।

मांस के विविध प्रकार के व्यंजन बनाए जाते थे जिनमें जानवरों का मांस, कछुओं, मछलियों एवं सूअर का मांस बड़े चाव से खाया जाता था। लोग मदिरापान भी करते थे। संगम साहित्य में श्मीरश (जो नारियल के दूध, ताड़ के रस और गे के रस से तैयार) नामक शराब, इस काल के धनी लोगों के प्रिय आहार और पेय थे। रोम से अंगूरी आयात की जाती थी। जिसका साक्ष्य उत्खनन से प्राप्त शम्फोराश (सुरापात्र) से मिलता है। संगम – काल के खानपान की एक विशेषता चूने और सुपारी के साथ पान चबाने की आदत का विकास था। स्त्री और पुरुष दोनों में पान खाने का प्रचलन था।

मनोरंजन

संगमकालीन तमिल समाज में मनोरंजन के विविध साधन थे। संगम साहित्य से ज्ञात होता है कि शासक लोग तथा उच्चवर्ग के लोग कविता-पाठ, गायन, वादन, नृत्यादि से मनोरंजन करते थे। गीतकारों को उदारतापूर्वक पारिश्रमिक दिया जाता था। शारूपदार्श नामक महाकाव्य से ज्ञात होता है कि पारितोषिक में क्या वस्तुएँ दी जाती थीं। करिकाल नामक शासक ने अपने दरबारी कवि पट्टिनपौल के लेखक को एक सम्मेलन में 1,60,000 स्वर्णमुद्राएँ दी थी। संगमकाल के लोग संगीत एवं रागों के जानकार थे। राजा करिकाल सात सुरों का ज्ञाता था। बाँसुरी वादन का भी प्रचलन था। श्पाणरश और श्विडैलिवरश नामक घुमक्कड़ नर्तक-नर्तकियों के दल भी मनोरंजन के साधन थे। सामान्यतया मनोरंजन के प्रमुख साधनों में नृत्य, संगीत, वादन, झूला झूलना, कन्दुक क्रीड़ा, अभिनय, समुद्रतटीय क्षेत्रों में घूमने जाना, वृषभ, मुर्गो एवं बकरो की लड़ाई तथा मल्ल युद्ध थे। मांस एवं मदिरा का सेवन भी अत्यधिक किया जाता था।

वेशभूषा एवं श्रृंगार

उ

—

संगम काल में सूती और रेशमी कपड़ों का प्रयोग किया जाता था। अधिक शीत न होने के कारण सामान्य जन सूती वस्त्र तथा उच्च वर्ग के लोग कीमती रेशमी वस्त्र पहनते थे। घोती एवं पगड़ी मुख्य वस्त्र थे। लोगों का वस्त्र – विन्यास सामाजिक स्तर को सूचित करता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे। स्त्रियों के प्रिय आभूषण नाक की लौंग, चूड़ियाँ, हार तथा भुजबन्ध थे। पुरुष गले में हार पहनते थे। विभिन्न प्रकार के रत्न, कीमती पत्थरों, मोतियों, हीरे आदि का प्रयोग आभूषण निर्माण में होता था। इस काल के लोग सुगन्धित इत्र और तेल का प्रयोग भी करते थे।

अन्धविश्वास

इस काल के तमिलों में विभिन्न प्रकार के अन्धविश्वासों का भी प्रचलन था। वे जादू-टोना एवं भूत-प्रेत में विश्वास करते थे। बच्चों को नजर से बचाने के लिए घी एवं सरसों का तेल लगाते थे। बिखरे बालों वाली स्त्री का अपशकुन मानना और अनिष्ट रोकने के लिए ताबीज धारण करने की भी प्रथा थी। बरगद के पेड़ पर देवताओं का वास माना जाता था। ग्रहण का कारण सौंप द्वारा सूर्य एवं

प्राचीन भारतीय इतिहास

चन्द्रमा को निगल लेना तथा कौवों के बोलने को अतिथि एवं विरहिणी के पति आगमन का सूचक माना जाता था।

मृतक संस्कार

संगमकालीन तमिलों में मृतक संस्कार को दो विधियों प्रचलित थीं। एक, दाह संस्कार और दूसरा समाधिकरण द्य पदिनुमन्तु में चेर राजाओं के शवाधान विधि का वर्णन है। मणिमेकले में शवाधान की अनेक विधियों का वर्णन मिलता है। इसमें मृतक की सामाजिक स्थिति के अनुसार विभिन्न आकार-प्रकार की समाधियाँ बनाने का भी वर्णन है। मृतक व्यक्ति को दफनाते समय उसकी विधवा दूब पर चावल का लड्डू रखकर उसे अर्पित करती थी। सम्पन्न लोग अपने मृतक परिजनों के सम्मान में विभिन्न आकार की ईंटों की समाधियाँ बनवाते थे।

संगमकालीन राजनय

संगम साहित्य संगमयुगीन प्रशासनिक व्यवस्था के बारे में पर्याप्त जानकारी प्रदान नहीं करता, परन्तु फिर भी हमें जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, वे महत्वपूर्ण हैं। तिरुवल्लुवर द्वारा रचित शकुरलश राजशास्त्र पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। कुरल के अतिरिक्त शिलप्पदिकारम् तथा मणिमेकलै भी अत्यन्त उपयोगी हैं।

राजा

चेर, चोल और पाण्ड्य इन तीनों राज्यों में शासन पद्धति राजतन्त्रात्मक थी और वंशानुगत अधिकार का प्रचलन था। राजा को असीमित अधिकार प्राप्त थे, किन्तु उसके ऊपर जनता से चुने हुए प्रतिनिधियों से निर्मित पाँच समितियों का नियन्त्रण रहता था। ये प्रतिनिधि जनता के हितों की रक्षा के लिए राजा को प्रेरित करते रहते थे। ये समितियाँ एक-दूसरे से स्वतन्त्र होती थीं और स्वायत्त थीं। ये समितियाँ पाण्ड्य चेर और चोल तीनों ही राज्यों में विद्यमान थीं। तत्कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि जनता अपने शासकों से सन्तुष्ट थी। अतः राजा का भी कर्तव्य हो जाता था कि वह अपने व्यक्तिगत आचरण और जीवन में अपनी प्रजा के सामने उच्च आदर्श प्रस्तुत करे। वह प्रतिदिन अपना दरबार लगाता था, जिसे शनलावहीश कहकर पुकारा जाता था। पुरुनानूरु की एक कविता में शकुरवर्ती राजाश के आदर्शों का उल्लेख मिलता है।

तमिल देश के राजा देवत्व में विश्वास करते थे। राजा की तुलना उस बैल से की गई है जो भारी बोझ से लदी गाड़ी को दुर्गम मार्ग से खींचकर ले जाता है। अकाल की स्थिति के लिए राजा की दुष्टता एवं उसके कुशासन को उत्तरदायी माना गया है। राजा को न्यायोचित कर एवं भेंट लेने की सलाह दी गई है। संगम काल में श्मन्त्रि परिषद् जैसी संस्था का अस्तित्व था या नहीं, इसकी स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती, परन्तु राजा की निरंकुशता पर नियन्त्रण रखने एवं महत्वपूर्ण समस्याओं पर उसे सलाह देने के लिए श्परिषदों का अस्तित्व था। तमिल देश के प्रमुख अधिकारियों में पुरोहित (आशन्) मन्त्री (अमच्चर) एवं सेनानायक (तनित्तलैवर) प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त ज्योतिषी, दूत, गुप्तचर आदि भी महत्वपूर्ण थे। ब्राह्मण पुरोहित का पर्याप्त सम्मान था। गुप्तचरों में लेखाकारों, कोषाधिकारियों, महल के रक्षकों, पैदल सेना के सेनानायक और

कार्यपाल अधिकारी होते थे। राज्य में कानून और व्यवस्था को बनाए रखना इनका उत्तरदायित्व था।

कृ

पुरोहित, प्रमुख ज्योतिषी, वैद्य, सेनापति आदि राज्य के प्रमुख अधिकारी थे। पुरोहित का मुख्य कार्य धार्मिक कार्यों की देखभाल करना और ज्योतिषी का कार्य इन धार्मिक कार्यों के लिए शुभ मुहूर्त निकालना था। वैद्य का कार्य चिकित्सा व्यवस्था की देखभाल करना था। सेनापति, सेना की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी था। इनके अतिरिक्त अन्य अधिकारियों की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। कारागार प्रशासन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। राजधानी तथा बड़े नगरों में रात्रि के समय चौकीदार गश्त लगाते थे। राजप्रासादों में यवन स्त्रियाँ अंगरक्षिकाएँ नियुक्त की जाती थीं। यवनों से यहाँ तात्पर्य रोम, अरब तथा अन्य देशों के लोगों से है। कुरल में दूतों का विस्तृत विवरण मिलता है। शिलप्पदिकारम् में शेनगुडुवन द्वारा 1000 दूत नियुक्त किए जाने का उल्लेख है। तमिल देश के तीनों राज्यों के शासक बड़ी संख्या में गुप्तचर रखते थे। संगम साहित्य में इन्हें श्वेयश एवं शओरुश कहा गया है। वे अपने तथा दूसरे राज्यों के विषय में अपेक्षित जानकारी प्राप्त करके राजा को उपलब्ध कराते थे और आवश्यकतानुसार राजा को परामर्श देते थे।

नगर सभा तथा ग्राम सभा

संगम साहित्य से नगर सभा तथा ग्राम सभा की जानकारी मिलती है, परन्तु उसके स्वरूप, अधिकार और कार्यक्षेत्र का विस्तृत विवरण नहीं मिलता। नगर सभा का मुख्य कार्य न्याय-व्यवस्था के संचालन में राजा को सहायता देना, अन्य मामलों में राजा को सलाह देना और नगर की विविध समस्याओं पर राजा का ध्यान आकर्षित करना रहा होगा। ग्राम सभा, गाँव के लोगों की सभा थीय जिसमें समूचे गाँव की समस्याओं पर विचार-विमर्श किया जाता था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसि-प्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

209

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

न्याय-व्यवस्था

संगम-युग

में राजा ही प्रथम तथा अन्तिम न्यायाधीश था। उसका न्यायालय मनरम कहलाता था। नरि के विवरण के अनुसार चोलों की राजधानी उरैयूर निष्पक्ष न्याय के लिए प्रसिद्ध थी। पाण्ड्य डुजेलियन को जब यह ज्ञात हुआ कि उसने निर्दोष कोलवन को मृत्युदण्ड दे दिया, तो शोकाकुल होकर उसने स्वयं दम तोड़ दिया और चेर शेंगुडन को जब डुजेलियन के इस घोर अन्याय के विषय में सूचना मिली, तो मात्र उसका पड़ोसी होने के कारण वह स्वयं भी लज्जित



हुआ । दण्ड विधान अत्यन्त कठोर था । संगम साहित्य में फौजदारी मुकदमों के पर्याप्त उदाहरण हैं । व्याभिचार के उद्देश्य से किसी अन्य व्यक्ति के घर में प्रवेश करते हुए पकड़े जाने पर उस व्यक्ति के पैर काट लिए जाते थे । झूठी गवाही देने वालों की जबान काट ली जाती थी, लेकिन दीवानी मामलों में सजा कठोर नहीं थी । जो लोग विवशतावश कर नहीं दे पाते थे और रियायत के लिए राजा से प्रार्थना करते थे, राजा उनके मामले में सहानुभूतिपूर्वक विचार करता था ।

सैन्य व्यवस्था

सेना को पेये कहा जाता था, जिसका अर्थ विनाशक होता था । संगम साहित्य से ज्ञात होता है कि उस युग में प्रत्येक राजा एक शक्तिशाली चतुरंगिणी सेना रखता थाय पदाति, अश्वारोही, स्थारोही और गजारोही । सेनापति को शृणाडिश् कहा जाता था । रथों में घोड़ों के स्थान पर बैलों का प्रयोग भी किया जाता था । अस्त्र-शस्त्रों में तलवार, तीर-धनुष, कवच, भाला- ढाल आदि का उल्लेख मिलता है । युद्धक्षेत्र में ढोल और शंख बजाकर सैनिकों को उत्साहित किया जाता था । सैनिकों का यह विश्वास था कि युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वालों को स्वर्ग मिलता है । विजय की कामना से जो युद्ध लड़े जाते थे उनमें बहादुर सैनिकों के मारे जाने के बाद उनकी समाधि पर पाषाण के थड़े लगा दिए जाते थे और उनकी पूजा की जाती थी । राजा स्वयं युद्ध का संचालन करता था और युद्ध के मध्य मारा जाता अथवा घायल हो जाता, तो पराजय स्वीकार कर ली जाती थी । विजित प्रदेश को बड़े क्रूरता के साथ नष्ट-भ्रष्ट किया जाता था, यहाँ तक कि खेल-खलिहान भी नहीं छूटते थे । कभी-कभी साहसी स्त्रियाँ भी अपने पतियों के साथ युद्ध के मैदान में चली जाती थीं ।

राजस्व व्यवस्था

भूमि- कर राजकीय आय का मुख्य साधन था । व्यापार से प्राप्त कर से भी पर्याप्त आय होती थी । भूमि-कर को श्कराईश् कहा जाता था । कुल उपज का कितना भाग कर के रूप में लिया जाता था, इसके बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । सम्भवतः वैदिककाल के समान उपज का 1/6 भाग वसूल किया जाता था । जिन किसानों को राज्य सिंचाई की सुविधा उपलब्ध कराता था, उनसे सिंचाई का अतिरिक्त कर भी लिया जाता था । राज्य की सीमाओं पर चुंगी बसूलने तथा तस्करी को रोकने की पर्याप्त व्यवस्था थी । सीमा शुल्क को श्उल्यूश् कहा जाता था । युद्ध में शत्रु पक्ष से जीती तथा लूटी गई सम्पत्ति भी आय का एक अन्य साधन थी, जिसे श्इराईश् कहा जाता था । राज्य की ओर से घन की अतिरिक्त माँग एवं बलात् लिए गए उपहार को श्इरादूश् कहा जाता था । संगमकाल में चोल शासकों ने श्कुम्भकोनमश् में एक विशाल कोषागार की व्यवस्था की थी ।

सारांश (नउउंतल)

तमिल देश के राजा देवत्व में विश्वास करते थे। राजा की तुलना उस बैल से की गई है जो भारी बोझ से लदी गाड़ी को दुर्गम मार्ग से खींचकर ले जाता है। अकाल की स्थिति के लिए राजा की दुष्टता एवं उसके कुशासन को उत्तरदायी माना गया है। राजा को न्यायोचित कर एवं भेंट लेने की सलाह दी गई है। संगम काल में श्मन्त्रि परिषद् जैसी संस्था का अस्तित्व था या नहीं, इसकी स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती, परन्तु राजा की निरंकुशता पर नियन्त्रण रखने एवं महत्वपूर्ण समस्याओं पर उसे सलाह देने के लिए

शपरिषदों का अस्तित्व था। तमिल देश के प्रमुख अधिकारियों में पुरोहित (आशन्) मन्त्री (अमच्चर) एवं सेनानायक (तनित्तलैवर) प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त ज्योतिषी, दूत, गुप्तचर आदि भी महत्वपूर्ण थे। ब्राह्मण पुरोहित का पर्याप्त सम्मान था। गुप्तचरों में लेखाकारों, कोषाधिकारियों, महल के रक्षकों, पैदल सेना के सेनानायक और कार्यपाल अधिकारी होते थे। राज्य में कानून और व्यवस्था को बनाए रखना इनका उत्तरदायित्व था।

स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

रू

1. प्रथम संगम (मूदल संगम) प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार पाण्ड्य नरेशों के संरक्षण में यह संगम अगस्त्य ऋषि (अगत्तियनार, जो प्राचीन तमिल व्याकरण के प्रणेता माने जाते हैं) की अध्यक्षता में हुआ था। इसके अन्य सदस्य थे। तिरिपुरमेरिथ, विरिसदैक्कदल, कुमेरिन्द, मुरुगंवल और मुरुचियूर मुदिनारायर। यह तमिल साहित्य के अनुसार संगम के सदस्यों की कुल संख्या 549 थी। इसे 89 पाण्ड्य नरेशों का संरक्षण मिला था और इसमें 4499 लेखकों की रचनाएँ संकलित की गईं। इसका कार्यकाल 4500 वर्ष तक रहा, लेकिन यह वर्णन अतिरंजित लगता है। इस संगम की प्रमुख रचनाओं में अकत्तियम् (अगत्तियम्), परिपदल, मुदुनारे, मुदुकुरुकु, कलरियविरय आदि उल्लेखनीय लेकिन प्रथम संगम का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। प्राचीन मदुरई के समुद्र में समा जाने के कारण प्रथम संगम का अवसान हो गया।

2. शिलप्पदिकारम् – इसका शाब्दिक अर्थ है शनूपुर की कहानी। इस तमिल महाकाव्य का रचयिता इलंगो अडिगल है। उसका भाई चेर शासक शेनगुटुवन था। अपने भाई के भय से कवि ने सन्यासी जीवन अपना लिया था। इसमें कोलवन और कण्णकि की कथा का वर्णन है जो एक लोकप्रिय लोककथा पर आधारित है। राजकीय कर्मचारियों द्वारा झूठे आरोप में अपने पति की हत्या के बाद कण्णकि के शाप से सम्पूर्ण मदुरा जलने लगता है। लेकिन बाद में कण्णकि अपना शाप नगर संरक्षिका देवी के आग्रह पर वापस ले लेती है जिससे आग बुझ जाती है। कण्णक्की नगर के बाहर एक पहाड़ी पर चली जाती है जहाँ उसको मृत्यु हो जाती है और वह स्वर्ग में अपने पति कोलवन से मिलती है। इस कथा में वर्णित कण्णकि तमिल देवी के रूप में पूजी जाती है।



Notes

प्राचीन भारतीय इतिहास

स्वपरीक्षण करें (जमेज ल्वनतेमसा)

1. संगम का अर्थ समझाइयें ।
2. प्रथम तीन संगम का विवेचन कीजिए ।
3. संगम साहित्य का काल निर्धारित कीजिए ।
4. संगम से क्या अभिप्राय है ? संगम साहित्य का विवेचन कीजिए ।
5. संगमकालीन समाज का विवेचन कीजिए ।
6. संगम साहित्य में वर्णित राजनय का विवेचन कीजिए ।

प्राचीन भारतीय इतिहास

इकाई 12

त्रिपक्षीय संघर्ष – पाल, प्रतिहार एवं राष्ट्रकूट

परिचय

त्रिपक्षीय संघर्ष के जानकारी के स्रोत, कन्नौज की तत्कालीन स्थिति संघर्ष में भाग लेने वाली तीनों शक्तियों का परिचय

कान्यकुब्ज (कन्नौज) का महत्त्व, आयुष वंश की दुर्बल राजनीतिक स्थिति गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र की समृद्धता का आकर्षण, शक्ति संतुलन तथा साम्राज्य की सुरक्षा हेतु

शासकों की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ, वणि डिण्डोरी अभिलेख, क्या है ।

त्रिपक्षीय संघर्ष का अन्त ६ समापन, त्रिपक्षीय संघर्ष के परिणाम

चालुक्य प्रशासन, चोल प्रशासन

अध्ययन उद्देश्य रू

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

त्रिपक्षीय संघर्ष के अध्ययन की जानकारी के स्रोत ।

□ कन्नौज की तत्कालीन स्थिति द्य

संघर्ष में भाग लेने वाली तीन शक्तियों का परिचय । त्रिपक्षीय संघर्ष के परिणाम द्य

चालुक्य, पल्लव एवं चोलो का प्रशासन एवं कला में योगदान ।

परिचय (पद्मजतवकनबजपवद)

पूर्व मध्यकालीन उत्तर भारत में साम्राज्य विस्तार हेतु तीन प्रमुख शक्तियाँ पाल,

प्रतिहार एवं राष्ट्रकूट प्रयास कर रही थीं। साम्राज्य विस्तार हेतु घटित इस त्रिपक्षीय संघर्ष की अनवरत श्रृंखला प्राचीन भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। पाल गुर्जर प्रतिहार एवं राष्ट्रकूट उत्तर भारत के प्रमुख नगर कन्नौज पर आधिपत्य जमाने के लिए लम्बे समय तक संघर्ष करते रहे। इसे ही त्रिशक्ति संघर्ष, त्रिपक्षीय संघर्ष, त्रिकोणात्मक संघर्ष, त्रिवंशीय, त्रिराज्यीय संघर्ष आदि नामों से जाना जाता है। तत्कालीन परिस्थितियों में कन्नौज पर आधिपत्य किए बिना उत्तर भारत का राजा बनना तथा चक्रवर्ती सम्राट कहलाना सम्भव नहीं था। इनके परस्पर संघर्ष में आक्रमण तथा प्रत्याक्रमण की श्रृंखला शक्ति परीक्षण तथा शक्ति सन्तुलन के उद्देश्य से लगभग पौने दो सौ साल तक चलती रही। कान्यकुब्ज (कन्नौज) पर निर्बल आयुष वंश से उत्पन्न राज्य था। जिससे प्रोत्साहित होकर परिस्थिति का लाभ उठाकर प्रतिहार और पाल दोनों वंशों ने कान्यकुब्ज राज्य को अपने अधिकार में रखने की कोशिश की। अवसर पाकर दक्षिणी भारत के राष्ट्रकूट वंश ने भी उत्तर भारत की राजनीति में भाग लिया। परिणामतः इन तीनों वंश के बीच दीर्घकालीन संघर्ष का सूत्रपात हुआ। जिसे त्रिपक्षीय संघर्ष कहा जाता है। यह त्रिपक्षीय संघर्ष पूर्व मध्यकालीन भारत की आठवीं व नौवीं शताब्दी की एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। ये सभी हर्षोत्तर काल में उत्तरी भारत में उत्पन्न हुई रिक्तता का लाभ उठाकर गंगा घाटी का स्वामित्व प्राप्त करना चाहते थे, और कन्नौज इस राजनीतिक लक्ष्य का प्रतीक बन गया था।

त्रिपक्षीय संघर्ष की जानकारी के स्रोत

य

त्रिपक्षीय संघर्ष के विषय में जानकारी सामान्यतः इसमें संलग्न शासकों तथा उनके राजवंशों के अभिलेखों तथा तत्कालीन व कालान्तर में रचित साहित्य से प्राप्त होती है। अभिलेखीय स्रोतों के रूप में मिहिर भोज का ग्वालियर अभिलेख, धर्मपाल का भागलपुर ताम्रपत्र अभिलेख अमोघवर्ष प्रथम का संजन ताम्रपत्र लेख, बड़ौदा अभिलेख, डिंडौरी एवं राधनपुर के अभिलेख, बादल स्तम्भ लेख, दुवकुण्ड अभिलेख, संजन अभिलेख आदि। साहित्यिक स्रोतों में ग्यारहवीं शदी में सोइठल द्वारा रचित उदयसुन्दरी कथा तथा इन स्रोतों में विरोधाभास स्वाभाविक है। सन्ध्याकर नन्दी द्वारा रचित रामचरित में मिलती हैं। विदेशी यात्रियों में अरब यात्री सुलेमान का विवरण भी महत्वपूर्ण हैं।

कन्नौज की तत्कालीन स्थिति

कन्नौज का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व रहा है, जिसमें वर्द्धनवंश तथा यशोवर्म जैसे शासकों ने अनेक आयाम और जोड़े। परिणामतः कन्नौज साहित्यिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों के केन्द्र के रूप में स्थापित हो गया। इतना ही नहीं तत्कालीन उत्तर भारत के अनेक यशस्वी साहित्यकार, दार्शनिक आदि कन्नौज की राज्यसभा में स्थान पाकर सम्मानित होते रहते थे। संस्कृत के बागपतिराज तथा भवभूति जैसे कवि यशोवर्म के आश्रय में रहते थे। इनसे पूर्व बाणभट्ट जैसे उत्कृष्ट गद्यकार कन्नौज

प्राचीन भारतीय इतिहास

की राज्यसभा में रह चुके थे।

यशोवर्म के गौरवपूर्ण इतिहास के पश्चात् लगभग बीस वर्ष तक कन्नौज का इतिहास स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। यशोवर्म की मृत्यु के बीस वर्ष बाद एक नवीन राजवंश कन्नौज के राजनीतिक रंगमंच पर दिखाई पड़ता है। जिसके शासक क्रमशः वज्रायुध, इन्द्रायुध एवं चक्रायुध थे। इन तीनों शासकों के अन्त में हम आयुध शब्द पाते हैं। इसलिए इस वंश को आयुषवंश के नाम से जाना जाता है। यद्यपि पायर्स महोदय ने इन शासकों को यशोवर्म का उत्तराधिकारी ही माना है। इसी आयुषवंश के राज्यकाल में त्रिपक्षीय संघर्ष की शुरुआत हुई। इस वंश के ज्ञात तथा त्रिपक्षीय संघर्षों से सम्बन्धित राजाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

वज्रायुध

उ

दसवीं शताब्दी की प्रसिद्ध कृति कर्पूरमंजरी में वज्रायुध नाम के शासक की चर्चा मिलती है। जिसे पांचाल के राजा के रूप में उल्लिखित किया गया है। इसकी राजधानी कन्नौज ही बताई गई है। जैन रचना हरिवंश से ज्ञात होता है कि कन्नौज में इन्द्रायुध नाम का एक शासक सन् 783 ई. में राज्य कर रहा था। इससे

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस —

213

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

214

अनुमानित है कि वज्रायुध का शासन 783 ई. के पूर्व भी रहा होगा। कुछ इतिहासकारों ने वज्रायुध को 770 ई. के आस-पास का शासक माना है। कल्हणकृत राजतरंगिणी से पता चलता है कि काश्मीर के राजा जयपीड विनयादित्य ने कन्नौज के राजा को पराजित किया। यदि जयपीड विनयादित्य ने अपने शासन के प्रारम्भिक चरण में कन्नौज पर आक्रमण किया था, तो कन्नौज का शासक वज्रायुध रहा होगा, परन्तु यदि उसने अपने शासन के उत्तरकाल में आक्रमण किया तो उस समय कन्नौज का शासक इन्द्रायुध ही रहा होगा !

इन्द्रायुध

इन्द्रायुध नाम का शासक वज्रायुध के पश्चात् हुआ। जैन हरिवंश से विदित होता है कि इन्द्रायुध उत्तर के राजा के रूप में प्रसिद्ध था। डॉ. ए. एस. अल्टेकर के अनुसार उत्तर भारत का प्रमुख नगर कन्नौज था, जिसका राजा इन्द्रायुध केवल पदवीधारी सम्राट था। इसी समय बंगाल में पालवंश, उज्जैन में गुर्जर प्रतिहार

वंश और दक्षिण के राष्ट्रकूट वंश का उत्कर्ष हो रहा था। तीनों वंशों की साम्राज्यवादिता की नीति का शिकार निर्बल इन्द्रायुध को होना पड़ा। तीनों वंशों के उत्तरी भारत पर आक्रमण करने के इसी संघर्ष को त्रिकोणात्मक संघर्ष के नाम से पुकारते हैं। सर्वप्रथम गुर्जर प्रतिहार वंश के राजा वत्सराज ने कन्नौज पर अधिकार किया। इससे पाल वंश के राजा धर्मपाल को ईर्ष्या हुयी, उसने कन्नौज पर आक्रमण किया परन्तु राजा वत्सराज ने पराजित किया। कुछ समय के पश्चात् राष्ट्रकूट का राजा ध्रुव उत्तरी भारत पर आक्रमण करके गुर्जर प्रतिहार नरेश वत्सराज एवं पाल नरेश धर्मपाल दोनों वंशों के राजाओं को पराजित कर दक्षिण लौट गया। भागलपुर अभिलेख से विदित होता है कि जब ध्रुव दक्षिण को लौट गया, तब धर्मपाल ने कन्नौज पर आक्रमण कर वहाँ के राजा इन्द्रायुध को हटाकर चक्रायुध को राजा बनाया –

चक्रायुध

जित्वेन्द्रराजप्रभृती नातीन् पार्जिता येन महोदय श्रीः

दत्ता पुन सा वलिनार्थयित्र चक्रायुषायानति वामनाये।

आयुध वंश का ज्ञात अन्तिम राजा चक्रायुध था। खालिमपुर अभिलेख से जानकारी मिलती है कि पाल नरेश धर्मपाल ने भोज (बरार प्रदेश), मत्स्य (जयपुर), भद्र (मध्य पंजाब) कुरु (कुरुक्षेत्र), यदु (मथुरा), यवन, अवन्ती (मालवा), गान्धार (पेशावर), कीर (कागड़ा घाटी) आदि प्रदेशों के राजाओं की एक सभा कर कन्नौज नरेश चक्रायुष का अभिषेक किया। सी.बी. वैद्य महोदय का कथन है कि ये सभी प्रदेश धर्मपाल के अधीन थे। परन्तु वैद्य महोदय का यह तर्क अतिशयोक्ति प्रतीत होता है। कुछ समय पश्चात् गुर्जर प्रतिहार नरेश नागभट्ट द्वितीय ने चक्रायुध पर आक्रमण कर उसे पराजित कर अपने राज्य में मिला लिया और यहीं से इस वंश का अन्त हो गया।

संघर्ष में भाग लेने वाली तीनों शक्तियों का परिचय

त्रिपक्षीय संघर्ष में जिन तीन शक्तियों ने भाग लिया उनमें गुजरात राजपूताना के गुर्जर प्रतिहार, दक्कन के

राष्ट्रकूट

और बंगाल के पाल थे। गुर्जर प्रतिहारों का भारतीय इतिहास में जो महत्त्व है इसका बहुत दिनों तक सही मूल्यांकन नहीं हुआ, किन्तु अब स्थिति कुछ परिवर्तित है तथा इतिहासकारों द्वारा इनका मूल्यांकन होने लगा है। इस वंश की स्थापना मण्डोर (जोधपुर) के हरिश्चन्द्र राजा ने की किन्तु वंश का वास्तविक प्रथम महत्त्वपूर्ण राजा नागभट्ट प्रथम था। जिसने अरबों से लोहा लिया था और पश्चिमी भारत में एक शक्तिशाली सम्प्रभु राज्य की स्थापना की थी। ग्वालियर प्रशस्ति में उसे म्लेच्छों का नाशक बताया गया द्य नागभट्ट द्वितीय (लगभग 800–833 ई०) ने पालवंश के धर्मपाल को हराया। इसके अतिरिक्त उसने आनर्त (उत्तरी काठियावाड़) मालवा (मध्यभारत) मत्स्य (पूर्वी राजस्थान) किरात, (हिमालय देश) तुरुष्क (अरब) तथा कौशाम्बी के वत्सों को पराजित किया। आंध्र सिंघ विदर्भ कलिंग आदि सुदूर देशों ने भी इसकी

प्राचीन भारतीय इतिहास

बढ़ती हुई शक्ति का अनुभव किया और वहाँ के राजा ने उससे सन्धि करनी चाही।

इस वंश का अगला महत्त्वपूर्ण राजा मिहिरभोज लगभग 836–885 ई. में था जिसने दक्षिणी राजस्थान से उज्जैन होते हुए नर्मदा तक के विस्तृत प्रदेश पर विजय प्राप्त की। कालान्तर में इसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम

(लगभग 885–915 ई.) गुर्जर प्रतिहार सत्ता का विस्तारक हुआ। कर्पूरमंजरी तथा काव्य मीमान्सा जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थों के प्रणेता उसकी सभा को सुशोभित करते थे। इसी वंश के राजा महिपाल प्रथम लगभग 912–943 ई. ने प्रतिहार वंश की सीमाएँ केरल, कुन्तल और कलिंग तक पहुँचा दीं। इस वंश के जिन राजाओं ने त्रिपक्षीय संघर्ष में भाग लिया उनमें वत्सराज, नागभट्ट द्वितीय, रामभट्ट, मिहिर भोज, महेन्द्रपाल प्रमुख था। भारतीय इतिहास में प्रतिहारों का महत्त्व इस बात में है कि पालों और राष्ट्रकूटों से संघर्ष करते हुए भी उन्होंने सम्पूर्ण उत्तरभारत को लगभग 150 वर्षों तक एक राजनीतिक और प्रशासनिक सूत्र में बाँधे रखा। डॉ. विशुद्धानन्द पाठक का मत है कि पाल और राष्ट्रकूट भारत वर्ष के हृदय स्थल और सदा से भारतीय राजनीति के केन्द्र (उत्तरी और मध्य भारत) को अधिकृत करने की त्रिपक्षीय लड़ाई प्रतिहारों से हार गए अपितु अपने-अपने क्षेत्रों में भी उनकी सत्ता का उतना दीर्घकालीन दबदबा नहीं रहा जितना सारे उत्तर भारत में गुर्जर प्रतिहारों का था। अपने चर्मोत्कर्ष के दिनों में पूर्व में उत्तरी बंगाल से सिन्धु सौराष्ट्र गुजरात तक उत्तर में हिमालय की निचली पहाड़ियों से लेकर दक्षिण में सारे बुन्देलखण्ड और मालवा तक तथा पूर्वी पंजाब और दिल्ली होते हुए सारे राजस्थान तक प्रतिहार सम्राटों की राजज्ञाएँ समान रूप से स्वीकृत थीं। समय और सीमाओं की दृष्टि से प्रतिहार साम्राज्य भारतीय इतिहास के प्रमुख साम्राज्यों में गिना जाना चाहिए, किन्तु प्रतिहारों को एक साथ जिस दीर्घ समयावधि तक विभिन्न दिशाओं पूर्व में पालों, पश्चिम में अरबों और दक्षिण में राष्ट्रकूटों जैसे अपने समान ही शक्तिशाली राजवंशों का मुकाबला करना पड़ा वैसी समस्या न मौर्य, गुप्तों की थी और न ही मुगलों की। अरब इतिहासकार सुलेमान, अबूजैद, अलमसूदी और अलगदजी उनकी देशभक्ति, वीरता, असीम सैन्यशक्ति तथा अरबों को पीछे धकलने के लिए सदैव उनके तैयार रहने पर अपने विवरण में प्रतिहारों के प्रति प्रशंसात्मक टिप्पणी करते हैं। गुर्जर प्रतिहारों के समान ही त्रिपक्षीय संघर्ष में भाग लेने वाली बंगाल की पालवंशीय राजशक्ति को भी वहाँ की अराजकता समाप्त करने के लिए जाना जाता है। हर्ष के समकालीन राजा शशांक की मृत्यु के बाद लगभग एक शताब्दी तक बंगला में उत्पन्न स्थिति को अभिलेखों में श्मत्स्य न्यायश की संज्ञा दी गई है। अन्त में पीड़ित जनता (प्रकृति) ने वप्पट के पुत्र गोपाल को अपना राजा चुना (खसिमपुर ताम्रपट्ट लेख) छ गोपाल ने मगध और समुद्र तक के देशों को जीता। कहा जाता है कि उसने 45 वर्ष तक राज्य किया और बौद्ध शिक्षा के एक प्रमुख केन्द्र ओदन्तपुरी की स्थापना की।

कृ

780 ई. के आस-पास गोपाल का पुत्र धर्मपाल (लगभग 770–810 ई.) गद्दी पर बैठा। धर्मपाल की दिग्विजय की जानकारी खादिमपुर अभिलेख (एपिग्राफिया इंडिका जिल्द – 4, पृ. 248) और नारायण पाल के भागलपुर अभिलेख (इंडियन घटिक्वरी, जिल्द 15, पृ. 305, इंडियन एटिक्वरी जिल्द–20, पृ. 187) से होती है। धर्मपाल ने कन्नौज में चक्रायुध को गद्दी पर बैठाया। इसकी जानकारी संजन ताम्रफलिकाभिलेख और मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति (एपिग्राफिया इंडिका जिल्द – 18, पृ. 233, 108) से होती है। धर्मपाल के सैनिकों के सम्बन्ध में मुंगेर अभिलेख (इंडियन घटिक्वरी, जिल्द–21, प. 255) और उत्तरी बंगाल पर प्रत्यक्ष अधिकार का उल्लेख तारानाथ और नेपाल से प्राप्त युद्ध हस्तलिपियों से होता है। धर्मपाल के आक्रमणकारी कदमों की चर्चा उदयसुन्दरी कथा (प.0–4) से होती है। हेमचन्द्र राय जैसे आधुनिक लेखकों ने धर्मपाल के साम्राज्य विस्तार पर प्रकाश डाला है।

810–850 ई. के मध्य धर्मपाल के पुत्र देवपाल ने 35 वर्षों तक राज्य किया। हिमालय, विन्ध्य और रेवा तक के प्रदेश पर उसने विजय प्राप्त की। बादल के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने गुर्जर, राष्ट्रकूट, हूण और उत्कल (उत्कीलितोत्कलकुलम्) के दर्प का दमन किया। एक अन्य अभिलेख में उसकी कम्बोजविजय का भी उल्लेख है। वह नालंदा महाविहार का संरक्षक था। इसकी विजय की चर्चा नारायण पाल के भागलपुर अभिलेख में भी की गई है। पालवंश के जिन राजाओं ने त्रिपक्षीय संघर्ष में भाग लिया उनमें धर्मपाल, देवपाल, विग्रहपाल, नारायणपाल उल्लेखनीय हैं।

राज्यपाल (लगभग 915–940 ई.) गोपाल द्वितीय (940–960) तथा विग्रहपाल द्वितीय (900–988) के शासन के उपरान्त महीपाल प्रथम (988–1038 ई.) ने शासन— सूत्र संभाला। महीपाल को आक्रमण का सामना करना पड़ा।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

215

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

216

आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में दक्षिण में राजनीतिक प्रभुता चालुक्यों के हाथों से निकल कर राष्ट्रकूटों के हाथ में चली गई राष्ट्रकूटों ने अपने साम्राज्य का काफी विस्तार किया।

राष्ट्रकूटों की मूल उत्पत्ति तथा उनके मूल निवास स्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि राष्ट्रकूट राजस्थान के राठोरी के वंशज थे। लेकिन यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि दक्षिण के राष्ट्रकूटों के प्राचीनतर अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। राष्ट्रकूटों को तेलगू उत्पत्ति का भी

प्राचीन भारतीय इतिहास

बताया जाता है। इस मत का उल्लेख अशोक के अभिलेख में किया गया है। ये लोग सम्भवतः कर्णाटक प्रदेश के रहने वाले थे। राष्ट्रकूटों का मूलस्थान लट्टलूट (बीदर) था। लट्टलूर प्रदेश बीदर जिले के कन्नड़ भाषाभाषी प्रदेश को व्यक्त करता है। राष्ट्रकूटों की भाषा कन्नड़ थी और उन्होंने इसे राजकीय संरक्षण प्रदान किया था।

नन्नराज वंश का पहला व्यक्ति था जिसने सामन्त पद पाया था। अतः नन्नराज को ही राष्ट्रकूट वंश का पहला संस्थापक माना जाता है। उसने बाज पक्षी को अपने वंश का राजचिन्ह बनाया। उसके वंशजों ने भी यहीं राजचिन्ह बनाए रखा। नन्नराज का शासनकाल लगभग 630–650 के बीच में रखा जा सकता है। नन्नराज के बाद उसका बेटा या भतीजा दन्तिदुर्ग गद्दी पर बैठा।

दन्तिदुर्ग का शासनकाल 745 ई. से 756 ई. तक है। वह पराक्रमी, दूरदर्शी तथा कूटनीतिक नरेश था। उसने कांची कौशल, कलिंग मालव लाट (दक्षिण गुजरात) और श्रीकौल (कर्नूल जिले) के राजाओं को पराजित किया। संजन ताम्रपत्रों के अनुसार उज्जैन में दन्तिदुर्ग ने हिरण्यगर्भ दान किया था। दशावतार गुहालेख में कहा गया है कि शर्व नामक नरेश ने लाट मालव, बादामी, सिंधु आदि प्रदेशों पर विजय प्राप्त की थी, डॉ. अल्तेकर ने शर्व का समीकरण दन्तिदुर्ग से किया। चितलदुर्ग – अभिलेख से ज्ञात होता है कि दन्तिदुर्ग को कोई सन्तान नहीं थी, उसका छोटा चाचा कन्नर अथवा कृष्ण प्रथम राजा हुआ। ताले गांव के अभिलेख से ज्ञात होता है कि कृष्ण प्रथम ने मैसूर के गंग नरेश श्रीपुरुष को पराजित किया था। कृष्ण प्रथम ने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करते हुए अपने पूर्वजों से प्राप्त साम्राज्य में तीन गुनी वृद्धि कर दी। उसने एलोरा में पर्वत कटवाकर कैलाश मन्दिर का निर्माण करवाया था। डॉ. स्मिथ ने मन्दिर की प्रशंसा में लिखा है कि यह भारत में सबसे अधिक आश्चर्यजनक वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना है। सम्भवतः 773 ई. में उसका देहान्त हो गया।

कृष्ण प्रथम के निधनोपरान्त उसका ज्येष्ठ अस्मज गोविन्द द्वितीय गद्दी पर बैठा। राष्ट्रकूट अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गोविन्द द्वितीय एक विलासी राजा था। उसने नासिक खानदेश का शासक नियुक्त किया था। लगभग 780 ई. में उसने गोविन्द के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और उसके स्थान पर गद्दी पर बैठ गया।

ध्रुव ने सन् 779–794 ई. तक राज्य किया। उसने गंगनरेश शिवभार द्वितीय को पराजित कर उसके राज्य पर अधिकार जमा लिया। ध्रुव ने कांची नरेश दन्तिवर्मन पर भी आक्रमण किया और उसे युद्ध में पराजित किया। दन्तिवर्मन ने बहुत से हाथी भेंट कर अपनी जान छुड़ाई। ध्रुव के शासनकाल में राष्ट्रकूटों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। अभिलेखों में वर्णित है कि हिमालय से कन्याकुमारी तक उसके अधिकार को चुनौती देने वाला कोई न बचा था। ध्रुव ने अपने बड़े बेटे स्तम्भ को गंगावाड़ी का उपराजा बनाया। छोटे बेटे गोविन्द तृतीय को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया।

लगभग पौने दो सौ वर्ष तक चलने वाले त्रिपक्षीय संघर्ष के कारणों की

जानकारी करना भी आवश्यक है। अतः यहाँ त्रिपक्षीय संघर्ष के कारण प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

कान्यकुब्ज (कन्नौज) का महत्त्व

पाटिलपुत्र, उज्जयिनी के बाद गुप्तोत्तर काल में कान्यकुब्ज को विशिष्ट महत्त्व प्राप्त हो गया था। तत्कालीन भारतवर्ष की राजनीति में हर्षवर्धन के राजनीतिक महत्त्व के चलते कन्नौज को वह स्थान प्राप्त हो गया था जो इससे पहले पाटिलपुत्र तथा उज्जयिनी को प्राप्त था। कन्नौज अब केवल राजनीतिक केन्द्र ही नहीं

रहा अपितु आर्थिक एवं सामरिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व स्थापित हो चुका था। एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र के रूप में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित होने के साथ-साथ कन्नौज को सांस्कृतिक उत्कर्ष भी प्राप्त हो चुका था। कन्नौज की महत्ता का वर्णन तत्कालीन साहित्य एवं अभिलेखों में प्रभूत रूप से मिलता अतः यह नवीन शक्तियाँ कन्नौज पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए प्रयासरत थीं। फलतः इन तीनों में घमासान होना अवश्यम्भावी हो गया था।

आयुध वंश की दुर्बल राजनीतिक स्थिति

कन्नौजपति हर्षवर्धन का साम्राज्य काफी विस्तृत था इसके बाद यशोवर्मा ने भी राजनीतिक उत्कर्ष की अलख जगाये रखी, किन्तु उसके पश्चात् आयुध शासक साम्राज्य की सीमाएँ सुरक्षित नहीं रख पाये। इनकी दुर्बलता ने पालों, प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों को कन्नौज पर अधिकार जमाने के लिए आकर्षित किया। इस प्रकार त्रिपक्षीय संघर्ष के कारण के रूप में आयुध वंश की दुर्बलता को एक प्रमुख कारण के रूप में देखा जा सकता है।

ज

गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र की समृद्धता का आकर्षण

दोआब की उपजाऊ भूमि तथा जीवनोपयोगी जलवायु ने नवस्थापित राजवंशों को आकर्षित करने में एक महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में भूमिका निभाई इस मैदानी भू-भाग पर जिस राजवंश का राज्य होता था वह भू-राजस्व आदि की प्राप्ति से शीघ्र ही आर्थिक समृद्धता प्राप्त करता था। अतः इस विशाल, उपजाऊ भू-भाग पर अधिकार करने के लिए शासक सदैव प्रयासरत रहे हैं। कालान्तर में कन्नौज सहित गंगा-यमुना दोआब की प्रशंसा अरब लेखक भी करते रहे शक्ति संतुलन तथा साम्राज्य की सुरक्षा हेतु

तत्कालीन उत्तर भारत की राजनीति में कोई एक राजवंश शक्तिशाली न हो जाए इसकी चिंता दक्कन के पठार के राजाओं सहित अन्य सभी राजवंशों को रहती थी। यद्यपि राष्ट्रकूट वंश उत्तर भारत से काफी दूर था, किन्तु अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए शायद इसके राजा अन्य राज्यों को अधिक शक्तिशाली नहीं होने देना चाहते थे। इसलिए त्रिपक्षीय संघर्ष लम्बे समय तक गतिमान रहा।

शासकों की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ

पूर्व मध्यकालीन भारत में क्षेत्रीय राजनीतिक शक्तियाँ सदैव साम्राज्यवाद में



Notes

प्राचीन भारतीय इतिहास

विश्वास करती हुई प्रतीत होती हैं। इनके शासकों में यह सामान्य प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं कि वे एक वृहत् से वृहत्तर साम्राज्य के स्वामी बनना चाहते थे। इसी कारण से इन राजवंशों में आपस में संघर्ष हुआ। गुर्जर प्रतिहार एवं पालवंश के शासकों में मगध की राजधानी पाटिलपुत्र पर अधिकार करने की कोशिश में उनकी यह प्रवृत्ति साफ झलकती है।

कृ

त्रिपक्षीय संघर्ष की एक विशेषता यह भी है कि कभी भी पूरे संघर्षकाल में तीनों शक्तियाँ एक साथ युद्धरत् नहीं हुई। अध्ययन की सुविधा के लिए त्रिपक्षीय संघर्ष को विभिन्न चरणों में प्रस्तुत किया जा रहा है

त्रिपक्षीय संघर्ष रू प्रथम चरण

गुर्जर प्रतिहार नरेश वत्सराज एवं पालनरेश धर्मपाल दोनों ही कन्नौज पर अधिकार जमाना चाहते थे। अतः दोनों शक्तिशाली वंशों के इन राजाओं के बीच संघर्ष होना निश्चित हो गया था। राष्ट्रकूट वणि डिण्डोरी अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रतिहार राजा वत्सराज ने पाल राजा धर्मपाल को सहजता में ही पराजित कर उसके धवल राजछत्र को छीनकर यश प्राप्त किया।

वणि डिण्डोरी अभिलेख

पराजित धर्मपाल ने राष्ट्रकूट राजा ध्रुव से सहायता मागी, क्योंकि धर्मपाल की रानी रण्णा देवी राष्ट्रकूट वंश की बेटा थी। अतः उत्तर भारत की जीत का आकांक्षी ध्रुव इसे उचित अवसर मानकर युद्ध के लिए तैयार हो गया अमोघवर्ष प्रथम के संजन ताम्रपत्र लेख से ज्ञात होता है कि वत्सराज को युद्ध में हारकर प्राचीन भारतीय इतिहास

छळै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

217

प्राचीन भारतीय इतिहास

छळै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

216

कन्नौज छोड़ना पड़ा। इतना ही नहीं उसे अपनी प्राण-रक्षा के लिए मरुस्थल की ओर भागना भी पड़ा। किन्तु राष्ट्रकूट राजा ध्रुव भी अपनी कन्नौज विजय को स्थायी नहीं कर सका क्योंकि वह अपने मूल राज्य क्षेत्र (दक्कन) से काफी दूर था इस भौगोलिक दूरी के चलते जहाँ एक ओर व कन्नौज विजय को स्थायी नहीं कर पा रहा था, वहीं, दूसरी ओर उसके गृह राज्य में आन्तरिक कलह उत्पन्न हो रहा था। क्योंकि वह वहाँ पर नहीं था। इन परिस्थितियों में ध्रुव को अपने राज्य में शान्ति स्थापित करने के लिए वापस जाना पड़ा। इस प्रकार त्रिपक्षीय संघर्ष का प्रथम चरण अल्पकालिक था।

त्रिपक्षीय संघर्ष रू द्वितीय चरण

राष्ट्रकूट शासक ध्रुव ने प्रतिहार नरेश वत्सराज को पराजित करने के पश्चात्

पूर्व की ओर प्रस्थान किया। अमोघवर्ष प्रथम के संजन ताम्रपत्र लेख से ज्ञात होता है कि पूर्व में पाल नरेश धर्मपाल पराजित हुआ। यह युद्ध गंगा एवं यमुना के दोआब में हुआ था—

गङ्गायमुनयो मध्ये राज्ञो गौडस्य नश्यतः । लक्ष्मीलीलारविन्दनिश्वेतच्छत्राणि योऽहरत् ॥

अमोघवर्ष प्रथम का संजन ताम्रपत्र लेख

सूरत अभिलेख से भी पता चलता है कि ध्रुव की सेना ने गंगा नदी के प्रवाह को भी अवरुद्ध कर दिया था (गांगौ—घसन्तति—निरोधविवध्यकीर्तिः) बड़ौदा अभिलेख से भी ज्ञात होता है कि गंगा—यमुना के दोआब पर राष्ट्रकूटों का अधिकार हो गया था

बड़ौदा अभिलेख

षो गंगायमुने तरङ्गसुभगे गृहणन्परेम्यः समम् । साक्षाच्छिन्न निमेन चोत्तम पदं प्राप्तवानैश्वरम् ॥

राष्ट्रकूट शासक ध्रुव ने प्रतिहार एवं पाल नरेशों को पराजित कर उनके प्रदेशों को अपने साम्राज्य में ही नहीं मिलाया, बल्कि अपनी राजधानी को वापस लौट गया । सन् 794 ई. में राष्ट्रकूट वंश के प्रतापी शासक ध्रुव की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र गोविन्द तृतीय उत्तराधिकारी हुआ। ध्रुव के अपनी राजधानी लौटते ही कन्नौज में आयुष वंश के इन्द्रायुध और चक्रायुध आपस में सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्षरत हो गए। अतः धर्मपाल अपनी सीमा सुरक्षित करने के लिए इसी पश्चिमी प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए आगे बढ़ा। वास्तव में अब कन्नौज के दोनों आयुध भाई उत्तर भारत की साम्राज्यिक शक्तियों के संघर्ष की कठपुतलियाँ बन गए थे। धर्मपाल के 32वें वर्ष के खालिमपुर अभिलेख से ज्ञात होता है कि कन्नौज नरेश चक्रायुध को पाल नरेश के संरक्षण के कारण स्वामित्व प्राप्त हुआ था। बाद के नारायण पाल के 17वें वर्ष के अभिलेख में धर्मपाल द्वारा चक्रायुध के राज्यारोहण का उल्लेख है। ज्ञात होता है कि उसके राज्याभिषेक के समय अनेक राज्यों के सम्राट सम्मिलित हुए थे। खालिमपुर अभिलेख से ही चक्रायुध की राजनीतिक स्वीकृति का भी ज्ञान होता है। कुरु, यदु, अवन्ति, गंधार, कीर (कांगड़ा घाटी), भोज (बरार क्षेत्र), मत्स्य (जयपुर — अलवर क्षेत्र), मद्र (पूर्वी पंजाब) के राजाओं ने चक्रायुध को कन्नौजपति के रूप में स्वीकार किया था। किन्तु यह सब धर्मपाल के प्रभुत्व के कारण ही सम्भव हो सका था। 11वीं शताब्दी में सोड्डल द्वारा रचित चम्पूकाव्य उदयसुंदरी कथा में भी धर्मपाल को उत्तरापथ स्वामी कहा गया है। कुछ भी हो धर्मपाल के कारण, बंगाल जो एक शताब्दी से भारतीय राजनीति में अनुपस्थित सा थाय वह अब एक महत्वपूर्ण कारक बन गया था। इस द्वितीय चरण में प्रतिहार नरेश की भूमिका बहुत स्पष्ट नहीं है।

त्रिपक्षीय संघर्ष रू तृतीय चरण

राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय भी अपने पिता ध्रुव की भाँति महत्वाकांक्षी था। वह भी उत्तर भारत की राजनीति में भाग लेने को उत्सुक था, क्योंकि वह पिता

प्राचीन भारतीय इतिहास

की ही भाँति प्रतिहार वंश के उत्कर्ष को समाप्त करना चाहता था। राष्ट्रकूट राज्य की उत्तरी सीमा पर स्थित विदर्भ, कलिंग, आंध्र, सिन्धु आदि राज्यों ने प्रतिहार नरेश नागभट्ट द्वितीय के साथ मिलकर एक संघ बनाया था जिससे उसे इनके आक्रमण का भय

भी था। अतः अपने इन्हीं उद्देश्य की पूर्ति के लिए गोविन्द तृतीय ने अपने भाई इन्द्र को प्रतिहारों के मूल प्रदेश पर आक्रमण करने के लिए भेजा। वास्तव में उत्तरी भारत में राजनीतिक गठबंधन काफी अस्थायी और परिवर्तनशील थे। अतः किसी एक शक्ति के लिए अधिक समय तक अपनी प्रभुसत्ता बनाये रखना आसान न था। ग्वालियर प्रशस्ति के अनुसार नागभट्ट ने अपने संघ में शामिल राजाओं को पराजित भी किया था। नागभट्ट द्वितीय के सामन्त बाउक के जोधपुर अभिलेख से संकेत मिलता है कि उसने गौड़राज धर्मपाल को पराजित किया था। किन्तु कन्नौज की गद्दी पर चक्रायुध की स्थापना प्रतिहार नरेश नागभट्ट के लिए एक चुनौती बन गई थी। अतः उसने चक्रायुध को हटाकर इन्द्रायुध को कन्नौज का राजा बनाया। महेन्द्र पाल के दो अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जब नागभट्ट द्वितीय उत्तर भारत में अपनी विजय पताका फहरा रहा था तभी उसे वही झटका लगा जो उसके पूर्वज वत्सराज को लगा था। जिस प्रकार वत्सराज को धर्मपाल के विरुद्ध अपनी शानदार सफलता के बावजूद राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव के आगमन के कारण मारवाड़ मरुस्थल प्रदेश में भागना पड़ा था ठीक उसी प्रकार गंगा घाटी में नागभट्ट द्वितीय की विजय अधिक स्थाई साबित न हो सकी। वह गोविन्द तृतीय से लगभग सन् 810 ई. के आस-पास परास्त

हुआ

—

प्ल नागभट्ट चन्द्रगुप्तनृपर्याशौर्य रणे

व्वहार्यमपहार्य

अमोघवर्ष का संजन ताम्रपत्र लेख

पाल नरेश धर्मपाल इस युद्ध से बहुत प्रसन्न हुआ, क्योंकि इसमें प्रतिहार नरेश नागभट्ट द्वितीय की पराजय हुई थी। राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय ने उत्तरी भारत के विजित राज्यों को अपने साम्राज्य में नहीं मिलाया, प्रत्युत वापस लौट गया। गोविन्द तृतीय लौटने के पश्चात् भी प्रतिहारनरेश नागभट्ट द्वितीय की शक्ति में कोई कमी नहीं हुई थी। कदाचित् राष्ट्रकूट शासक के स्वदेश लौटने के पश्चात् नागभट्ट द्वितीय ने पुनः कन्नौज पर अपना अधिकार कर लिया।

त्रिपक्षीय संघर्ष रु चतुर्थ चरण

त्रिपक्षीय संघर्ष का यह चतुर्थ चरण राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय के आक्रमण के काल एवं कारणों के कारण विवादास्पद माना जाता है। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि नागभट्ट द्वितीय ने धर्मपाल द्वारा संरक्षित कन्नौज के साथ-साथ चक्रायुध को पराजित किया और उसे सिंहासन से हटाकर अपने समर्थक को

शासक बनाया। तत्पश्चात् धर्मपाल को भी परास्त किया। इसकी चर्चा तृतीय चरण के अन्तर्गत कर दी गई है। इन दोनों शासकों के परास्त होने के बाद इनके अनुरोध पर राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय उत्तर भारत की ओर आया तथा उसने नागभट्ट को पराजित किया। दूसरी और कुछ अन्य इतिहासकार कहते हैं कि राष्ट्रकूट नरेश नागभट्ट की सफलताओं से असुरक्षित अनुभव कर रहा था। क्योंकि राष्ट्रकूट अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राष्ट्रकूट साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों पर नागभट्ट की नजर थी और इस क्षेत्र पर नागभट्ट ने अधिकार करने का भी प्रयास किया था। इस प्रकार इस चरण में नागभट्ट द्वितीय के विरुद्ध राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय के अभियान की प्रकृति का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

त्रिपक्षीय संघर्ष रू पंचम चरण

गुर्जर प्रतिहार वंश में नागभट्ट द्वितीय के पश्चात् रामभद्र एक अत्यन्त कमजोर शासक था। मिहिर भोज के वराह तथा दौलतपुर अभिलेखों में ऐसे उल्लेख हैं जिनसे रामभद्र के काल की प्रशासनिक निर्बलता का संकेत मिलता है। उदाहरणार्थ, कुछ भूमिदानों को पुनः अनुमोदन न करना। उधर राष्ट्रकूट राज्य में अल्पवयस्क अमोघवर्ष भी कठिनाइयों से घिरा पड़ा था। चालुक्य शक्ति का उदय हो रहा था। यद्यपि अमोघवर्ष ने चालुक्यों को परास्त कर दिया था, किन्तु सामन्त स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर प्रयास कर रहे थे। अमोघवर्ष की प्रकृति यह थी कि वह धार्मिक अभिरुचि वाला व्यक्ति था जिसमें वैराग्य की भावना भी विद्यमान थी। यद्यपि उसने श्वीरनारायण की उपाधि धारण की हुई थी। बादाल स्तम्भ अभिलेख (जो बिना तिथि का है) के अनुसार उपर्युक्त दोनों राजवंशों के शासकों को निर्बल एवं कठिनाइयों में भरा पाकर

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

219

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

120

पालवंश के शासक धर्मपाल के उत्तराधिकारी देवपाल ने उत्कलों के वंश को समाप्त कर दिया, हूणों का दर्प भंग किया तथा द्रविड़ों और गुर्जरों के अभिमान को परास्त कर दिया (खर्बिकृत – द्रविड़ – गुर्जर – नाथदर्पम्) यहाँ द्रविड़ व गुर्जर से आशय राष्ट्रकूट एवं गुर्जर प्रतिहार राजाओं से है। स्पष्ट है देवपाल ने राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष तथा गुर्जर प्रतिहार नरेश रामभद्र को परास्त करने में सफलता प्राप्त की।

देवपाल ने लगभग 40 वर्षों तक राज्य किया। उसके समय में पालवंश की कीर्ति चर्मोत्कर्ष पर थी, उसकी राजनीतिक सत्ता सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर आसाम से लेकर कश्मीर की सीमा तक, सिंधु से लेकर ब्रह्मपुत्र तक और हिमालय से विन्धु



यक्षेत्र तक फैली हुई थी। डॉ. त्रिपाठी का कथन है कि प्रतिहार नरेश मिहिर भोज पाल नरेश देवपाल से पराजित हुआ। भोज के ग्वालियर लेख से भी संकेत मिलता है

उपरोधैकसंरुद्धबिन्ध्यवृद्धेरगस्त्यतः ।

आक्रम्य भूभृतां भोक्ता यः प्रभुर्भोज इत्यमात् ६

डॉ. रमेश चन्द्र मजूमदार का विचार है कि प्रतिहार नरेश मिहिर भोज अपनी सफलताओं के बावजूद भी देवपाल से पराजित हुआ तथा अपने परिवार में यश को तब तक सुरक्षित न रख सका, जब तक कि पाल नरेश जीवित रहा। इस प्रकार पालनरेश देवपाल ने तीन सीढ़ियों के प्रतिहार शासकों से सफलतापूर्वक युद्ध किया और उसने उत्तरी भारत में पाल वंश की महत्ता को कायम रखा। त्रिपक्षीय संघर्षरू षष्ठ चरण

बंगाल के पालवंश में देवपाल का उत्तराधिकारी विग्रहपाल (शूरपाल) व इसके पश्चात् नारायण पाल शासक बना, किन्तु यह दोनों देवपाल की भाँति योग्य एवं शक्तिशाली साबित नहीं हुए । इसी तरह राष्ट्रकूट वंश में बालक अमोघवर्ष शासक बना, किन्तु वह अपने राज्य के आन्तरिक विद्रोहों में ही फँसा रहा। सिरूर अभिलेख के अनुसार अंग, बंग, मगध और वेंगी के राजा, राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के अधीन थे। इस आधार पर डॉ आर. सी. मजूमदार का विचार है कि अमोघवर्ष ने पाल नरेश नारायणपाल को पराजित किया छ इसके विपरीत पाल अभिलेखों में दावा किया गया है कि नारायणपाल ने किसी द्रविड़ शासक को हराया। डा. ए. एस. अल्तेकर के अनुसार यह द्रविड़ शासक अमोघवर्ष था। इस प्रकार परस्पर विरोधी दावों से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राष्ट्रकूट एवं पाल वंश के मध्य छोटी-छोटी झड़पें होती रहीं, किन्तु उत्तर भारतीय राजनीति में राष्ट्रकूट इस समय दखल नहीं दे पाए। इसके बाद राष्ट्रकूटों की बागडोर कृष्ण द्वितीय के हाथ आई। बर्तुन संग्रहालय के एक लेख से विदित होता है कि राष्ट्रकूट शासक कृष्ण द्वितीय के सामन्त कृष्णराज को प्रतिहार नरेश मिहिरभोज ने खदेड़ दिया था। परन्तु कृष्णराज के बागुम्रा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने प्रतिहार नरेश के उज्जयिनी प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था। इस प्रकार कतिपय अभिलेखों में राष्ट्रकूटों की विजय का एवं कुछ में गुर्जर प्रतिहारों की जीत का वर्णन मिलता है, किन्तु इतना सुनिश्चित है कि प्रतिहार नरेश मिहिर भोज के शासनकाल में राष्ट्रकूट किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचा सके और मिहिर भोज के समय में भी कनौज उसके साम्राज्य की राजधानी बनी रही। इसी क्रम में भवनगर अभिलेख का कथन है कि मिहिरभोज ने नर्मदा नदी को पार करके शकृष्णराज को पराजित किया। यह कृष्णराज ही कृष्ण द्वितीय था। जबकि बागुम्रा अभिलेख इसके विपरीत जानकारी देता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है, इनमें निर्णायक युद्ध नहीं हुआ।

गुर्जर-प्रतिहार नरेश मिहिरभोज की मृत्यु के बाद उसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम उत्तराधिकारी हुआ। महेन्द्रपाल प्रथम के बिहार व बंगाल लेख से ज्ञात होता है

कि प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल प्रथम ने पालवंश के नारायण पाल से मगध एवं उत्तरी बंगाल छीनकर अपने अधिकार में कर लिया था। डॉ. रमेश चन्द्र मजूमदार का भी कथन है कि प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल के साम्राज्य को उग्रता के साथ नष्ट कर दिया, परन्तु नारायण पाल के 908 ई. के उदन्तपुर लेख से विदित होता है कि नारायणपाल ने मगध राज्य पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया था।

पाल नरेश नारायणपाल के बाद इस वंश के उत्कर्ष काल का अन्त हो जाता है। इसके बाद किसी भी अभिलेख में प्रतिहार एवं पाल संघर्ष का उल्लेख नहीं मिलता

गुर्जर प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल प्रथम के पश्चात् भोज द्वितीय एवं महिपाल प्रथम क्रमशः राजा बने। महिपाल प्रथम का शासनकाल 912 से 942 तक था। अतः इसके समकालीन राष्ट्रकूट शासक इन्द्र तृतीय (914–922 ई.) अमोघवर्ष द्वितीय (922–923 ई.) गोविन्द चतुर्थ (923–936 ई.) अमोघवर्ष तृतीय (936–939 ई.) एवं कृष्ण तृतीय (936–968 ई.) थे।

खम्भात ताम्रलेख से ज्ञात होता है कि राष्ट्रकूट शासक इन्द्र तृतीय ने कन्नौज पर आक्रमण कर विजयश्री प्राप्त की, महीपाल प्रथम को अपनी जान बचाकर भागना पड़ा, परन्तु इन्द्र तृतीय के लौट जाने के पश्चात् प्रतिहार नरेश महीपाल ने दोबारा अधिकार प्राप्त कर लिया।

राष्ट्रकूट वंश के इन्द्र तृतीय के पश्चात् अमोघवर्ष द्वितीय एवं गोविन्द चतुर्थ क्रमशः उत्तराधिकारी हुए। ये अयोग्य एवं निर्बल शासक थे। गोविन्द चतुर्थ के पश्चात् अमोघवर्ष तृतीय शासक हुआ। वह एक वृद्ध शासक था। अतः युवराज कृष्ण तृतीय ही उसके शासक का संचालन अप्रत्यक्ष रूप से कर रहा था। युवराज के पद पर रहते हुए कृष्ण तृतीय ने प्रतिहार नरेश महीपाल प्रथम से कालिंजर एवं चित्रकूट प्रदेश को छीन लिया था।

अमोघवर्ष तृतीय की मृत्यु के पश्चात् कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट वंश का शासक हुआ। उसने मालवा तथा उज्जैन पर भी अधिकार कर लिया। कृष्ण तृतीय का कोई पुत्र न था। अतः 968 ई. के बाद राष्ट्रकूट वंश का भी अवसान प्रारम्भ हो गया। अरब यात्री अलमसूदी ने भी बकर (प्रतिहार राज्य) एवं बल्हर् (राष्ट्रकूट राज्य) के बीच घोर शत्रुता का वर्णन किया है।

त्रिपक्षीय संघर्ष का अन्त ६ समापन

त्रिपक्षीय संघर्ष लगभग 175 वर्ष तक चलता रहा। राष्ट्रकूट वंश के राजा कृष्ण तृतीय के बाद उसका भाई खोटिंग शासक बना। जो कि निर्बल शासक था। खोटिंग का उत्तराधिकारी कर्कराज द्वितीय था, जिसने 972 ई. तक राज्य किया। कर्कराज द्वितीय इस वंश का अन्तिम शासक था जो पूर्णतः अयोग्य एवं निर्बल था। इसकी निर्बलता का लाभ उठाकर सामन्त तैल ने कर्क को पराजित कर राष्ट्रकूट वंश का अन्त एवं चालुक्य वंश का उत्कर्ष किया। सत्यकेतु का कथन है कि शर्करा राष्ट्रकूट राजकुल का अन्तिम राजा था और उसके साथ इस



वंश का शासन का अन्त हो गया। अब दक्षिणापथ पर एक बार फिर चालुक्यों का शासन स्थापित हुआ। राष्ट्रकूटों से पहले इस क्षेत्र पर चालुक्यों का ही आधिपत्य था। उन्हीं को परास्त कर राष्ट्रकूटों ने अपनी सत्ता स्थापित की थी। पर इससे चालुक्यों का मूलोच्छेद नहीं हो सका था। अपने अपकर्ष काल में भी कतिपय चालुक्य राजा राष्ट्रकूटों के सामन्तों के रूप में शासन करते रहे थे। जिस तैल ने कर्क को परास्त कर चालुक्यों का उत्कर्ष किया, शुरु में उसकी स्थिति भी सामन्तराज की ही थी। तैल ने न केवल राष्ट्रकूटों के प्रभुत्व से अपने को स्वतंत्र कर लिया, अपितु दक्षिणपथ के बड़े भू-भाग को अपने शासन में ले आने में भी सफलता प्राप्त की।

गुर्जर प्रतिहार नरेश महिपाल प्रथम (912–942 ई.) की मृत्यु के पश्चात् शक्तिशाली राजा के अभाव में इस वंश का पतन आरम्भ हो गया। आपसी संघर्ष ने इस वंश की नींव को जर्जर कर दिया। इस वंश का अन्तिम नरेश राज्यपाल (990–1018 ई. तक) था। इस समय गुर्जर प्रतिहार पर चारों ओर से संकट के बादल मंडरा रहे थे। 20 दिसम्बर, 1018 ई. को कन्नौज पर महमूद गजनवी ने आक्रमण कर दिया, जिससे

घबराकर राज्य पाल भाग गया।

इसी तरह पाल वंश में भी विग्रह पाल द्वितीय के पश्चात् इस वंश का क्रमशः पतन प्रारम्भ हो जाता इस वंश का अन्तिम शासक मदनपाल (1106–1125 ई.) था, जो बहुत ही कमजोर था। आन्तरिक विघटन और विदेशी आक्रमणों के कारण पाल राज्य धराशायी हुआ। मदनपाल के शासन के कम से कम आठवें वर्ष तक उत्तरी बंगाल का सम्पूर्ण भाग यदि नहीं, तो अधिकांश भाग अवश्य था। जय नगर प्रतिमा उत्कीर्ण लेख से स्पष्ट होता है कि उसके शासन के चौदहवें वर्ष में मुंगेर जनपद पर उसका राज्य था। इस प्रकार आन्तरिक विघटन और विदेशी आक्रमणों के कारण पालवंश समाप्त हो गया। लाट का सामन्त विजयसेन पाल वंश की निर्बलता का लाभ उठाकर स्वतंत्र हो गया और उसने एक नवीन वंश की नींव रखी, जिसे

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

221

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

222

भारतीय इतिहास में सेन वंश के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार तीनों वंशों के पतन के साथ ही त्रिपक्षीय संघर्ष समाप्त हो गया।

त्रिपक्षीय संघर्ष के परिणाम



इस लम्बे संघर्ष के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सहित सभी क्षेत्रों में गम्भीर परिणाम निकले। युग परिवर्तन की दिशा में इस त्रिपक्षीय संघर्ष ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। संक्षेप में इस संघर्ष के परिणाम इस प्रकार रहे

कृ

कृ

1. कन्नौज का पतन वर्धन वंश से लेकर त्रिपक्षीय संघर्ष तक कन्नौज का राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व उत्कर्षाधीन था। यह नगर भारत की राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का महत्वपूर्ण केन्द्र था। किन्तु महमूद गजनबी के आक्रमण के बाद कन्नौज के सातों किले ध्वस्त हो गए। कन्नौज के राजकीय कोष एवं भव्य मन्दिरों को लूट लिया गया। साथ ही साथ राज्यपाल की इस कायरता से क्रोधित होकर चन्देल नरेश विद्याधर ने एक संघ बनाकर कन्नौज पर आक्रमण कर राज्यपाल को मार डाला।

श्रीविद्याधरदेवकार्यनिरतः श्री राज्यपाल हठात् कण्ठस्थिच्छीनदनेकबाणनिवहैर्हत्वा महत्याहवे ।

कृ

दुबुकण्ड अभिलेख

इस प्रकार कन्नौज के इतिहास में त्रिपक्षीय संघर्ष ने जिस पतन की शुरुआत कीय वह अन्ततरु गाहड़वाल वंश के पतन के बाद इसके सम्पूर्ण पतन में जा मिली।

2. देश का सैनिक दृष्टि से कमजोर होना – त्रिपक्षीय संघर्ष के चलते देश में सैनिक दृष्टि से दुर्बलता आई। जनता में योद्धाओं की कमी नहीं थी, लेकिन एकता की भावना के अभाव में ये तीनों शक्तियाँ आपस में ही युद्धरत् रहीं, जिससे सैनिक दृष्टि से दुर्बलता आ गई ऐसी परिस्थिति को ही देखकर अरब देश के शासकों ने आक्रमण करना आरम्भ किया। प्रारम्भ में जब अरबी आक्रमण हुए तब भी क्षेत्रीय शासक एकजुट नहीं हुए। कालान्तर में महमूद गजनबी ने तो आक्रमणों की एक श्रृंखला ही चलाई जिसे आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से कमजोर राज्य झेल नहीं पाये।

3. देश का आर्थिक दृष्टि से कमजोर होना – त्रिपक्षीय दीर्घकालिक संघर्ष ने देश के आर्थिक संसाधनों को इस सीमा तक बर्बाद कर दिया कि आने वाले समय में भी मानव संसाधनों का पुनर्निर्माण सम्भव नहीं हो सका। इसमें संलग्न तीन राज्य देश के तीन भागों में स्थित थे। अतः अपने-अपने क्षेत्रों में यह विकास की ओर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते थे, लेकिन यह तीनों त्रिपक्षीय युद्ध की मँवर में फँसे रहे। अतः तीनों प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों, प्रतिहार, पाल तथा राष्ट्रकूट का लगभग एक साथ पतन होना आश्चर्यजनक नहीं है। प्रो. रोमिला थापर का मत है कि उनकी शक्ति लगभग समान थी और वह मुख्यतरु विशाल सुसंगठित सेनाओं पर निर्भर करती थीं। इन सेनाओं का खर्च उठाने के लिए राजस्व के स्रोत भी एक जैसे ही थे और उन स्रोतों पर अत्यधिक दबाव का परिणाम भी एकसा होना था। कन्नौज पर अधिकार करने के लिए जो निरन्तर

प्राचीन भारतीय इतिहास

संघर्ष हुआ, उससे उनका ध्यान अपने सामन्तों पर से हट गया। जिससे एक और राज्य के आय के स्रोत कम हुए तथा दूसरी ओर युद्ध में खर्चा अधिक हुआ। परिणामतः युद्धकालीन अर्थव्यवस्था ने तीनों राज्यों को आर्थिक रूप से जर्जर कर दिया जो भविष्य में आने वाली शक्तियों का प्रतिरोध करने में सक्षम न था।

4. तीनों राजवंशों का पतन तीनों प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों का एक साथ पतन हुआ, क्योंकि संघर्ष काल में इन्होंने जन कल्याण एवं सार्वजनिक महत्त्व के कार्यों को अनदेखा करते हुए अपनी समूची शक्ति व संसाधनों का संघर्ष में उपयोग किया, जिससे राज्यों का विकास नहीं हुआ और धीरे-धीरे तीन राजवंश तत्कालीन भारतीय राजनीतिक मानचित्र से विलुप्त होते गए।

८

.

श्र

5. नये राजवंशों का उदय त्रिपक्षीय संघर्ष का समय वह समय है जब भारतीय सामन्तवाद का विकास तेजी से हो रहा था। ऐसे में इन तीनों राज्यों के लिए सामन्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। किन्तु सामन्तों ने इस दीर्घकालीन संघर्ष का फायदा यह उठाया कि वह जो कर (टैक्स) जनता से प्राप्त करते थे उसे उन्होंने अपनी शक्ति के विकास में लगाया। परिणामस्वरूप देश के विभिन्न भागों में अनेक छोटे-छोटे नये राज्य उदित हुए। इसमें सेन, चालुक्य, चन्देल, चाहमान और चाल आदि वंशों को मिलाया जा सकता

6. नयी संस्कृति का उदय इस त्रिपक्षीय संघर्ष के चलते योद्धाओं, अस्त्रशस्त्रों का महत्त्व स्थापित हुआ। इसलिए इस काल में शस्त्रोपजीवी जातियों का न सिर्फ प्रादुर्भाव हुआ अपितु उन्हें उत्कर्ष भी मिला। युद्ध कौशल, तकनीक के नये आयाम खोजे जाने लगे, तथापि समाज में नयी जातियों के उदय से सामाजिक, धार्मिक कानूनों को नई-नई टोकाओं की रचना हुई।

यह स्मरण रखना चाहिए कि त्रिपक्षीय संघर्ष ने प्रतिहारों, राष्ट्रकूटों और पालों के मध्य शक्ति संतुलन बनाये रखा और कोई भी शक्ति न तो अधिक बढ़ सकी और न ही घट सकी। जिस समय त्रिपक्षीय संघर्ष में शामिल तीनों राज्य अपनी साम्राज्यवादी भावनाओं को पोषित कर रहे थे उसी समय कान्यकुब्ज (कन्नौज) पर निर्बल आयुषवंशीय राजा शासन कर रहे थे। अतः पाल, प्रतिहार और राष्ट्रकूट तीनों ने कन्नौज को अपने अधिकार में रखने की कोशिश की। इसे ही त्रिशक्ति संघर्ष, त्रिपक्षीय संघर्ष, त्रिकोणात्मक संघर्ष, त्रिवंशीय संघर्ष आदि नामों से जाना जाता है। इस त्रिपक्षीय संघर्ष की जानकारी, जहाँ एक ओर मिहिर भोज के ग्वालियर अभिलेख, धर्मपाल के भागलपुर ताम्रपत्र अभिलेख, अमोघवर्ष प्रथम का संजन ताम्रपत्र लेख, बड़ौदा अभिलेख, वणि डिण्डोरी, राघनपुर, बादल स्तम्भ, देवकुण्ड आदि अभिलेखों से मिलती है, वहीं दूसरी ओर ग्यारहवीं सदी में सोढल द्वारा रचित उदयसुन्दरी कथा, सन्ध्याकर नन्दी द्वारा

रचित रामचरित एवं अरब यात्री सुलेमान में मिलती है।

त्रिपक्षीय संघर्ष के कारणों में कन्नौज का महत्त्व, आयुधवंश की दुर्बल राजनीतिक स्थिति, गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र को समृद्धता का आकर्षण शक्ति सन्तुलन तथा साम्राज्य की सुरक्षा हेतु, शासकों को साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ, शक्ति सन्तुलन की भावना आदि को माना जा सकता है।

त्रिपक्षीय संघर्ष के प्रथम चरण में प्रतिहार राजा वत्सराज ने पालवंशीय राजा धर्मपाल को पराजित किया। पराजित धर्मपाल ने राष्ट्रकूट राजा ध्रुव से सहायता माँगी। ध्रुव ने वत्सराज को हराकर उसे मरुस्थल को ओर भागने पर विवश किया, किन्तु ध्रुव अपनी कन्नौज विजय को स्थायी नहीं कर पाया।

द्वितीय चरण के अन्तर्गत ध्रुव द्वारा पाल नरेश धर्मपाल को हटाना व कन्नौज में आयुधवंश के इन्द्रायुध में आपसी संघर्ष होना शामिल है। इसमें धर्मपाल की सहायता से चक्रायुध उसके कठपुतली प्रतिनिधि के रूप में कन्नौज पर शासन करने लगा।

तृतीय चरण के अन्तर्गत राष्ट्रकूट शासक तथा प्रतिहार राजा नागभट्ट ने धर्मपाल को पराजित किया और चक्रायुध को हटाकर इन्द्रायुध को कन्नौज का राजा बनाया। इसी चरण में गोविन्द तृतीय ने नागभट्ट द्वितीय को परास्त कर दिया, किन्तु राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय के स्वदेश दक्कन लौट जाने के पश्चात्, नागभट्ट द्वितीय ने पुनः कन्नौज पर अपना अधिकार कर लिया।

चतुर्थ चरण के अन्तर्गत गोविन्द तृतीय के आक्रमण के काल एवं कारणों में विवाद है तथा उसमें उसके द्वारा तृतीय चरण में वर्णित नागभट्ट को हटाया जाना ही शामिल हैं।

पंचम चरण के अन्तर्गत दुर्बल प्रतिहार राजा रामभद्र, अल्पवयस्क राष्ट्रकूट राजा रामभद्र अल्पवयस्क राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष को पालवंशीय देवपाल द्वारा परास्त किया जाना शामिल हैं।

षष्ठ चरण में पालवंशीय नारायण पाल द्वारा अमोघवर्ष पर आक्रमण करना तथा कृष्ण द्वितीय के सामन्त को प्रतिहार नरेश मिहिरभोज द्वारा खदेड़ना शामिल है। राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय द्वारा प्रतिहार महिपाल को हराना भी इसी चरण के अन्तर्गत रखा जा सकता है। कालान्तर में ये तीनों शक्तिशाली राजवंश पतित हुए व सेन, चालुक्य, चंदेल, चाहमान और चोल वंशों का उदय हुआ। इस त्रिपक्षीय संघर्ष के परिणामों में

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

223

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस



कन्नौज का पतन, देश का सैनिक व आर्थिक दृष्टि से कमजोर होना एवं नई संस्कृति के उदय को स्वीकारा जा सकता है।

चालुक्य, पल्लव एवं चोलों का प्रशासन एवं कला में योगदान
(बृहत्तपजपइनजपवद वः जीम बेंसनालें, चंससंअं दक बीवसें जव जीम कउपदपेजतंजपवद दक ।तज)

बृहत् रूप से दक्षिण भारत से हमारा आशय उस सम्पूर्ण प्रायद्वीप से है जो नर्मदा के दक्षिण में और पूर्व में बंगाल की खाड़ी तथा पश्चिम में अरब सागर से घिरा हुआ है। सामान्य दक्षिण भारत या दक्षिणापथ से अभिप्राय उस भू-प्रदेश से है जो नर्मदा से कृष्ण नदी तक फैला हुआ है। कृष्ण तथा तुंगभद्रा नदियों तक के समस्त प्रायद्वीप को हम सुदूर दक्षिण कह सकते हैं। दक्षिण का नाम विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता रहा है, परवर्ती चालुक्य अभिलेखों में दक्षिणापथ की परिभाषा रामेश्वर के सेतु से नर्मदा तक की गई है।

गुप्तवंश के पतन के बाद एक ऐसी प्रवृत्ति का जन्म हुआ, जिसने विभिन्न रूपों में एक सहस्राब्दि तक प्रभावित किया। यह प्रवृत्ति थी विकेन्द्रीकरण और क्षेत्रीयता की भावना हर्ष के बाद से ही दक्षिण गतिविधियों का केन्द्र रहा। 550 ई. – 750 ई. में दक्षिण के दो राजवंशों ने राजनीतिक गतिविधियों को अत्यधिक प्रभावित किया। ये राजवंश थे, बादामी के चालुक्य और कांची के पल्लव। इसके अतिरिक्त चोलवंश भी उल्लेखनीय है जिसने 9वीं से 13वीं शताब्दी तक दक्षिण की राजनीति को प्रभावित किया। दक्षिण के इन तीनों राजवंशों चालुक्य, पल्लव और चोलों का प्रशासन एवं कला के क्षेत्र में विशेष योगदान रहा है।

चालुक्य प्रशासन

दक्षिण भारत में छठीं शताब्दी ई. के मध्य से आठवीं शताब्दी के मध्य तक चालुक्य वंश ने शासन किया। इनकी राजधानी कर्नाटक राज्य के बीजापुर जिले में बादामी (वातापी) थी तथा यहीं से इस वंश का राजनीतिक उत्कर्ष हुआ, इसलिए इन चालुक्यों को श्वादामी (वातापी) के चालुक्य कहा जाता है। इस चालुक्य वंश ने दक्षिण भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में एकीकृत करने का प्रयास किया। उत्तर भारत में इस वंश के समकालीन हर्षवर्धन का शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित था और दक्षिण में पल्लव वंश का साम्राज्य था।

बादामी के चालुक्यों का इतिहास जानने के लिए अनेक अभिलेख उपलब्ध हैं, जिनमें 634 ई. का पुलकेशी द्वितीय का ऐहोल अभिलेख, 543 ई. का बादामी शिलालेख, 602 ई. का महाकूट अभिलेख, 612 ई. का दानपत्र लेख, पल्लव वंश के अभिलेख आदि उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विदेशियों द्वारा दिए गए विवरण से भी चालुक्य वंश के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। हर्षवर्धन के शासन में आने वाला प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग चालुक्यों के राज्य में गया था। उसने अपने यात्रा-वृत्तान्त में चालुक्य वंश के राज्य के विषय में विवरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार पुलकेशी द्वितीय के ईरानी शासक खुसरो द्वितीय से राजनयिक सम्बन्ध स्थापित थे जिनके विषय में ईरानी इतिहासकार ताबरी

विवरण प्रस्तुत करता है। अतः इन दो विदेशी लेखकों द्वारा दिए गए विवरण से भी तत्कालीन इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है।

बादामी के चालुक्यों ने लगभग 200 वर्षों तक शासन किया। ये चालुक्य ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। इन्होंने अश्वमेध, वाजपेय आदि वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान किया था और धर्मशास्त्रों के अनुसार शासन का संचालन किया।

चालुक्य शासन—व्यवस्था के गठन का आधार प्राचीन धर्मग्रन्थ थे और इन धर्मग्रन्थों में बतलायी गई राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के अनुसार ही राजा राजतंत्र का केन्द्र, सर्वशक्तिमान, निरंकुश और स्वेच्छाचारी होने पर भी अपने कर्तव्यों का पालन ईमानदारी से करता था। इस वंश के राजाओं ने श्वरमभट्टारकश्, श्वराराजाधिराजश्, श्वरमेश्वरश्, श्वरसत्याश्रयश्, श्री बल्लभश्, श्री पृथ्वीवल्लभश् जैसी उपाधियाँ धारण की थीं। राजा राज्य के बारे में पूर्ण जानकारी रखता था। और अपना अधिकांश समय राजकीय मामलों को निपटाने

के लिए सभामण्डप में ही व्यतीत करता था। राजपद आनुवंशिक होता था, फिर भी योग्यता और जन्म को विशेष महत्त्व दिया जाता था। वह युद्ध में प्रमुख सेनापति के कर्तव्य का पालन करता था तथा प्रजा के साथ सम्पर्क रखने के उद्देश्य से और विभिन्न भागों का दौरा करके समस्याओं से परिचित होता था तथा उनके निवारण में व्यक्तिगत रुचि लेता था। सामान्यतः राजा के बाद उसका ज्येष्ठ का उत्तराधिकारी होता था, लेकिन अल्पायु के कारण शासक का भाई भी शासन कर सकता था।

पुत्र राजसिंहासन

मन्त्रिपरिषद् का कोई उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन प्रशासन में उच्च पदों पर सामान्यतः राजपरिवार लोग नियुक्त किए जाते थे। राजा सदैव राज परिवार को योग्यता का यथासमय और आवश्यकतानुसार उपयोग किया करता था। ये सदस्य अपनी योग्यतानुसार ही प्रशासन के विभिन्न पदों पर नियुक्त किए जाते थे। सम्भवतः यही राजा की परामर्शदात्री समिति रही होगी। लेखों में महासन्धि विग्रहिक, विषयपति, ग्रामकूट, महत्तराधिकारिन् आदि केन्द्रीय पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है। चालुक्यों ने अपने जीते हुए प्रदेशों पर सामन्तों को शासन करने का अधिकार प्रदान किया था, इसलिए राज्य में प्रशासनिक दृष्टि से एकरूपता और समानता का अभाव था। सभी प्रान्तों में वहाँ के सूबेदारों के अनुसार ही कानून, लमान, न्याय आदि की व्यवस्था होती थी। विशेषकर विजित प्रान्त के शासकों को आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वे प्रायः मनमाना शासन किया करते थे। विष्णुवर्धन के सतारा दानलेख में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। आलुप, सिन्द, सेन्द्रक, बाण, गंग, तेलगु चोड़ आदि चालुक्यों के शासक थे। ये सामन्त समय — समय पर राजा को श्वरश् प्रदान करते थे तथा युद्धों के समय अपनी सेना सहित राजा की सेवा में उपस्थित होते थे। ये सामन्त अपने क्षेत्र में लगभग स्वतन्त्रतापूर्वक शासन कार्य करते थे, किन्तु शर्तों का उल्लंघन करने पर राजा को हस्तक्षेप करना पड़ता था।



शग्रामश सबसे छोटी इकाई थी तथा उसके अधिकारी को शग्रामुण्डश कहा जाता था। इसके अतिरिक्त शमहाजनश का भी उल्लेख मिलता है जो ग्राम प्रशासन में सहायता प्रदान करता था। शग्रामुण्डश की नियुक्ति केन्द्र से होती थी। ग्राम संस्थाओं के शासन में केन्द्र का हस्तक्षेप बहुत अधिक था तथा उनका संचालन राजाज्ञाओं द्वारा ही होता था। शमहाजनश विशेष रूप से उद्योग-व्यापार के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे।

चालुक्य अभिलेखों में तत्कालीन कर व्यवस्था का अनुमान होता है जैसे लक्ष्मेश्वर लेख में भूमि तथा भवन कर का उल्लेख है। पुलकेशी द्वितीय के हैदराबाद दानपत्र में निधि उपनिधि (निक्षेप), विलुप्त (लगान बन्दोबस्त) तथा उपरिकर (अधिभार) का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त धार्मिक कर भी लिए जाते थे। कुछ विशेष अवसरों पर करों में छूट की व्यवस्थाएँ भी थीं।

चालुक्यों की कला

चालुक्य शासकों में अत्यधिक धार्मिक सहिष्णुता थी। वे ब्राह्मण धर्म के अनुयायी और शैव मतावलम्बी थे, किन्तु अन्य धर्मावलम्बियों को भी मुक्तहस्त दान देते थे। इसके परिणामस्वरूप इन शासकों ने कई प्रसिद्ध शैव मन्दिरों का निर्माण करवाया। इस युग में कई जैन मन्दिर और बौद्ध विहारों का निर्माण हुआ। राजधानी वातापी में इनके मन्दिरों की बहुलता थी। इस युग में कई गुफा मन्दिरों का भी निर्माण हुआ। यह काल कला एवं स्थापत्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण काल था। इस काल में बौद्ध एवं जैनों के अनुकरण पर हिन्दू देवी-देवताओं के लिए पाषाण पर्वतों को काट-काटकर मन्दिर बनाये गए। चालुक्यों ने बादामी, ऐहोल एवं पट्टकल में अनेक मन्दिरों का निर्माण किया। बादामी में पाषाण को काटकर चार स्तम्भयुक्त मण्डप बनाए गए, जिनमें तीन हिन्दू एवं एक जैन-धर्म से सम्बन्धित हैं। प्रत्येक में स्तम्भयुक्त बरामदा, मेहराबयुक्त हॉल, एक छोटा वर्गाकार गर्भगृह पाषाण में गहराई तक काटकर बनाये गए हैं। इनमें एक वैष्णव गुहा है। इसकी दीवारों पर विष्णु की दो मूर्तियाँ अंकित हैं। इन गुहाओं का वास्तु तथा उकेरण अत्यन्त उच्चकोटि का है। बादामी का श्मालगितीश शैव मन्दिर वास्तुकला का उत्कर्ष उदाहरण है, जिसका निर्माण 625 ई. में हुआ था। ऐहोल को मन्दिरों का नगर कहा जाता है। यहाँ पर लगभग 90 मन्दिरों के अवशेष हैं। यहीं पर रविकीर्ति द्वारा बनवाया गया मेगुती का मन्दिर भी है। अधिकांश मन्दिर विष्णु एवं शिव के हैं। ऐहोल का विष्णुमन्दिर

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

स्व-प्रगति का परीक्षण करे रु

1. वज्रायुद्ध के बारे में आप क्या जानते हैं? स्पष्ट करें।

2. त्रिपक्षीय संघर्ष के चतुर्थ चरण का उल्लेख करें?

3. महेन्द्रवर्मन शैली पर टिप्पणी

लिखें।

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

225

प्राचीन भारतीय इतिहास.

छव्जै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

226

अपेक्षाकृत सुरक्षित है। यहाँ के हिन्दू गुहा मन्दिरों में सबसे सुन्दर सूर्य का मन्दिर हैं जिसे श्लाढ़ खाँश का मन्दिर कहा जाता है। इसकी छत चपटी है और इसमें एक छोटा वर्गाकार गर्भगृह है तथा द्वारमण्डप बना है। गर्भगृह के सामने स्तम्भों पर आधारित बरामदा तथा विशाल सभाकक्ष है। छत बड़े-बड़े पत्थरों से बनाई गई है। इस मन्दिर में शिखर नहीं है। यहाँ दुर्गा का एक मन्दिर है। जिसका निर्माण एक ऊँचे चबूतरे पर हुआ है। छत भी चपटी है। गर्भगृह के ऊपर शिखर है तथा बरामदे में प्रदक्षिणा पथ बनाया गया है।

पट्टडकल में भी चालुक्यकालीन मन्दिरों के सुन्दर उदाहरण हैं। यहाँ पर दस मन्दिर हैं, जिनमें चार उत्तरी नागर शैली एवं छः दक्षिणी द्रविड़ शैली में बने हैं। उत्तरी शैली में बना श्यापनाथ का मन्दिर तथा दक्षिणी शैली में बने श्विरुपाक्ष एवं शसंगमेश्वर मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पट्टडकल के मन्दिरों में सबसे सुन्दर एवं आकर्षक मन्दिर श्विरुपाक्ष मन्दिर है। इसका निर्माण विक्रमादित्य की एक रानी ने 740 ई. के लगभग कराया था। इस मन्दिर के सामने नन्दी मण्डप है तथा चारों ओर वेदिका और तोरणद्वार हैं। मन्दिर की बाहरी दीवार में स्तम्भ जोड़कर सुन्दर ताखों का निर्माण किया गया है जिनमें मूर्तियाँ रखी गई हैं। ये मूर्तियाँ शिव, नाग-नागिन तथा रामायण के दृश्यों को अभिव्यक्त करती हैं। मन्दिर के निर्माण पर पल्लव द्रविड़ वास्तुशैली का प्रभाव देखा जा सकता है। इस मन्दिर के विषय में पर्सी ब्राउन ने लिखा

है, श्विरुपाक्ष मन्दिर प्राचीनकाल की उन दुर्लभ इमारतों में ऐसे एक है जिनमें उन मनुष्यों की भावना अब

८

भी टिकी हुई है, जिन्होंने इसकी कल्पना की तथा अपने हाथों से निर्मित किया। ८

कुछ विद्वानों के मतानुसार अजन्ता शृंखला में अनेक गुहाओं का निर्माण चालुक्य शासकों द्वारा करवाया गया था। गुफा संख्या 1 एवं 2 विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का चित्रण है। अजन्ता की गुहाओं में जातक कथाओं के चित्र भी अंकित हैं। ये भित्तिचित्र अत्यन्त सजीव व चित्ताकर्षक गुहा मन्दिर निर्माण की परम्परा जो गुप्तकाल में प्रारम्भ हुई थी, चालुक्य काल में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई।

पल्लव प्रशासन

पल्लव इतिहास की जानकारी के मुख्य स्रोत दानपत्र हैं जिनमें उपहार या दान

प्राचीन भारतीय इतिहास

में दिया गया था। बहुत से घोषणा-पत्र भी हैं जिनसे प्रशासन सम्बन्धी सूचनाएँ मिलती हैं। प्राकृत एवं तमिल में भी इनके शिलालेख मिलते हैं। सातवाहनों के पतन के बाद दक्षिण भारत में जो राजवंश पैदा हुए, उनकी प्रशासन व्यवस्था उसी प्रकार की थी जैसी उत्तर भारत में समकालीन राज्यों की, लेकिन कुछ विशिष्ट एवं स्थानीय तत्व भी थे।

—

पल्लव नरेश ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे। पल्लव अभिलेखों से वाजपेय, राजसूय और अवश्वमेध यज्ञों के सम्पादन का बोध होता है। कई पल्लव शासकों ने अनेक यज्ञों का सम्पादन किया। इसलिए इस वंश के शासकों ने धर्ममहाराजाधिराज एवं श्रद्धामहाराज जैसी उपाधियाँ धारण कीं। इनकी शासन प्रणाली में मौयों एवं गुप्तों की शासन प्रणाली की अनेक विशेषताएँ विद्यमान थीं। प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था। राजा में ईश्वरीय रूप की कामना की जाती थी। वह बड़ी-बड़ी उपाधियाँ धारण करता था और राज्य की सम्पूर्ण शक्तियाँ उसमें केन्द्रित थीं। परन्तु राजा निरंकुश नहीं होता था, बल्कि प्रजा की भलाई करना अपना प्रमुख कर्तव्य मानता था। राजा ही मन्त्रियों एवं उच्चाधिकारियों की नियुक्ति करता था। युद्धों के समय वह स्वयं युद्ध में सेना का संचालन करता था। शान्ति के समय वह जन कल्याण कार्य जैसे मन्दिरों एवं तालाबों का निर्माण आदि करवाता था एवं दान-दक्षिणा वितरित करता था। राजा अपने योग्यतम पुत्र को श्युवराज नियुक्त करता था, जो उसे प्रशासन के संचालन में सहयोग देता था। कभी-कभी तो उनकी भूमिका इतनी सक्रिय होती थी कि वे अपने अधिकार से भूमि अनुदान-पत्र भी जारी कर देते थे। राजा को प्रमुख विषयों पर कुछ विशेष मन्त्रियों का एक दल सलाह देता था, इस दल को श्रहस्यादिकल कहा जाता था। लेकिन राजा का प्रमुख सहायक श्युवराज ही होता था। पल्लव प्रशासन में वंशानुगत राजपद का ही प्रचलन था। राजकुमारों को साहित्य, दर्शन, विधि आदि की समुचित शिक्षा दी जाती थी और उनकी सम्पूर्ण क्षमताओं को उभारने का प्रयास किया जाता था। उत्तराधिकारी के अभाव में शासक का चुनाव किया जाता था।

रू

—

शपल्लवों का सम्पूर्ण साम्राज्य कई श्राष्ट्रों (प्रान्तों) में विभाजित था और राष्ट्र कई विषयों (जिलों) में विभाजित था। विषयों में कई श्कोट्टम एवं शग्राम होते थे। इस प्रकार पल्लव शासन व्यवस्था में ग्राम सबसे छोटी इकाई थी। ग्राम का मुखिया शग्राम भोजक कहलाता था। सामान्यतः श्राष्ट्रों (प्रान्तों) में राजा अपने परिवारजनों या निकट सम्बन्धियों को श्राष्ट्रीय के रूप में नियुक्त करता था। कभी-कभी श्राष्ट्रीय के पदों पर सामन्त भी नियुक्त किए जाते थे। इस प्रकार श्राष्ट्रों (प्रान्तों) का सर्वोच्च पदाधिकारी श्राष्ट्रीय कहलाता था, जिसे हम श्रान्तपति कह सकते हैं। प्रत्येक श्राष्ट्र में कई श्विषय होते थे और इन विषयों के उच्चाधिकारियों को श्विषयपति कहा जाता था, जो वर्तमान समय में

जिलाधिकारी के समान अधिकारी होते थे। शकोट्टमश् सम्भवत नगरों, कस्बों के लिए प्रयोग में लिया गया शब्द हैं, इसके उच्चाधिकारी को शदेशाधिकृतश् कहा जाता था। ग्रामों में श्वपित्रश् के निर्देशों से शासन सम्बन्धी कार्य सम्पन्न किए जाते थे।

श्मण्डपीश् नामक अधिकारी राज्य का कर संग्रह करता था तथा वन विभाग के अध्यक्ष को श्गुमिकश् कहा जाता था। श्तीर्थिकश् नामक पदाधिकारी तीर्थों, तड़ागों, जलाशयों आदि की देखरेख एवं उचित व्यवस्था करता था।

ग्रामों में पूर्णतया स्वायत्त शासन प्रणाली प्रचलित थी। प्रत्येक ग्राम में श्ग्रामसभाश् ग्रामीण विषयों, जैसे मन्दिरों, तड़ागों, उद्यानों की व्यवस्था एवं उनकी देखरेख करती थी। सार्वजनिक कार्यों का सम्पादन करना ग्रामसभा का प्रमुख कार्य था। यह ग्रामसभा न्यायालय के रूप में भी कार्य करती थी। ग्रामीण विषयों से सम्बन्धित विवादों पर निर्णय देने का अधिकार श्ग्रामसभाश् को था। ग्रामों से कर एकत्रित करने वाले अधिकारी को श्मण्डवीश् कहते थे। रोमिला थापर ने दक्षिण की सभाओं को रोचक वर्णन किया है। सभाएँ अनेक प्रकार की और अनेक स्तरों पर होती थीं, जिनमें वणिक, श्रेणियों, शिल्पियों तथा कारीगरों (जैसे जुलाहे, तेली आदि), विद्यार्थियों, संन्यासियों एवं पुरोहितों की सभाएँ भी सम्मिलित थी।

पल्लवों के साथ चालुक्यों एवं अन्य जैसे गंग, पाण्ड्य एवं चोल वंशों से संघर्ष होते रहते थे, अतः इस स्थिति में इन्होंने सैन्य संगठन पर विशेष ध्यान दिया। सम्पूर्ण सेना का सर्वोच्च अधिकारी स्वयं श्राजाश् होता था, लेकिन सैन्य संगठनों एवं उसकी कार्य क्षमता को बनाए रखने के लिए इसका अध्यक्ष नियुक्त किया जाता था, जो श्सेनापतिश् कहलाता था। सन्धि, युद्ध, सेना के गठन आदि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण निर्णय श्राजाश् स्वयं ही लेता था। सेनापति के अधीन श्नेयकश् नामक एक अन्य सेना का उच्चाधिकारी भी होता था। पल्लव शासकों ने जलसेना का विकास भी कर लिया था। महाबलिपुरम् तथा नेगापत्तनम् में पोतांगनों का निर्माण किया जाता था। डॉ. रोमिला थापर के अनुसार पल्लवों की नौसेना युद्ध के अतिरिक्त और भी कार्य करती थी। जल सेना की सहायता से ही पल्लवों ने सिंहलद्वीप में सफलतापूर्वक हस्तक्षेप किए तथा बृहत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों से सम्बन्ध स्थापित किए। यह दक्षिण – पूर्वी एशिया के साथ व्यापार में भी सहायता देती थी। निःसंदेह नौसेना की भूमिका भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में भी अप्रत्यक्ष रूप से रही है।

पल्लव कला

भारत के

सुदूर दक्षिणी क्षेत्र को, जिसे श्तमिल प्रदेशश् कहा जाता है, प्राचीनकाल में श्द्रविड़ प्रदेशश् कहा जाता था। इस द्रविड़ देश में पल्लव शासकों ने जिस

प्राचीन भारतीय इतिहास

स्थापत्य शैली का विकास किया, उसे श्रवविड़ शैली कहा जाता है। इस प्रदेश में पल्लवों ने छठीं सदी ई. से दसवीं सदी ई. तक शासन किया है। उनके शासनकाल की वास्तुकला के उदाहरण उनकी राजधानी कांची तथा महाबलिपुरम् में पाये जाते हैं। कुछ उदाहरण तंजौर प्रदेश और पुडुकोटाई में भी पाये जाते हैं। पल्लव कलाकारों ने काष्ठकला एवं गुहाकला से वास्तुकला को मुक्त किया। इनकी प्रारम्भिक कलाकृतियों में उन्हीं प्रणालियों का सहारा लिया गया, जिन्हें काष्ठ एवं कन्दरा (गुहा) कलाकार ने अपनाया था, धीरे-धीरे इस प्रणाली का लोप होता चला गया। पल्लव शासकों ने पाषाण वास्तुकला को प्रारम्भ किया और उनके संरक्षण में अनेक मन्दिर पहाड़ों की चट्टानों को काटकर बनाए गए, जिनमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा अन्य हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गईं। पल्लवकालीन वास्तुकला को चार शैलियों में विभक्त किया जा सकता है, जो प्रमुख पल्लव नरेशों के नाम पर है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

228

(1) महेन्द्र वर्मन शैली (610 ई. 640 ई.) (2) मामल्ल शैली (640 ई. 674 ई.) (3) राजसिंह शैली (674 ई. 800 ई.) और (4) नन्दिवर्मन शैली (800-900 ई.) पसब्राउन ने लिखा है, षजिन सभी शक्तियों ने मिलकर दक्षिण भारत के इतिहास का निर्माण किया है, उनमें से किसी ने भी इस क्षेत्र के स्थापत्य को उतना प्रभावित नहीं किया है जितना कि पल्लवों ने, जिनके द्वारा निर्मित भवनों ने द्रविड़ शैली को आधार प्रदान किया। ८

महेन्द्रवर्मन शैली (610 ई. 640 ई.) इस शैली का विकास 610 ई. से 640 ई. के बीच हुआ। इस शैली के मन्दिरों को श्मण्डप कहा जाता है। ये श्मण्डप साधारण स्तम्भयुक्त बरामदे हैं जिनकी पिछले दीवार में एक या अधिक कक्ष बनाये गए हैं, जो कठोर पाषाण को काटकर गुहा मन्दिर के रूप में निर्मित किए गए हैं। मण्डप के बाहर बने मुख्य द्वार के दोनों ओर द्वारपालों की सुन्दर मूर्तियाँ हैं। स्तम्भ सामान्यतया चौकोर हैं। महेन्द्र शैली के मण्डपों में मण्डगपट्ट का त्रिमूर्ति मण्डप, पल्लवरम् का पञ्चपाण्डप मण्डप, महेन्द्रवाड़ी का महेन्द्र विष्णु गृहमण्डप, मामण्डूर का विष्णुमण्डप आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मामल्ल शैली (640 ई. 674 ई.) इस शैली का विकास नरसिंहवर्मन प्रथम श्महामल्ल के शासन-काल में हुआ। 'महामल्ल' नरसिंहवर्मन प्रथम की उपाधि थी, अतः इसके शासनकाल की स्थापत्य विशिष्ट शैली को श्मामल्ल शैली कहा गया है। इस शैली का प्रमुख केन्द्र मामल्लपुरम् (महाबलीपुरम्) नगर था जिसकी स्थापना नरसिंहवर्मन प्रथम ने की थी। इस शैली के अन्तर्गत दो प्रकार

के मन्दिरों का निर्माण हुआ, प्रथम शमण्डपशैली में दिखाई देता है। महेन्द्रवर्मन शैली के मण्डपों में और इस काल में निर्मित मण्डपों में मुख्य रूप से अलंकरण में भिन्नता दिखाई देता है। मामल्ल शैली के मण्डप अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत हैं। इन मण्डपों की विशेषता इनके स्तम्भ हैं, ये स्तम्भ सिंहों के शीर्ष पर स्थित हैं तथा स्तम्भों का शीर्ष भाग मंतगलघाट के आकार का है। इनमें आदिवराह मण्डप, महर्षिमर्दिनी मण्डप, पञ्चपाण्डप मण्डप और रामानुज मण्डप विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस शैली में निर्मित दूसरे प्रकार के मन्दिर श्रथ है। एक एकात्मक मन्दिर हैं। इन्हें एक विशाल पाषाण चट्टान को काटकर बनाया गया है। ये रथ—मन्दिर काष्ठ के रथों की आकृति से समानता रखते हैं। इनकी वास्तुकला शैली मण्डप शैली के समान है। इन रथों का विकास बौद्ध विहार तथा चौत्यगृहों से हुआ प्रतीत होता है। प्रमुख रथ मन्दिरों में द्रौपदी रथ, अर्जुन रथ, नकुल सहदेव रथ, भीम रथ, धर्मराज रथ, गणेश रथ, पिडारि रथ आदि उल्लेखनीय हैं। ये सभी रथ— मन्दिर शैवमन्दिर हैं। द्रौपदी रथ सबसे छोटा है। धर्मराज रथ सबसे भव्य एवं सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसका शिखर पिरामिड के आकार का है। यह मन्दिर दो भाग में है। नीचे का भाग एक वर्गाकार खण्ड है और इससे लगा हुआ संयुक्त बरामदा है, ऊपरी भाग में पिरामिड की आकृति का शिखर है। यह रथ मन्दिर आयताकार है तथा इसका शिखर श्लोकाकार आकृति का है। मामल्लशैली के भी अन्त हो गया। इसके पश्चात् अलग शैली के मन्दिरों का निर्माण होने लगा।

८

राजसिंह शैली (674 ई० 800 ई०) पल्लव शासक राजसिंह के शासनकाल में गुहामन्दिरों के स्थान पर ईट, पाषाण आदि की सहायता से एक भिन्न एवं स्वतन्त्र शैली के मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जिसे श्राजसिंह शैली कहा जाता है। महाबलीपुरम् में समुद्र तट पर स्थित श्रतीय मन्दिर (शोर मन्दिर) और काञ्ची में कैलाशनाथ मन्दिर तथा शैकुण्ठ — पेरुमाल मन्दिर इस शैली के महत्वपूर्ण मन्दिर हैं।

महाबलीपुरम् में समुद्रतट पर बना शोर—मन्दिर (तटीय शैव मन्दिर) पल्लव स्थापत्य एवं शिल्पकला का अद्भुत स्मारक है। यह मन्दिर एक विशाल प्रांगण में बनाया गया है। इसका गर्भगृह समुद्र की ओर है तथा मन्दिर का प्रवेशद्वार पश्चिम की ओर है और इसके चारों ओर प्रदक्षिणा पथ है। इसका शिखर सीढ़ीदार है और शीर्ष पर स्तूपिका निर्मित है। इसकी दीवारों पर गणेश, स्कन्द, गज, शार्दूल आदि की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मन्दिर के विभिन्न अंगों में सुन्दर समन्वय है।

कांची के कैलाशनाथ मन्दिर के निर्माण में राजसिंह शैली का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। इस मन्दिर का निर्माण नरसिंहवर्मन द्वितीय श्राजसिंह के शासनकाल में प्रारम्भ हुआ और उसके उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन द्वितीय के समय पूरा हुआ। इस मन्दिर में द्रविड़ शैली की सभी विशेषताएँ देखने

प्राचीन भारतीय इतिहास

को मिलती हैं जैसे परिवेष्टित प्रांगण, गोपुरम् स्तम्भयुक्त मण्डप, विमान आदि । मन्दिर में शिव की क्रीड़ाओं से सम्बन्धित अनेक दृश्यों का मूर्तियों द्वारा सुन्दर प्रदर्शन किया गया है । कैलाशनाथ मन्दिर के निर्माण के पश्चात् बैकुण्ठ पेरुमल मन्दिर बना है, जो पल्लव वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना है । यह विष्णु मन्दिर है । इसमें प्रदक्षिणा पथयुक्त गर्भगृह तथा सोपानयुक्त मण्डप है । इस मन्दिर का विमान वर्गाकार तथा चार मंजिला है, जो लगभग 60 फुट ऊँचा है । प्रथम मंजिल में विष्णु की विभिन्न मुद्राओं की मूर्तियाँ हैं तथा मन्दिर की भीतरी दीवारों पर राज्याभिषेक, उत्तराधिकार चयन, अश्वमेध, युद्ध एवं नगर-जीवन के दृश्य अंकित हैं । यह मन्दिर पल्लव वास्तुकला का पूर्ण विकसित स्वरूप प्रस्तुत करता है ।

नन्दिवर्मन शैली (800 ई. 900 ई.) इस शैली के मन्दिरों में कोई नवीन वास्तु तत्व दिखाई नहीं देता, लेकिन ये आकार-प्रकार में निरन्तर छोटे दृष्टिगोचर होते हैं और पूर्वकाल में बने हुए मन्दिरों की प्रतिकृत मात्र दिखाई देते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि ये मन्दिर स्वतन्त्र मन्दिर शैली के अन्तिम चरण के हैं । इस शैली में नन्दिवर्मन एवं उसके उत्तराधिकारियों के काल में बने मन्दिर आते हैं, जिनमें कांचीपुर के मुक्तेश्वर तथा मातंगेश्वर मन्दिर तथा गुडीमल्लम का परशुरामेश्वर मन्दिर उल्लेखनीय हैं । इस शैली के मन्दिरों के स्तम्भ – शीषों में कुछ विकास दिखाई देता है, लेकिन इनमें ओज का अभाव है । ये इस बात की ओर संकेत करते हैं कि बाहरी आक्रमण (पश्चिमी चालुक्यों) के कारण राजवंश की शक्ति क्षीण हो रही थी और सम्भवतः इनके निर्माता या समाज संकट के दौर से गुजर रहे थे । कलात्मक प्रवृत्तियाँ सुखद एवं शान्तिकाल की परिचायक होती हैं । 10वीं शताब्दी तक इन मन्दिरों का निर्माण लगभग बन्द हो गया ।

इस प्रकार पल्लव वास्तुकला का प्राचीन भारतीय इतिहास में विशेष महत्त्व है । पल्लवों ने बौद्ध चौत्यों से विरासत में प्राप्त कला का स्वतंत्र विकास करके कला की नवीन शैलियों को जन्म दिया, जो चोल एवं पाण्ड्य शासनकाल में पूर्णरूप से विकसित हुई । पल्लव कला की विशेषताएँ दक्षिण-पूर्वी एशिया तक विस्तृत हुई । वहाँ के मन्दिरों में पल्लव-कला की विशेषताएँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं ।

चोल प्रशासन

चोल राजा साहसी सैनिक, आक्रान्ता एवं विजेता ही नहीं थे, वरन् उनकी रचनात्मक शक्ति एवं क्षमता भी कम नहीं थी । एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना के साथ ही चोल राजाओं ने अपने साम्राज्य में एक सुविचारित, सुसंगठित एवं सुदृढ़ प्रशासन की स्थापना की, जिसकी अपनी अनेक प्रमुख विशेषताएँ थीं । उनका शासन-तन्त्र राजसत्तात्मक होते हुए भी नागरिकों के अधिकारों को महत्त्व प्रदान करने वाला था । सुदृढ़ केन्द्रीय प्रशासन के साथ ही चोल प्रशासन में अत्यधिक स्थानीय स्वायत्तता का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है ।

राजा

—ज

साम्राज्य की सम्पूर्ण सत्ता का स्रोत शराजाश ही था, जो प्रशासन का प्रमुख संचालक और प्रधान था। उसका केन्द्रीय शासन व्यवस्था पर पूर्ण अधिकार था। राजपद वंशानुगत था, कदाचित् शराजाश योग्यता के आधार पर छोटे पुत्रों को भी युवराज घोषित कर देता था। सेना के सभी अंगों का प्रधान शराजाश ही होता था और उसके अधिकारों पर कोई संवैधानिक नियन्त्रण नहीं था। एस. कृष्णा स्वामी आयंगर, नीलकण्ठ शास्त्री तथा टी.वी. महालिंगम् आदि विद्वानों के मतानुसार चोल राजाओं ने एक सुदृढ़ केन्द्रीकृत व्यवस्था स्थापित की थी। चोल शासक अपना राज्याभिषेक तंजीर, गगैकोण्ड चोलपुरम् चिदम्बरम् आदि स्थानों पर करवाते थे और सम्मानजनक उपाधियाँ धारण करते थे, यथा— चक्रवर्तिबल, त्रिलोकसम्राट आदि ।

श्र

राजा सामान्यतः मौखिक आदेश दिया करता था, जिन्हें उनका निजी सचिव लिखकर पुष्टि हेतु भेज देता था। वह अपने उत्तराधिकारी का चुनाव अपने जीवनकाल में ही कर लेता था। राजा धर्म व आचार के अनुसार कार्य करता था और निरंकुश नहीं होता था। सार्वजनिक हितों के कार्यों में वह व्यक्तिगत रुचि लेता था। राजा को व्यक्तिगत स्तर पर समयानुसार परामर्श देने के लिए, राजप्रसाद की व्यवस्था के लिए तथा प्रशासन के विभिन्न विभागों की देखरेख के लिए बड़ी संख्या में मन्त्रियों और पदाधिकारियों को नियुक्ति की जाती थी। छब्बै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

230

कृ

लेता था। राजाज्ञाओं को लागू करने के लिए दो उच्च पदाधिकारियों और पाँच प्रतिष्ठित विद्वानों की स्वीकृति के पश्चात् स्थानीय गवर्नर के निरीक्षण के पश्चात् सम्बन्धित अधिकारियों को भेजा जाता था ।

अधिकारी तन्त्र— चोल अभिलेखों में किसी मन्त्रिमण्डल का उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि चोल प्रशासन में अधिकारी तन्त्र का गठन हो चुका था जो राजा की योजनाओं को मूर्त रूप देते थे। अभिलेखों में अधिकारी पुरवुवरि आदि उच्च पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है । 11वीं व 12वीं सदी के चोल अभिलेखों में श्उदनकुट्टम् का उल्लेख मिलता है, जो पदाधिकारियों की कार्यकारिणी प्रतीत होती है। ये केन्द्रीय अधिकारी प्रतीत होते हैं। ये राजा के बहुत निकट थे तथा राजा प्रत्येक कार्य इनकी सम्मति से करता था। महालिंगम् इसकी तुलना संस्कृत ग्रन्थों की अमात्य परिषद अथवा मन्त्रिपरिषद से करते हैं। पदाधिकारियों की दो प्रकार की श्रेणियाँ थी— वरिष्ठ अधिकारियों को श्पेरुनन्दरम् का पद दिया जाता था तथा छोटे अधिकारियों को श्शिस्तरम् का अधिकारियों के पद वंशानुगत भी होते थे। उन्हें नकद वेतन के स्थान पर भूखण्ड प्रदान किए जाते थे। राजा के प्रशासकीय आदेशों को कार्यान्वित कराने का उत्तरदायित्व श्ओलेश नामक विशिष्ट पदाधिकारी को सौंपा जाता था, जो

प्राचीन भारतीय इतिहास

राजा की इच्छानुसार एक कच्चा राजकीय आदेश – पत्र तैयार करते थे जिसकी जाँच औलनायकम् करते थे। बाद में इन आदेशों को लिपिबद्ध करके सम्बन्धित विभागों तक पहुँचाया जाता था। राजा भी दूरस्थ प्रदेशों तक तक प्रशासन पर दृष्टि रखता था, समय–समय पर वह साम्राज्य का दौरा भी करता था। परम् शक्तिमान होते हुए भी चोल राजा निरंकुश नहीं थे। साम्राज्य के उच्च पदाधिकारियों, स्थानीय शासन की परम्पराओं तथा विधि–निषेधों की मर्यादा का उसे पूर्णरूपेण ध्यान रहता था।

साम्राज्य विभाजन प्रशासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण चोल साम्राज्य को अनेक मण्डलों (प्रान्तों) में विभाजित किया गया था। प्रत्येक मण्डल को विशाल प्रान्तीय उपविभागों या कोट्टम् में विभाजित किया गया था। प्रत्येक प्रान्त का शासक एक प्रान्तपति को ही नियुक्त किया जाता था। विजित प्रान्तों के प्रान्तपति चोल राजा को लगान देते थे और आवश्यकता पड़ने पर सैन्य सहायता भी उपलब्ध कराते थे। प्रत्येक श्कोट्टम् को जनपद जैसे श्नाडुओंश और श्नाडुओंश को श्कुरम् (ग्राम समूहों) में विभाजित किया जाता था। कुरम् में ग्राम–समूहों के अतिरिक्त नगरों को भी सम्मिलित किया गया था। श्नाडुश की सभा श्नाट्टारश कहलाती थी, इसमें सभी गाँवों तथा नगरों के प्रतिनिधि होते थे जिनका प्रमुख कार्य भू–राजस्व का प्रबन्धन करना था। प्रशासन चलाने के लिए न केवल राजकीय पदाधिकारी होते थे अपितु जनता की सभाएँ भी होती थीं। नगर और ग्राम में क्रमशः श्नगस्तारश और श्करश नामक सभाएँ थीं। ब्राह्मणों को दान में दिए गए ग्राम को श्चतुर्वेदिमंगलम् कहा जाता था और इसकी व्यवस्था ब्राह्मणों की सभा करती थी।

समितियाँ चोल प्रशासन की एक मौलिक व्यवस्था थी कि राजतंत्रात्मक होते हुए भी गाँव, नगर, जिले और प्रान्त आदि समस्त प्रशासन इकाइयों के शासन संचालन के लिए सार्वजनिक समितियाँ बनी हुई थीं। इन समितियों का गठन एक सुनियोजित, स्पष्ट और व्यवस्थित चुनाव प्रणाली के माध्यम से होता था। इनमें प्रतिवर्ष चुनाव होना और नवीन व्यक्तियों का चयन करना सामान्यतः आवश्यक था। प्रत्याशियों की योग्यता के सम्बन्ध में भी निश्चित नियम थे। प्रांत की समिति प्रान्तीय लोगों द्वारा निर्वाचित होती थी। जिला समिति को श्नागट्टारश कहा जाता था और नगर की समिति को श्नगरहारश कहा जाता था। स्थानीय शासन संचालन के लिए श्श्रेणियाँ पूंगश आदि संस्थाएँ भी विद्यमान थीं। व्यापारियों की संस्थाओं को राज्य की तरफ से मान्यता प्राप्त थी। उनके पास अपनी सेनाएँ भी होती थीं। ग्राम सभा प्रशासन की छोटी इकाई थी।

राजस्व प्रशासन अन्य राज्यों के समान चोलराज्य की आय का मुख्य साधन भूमिकर था। राजराज प्रथम और कुलोत्तुंग प्रथम के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि भूमिकर निर्धारित करने से पूर्व चोल नरेश भूमि का सर्वेक्षण कराते थे और

भूमि के वर्गीकरण के आधार पर भूमिकर निश्चित करते थे। भूमि का सर्वेक्षण और उसका वर्गीकरण समय-समय पर होता रहता था। अतः एक ही ग्राम में भूमिकर के परिणाम में अन्तर होता रहता था। सामान्यतः भूमिकर उपज का 1/6 भाग होता था। यह आधे से लेकर चौथाई भाग तक भी हो सकता था। अकाल, बाढ़ आदि विशेष परिस्थितियों में कर कम अथवा समाप्त भी किया जा सकता था। कर नकद अथवा माल किसी भी रूप में अदा किया जा सकता था। भूमि कर संग्रह करने का कार्य ग्राम सभाओं का था। भू-राजस्व का निर्धारण सामान्य खेत की उर्वरता, सिंचाई की सुविधा एवं वार्षिक

फसल चक्र को ध्यान में रखकर किया जाता था। चोल अभिलेखों में उपन के आधार पर खेतों को 12 श्रेणियों में विभाजित किया गया था। राजस्व विभाग के प्रमुख अधिकारी को श्वरित्पोत्तमक्कश कहते थे। नगरों में कर संग्रह शनगरम् श करते थे, जो विभिन्न प्रकार के करों को वसूल करके केन्द्रीय कोष में जमा कराते थे, कभी-कभी करों को वसूल करते समय जनता के साथ कठोर व्यवहार किया जाता था। तंजौर से प्राप्त 13वीं शती ई. के एक चोल लेख के अनुसार एक व्यक्ति जिस पर 10 वर्ष का लगान बकाया था, वह अपना गाँव छोड़कर पाण्डुव राज्य में बस गया। ग्रामसभा ने बाद में उसकी जमीन को बेचकर बकाया लगान की धनराशि को केन्द्रीय कोष में जमा करा दिया।

राज्य की आय के अन्य साधन वन सम्पदा, खानें, आयात और निर्यात कर तथा स्थानीय शुल्क आदि थे। विभिन्न स्तरों पर दोषी व्यक्तियों से अनेक अपराधों के लिए अर्थदण्ड भी लिया जाता था, जुर्माने के रूप में मिलने वाली राशि को श्मूरूपाडुश कहा जाता था। अधीनस्थ राजाओं तथा सामन्तों से प्राप्त वार्षिक कर, भेंट, उपहार आदि से भी आय होती थी। सम्भवतः चोल राज्य के अन्तर्गत करों की संख्या और मात्रा अधिक थी। इसलिए कुलोत्तुंग प्रथम ने अनेक करों को समाप्त कर श्शुंमन्दवित्तश (करों को हटाने वाला) की उपाधि धारण की। कर न देने वाले व्यक्ति की भूमि को राज्य बेच भी सकता था। सार्वजनिक कार्यों के लिए राज्य लोगों से बेगार भी ले सकता था।

7

प्रारम्भिक चोल नरेशों के शासन काल में कर वसूली कुछ उदार थी। परन्तु परवर्ती चोल शासकों के शासन-काल में सामन्तवाद के बढ़ते प्रभाव के परिणामस्वरूप शारीरिक उत्पीड़न एवं कठोर दण्ड का भी प्रयोग किया जाने लगा। यह कठोर तथा उत्पीड़नात्मक कर व्यवस्था चोल साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण बनी। संगृहीत राजस्व का उपयोग साम्राज्य के सैन्य संगठन, अन्तःपुर एवं राजमहलों की शान-शौकत, केन्द्रीय कर्मचारियों का वेतन, नगर-विन्यास, दुर्ग-निर्माण, प्रासाद-निर्माण, राजमार्ग-निर्माण, सिंचाई आदि व्यवस्थाओं पर किया जाता था। चोल नरेश केन्द्रीय राजस्व का उपयोग प्रायः विशाल मन्दिरों के निर्माण, बन्दरगाहों तथा समुद्री जहाजी बेड़ों के विकास पर अधिक किया करते थे। इसके अतिरिक्त राजस्व का एक बड़ा भाग राजकीय दानों,



समारोहों, यज्ञों और विभिन्न महोत्सवों पर भी खर्च होता था। चोल शासन काल में अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि आदि प्रकोपों का भी हमें उल्लेख मिलता है। ये प्राकृतिक विपत्तियाँ कभी-कभी तो स्थानीय होती थीं और कभी-कभी सम्पूर्ण साम्राज्य इनसे प्रभावित होता था। ऐसी स्थिति में राज्य आर्थिक सहायता प्रदान करता था।

न्याय-व्यवस्था – चोल शासकों ने न्याय-व्यवस्था का भी समुचित प्रबन्ध कर रखा था। चोल-अभिलेखों में धर्मासनश्च अर्थात् अन्तिम न्याय प्राप्ति हेतु दरबार का उल्लेख मिलता है। श्रद्धर्मासनश्च का निर्णय श्रद्धर्मासन भट्टश्च (स्मृतिशास्त्र ब्राह्मणविद्वान्) की सहायता से ही किया जाता था। यहाँ पहुँचने से पहले न्यायालय की छोटी इकाइयों से होकर मुकदमा चलता था। मुकदमों का प्रारम्भिक निर्णय देने का अधिकार ग्राम पंचायतों को प्राप्त था। छोटे-छोटे मुकदमों का निर्णय स्थानीय निगमों द्वारा ले लिया जाता था।

चोलों की न्याय व्यवस्था एवं दण्ड-व्यवस्था उदार थी। हत्या जैसे जघन्य अपराधों के अतिरिक्त अन्य अपराधों में आर्थिक दण्ड तथा सामाजिक अपमान करने का दण्ड दिया जाता था। अपराध सिद्ध होने पर एक हजार काशु (मुद्रा) तक अर्थदण्ड दिया जाता था। परन्तु कर-प्रवचकों, चोरों, डाकुओं एवं अन्य व्यभिचारियों को शारीरिक दण्ड एवं अर्थदण्ड देने के अतिरिक्त उनका सामाजिक अपमान करने के लिये उन्हें गधे पर बिठाकर ग्राम अथवा नगर के मोहल्लों में घुमाया जाता था। हत्या के आरोपी को मात्र 16 गार्यों का जुर्माना अदा करना पड़ता था और मृतक की आत्मशान्ति के लिए हत्यारे को राजमन्दिर में दीपक जलाना पड़ता था, उसे केवल प्रायश्चित ही माना जा सकता है। लेकिन जान-बूझकर निर्मम हत्या करने के अभियोग में अभियुक्त को अंगच्छेद, मृत्युदण्ड अथवा आजीवन कारावास की सजा दी जाती थी। मृत्युदण्ड प्रायः हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाकर दिया जाता था। राजद्रोह भी भयंकर अपराध था, जिसका निर्णय स्वयं राजा करता था। इसमें अपराधी को मृत्युदण्ड के साथ उसकी सम्पत्ति भी जब्त कर ली जाती थी। अग्नि एवं जल से दिव्य परीक्षाओं का विधान मिलता है। सामान्य अपराध के लिए अभियुक्त को लकड़ी के खम्भे से बांधाकर 50, 70 अथवा 100 कोड़े मारे जाते थे। लेकिन जघन्य अपराधों के लिए मृत्युदण्ड दिया जाता था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

231

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

132

सैन्य व्यवस्था – चोल राजाओं ने अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति

के लिए एक विशाल, प्रशिक्षित, अनुशासित एवं संगठित सेना का गठन किया। चोल सेना श्मुरुकई—महासेनईश कहलाती थी। उनकी सेना के तीन टांग थे—पदाति, अश्वारोही और गजारोडी। अपनी सेना के बल पर ही चोल नरेशों ने मलाया द्वीपसमूह, लंका व हिन्द महासागर के कई द्वीपों पर विजय प्राप्त कर भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। सम्पूर्ण सेना में लगभग 1,50,000 सैनिक थे। इनमें कुशल धनुर्धर पैदल सेना के प्रमुख अंग थे तथा 60,000 गजारोहियों की संख्या थी। अश्वारोहियों का भी चोलसेना में प्रमुख स्थान होता था। सेना के लिए चोल नरेश बड़ी संख्या में घोड़े ईरान तथा अरब देशों से मँगाते थे। पदाति सैन्य दल के शकककोलसश (अतिशक्तिशाली बाहुबली) तथा शशैगुन्दरश (भाला चलाने में निपुण सैनिक) प्रमुख थे। राजा के अंगरक्षक विशेष विश्वसनीय व्यक्ति होते थे, जिन्हें श्वेलैक्कारश कहा जाता था। अंगरक्षक स्थायी सैनिक होते थे। सेना की विभिन्न टुकड़ियाँ अलग-अलग श्गुल्मोंश और छावनियों (कड़गम) में रहती थीं। चोल अभिलेखों में सेना की 70 रेजिमेण्टों का उल्लेख मिलता है। सैनिकों के प्रशिक्षण एवं अनुशासन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। शान्तिकाल में सैनिक सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास में योगदान देते थे।

युद्ध

के अवसर पर चोल सेना का नेतृत्व श्राजाश अथवा श्युवराजश करता था। युद्धभूमि में विशेष पराक्रम दिखाने वाले योद्धाओं तथा सेनापतियों को श्क्षत्रिय शिखामणिश की उपाधि दी जाती थी। सेना का सम्पूर्ण कार्य सेनापति के निरीक्षण में होता था। अन्य सैनिक पदाधिकारियों में श्महादण्डनायकश और श्नायकश विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ब्राह्मण सेनापतियों का उल्लेख भी मिलता है जिन्हें श्ब्रह्मादिराजश कहा जाता था।

चोल शासकों ने एक शक्तिशाली नौसेना का भी संगठन किया था। राजराज प्रथम और राजेन्द्र प्रथम के समय में चोलों की नौसेना विशेष रूप से शक्तिशाली हो गई थी। इसी के आधार पर उनने लंका, पूर्वी समुद्र तटवर्ती राज्यों एवं दक्षिणी-पूर्वी एशियायी द्वीपों पर विजय प्राप्त की। बंगाल की खाड़ी में चोल नौसेना का प्रभाव इतना स्थापित हो गया था कि उस खाड़ी को श्चोलों की झीलश कहा जाने लगा था। लड़ाकू जहाजों के अतिरिक्त इस सेना में व्यापारी जहाज भी थे। अधीनस्थ शासकों और सामन्तों की सेना भी चोल सेना के साथ मिलकर लड़ती थी। चोल सेना का व्यवहार शत्रु देशों की जनता के साथ बहुत बर्बर होता था। वे स्त्रियों से अभद्रतापूर्ण आचरण के साथ वहाँ की जनता को लूटते भी थे। इसके बावजूद भी इस युग में चोल सैन्य— कला बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी।

जनकल्याणकारी कार्य— चोल शासकों ने कतिपय जनकल्याणकारी कार्यों में भी अपनी रुचि दिखाई। चोलों ने विशाल सिंचाई परियोजनाओं को प्रारम्भ किया। उन्होंने कुछ विशाल तड़ागों का निर्माण कराने के साथ-साथ कावेरी तथा अन्य नदियों पर प्रस्तरों द्वारा विशाल बाँध निर्मित कराये तथा विशाल भू-क्षेत्र को

प्राचीन भारतीय इतिहास

सिंचाई की सुविधा प्रदान करने के लिए नहरों का निर्माण करवाया। राजेन्द्र चोल प्रथम ने अपनी नवीन राजधानी गंगैकोण्डचोलपुरम् में एक विशाल तड़ाग बनवाया, जिसे कोलेरुन तथा वेल्लार नदियों के जल से आपूरित किया गया। इस विशाल तालाब के तटबन्ध सोलह मील तक फैले हुए थे और इसमें प्रस्तर की नालियों एवं नहरों की भी व्यवस्था की गई। चोलों ने वाणिज्य एवं संचार के साधनों का विकास करने के लिए विशाल राजमार्गों का निर्माण करवाया। इन राजमार्गों पर निश्चित दूरी पर सुरक्षा की दृष्टि से सैन्य टुकड़ियों को नियुक्त किया गया और नदी जलमार्गों पर सार्वजनिक नौकाओं की व्यवस्था की गई इस प्रकार चोल शासक सदैव जनकल्याण के कार्यों में संलग्न रहते थे।

ग्राम प्रशासन

—

चोल शासन व्यवस्था की सर्वोपरि विशेषता एक प्रभावशाली एवं विकसित स्वशासन प्रणाली थी जिसके अन्तर्गत ग्राम प्रशासन को लोकप्रिय आधार पर सुसंगठित किया गया। चोल प्रशासन की ग्राम सभाएँ केन्द्रीय शासन के हस्तक्षेप से मुक्त एवं पूर्णतः स्वायत्त थीं। दक्षिण में यह मान्यता प्रचलित थी कि स्थानीय शासन स्थानीय लोगों के द्वारा ही संचालित होना चाहिए। विद्वानों ने श्लघु गणराज्यों के रूप में इनकी प्रशंसा की है। नीलकण्ठशास्त्री के मतानुसार चोल प्रशासन की सबसे महत्वपूर्ण बात थी। स्वशासी ग्रामीण संस्थाओं के कार्य संचालन में पायी जाने वाली असाधारण दक्षता तथा ओज की भावना। यद्यपि नाडुओं और शहरों में भी सभाएँ थीं, तथापि स्वायत्त शासन यदि कहीं पूर्णरूपेण लागू था, तो वह

के ग्रामों में था। नाट्टर और नगस्तार सभाएँ पूर्ण रूप से जनतन्त्रात्मक नहीं थीं, किन्तु ग्रामों की सभा चुनाव होते थे।

ग्रामों में मुख्यतः दो प्रकार की संस्थाएँ थीं— (1) कर यह जनसाधारण की सभा थी। (2) सभा (अथवा महासभा) — इसे श्पेरुण्गुडिश् भी कहा जाता है। यह श्रमग्रहार (ब्राह्मणवर्ग) की सभा थी। ये संस्थाएँ शासन चलाने के लिए अनेक समितियों में विभाजित थीं। इन समितियों को श्वारियम कहा जाता था। इन समितियों में संवत्सर वारियम (वार्षिक समिति), टोडुवारियम (उपवन समिति), एरिवारियम (तड़ाग समिति), पोनवारियम (स्वर्ण समिति) आदि का उल्लेख परान्तक प्रथम के उत्तरमेरुर के 919 ई. और 929 ई. अभिलेख करते हैं। अन्य अभिलेखों में उदासीन वारियम का भी उल्लेख मिलता है, जो सम्भवतः परदेशियों के लिए गठित समिति थी। कुछ अन्य समितियों का उल्लेख भी मिलता है, प्रत्येक ग्राम में समितियों की संख्या आवश्यकतानुसार होती थी। इन समितियों के सदस्यों की संख्या भी निश्चित नहीं थी। प्रत्येक वारियम के सदस्यों को श्वारियप्पेरुकलम् कहा गया है। ये अवैतानिक थे।

परान्तक प्रथम के उत्तरमेरुर के दो अभिलेखों में श्वारियम के सदस्यों के निर्वाचन की प्रणाली का उल्लेख मिलता है। निर्वाचन के लिए ग्राम को श्कुटुम्ब (क्षेत्रों) में बाँटा जाता था। निर्वाचन श्कुडवोलाइ (मतपत्रों) के आधार पर होता

था। सभी चुनने योग्य उम्मीदवारों के नाम अलग-अलग ताड़पत्रों पर लिख दिए जाते थे और एक बर्तन में डालकर उन्हें अच्छी तरह से हिलाया जाता था। एक छोटा बालक उन पत्तियों को निकालता था और जिन उम्मीदवारों के नाम की पत्ती निकल आती थी, वे एक वर्ष के लिए निर्वाचित घोषित कर दिए जाते थे। निर्वाचन के लिए प्रत्येक उम्मीदवार में निम्नलिखित योग्यताएँ होनी आवश्यक थीं (1) आयु 35 से 70 वर्ष (2) वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों का ज्ञान अथवा 1६2 वेलि (3६4 एकड़) भूमि पर अधिकार तथा एक वेद और भाष्य का ज्ञान (3) अथवा 1६4 वेलि (1) एकड़) भूमि का स्वामित्व (4) निजी घर में निवास।

निम्नलिखित आधार पर कोई भी व्यक्ति निर्वाचन के लिए अयोग्य भी घोषित किया जा सकता था। (1) यदि वह पिछले तीन वर्षों से किसी समिति का लगातार सदस्य रहा हो। (2) यदि उसने समिति के आय-व्यय का हिसाब न दिया हो। (3) यदि वह व्यभिचारी अथवा अपराधी हो। (4) यदि वह चोरी के अपराध में दण्डित किया गया हो। (5) यदि वह शूद्रों के सम्पर्क से अपवित्र हो गया हो। समितियों की बैठक अधिकांशतः मन्दिर में होती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि विचारणीय विषयों पर विचार-विमर्श कर सर्वोत्तम व्यवस्थाईश (प्रस्ताव) पारित कर दिया जाता था।

—

ग्राम सभा का कार्य क्षेत्र और क्षेत्राधिकार बहुत विस्तृत था। इनका प्रमुख कार्य भूमि कर संग्रह करना होता था। यह प्रत्येक ग्राम की उर्वर और बंजर भूमि तथा वनों का लेखा-जोखा रखती थीं। भूमि की उपज के आधार पर भूमि कर निश्चित करती थीं। भूमिकर न देने वाले व्यक्ति की भूमि को सभा बेच भी सकती थी। भूमि सम्बन्धी झगड़ों का हल करना भी इनका कार्य था। सभा किसानों को समय-समय पर उनके भूमिकर में छूट भी दे सकती थी। भूमि के वर्गीकरण का एकमात्र अधिकार सभा को ही था। समय-समय पर चोल नरेश भूमि का सर्वेक्षण कराते थे, परन्तु भूमि के वर्गीकरण में परिवर्तन करने से पूर्व उन्हें सभा से अनुमति लेनी पड़ती थी। ग्राम की सार्वजनिक भूमि पर भी सभा का अधिकार था। ग्राम की पुरानी सड़कों की मरम्मत कराना, नई सड़कों का निर्माण करना, खेतों की सिंचाई के लिए तालाबों और नहरों का निर्माण कराना भी सभा का उत्तरदायित्व था। सभा की एक विशेष समिति होती थी जिसे श्धर्मवारियमश् कहते थे जो पाठशालाओं, औषधालयों, मन्दिरों आदि का निर्माण एवं देख-रेख करती थी। सभा की एक अन्य समिति न्याय सम्बन्धी कार्य भी करती थी। अपराधी का पता लगाना, उसके ऊपर मुकदमा चलाना तथा दोषी सिद्ध होने पर उसे दण्ड देनाय इस न्याय समिति का कार्य था। सम्भवतरु इस समिति में न्यायाधीशों के साथ-साथ ग्राम के शिक्षित एवं सम्मानित व्यक्ति इसके सदस्य होते थे। इस प्रकार चोल प्रशासन में ग्राम सभाएँ अपने आन्तरिक विषयों में पूर्णतया स्वतन्त्र थीं। राज्य उनके कार्यों में उस समय हस्तक्षेप करता था, जब उनमें कोई भारी अनियमितता आ जाती थी अथवा उनमें आपसी

□

प्राचीन भारतीय इतिहास

—

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

233

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

234

त

मनमुटाव और झगड़ा हो जाता था। सामान्य चोल प्रशासन के अन्तर्गत केन्द्र केवल साम्राज्य की सुरक्षा, विदेश नीति, आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा तथा लोक कल्याण के कार्यों को ही करता था, शेष कार्य नगरों और प्रान्तों की स्थानीय सभाएँ करती थीं इस प्रकार स्पष्ट है कि ग्राम सभाएँ ग्राम के सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण योगदान देती थीं।

□

नगर स्वशासन चोल अभिलेखों में शनगरम् श (नगर सभा) का उल्लेख व्यापारिक केन्द्रों के प्रबन्ध कार्य हेतु किया गया है। शनगरम् श की प्रशासन व्यवस्था में मुख्य रूप से व्यापारियों को ही सम्मिलित किया जाता था जिनका कार्य व्यापार-व्यवसाय को प्रोत्साहन देना था। विभिन्न व्यापारिक वर्गों, प्रतिष्ठानों तथा उद्योगों पर कर की दरों का निर्धारण तथा वसूली का दायित्व शनगरम् का ही होता था। नगरों में लायी जाने वाली वस्तुओं पर कर निर्धारण एवं कर वसूली का कार्य भी शनगरम् नामक संस्था करती थीं। नगरम् की प्रबन्ध समिति करों द्वारा संगृहीत धन का उपयोग नगर विकास, यातायात, हाट बाजार की व्यवस्था तथा नगर के औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास के लिए करती थी। राजराजेश्वर मन्दिर अभिलेख में शनगरम् श द्वारा फल, केसर, गा, पान, सुपारी, मसालों एवं खाद्यान्नों पर बिक्रीकर संग्रह करने का उल्लेख है। विभिन्न उद्योगों के संगठनों, जैसे नमक (उपपायम्), हथकरघा, चक्कियों, व्यापारियों, प्रतिष्ठानों (अंगाडिपट्टम्), स्वर्णकारों के संगठन (तट्टोपट्टम्), बाँटों के संगठन (इडैवरि) से नगरम् ही कर वसूली करते थे। विभिन्न जातियाँ भी अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने-अपने समुदायों का गठन कर लेती थी।

—

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि चोलों का महत्त्व उनकी प्रशासनिक व्यवस्था के कारण अधिक है। यह एक उत्कृष्ट शासन व्यवस्था थी, जिसमें स्थानीय स्वशासन के साथ-साथ केन्द्रीयकरण भी विद्यमान था। सामान्य जन में प्रजातांत्रिक भावना थी और नागरिकों के मताधिकार को विशेष महत्त्व दिया जाता था। राजा शक्तिशाली था, लेकिन शासन की सबसे छोटी इकाई (कुरम)

थी। चोलों के प्रशासन की मौलिक विशेषता उनके साम्राज्य में समितियों का होना था, जिनका गठन व्यवस्थित चुनाव प्रणाली के माध्यम से होता था। ये समितियाँ अनेक प्रशासनिक दायित्वों का निर्वहन करती थीं।

चोलकला

चोल शासकों की कला में अत्यधिक अभिरुचि थी जिसके परिणामस्वरूप उनके शासनकाल में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि कलाओं का समुचित विकास हुआ। उनके द्वारा निर्मित विभिन्न मन्दिरों, मठों, विद्यालयों, सड़कों, नहरों, झीलों, तालाबों, उद्यानों आदि में उनकी रचनात्मक प्रतिभा देखने को मिलती है। चोलवंश के राजाओं ने अपने पूर्ववर्ती पल्लव राजाओं की कलात्मक समृद्धि एवं बारीकियों को समझा और उन्हें विकसित किया जिसके परिणामस्वरूप उनके काल में द्रविड़ स्थापत्य एवं शिल्पकला अपने चरम शिखर पर पहुँच गई। चोल काल में मन्दिर निर्माण कला का बड़ा विकास हुआ और उपगपुर, तंजौर, कांची, गंगैकोण्डचोलपुरम् आदि में भव्यमन्दिरों का निर्माण करवाया गया। इन मन्दिरों के बारे में फर्ग्युसन ने तो यहाँ तक कहा है कि चोल कलाकारों ने दैत्यों के समान कल्पना की तथा जौहरियों के समान उसे पूरा किया। इसका ज्वलन्त उदाहरण तंजौर का बृहदीश्वर अथवा राजराजेश्वर मन्दिर है।

चोलकालीन मन्दिर स्थापत्य कला को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, 10वीं शताब्दी तक निर्मित प्रारम्भिक चोल मन्दिर हैं, जिनमें तिरुकट्टलाई का सुन्दरेश्वर मन्दिर, नरत मालै का विजयालय मन्दिर एवं कदम्बरमलाई मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जो मन्दिर कला की प्रारम्भिक कला के प्रतीक हैं। चोलकला का पूर्ण विकास तंजौर तथा गंगैकोण्डचोलपुरम् में मिलता है।

दूसरे वर्ग की चोलकालीन मन्दिर स्थापत्य कला का युग तंजौर के बृहदीश्वर अथवा राजराजेश्वर मन्दिर के साथ प्रारम्भ होता है। यह मन्दिर द्रविड़ स्थापत्य कला शैली का विकासमान रूप हैं, जो तेरह मंजिल ऊँची एक अद्भुत कृति है। नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार भारत के मन्दिरों में सबसे बड़ा तथा लम्बा यह मन्दिर एक उत्कृष्ट कलाकृति हैं, जो दक्षिण भारतीय स्थापत्य कला के चरमोत्कर्ष को प्रकट करती इसकी भव्यता एवं सौन्दर्य को देखते हुए इसे दक्षिण भारत का सर्वश्रेष्ठ हिन्दू स्मारक कहा जा सकता

है। इस मन्दिर का निर्माण कार्य 1003 ई. में प्रारम्भ हुआ और 1010 ई. में समाप्त हुआ। इसका विशाल प्रांगण 160 मीटर लम्बा और 80 मीटर चौड़ा है जिसमें ग्रेनाइट पत्थरों का प्रयोग किया गया है। गर्भगृह के ऊपर पश्चिम में लगभग 60 मीटर ऊँचा आकर्षक विमान है जिसका आधार 82 वर्गफीट है। इसी के ऊपर तेरह मंजिलों वाला पिरामिड है। इसके निर्माण के दो शताब्दियों बाद तक चोलों ने सम्पूर्ण सुदूर दक्षिण एवं श्रीलंका में श्रृंखलाबद्ध रूप में अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया था। चोलों ने मंदिरों के निर्माण के लिए प्रस्तरखण्डों एवं शिलाओं का प्रयोग किया। इस काल के मन्दिरों का आकार अत्यधिक

प्राचीन भारतीय इतिहास

विशाल है और इनको धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक प्रयोजनों के लिए भी उपयोग किया जाता था। इतने विशाल मन्दिरों की समुचित व्यवस्था के लिए मन्दिरों को प्रभूत भूमि अनुदान प्रदान किए गए और हजारों सेवकों को भी नियुक्त किया गया। सब्राउन का कथन है कि बृहदीश्वर मन्दिर का विमान भारतीय स्थापत्य कला का अद्भुत नमूना है। मन्दिर के गर्भगृह में विशाल शिवलिंगम् है जिससे श्वृहदीश्वर कहा जाता है। सम्पूर्ण मन्दिर को अन्दर और बाहर दोनों ओर से मूर्तियों और शिल्प अलंकरण से सजाया गया है। इस मन्दिर की अनुकृति पर राजेन्द्र चोल प्रथम ने गंगैकोण्डचोलपुरम् में एक शिव मंदिर का निर्माण करवाया, जो आठ मंजिला है। इसका निर्माण 1030 ई. में हुआ था। यह मन्दिर भी चोल कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। राजेन्द्र चोल के उत्तराधिकारियों ने भी मन्दिर निर्माण परम्परा को जारी रखा। इनमें तिरुबालीश्वरम्, एतवतेश्वर, कम्बारेश्वर आदि के मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मंदिरों में उत्सव के समय मनोरंजन के लिए संगीत एवं नृत्यकला का भी समुचित विकास हुआ।

चोल शासकों ने स्थापत्य कला के साथ-साथ मूर्तिकला तक्षणकला का भी विकास किया। देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियों का अंकन किया गया, जिनमें शैवधर्म से सम्बन्धित मूर्तियाँ अधिक हैं। इस काल में प्रस्तर एवं धातु दोनों ही प्रकार की सुन्दर मूर्तियों को रचना की गई, परन्तु प्रस्तर मूर्तियों की तुलना में धातु या कांस्य की प्रतिमाएँ कहीं अधिक सुन्दर हैं। चोलयुगीन मूर्तियों में नटराज या नृत्य करते हुए शिव को कांस्य प्रतिमा अन्य प्रतिमाओं में सर्वोत्कृष्ट है। नटराज एवं अन्य शिव मूर्तियों के साथ-साथ पार्वती, स्कन्द, कार्तिकेय, गणेश आदि की असंख्य प्रतिमाएँ भी निर्मित की गई, लेकिन इनमें चोलयुगीन नटराज की मूर्ति को चोलकला का श्सांस्कृतिक निचोड़ (सार) कहा जाता है।

कृ

स्पष्ट है चोल युग कला की दृष्टि से गौरवमय काल था। चोलों ने चार शताब्दियों तक अपने लम्बे शासनकाल में दक्षिण भारत में कला को समृद्ध किया। किसी भी शासक राजवंश ने इतने भव्य और विशाल मंदिरों का निर्माण नहीं कराया, जितना कि चोलों ने किया। उनकी इन उपलब्धियों से स्पष्ट है कि दक्षिण भारत के इतिहास में चोलों का महत्वपूर्ण स्थान था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

सारांश (नउउंतल)

दक्षिण भारत या दक्षिणापथ से हमारा अभिप्राय उस भू-प्रदेश से है जो नर्मदा से कृष्ण नदी तक फैला हुआ है। कृष्णा एवं तुंगभद्रा नदियों तक के समस्त प्रायद्वीप को हम सुदूर दक्षिण कह सकते हैं। हर्ष के पश्चात् दक्षिण के तीन राजवंश— चालुक्य, पल्लव एवं चोल ने यहाँ की राजनीति को अत्यधिक प्रभावित किया।

दक्षिण भारत में छठी शताब्दी के मध्य से आठवीं शताब्दी के मध्य तक चालुक्य

वंश ने शासन किया, जिनकी राजधानी कर्नाटक राज्य के बीजापुर जिले में बादामी (वातापी) थी। चालुक्यों का इतिहास जानने के लिए 634 ई. का पुलकेशी द्वितीय का ऐहोल अभिलेख, 543 ई. का बादामी शिलालेख, 602 ई. का महाकूट अभिलेख, 612 ई. का दानपत्र लेख, पल्लव अभिलेख, चीनी यात्री ह्वेनसांग का यात्रा – विवरण, ईरानी इतिहासकार ताबरी आदि का विवरण उल्लेखनीय है। चालुक्य प्रशासन राजतन्त्रात्मक होते हुए भी राजा अपने कर्तव्यों का पालन समुचित रूप से करता था। उच्च पदों पर राजपरिवार के लोग नियुक्त किए जाते थे। अभिलेखों में महासन्धिविग्रहिक, विषयपति, ग्रामकूट, महत्तराधिकारिन् आदि केन्द्रीय पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है। श्रामण शासन की सबसे छोटी इकाई थी और उसके अधिकारी को श्रामण्डल कहा जाता था। चालुक्य अभिलेखों से तत्कालीन कर व्यवस्था का भी ज्ञान होता है। चालुक्य शासकों के समय

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

235

प्राचीन भारतीय इतिहास

छवै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

अनेक शैव, जैन एवं बौद्ध मन्दिरों का निर्माण हुआ, जो बादामी, ऐहोल एवं पट्टडकल आदि स्थानों पर बनवाये गए। गुहा मन्दिर निर्माण परम्परा चालुक्य काल में अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँच गई।

पल्लव इतिहास की जानकारी के मुख्य स्रोत दानपत्र, प्राकृत एवं तमिल में लिखे गए इन शासकों के शिलालेख हैं। पल्लव नरेश ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे। पल्लव प्रशासन में श्राजाश सर्वोच्च अधिकारी होता था और वह ही मन्त्रियों तथा उच्चाधिकारियों की नियुक्ति करता था। उनका प्रशासन कई श्राष्ट्रों (प्रान्तों) में विभाजित था और श्राष्ट्र कई विषयों (जिलों) में विभाजित थे। विषयों में कई शकोट्टम एवं श्रामण होते थे। ग्रामों में पूर्णतया स्वायत्त शासनप्रणाली प्रचलित थी। पल्लव शासकों ने सैन्य प्रशासन पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने जलसेना का भी विकास कर लिया था। पल्लव शासकों ने द्रविड़ स्थापत्य शैली का विकास किया। इनकी वास्तुकला के उदाहरण कांची एवं महाबलिपुरम् में पाये जाते हैं। पल्लवकालीन वास्तुकला को चार शैलियों में विभाजित किया जा सकता है— महेन्द्र शैली, मामल्ल शैली, राजसिंह शैली और नन्दिवर्मन शैली।

पल्लव— कला दक्षिण – पूर्वी एशिया तक विस्तृत हुई

दक्षिण के राजवंशों में चोलवंश भी उल्लेखनीय स्थान रखता है। चोल – प्रशासन में सुदृढ़ केन्द्रीय प्रशासन के साथ-साथ स्थानीय स्वायत्तता का समन्वय देखने को मिलता है। उनके प्रशासन में श्राजाश सम्पूर्ण सत्ता का स्रोत, संचालक और प्रधान था। चोल अभिलेखों में अनेक उच्च पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता

प्रशासन की सुविधा के लिए साम्राज्य अनेक श्रमण्डलों (प्रान्तों) में विभाजित

प्राचीन भारतीय इतिहास

था। प्रत्येक शमण्डल को प्रान्तीय उपविभागों (या कोट्टम) में विभाजित किया गया था। चोल प्रशासन की एक मौलिक विशेषता यह थी कि राजतंत्रात्मक होते हुए भी गाँव, नगर, जिले और प्रान्त आदि समस्त प्रशासनिक इकाइयों में सार्वजनिक समितियाँ बनी हुई थीं। ग्राम सभा प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। राज्य की आय का मुख्य साधन भूमिकर, वन सम्पदा, खानें, आयात-निर्यात कर तथा स्थानीय शुल्क थे। चोल अभिलेखों में न्याय व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है। जिसमें श्रद्धासन्निध अर्थात् अन्तिम न्याय— प्राप्ति हेतु दरबार का उल्लेखनीय स्थान था। उनकी सेना के तीन प्रमुख अंग थे पदाति, अश्वारोही और गजारोही। उन्होंने एक शक्तिशाली नौसेना का भी गठन किया था। चोल-प्रशासन की एक प्रमुख विशेषता विकसित स्वशासन प्रणाली थी जिसके अन्तर्गत ग्राम प्रशासन को लोकप्रिय आधार पर सुसंगठित किया गया। चोल अभिलेखों में नगरम् (नगर सभा) का भी उल्लेख मिलता है। चोल शासकों की कला में भी अत्यधिक रुचि थी जिसके कारण उनके शासन काल में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि विभिन्न कलाओं का समुचित विकास हुआ। चोल शासकों के समय द्रविड़ स्थापत्य एवं शिल्पकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

□

वज्रायुध रू दसवीं शताब्दी की प्रसिद्ध कृति कर्पूरमंजरी में वज्रायुध नाम के शासक की चर्चा मिलती है। जिसे पांचाल के राजा के रूप में उल्लिखित किया गया है। इसकी राजधानी कन्नौज ही बताई गई है। जैन रचना हरिवंश से ज्ञात होता है कि कन्नौज में इन्द्रायुध नाम का एक शासक सन् 783 ई. में राज्य कर रहा था। इससे अनुमानित है कि वज्रायुध का शासन 783 ई. के पूर्व भी रहा होगा। कुछ इतिहासकारों ने वज्रायुध को 770 ई. के आस-पास का शासक माना है। कल्हणकृत राजतरंगिणी से पता चलता है कि काश्मीर के राजा जयपीड विनयादित्य ने कन्नौज के राजा को पराजित किया। यदि जयपीड विनयादित्य ने अपने शासन के प्रारम्भिक चरण में कन्नौज पर आक्रमण किया था, तो कन्नौज का शासक वज्रायुध रहा होगा, परन्तु यदि उसने अपने शासन के उत्तरकाल में आक्रमण किया तो उस समय कन्नौज का शासक इन्द्रायुध ही रहा होगा।

रू

2. त्रिपक्षीय संघर्ष रू चतुर्थ चरण त्रिपक्षीय संघर्ष का यह चतुर्थ चरण राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय के आक्रमण के काल एवं कारणों के कारण विवादास्पद माना जाता है। कुछ इतिहासकारों का मानना कि नागभट्ट द्वितीय ने धर्मपाल द्वारा संरक्षित कन्नौज के साथ-साथ चक्रायुध को पराजित किया और उसे सिंहासन से हटाकर अपने समर्थक को शासक बनाया। तत्पश्चात् धर्मपाल को भी परास्त किया। इसकी चर्चा तृतीय चरण के अन्तर्गत कर दी गई है। इन दोनों शासकों के परास्त होने के बाद

इनके अनुरोध पर राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय उत्तर भारत की ओर आया तथा उसने नागभट्ट को पराजित किया। दूसरी और कुछ अन्य इतिहासकार कहते हैं कि राष्ट्रकूट नरेश नागभट्ट की सफलताओं से असुरक्षित अनुभव कर रहा था। क्योंकि राष्ट्रकूट अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राष्ट्रकूट साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों पर नागभट्ट की नजर थी और इस क्षेत्र पर नागभट्ट ने अधिकार करने का भी प्रयास किया था। इस प्रकार इस चरण में नागभट्ट द्वितीय के विरुद्ध राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय के अभियान की प्रकृति का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

3. महेन्द्रवर्मन शैली (610 ई. 640 ई.) इस शैली का विकास 610 ई. से 640 ई. के बीच हुआ। इस शैली के मन्दिरों को श्मण्डप कहा जाता है। ये श्मण्डप साधारण स्तम्भयुक्त बरामदे हैं जिनकी पिछले दीवार में एक या अधिक कक्ष बनाये गए हैं, जो कठोर पाषाण को काटकर गुहा मन्दिर के रूप में निर्मित किए गए हैं। श्मण्डप के बाहर बने मुख्य द्वार के दोनों ओर द्वारपालों की सुन्दर मूर्तियाँ हैं। स्तम्भ सामान्यतया चौकोर हैं। महेन्द्र शैली के श्मण्डपों में श्मण्डपट्ट का त्रिमूर्ति श्मण्डप, पल्लवरम् का पञ्चपाण्डप श्मण्डप, महेन्द्रवाड़ी का महेन्द्र विष्णु गृहश्मण्डप, मामण्डूर का विष्णुश्मण्डप आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

स्वपरीक्षण करें (ज्मेज ल्वनतेमसर्)

1. चालुक्य – प्रशासन की मुख्य विशेषताओं को रेखांकित कीजिए।

कृ

2. चालुक्य कला की प्रगति का विवरण दीजिए।

3.

पल्लव – प्रशासन की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

4. भारतीय कला के विकास में चालुक्य, पल्लव एवं चोलों के योगदान की समीक्षा कीजिए।

5.

चालुक्यों के काल में प्रशासन एवं कला की प्रगति का विवरण दीजिए।

6. कला के क्षेत्र में पल्लवों के योगदान का विवेचन कीजिए।

7. चोल प्रशासन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालिए।

8. चोलकालीन मन्दिर स्थापत्य पर एक निबन्ध लिखिए।

प्राचीन भारतीय इतिहास

गुप्त साम्राज्य एवं प्रशासन

परिचय

कुषाण वंश के पतनोन्मुख काल में भारत, गुप्तों का परिचय, दक्षिण के राजाओं का संघ, आर्यावर्त पर द्वितीय आक्रमण

आटविक नरेश, सीमान्त राजाओं पर विज

प्रत्यन्त (सीमान्त) नृपतियों का आत्मसमर्पण, प्रत्यर्पण की नीति

अश्वमेध यज्ञ, समुद्रगुप्त का चरित्र, रामगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

शक क्षत्रपों का अन्त, कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य, पुष्यमित्रों का आक्रमण

स्कन्दगुप्त, हूणों के साथ संघर्ष, गुप्तों का अवसान काल, नरसिंहगुप्त बालादित्य

गुप्त साम्राज्य की समाप्ति, गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण

फाह्यान, गुप्त शासन प्रबन्ध, नगर-शासन

अध्ययन उद्देश्य रू

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

गुप्त साम्राज्य एवं प्रशासन ।

☐ गुप्तों का अवसान काल घ

☐ गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण ।

गुप्त शासन प्रबन्ध ।

परिचय (पुद्गतवकनबजपवद)

—

जिस मगध साम्राज्य का अभ्युदय छठी शताब्दी ई. पू. में हुआ और तीसरी शताब्दी ई. पू. तक जिसने अपनी चरमोन्नति को प्राप्त कर लिया, उसी मगध साम्राज्य को लगभग 500 वर्षों तक इतिहास में गीण स्थान प्राप्त हो जाता है और उसका पुनरुद्धार तब तक नहीं होता, जब तक तीसरी शताब्दी में मगध राज्य-सिंहासन पर गुप्त वंश आरुढ़ नहीं होता। इतना ही नहीं, गुप्त राजाओं के संरक्षण में मगध ने जितनी उन्नति की, उसनी अन्य किसी काल में नहीं कर सका। गुप्त शासकों के अधीन भारत की राजनीतिक एकता पुनः स्थापित हो गई। यद्यपि गुप्त साम्राज्य मौर्य साम्राज्य जितना विशाल नहीं था, फिर भी इसने प्रायः सम्पूर्ण भारत को राजनीतिक एकसूत्रता में बाँधे रखा। गुप्त युग भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के चरमोत्कर्ष का काल था। के. एम. मुंशी के शब्दों में, यह साम्राज्य केवल विजयों और प्रशासनिक निपुणता पर आधारित नहीं था, इसकी महानता इसके समग्र दृष्टिकोण में निहित है। इसकी शक्ति उतनी ही फौजी ताकत पर आधारित थी, जितनी भीतरी व्यवस्था और आर्थिक प्राचुर्य पर इसकी जीवनी शक्ति का रस प्राचीन परम्परा और जातीय स्मृति की जड़ों से खींचा जाता था, जिसे उन्होंने कायम रखा, पुनर्व्याख्या की और भरपूर बनाया। मध्य देश और मगध में क्षत्रिय वंश समूहों का उदय और राज्य के प्रति उनकी अटल स्वामीभक्ति साम्राज्यिक प्रासाद का इस्पात ढाँचा था। साम्राज्य की भव्यता शासकों के व्यक्तित्व में लिपटी कोई अलग चीज नहीं थी। जनता अपनी

परम्परागत जीवन पद्धति में कुछ उदात्त और भव्य पाकर उसे अपने शासकों की महानता में प्रतिबिम्बित देखती थी। भारत के इस स्वर्ण युग में जीवन जितना सुखी और हमारी संस्कृति जितनी रचनात्मक थी, उतनी और कभी नहीं। ८

९

—

कुषाण वंश के पतनोन्मुख काल में भारत हिन्द-यूनानियों के आक्रमण से लेकर कुषाणों के शासनकाल तक उत्तर भारत के एक विस्तृत भू-भाग पर विदेशियों का आधिपत्य रहा। इन विदेशी आक्रमणकारियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कुषाण थे, जिनके अधीन उत्तरी भारत का विशाल अंश रहा। साम्राज्य की भारतीय परम्परा दक्षिण में सातवाहनों के अधीन जीवित रही, किन्तु सातवाहनों और कुषाणों के पतनोन्मुख काल में भारतीय राज्यों और जातियों ने अपना सिर उठाया तथा केन्द्रीय सत्ता से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। यौधेय कुणिन्द, अर्जुनायन, भद्र, मालव आदि प्रमुख गणराज्य, पूर्वी पंजाब तथा राजस्थान के आस-पास विद्यमान थे। इन्होंने यद्यपि सिकन्दर का तो बड़ी वीरता से सामना किया, किन्तु कुषाणों के प्रहार न सह सके। लगभग 200 ई. में यौधेयों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी तथा सतलज घाटी का सारा प्रदेश और सतलज-यमुना के बीच के प्रदेशों से कुषाणों की सत्ता समाप्त कर दी। यौधेयों के पड़ोसी और समकालीन कुणिन्दों ने सतलज और व्यास की ऊपरी घाटियों में अपने राज्य की स्थापना की। यौधेयों के दक्षिण-पश्चिम में अर्जुनायनों ने अपनी स्वतन्त्रता स्थापित कर ली तथा रावी – चिनाव के दोआब में मद्रकों ने अपनी स्वतन्त्रता स्थापित कर ली। अजमेर-टोंक-मेवाड़ में मालवगण शक्तिशाली होते दिखाई देने लगे। राजस्थान और मध्य भारत में भी अन्य गणराज्य जागृत हो गए। मथुरा और गंगा से पूर्व संयुक्त प्रान्त, पश्चिमी बिहार, बुन्देलखण्ड तथा बघेलखण्ड में प्राचीन नागवंशों ने कुषाणों की शक्ति समाप्त कर अपनी शक्ति स्थापित कर ली। कोटा राज्य के आस-पास मौखरी, कौशाम्बी में मद्य और पाटलिपुत्र में कोटकुल के स्थानीय राज्य थे। अवन्ति और सौराष्ट्र में शक क्षत्रप थे, किन्तु वे अब बिल्कुल शक्तिहीन थे। उत्तर-पश्चिमी भारत कुषाणों के वंशज देवपुत्र शाही शाहानुशाही के अधिकार में था। पाटलिपुत्र के उत्तर पूर्व लिच्छवियों ने शक्ति स्थापित कर ली थी तथा विन्ध्य पर्वत श्रृंखला के दोनों ओर विशाल वाकाटक राज्य स्थापित हो चुका था। इसी प्रकार दक्षिणी भारत में गोदावरी और कृष्णा के बीच इक्ष्वाकु वंश का राज्य था तथा कृष्णा के दक्षिण में पल्लव, पाण्ड्य, चोल आदि सुदूर दक्षिण के राज्य थे। अतः स्पष्ट है कि देश विभाजित था तथा एक सार्वभौम सत्ता का अभाव था। देश की इस अराजकतापूर्ण स्थिति में गुप्तों का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने इन छोटे-छोटे राज्यों का अन्त कर भारत को राजनैतिक एकता प्रदान की।

प्राचीन भारतीय इतिहास

कृ

गुप्तों का परिचय – गुप्त सम्राटों ने अपने उत्कीर्ण लेखों में अपनी जाति का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। अतः उनकी उत्पत्ति का इतिहास आज भी विवादास्पद है। श्री जायसवाल ने गुप्तों को मूलतः जाट माना है, जो आगे चलकर सुसंस्कृत होकर उच्चकोटि के क्षत्रिय हो गए। अनेक विद्वानों ने उन्हें इस आधार

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

‘मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

239

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

‘मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

240

पर वैश्य माना है कि उनके नाम के अन्त में श्गुप्तश् शब्द लगा हुआ है, क्योंकि स्मृतियों के अनुसार ब्राह्मण की उपाधि शर्मा, क्षत्रिय की वर्मा, वैश्य की गुप्त या भूति और शूद्र की दास होनी चाहिए, किन्तु इतिहास में अनेक ब्राह्मणों के नाम के अन्त में भी श्गुप्तश् पाया जाता है, जैसे— ब्रह्मगुप्त, विष्णुगुप्त, देवभूति, भवभूति आदि। मन्जुश्रीमूलकल्प में गुप्तों को कहीं क्षत्रिय और कहीं वैश्य कहा गया है। संभव है गुप्त प्रारम्भ में वैश्य रहे हों और पीछे वर्ण बदलकर क्षत्रिय हो गए हों। कदम्ब (ब्राह्मण) वंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध होने से उन्हें ब्राह्मण भी माना गया है, किन्तु उस समय अनुलोम विवाह प्रचालित थे, अतः सम्भव है गुप्तों ने ब्राह्मण वंश के साथ अनुलोम विवाह किए हों। परवर्ती मध्य प्रदेश में दक्षिण कोसल के राजा शिवगुप्त की सीरपुर प्रशस्ति में उन्हें स्पष्टतः सोम (चन्द्र) वंशी कहा गया है। अतः गुप्त सम्राट अपने को चन्द्रवंशी क्षत्रिय मानते थे। क्षत्रिय नागों लिच्छवियों तथा वकाटकों से उन्होंने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए थे। अतः गुप्त निश्चय ही क्षत्रिय थे।

गुप्तों का उदय गुप्त शासकों के आदि स्थान के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। अल्लेकर, जे.

एलन तथा डॉ. वासुदेव उपाध्याय ने गुप्तों का आदिस्थान मगध बताया है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के प्राप्ति स्थान से अनेक विद्वानों ने गुप्तों का आदिस्थान प्रयाग और साकेत (अयोध्या) के बीच माना है। श्री के. पी. जायसवाल ने गुप्तों का उद्भव स्थल पंजाब में बताया है। डॉ. डी. सी. गांगुली ने काफी ठोस तर्कों के आधार पर गुप्तों का मूल स्थान बंगाल में बताया है। डॉ. श्री राम गोयल ने भी ठोस तर्कों के आधार पर गुप्तों का मूल स्थान उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग बताया है। डॉ. गोयल का मत डॉ. गांगुली के मत के काफी निकट है। अतः आधुनिक शोध के आधार पर गुप्तों का आदिस्थान पूर्वी भारत (पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बंगाल) माना जा सकता है।

गुप्त अभिलेखों के अनुसार गुप्त वंश का संस्थापक श्महाराजश महाराज गुप्त था। परवर्ती गुप्त लेखों में उसका नाम श्री गुप्त मिलता है तथा उसके नाम के साथ श्महाराजश राजनीतिक पदवी लगी हुई है। अनेक इतिहासकारों में इस बात का मतभेद है कि गुप्त वंश के आदिपुरुष का नाम श्श्री गुप्तश था या केवल श्गुप्तश था अधि कांश विद्वानों की धारणा है कि गुप्तों के आदि पुरुषका नाम केवल गुप्त तथा शिलालेखों में श्गुप्तश नाम के साथ ही श्श्रीश शब्द सम्मानसूचक था। गुप्त की राजनीतिक पदवी श्महाराजश होने से प्रतीत होता है कि वह कोई साधारण सामन्त राजा था। डॉ. एस. के. मैती के अनुसार वह मगध के लिच्छवियों के अधीन सामन्त राजा था और वी. ए. स्मिथ के अनुसार उसके अपने छोटे से राज्य पर 275 ई. से 300 ई. तक राज्य किया था। महाराज गुप्त के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता। गुप्त अभिलेखों में उसके नाम के उल्लेख के अतिरिक्त कोई भी विवरण नहीं मिलता है। इत्सिंग नाम के चीनी यात्री जिसने 671 ई. 695 ई. के बीच भारत भ्रमण किया था, ने लिखा है कि चे-लि-कि-ये (श्रीगुप्त) ने मृगशिखावन (मुंगेर के पास) में यात्रियों के लिए एक मन्दिर (चौत्य) बनवाया तथा उस मन्दिर के लिए 24 गाँव दान में दिए। कुछ इतिहासकार श्री गुप्त और चे-लि-कि-ये को एक ही व्यक्ति मानते हैं, किन्तु यह सम्भावना मात्र है। यदि ये दोनों एक ही व्यक्ति भी हों तो श्री गुप्त का उस प्रदेश से कोई राजनैतिक सम्बन्ध नहीं था, क्योंकि श्री गुप्त एक छोटे से राज्य का अधीनस्थ राजा था तथा उसकी सीमाएँ अवध एवं बंगाल तक फैली हुई नहीं थीं। मृगशिखावन में मन्दिर का निर्माण उसकी एक धार्मिक कृति मात्र थी। अभिलेखों के अनुसार गुप्त का उत्तराधिकारी घटोत्कच था। डॉ. बनर्जी ने घटोत्कच को घटोत्कच गुप्त नाम दिया है। यह सही नहीं है, क्योंकि यदि उसका पूरा नाम घयेत्कच गुप्त होता तो अभिलेखों में भी उसके नाम के अन्त में श्गुप्तश जुड़ा हुआ होना चाहिए था। स्पष्ट है कि चूँकि गुप्तान्त नाम धारण करने की परिपाटी चन्द्रगुप्त प्रथम से चली, इसलिए उसके पिता के नाम के अन्त में अभिलेखों में कहीं भी गुप्त जुड़ा नहीं मिलता है। घटोत्कच के सम्बन्ध में भी हमें कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। इसकी पदवी भी केवल श्महाराजश मिलती है, इससे ज्ञात होता है कि इसके समय में गुप्तों की शक्ति और प्रतिष्ठा में कोई वृद्धि नहीं हुई थी और वह अभी तक अधीन राजा था। उसका राज्यकाल 300 ई. से 320 ई. माना जाता है।

रु

चन्द्रगुप्त प्रथम (320 ई. से 328 ई.)— गुप्तवंश का प्रभावशाली तथा प्रथम स्वतंत्र राजा घटोत्कच का पुत्र व उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त प्रथम था। उसके नाम के आगे श्महाराजाधिराजश की पदवी इस बात को सूचित करती है कि उसने स्व-भुजबल से शक्ति और श्री अर्जित करके सामन्त पद से अपने को मुक्त

कर लिया था। श्री जायसवाल ने दक्षिण भारत से प्राप्त श्कौमुदी – महोत्सवश नामक नाटक के आधार पर उसकी एक मनोरंजक कहानी प्रस्तुत की है। इसके

प्राचीन भारतीय इतिहास

अनुसार सुन्दरवर्मन मगध का क्षत्रिय राजा था। इस राजा के कोई सन्तान नहीं थी, अतः उसने चन्द्रसेन नामक युवक को गोद ले लिया, किन्तु इस घटना के बाद सुन्दर वर्मन की रानी ने कल्याणवर्मन नामक पुत्र को जन्म दिया। कल्याणवर्मन के जन्म से चन्द्रसेन को मगध का राज्य प्राप्त करने की आशा जाती रही। अतः चन्द्रसेन ने मगध के शत्रु लिच्छवियों की राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया तथा लिच्छवियों की सहायता से युद्ध में सुन्दरवर्मन को मारकर मगध की गद्दी हथिया ली, किन्तु मगध की जनता और राजमंत्री चन्द्रसेन के पितृघाती होने के कारण असन्तुष्ट थे। एक बार जब चन्द्रसेन जंगली जातियों के उपद्रव को दबाने गया हुआ था तब मगध के मन्त्रियों ने सुन्दरवर्मन के पुत्र कल्याणवर्मन को बुलाकर मगध की गद्दी पर बैठा दिया और तत्पश्चात् चन्द्रसेन को मगध में घुसने नहीं दिया। जायसवाल इस चन्द्रसेन और चन्द्रगुप्त प्रथम को एक ही व्यक्ति मानते हैं। नाटक की लेखिका किशोरिका विज्जिका को चन्द्रगुप्त का समकालीन माना गया है तथा चन्द्रगुप्त को चन्द्रसेन नाम देने का कारण यह बताया जाता है कि अवन्ति के प्राचीन राजा चण्ड-प्रद्योत की भाँति चन्द्रगुप्त भी एक प्रचण्ड शक्ति का व्यक्ति था। अतः चन्द्रगुप्त को चन्द्रसेन के नाम से अभिहित किया गया है। आधुनिक विद्वानों ने जायसवाल के मत को स्वीकार नहीं किया है। शकौमुदी महोत्सव एक साहित्यिक नाटक तथा इसमें कितना ऐतिहासिक सत्य है, इसे कहना कठिन है। फिर भी इस कहानी का काफी अंश सत्य प्रतीत होता है, जिसकी पुष्टि उत्कीर्ण लेखों और सिक्कों से होती है। निःसन्देह लिच्छवियों से वैवाहिक सम्बन्ध चन्द्रगुप्त के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना थी। चन्द्रगुप्त प्रथम और कुमार देवी वाले सिक्के के एक ओर चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी की मूर्तियाँ और दूसरी तरफ सिंह पर बैठी दुर्गा के नौचे शलिच्छवयः ३ अंकित है। प्रयाग प्रशस्ति में भी चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र एवं उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त ने अपने को शलिच्छवी दौहित्र कहकर सम्बोधित किया है। इससे स्पष्ट है कि लिच्छवियों से सम्बन्ध होना गुप्तों के लिए राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण घटना रही थी। लिच्छवियों से चन्द्रगुप्त को यथेष्ट सहयोग और सहायता प्राप्त हुई थी तथा स्वतंत्र महाराजाधिराज के पद को प्राप्त करने में शायद लिच्छवी उसके सहयोगी रहे थे। तत्पश्चात् लिच्छवियों ने वैशाली के पास का अपना प्रदेश चन्द्रगुप्त को दे दिया। इस राज्य विस्तार के साथ चन्द्रगुप्त अपने पैतृक राज्य के सिंहासन पर 310-20 ई. में बैठा। सामन्त के निम्न पद से उठकर महाराजधिराज की पदवी धारण की।

चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपनी राज्य-सीमा का विस्तार गंगा तथा यमुना के संगम तक किया। प्रयाग (पुराण बल्स), कोसल (साकेत), उत्तर पश्चिमी तथा दक्षिण-पश्चिमी बिहार उसके राज्य के अन्तर्गत थे। श्री कृष्णास्वामी आयंगर ने अपनी पुस्तक इस्टडीज इन गुप्त हिस्ट्री में लिखा है कि लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह के पश्चात् वैशाली भी गुप्तों के राज्य के अन्तर्गत आ गया था, किन्तु यह सही नहीं है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में वैशाली का उल्लेख नहीं है। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में वैशाली राज्य के अन्तर्गत

आया था। अपने राज्यारोहण की तिथि को चिरस्मरणीय रखने के लिए गुप्त संवत् आरम्भ किया।

है।

समुद्रगुप्त (328 ई.—375 ई.)

चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपनी मृत्यु से पूर्व अपने पुत्र समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार उसे उसके पिता ने भरी राजसभा में उत्तराधिकार सौंपा था। राजसभा में समुद्रगुप्त के अन्य भाई बन्धु भी उपस्थिति थे और उसके उत्तराधिकारी चुने जाने पर ईर्ष्या से उनके मुख मलिन हो गए थे। इससे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था और समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी चुने जाने से उसके ज्येष्ठ भाई सहित अन्य सभी भाई क्षुब्ध हो उठे किन्तु अब उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर संघर्ष की संभावनाएँ समाप्त हो गई थीं। चन्द्रगुप्त द्वारा समुद्रगुप्त को युवराज मनोनीत करना यह भी इंगित करता है कि चन्द्रगुप्त शायद वृद्धावस्था को प्राप्त कर रुग्ण रहने लगा था और इसलिए उसने अपने जीते जी उत्तराधिकार के प्रश्न को हल कर राज्य के भविष्य को आशंका रहित कर दिया था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

‘मसिन्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

541

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

समुद्रगुप्त अपना लिखित इतिहास छोड़ गया है। कौशाम्बी में जो अशोक स्तम्भ था, उसी पर समुद्रगुप्त की विस्तृत प्रशस्ति अंकित है। इस प्रशस्ति की रचना समुद्रगुप्त के उच्च अधिकारी एवं राज्यकवि हरिषेण ने की थी। इस अभिलेख में हमें समुद्रगुप्त के बाल्य जीवन, दिग्विजय, व्यक्तिगत गुण, तात्कालिक राजनैतिक दशा, भाषा, साहित्य, शिक्षा, कला आदि की पर्याप्त जानकारी मिलती है। इस प्रशस्ति के अतिरिक्त समुद्रगुप्त के शासनकाल से सम्बन्धित तीन अभिलेख और प्राप्त होते हैं एरण अभिलेख, गया — ताम्रपत्र — लेख और नालन्दा — ताम्रपत्र — लेख। सम्राट की स्वर्ण मुद्राओं से भी उसके धर्म, अश्वमेध, यज्ञ, संगीत — प्रेम आदि विषयों पर प्रकाश पड़ता है।

समुद्रगुप्त का पहला नाम सम्भवतया कच था। कच नाम के कुछ स्वर्ण सिक्के मिले हैं, जिनमें सामने की ओर राजा की मूर्ति अंकित है और उसकी प्रशंसा में शकर्मभिर उत्तमेश लिखा है। सिक्के के दूसरी तरफ उसकी उपाधि शसर्वराजोच्छेताश अंकित है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा शिलालेख में समुद्रगुप्त को स्पष्टतरु शसर्वराजोच्छेताश (सभी छोटे-छोटे राज्यों का उच्छेद करने वाला) की उपाधि से अलंकृत किया गया है। अतः कच के नाम के सिक्कों में अंकित शसर्वराजोच्छेताश उपाधि समुद्रगुप्त से ही सम्बन्ध रखती है। डॉ. फ्लीट और डॉ. एलन का मत



है कि सम्भवतः कच, समुद्रगुप्त का ही मूल नाम था और दूसरा गुप्तांत नाम (समुद्रगुप्त) उसने अपने पिता के नाम की शैली पर दिग्विजय के पश्चात् ग्रहण किया था तथा उसके बाद उसके उत्तराधिकारियों ने भी उसका अनुसरण किया था।

समुद्रगुप्त की नीति अपने पिता से समुद्रगुप्त ने जो राज्य प्राप्त किया था वह सीमित था। अतः समुद्रगुप्त जैसा महत्वाकांक्षी एवं पराक्रमी सम्राट उस सीमित राज्य से कैसे सन्तुष्ट हो सकता था? अतः समुद्रगुप्त की नीति दिग्विजय और भारत के राजनीतिक एकीकरण की थी। गत विदेशी आक्रमणों के समय छोटे राज्यों की अनुपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी। इससे समुद्रगुप्त की साम्राज्यवादी नीति को काफी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वस्तुतः राजननीतिक विचारधारा में वह अशोक के सर्वथा विपरीत था। डॉ. राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि, ८ उसने अशोक की शान्तिवादी नीति और धर्म विजय की अवहेलना करते हुए उसी के स्तम्भ पर अपने साम्राज्यवादी आदर्श और दिग्विजय की प्रशस्ति अंकित करायी। ८

दिग्विजय योजना— समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उसकी विजय यात्रा का सम्पूर्ण विवरण लिपिबद्ध है। प्रयाग प्रशस्ति का लेखक हरिषेण समुद्रगुप्त का सेनानायक तथा सन्धिविग्रहिक (सन्धि और युद्ध का मंत्री) था। अतः वह समुद्रगुप्त की दिग्विजय से पूर्णतया परिचित होगा और यह समुद्रगुप्त की विजय यात्रा में बराबर उसका सहयोगी एवं सहायक रहा होगा। यद्यपि प्रयाग प्रशस्ति में विजित राजाओं की नामावली दक्षिणापथ के राजाओं से प्रारम्भ होती है किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण के राजाओं पर सर्वप्रथम आक्रमण किया था। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के विजय अभियानों को पृथक् खण्डों में दिया गया है। अतः हम समुद्रगुप्त की दिग्विजय योजना के अनुसार उसके अभियानों को तीन खण्डों में विभाजित कर सकते हैं—

1. आर्यावर्त पर प्रथम आक्रमण

2.

दक्षिण भारत पर आक्रमण

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

242

3. आर्यावर्त पर द्वितीय आक्रमण

प्रथम आक्रमण समुद्रगुप्त की प्रथम विजय यात्रा अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। यद्यपि प्रथम विजय — यात्रा में उसने आर्यावर्त के दो-तीन राजाओं को ही पराजित किया था और आर्यावर्त पर अपना पूर्ण अधिकार स्थापित करने के लिए उसे दूसरी बार पुनः अभियान करना पड़ा था तथा प्रथम अभियान के फलस्वरूप मगध का महत्वपूर्ण राज्य गुप्तों के अधिकार में चला गया जिससे गुप्त साम्राज्य के विस्तार का मार्ग प्रशस्त हुआ और भौयों के शताब्दियों बाद गुप्तों के अधिनायकत्व में पुनः एकछत्र राष्ट्रीय साम्राज्य की स्थापना संभव हो सकी। समुद्रगुप्त ने अपने पहले अभियान में मथुरा और पद्मावती के नागवंशी राजाओं

को, जो पाटलिपुत्र के कोटकूल के सम्बन्धी थे, पराजित किया। जिस समय समुद्रगुप्त पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर रहा था, सम्भवतः उसी समय पीछे से अच्युत (मथुरा का शासक) और नागसेन (पद्मावती का शासक) नामक नाग राजाओं ने उसके राज्य पर चढ़ाई कर दी । समुद्रगुप्त ने उलटकर पहले अच्युत और नाग सेना को पराजित कर उनकी शक्ति का उन्मूलन किया। समुद्रगुप्त का मुख्य ध्येय मगध के कोटकुल को उखाड़कर पाटलिपुत्र पर अधिकार करना था, जो मोय के समय महान् भारतीय साम्राज्य की राजधानी और शक्ति का प्रमुख केन्द्र बन गया था। अच्युत और नागसेन की शक्ति का उन्मूलन कर समुद्रगुप्त ने अपनी विजयवाहिनी के साथ मगध पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा को परास्त कर पाटलिपुत्र पर सहज ही अधिकार कर लिया। पाटलिपुत्र का कोटकुल का राजा समुद्रगुप्त की सेना द्वारा पकड़ लिया गया। डॉ. जायसवाल के अनुसार, उस समय मगध में कल्याणवर्मन पाटलिपुत्र पर राज्य कर रहा था। अतः प्रशस्ति में उल्लिखित कोटकुल का राजा शायद कल्याणवर्मन ही था। इस आक्रमण में संभवतया समुद्रगुप्त को उसके ननिहाल के लिच्छवियों ने भी सहायता पहुँचायी थी। पाटलिपुत्र पर अधिकार हो जाने पर लिच्छवियों ने अपने राज्या का प्रशीन वैशाली जनपद भी उसे सौंप दिया था कदाचित लिच्छवियों के इस महत्त्वपूर्ण सहयोग के कारण ही समुद्रगुप्त ने अपने लिच्छवी सम्बन्ध का अत्यन्त ही गौरव के साथ उल्लेख करते हुए स्वयं को प्रशस्ति में कुमार देवी से उत्पन्न शलिच्छवी दौहित्र कहा है।

—

समुद्रगुप्त की इन विजयों के फलस्वरूप उसके राज्य की सीमाएँ अवध, कौशाम्बी और प्रयाग की परिधि को पार कर एक ओर हरिद्वार और शिवालिक पहाड़ियों तक और दूसरी ओर पाटलिपुत्र व वैशाली तक प्रसारित हो गई थीं। पाटलिपुत्र विजय गुप्तों के इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना थी। अब गुप्तों की राजधानी पाटलिपुत्र में आ गई और चन्द्रगुप्त प्रथम का स्वप्न पूरा हुआ। अब समुद्रगुप्त की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा और जागृत हो गई।

दक्षिणा पथ की विजय मगध में अपनी शक्ति संगठित करने के बाद समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत की विजय के लिए अभियान शुरू किया। किन्तु दक्षिण भारत पर आक्रमण का उद्देश्य वहाँ के राज्यों का उन्मूलन कर गुप्त साम्राज्य में मिलाना नहीं था। प्रयाग प्रशस्ति के विवरण से स्पष्ट है कि दक्षिण के राजाओं से समुद्रगुप्त केवल अपना स्वामित्व और प्रभुत्व स्वीकार कराकर संतुष्ट हो गया था, क्योंकि नीति— कुशल समुद्रगुप्त अपने नवनिर्मित साम्राज्य पर इतना बोझ नहीं डालना चाहता था कि वह अपने ही बोझ से दबकर प्राचीन मौर्य साम्राज्य की तरह स्खण्डित हो जाए। वस्तुतः वह पाटलिपुत्र में रहकर सुदूर दक्षिणापथ के राज्यों पर शासन नहीं कर सकता । दक्षिणापथ के प्रति समुद्रगुप्त ने श्धर्म विजय की नीति अपनाई इस नीति अनुसार वहाँ के पराजित राजाओं से समुद्रगुप्त ने अपनी अधीनता स्वीकार कराने के बाद उन्हें यथावत् अपने राज्यों



में कायम रखा और उनसे भेंट व राजस्व आदि लेकर संतुष्ट हो गया। दक्षिण के पराजित राज्यों से आत्मनिवेदन प्राप्त किया, उससे गुप्त साम्राज्य का वैभव बढ़ गया तथा राज्य में स्वर्ण की बाढ़—सी आ गई यही कारण है कि समुद्रगुप्त के सिक्के केवल स्वर्ण के मिलते हैं, दान में भी वह मात्र स्वर्ण दिया करता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा शिलालेख में उसके दान की प्रशंसा में कहा गया है, वह न्यायसंगत (न्याय से प्राप्त) अनेक गौ और कोटि हिरण्य (करोड़ों स्वर्ण सिक्के) प्रदत्त करने वाला था। यह दान संभवतः उसने दिग्विजय समाप्त करने के बाद अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर दिया था।

के

दक्षिणापथ के जिन राजाओं को उसने पराजित किया, उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं (प्रयाग प्रशस्ति में दिए गए क्रमानुसार) —

1. कोसल के महेन्द्र प्रशस्ति के विवरणानुसार दक्षिणापथ के अभियान में समुद्रगुप्त द्वारा पराजित होने वाला वह पहला राजा था। यहाँ पर कोसल से अभिप्राय दक्षिण से है। यह तो सुप्रसिद्ध बात है कि भारत में दो कोसल थे— उत्तर कोसल तथा दक्षिण कोसल उत्तर कोसल की राजधानी अयोध्या थी। दक्षिण कोसल में वर्तमान विलासपुर, रायपुर तथा सम्भलपुर के जिले शामिल थे और यदा—कदा गंजाम का कुछ हिस्सा भी इसमें सम्मिलित रहा है। दक्षिण कोसल की राजधानी सीपुर थी जो आजकल रायपुर से 40 मील उत्तर—पूर्व में सिरपुर नामक नगर है।

2. महाकान्तार के व्याघ्रराज— यह व्याघ्रराज कौन था तथा महाकान्तार की सीमाएँ कहाँ थीं, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. जायसवाल और डॉ. राय चौधरी महाकान्तार को महाभारत में

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

243

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

244

उल्लिखित शकान्तर प्रदेश मानते हैं, जो महाभारत के अनुसार वेणुगंगा की घाटी और प्राक् कोसल (दक्षिण कोसल का पूर्वी भाग) के बीच में पड़ता था जिसमें मध्यप्रदेश के कौंकर और बस्तर शामिल थे। डॉ. बनर्जी व डॉ. राय चौधरी वाकाटक राजा पृथ्वीषेण के सामन्त व्याघ्रदेव को महाकान्तार का व्याघ्रराज मानते हैं। डॉ. भण्डारकर के अनुसार व्याघ्रराज उच्च कल्प महाराज जयन्त का पिता था, जो मध्यप्रदेश में शासन करता था। किन्तु आधुनिक विद्वानों ने इन मतों का ठोस तर्क देकर खण्डन किया है। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार महाकान्तार से अभिप्राय मध्यप्रदेश से है और व्याघ्रराज पूर्वी गोंडवाना का राजा

था, जिसकी राजधानी संभवतः सम्भलपुर
थी ।

3. कोराल के मण्टराज— डॉ. एलन ने इसे वर्तमान कोलेरु झील के समीप का प्रदेश बताया है। डॉ. रॉय चौधरी कोराल को गंजाम के कोलाद स्थान से मिलाते हैं। श्री बी. बी. कृष्णाराव का अनुमान

है कि पुराना कुलूत कोराल राज्य था। (मध्यप्रदेश के वर्तमान चाँदा जिले में)
। डॉ. वासुदेव उपाध्याय के मतानुसार यह केरल राज्य का दूसरा रूप है तथा दक्षिण कोसल व मद्रास के बीच कहीं इसकी स्थिति होनी चाहिए।

4. पेष्ठपुर के महेन्द्र (गिरि) — डॉ. फ्लीट और डॉ. वासुदेव उपाध्याय महेन्द्र गिरि को राजा न मानकर उसे पूर्वी घाट की पहाड़ी मानते हैं । किन्तु यह पेष्ठपुर वर्तमान गोदावरी जिले का पीठापुरम् था, जो कलिंग की राजधानी थी।

5. कोट्टर के स्वामीदत्त — इसे गंजाम जिले के कोट्टर से मिलाया जाता है। डॉ. वासुदेव उपाध्याय पेष्ठुर को अलग राज्य नहीं मानते और स्वामीदत्त को पेष्ठपुर, महेन्द्रगिरि तथा कोट्टर तीनों का राजा बताते हैं।

6. एरण्डपल्ल का दमन— राजा दमन एरण्डपल्ल का शासक था। फ्लीट एरण्डपल्ल को खानदेश में स्थित वर्तमान एरण्डोल मानते हैं, किन्तु अधिकतर विद्वान इसे चिकाकोल (गंजाम जिले में) के समीप एरण्डपल्ली समझते हैं।

7. कांची के विष्णुगोप— विष्णुगोप कांची का शासक था। कांची, मद्रास के समीप वर्तमान कांजीवरम्

यह पल्लवों की राजधानी थी तथा विष्णुगोप पल्लव वंशी राजा था !

8. अवमुक्त के नीलराज— डॉ. राय चौधरी और डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी नीलराज को गोदावरी जिले में स्थित नौलपल्ली का राजा बतलाते हैं। हाथीगुम्फालेख में पिथुण्डा और अवदेश का उल्लेख मिलता

द्य अवदेश की राजधानी गोदावरी के समीप स्थित पिथुण्डा थी । सम्भवतः नीलराज यहीं का राजा
था।

9. बेंगी के हस्तीवर्मन— यह स्थान मद्रास प्रान्त के कृष्णा जिले में स्थित है। इस स्थान का आधुनिक

नाम वेंगी तथा पेडवेंगी है जिसका शासक हस्तीवर्मन था ।

—

10. पालक्क का उग्रसेन पालक्क को कोई गुण्टूर और कोई दक्षिण भारत के नेल्लौर प्रदेश में मानते हैं। गुण्टूर जिले में बेजवाड़ा के समीप पलक्काड़ नामक स्थान है जहाँ से प्रारम्भिक पल्लवों ने बहुत से दान—पत्र प्रेषित किए थे। डॉ. जायसवाल इस पलक्काड़ और पालवक को एक मानते हैं।

11. देवराष्ट्र के कुबेर देवराष्ट्र को वर्तमान विजगापट्टम जिले के येलमाचिली से मिलाया जाता है,

क्योंकि पूर्वी चालुक्य राजा भीम प्रथम के ताम्रदान पत्र में देवराष्ट्र को एलमोंच कहा गया है, जो कलिंग देश की राजधानी थी।



कृ

12. कौस्थलपुर के धनंजय डॉ. बारनेट के अनुसार कौस्थलपुर उत्तरी अर्काट में पोलुर के निकट स्थित

कुट्टलूर है।

दक्षिण के राजाओं का संघ— डॉ. जायसवाल का अनुमान है कि कोसल और महाकान्तार के राजाओं को छोड़कर दक्षिण के शेष राजाओं ने संघबद्ध होकर समुद्रगुप्त का प्रतिरोध किया था। इन राजाओं के

संघ में सेनानायक और जिले के उच्चाधिकारी भी शामिल थे। संघ के दो मुखिया थे— एक मण्टराज और दूसरा विष्णुगोप। उनके नेतृत्व में दक्षिण के राजाओं, सेनानायकों आदि ने समुद्रगुप्त का मार्ग रोकने के लिए कुराल (कोलेरु झील) के पास तुमुल युद्ध किया था और यह युद्ध 345–346 ई. में हुआ था। किन्तु प्रयाग प्रशस्ति में दक्षिणापथ के जिन बारह शासकों के नामों का उल्लेख है, उन सभी को दक्षिणापथ का राजा कहा गया है, अतः उनमें से किसी को सेनानायक और कुछ को मात्र जिलाधिकारी समझना अनावश्यक कल्पना करना है। इसी प्रकार दक्षिण के राजाओं द्वारा संघ बनाकर समुद्रगुप्त का प्रतिरोध करने की बात भी कल्पना पर ही आधारित है।

—

देवराष्ट्र को महाराष्ट्र से तथा एरण्डपल्ल को खानदेश से मिलाने के कारण डॉ. एलन तथा स्मिथ ने

अनुमान लगाया है कि समुद्रगुप्त दक्षिणापथ के राजाओं को हटाने के पश्चात् महाराष्ट्र और खानदेश की विजय करता हुआ वापिस लौटा था। किन्तु संदर्भित प्रदेश विजगापट्टम और गंजाम में स्थित थे। अतः समुद्रगुप्त पश्चिमी घाट की ओर नहीं बढ़ा बल्कि कांची व अर्काट को विजय करने के बाद वह आन्ध्र व कलिंग होता हुआ वापस लौटा था। इस महान् अभियान में समुद्रगुप्त को सम्भवतया दो-तीन वर्ष लगे थे।

आर्यावर्त पर द्वितीय आक्रमण दक्षिणापथ को धर्म विजय से लौटने के बाद समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त को पूर्णतः अपने अधिकार में लाने की योजना बनाई प्रथमा आक्रमण में उसने अच्युत व नागसेन की शक्ति को कुचल तो दिया था, किन्तु पूरी तरह विनष्ट नहीं किया था। यही कारण है कि प्रयाग प्रशस्ति में अच्युत और नागसेन का दक्षिणापथ की विजय से पूर्व और फिर दक्षिणापथ की विजय के बाद पुनः उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ प्रवास के समय इन दोनों ने अपनी शक्ति पुनः संगठित कर ली थी तथा आर्यावर्त के अन्य राजा भी समुद्रगुप्त की शक्ति से आतंकित होकर अच्युत और नागसेन की तरह समुद्रगुप्त के विरोध में उठ खड़े हुए थे। यही कारण है कि दक्षिणापथ से लौटने पर उसे आर्यावर्त पर दुबारा आक्रमण करना पड़ा। आर्यावर्त पर एकछत्र शासन स्थापित करने के लिए यह आवश्यक था कि आर्यावर्त के राज्यों का पृथक् अस्तित्व ही समाप्त कर दिया जाय। अतः इस बार उसने उत्तरी भारत के राजाओं को पराजित ही नहीं किया बल्कि उनके राज्यों

को अपने राज्य में मिला लिया। आर्यावर्त के द्वितीय आक्रमण के दौरान जिन राजाओं के राज्यों को गुप्त साम्राज्य में मिलाया गया, वे निम्नलिखित थे

1. रुद्रदेव – उत्तरी भारत के नौ राजाओं में रुद्रदेव का नाम सबसे प्रथम है। इससे प्रतीत होता है कि वह आर्यावर्त के राजाओं में प्रमुख स्थान रखता था, किन्तु वह आर्यावर्त के किस भाग पर शासन करता था, यह ज्ञात नहीं हो सका है। डॉ. जायसवाल रुद्रदेव को वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम से समीकृत करते हैं, किन्तु डॉ. मजूमदार और डॉ. राय चौधरी प्रशस्ति के रुद्रदेव और वाकाटक रुद्रसेन प्रथम को एक स्वीकार नहीं करते। डॉ. मजूमदार का अनुमान है कि चौथी शताब्दी की दो महान शक्तियों – गुप्तों और वाकाटकों के बीच शायद मैत्री सन्धि हो गई थी, जिसके अनुसार दोनों ने अपने प्रभाव क्षेत्रों को बाँटकर निश्चित कर लिया था।

2. मतिल – बुलन्दशहर में एक मुद्रा प्राप्त हुई है, जिस पर मटिल (मतिल) नाम अंकित है। डॉ. एलन को उसके राजा होने में सन्देह है, क्योंकि उसके नाम के साथ राजकीय उपाधि नहीं है, किन्तु डॉ. फ्लीट मुद्रा के मटिल और प्रशस्ति के मतिल को एक मानते हैं, जो गंगा यमुना के दोआब के दक्षिणी भाग का नागवंशी राजा था।

3. नागदत्त – इस राजा के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है। श्री रैप्सन के अनुसार नागदत्त नागकुल से सम्बन्धित नाग राजा था। किन्तु डॉन बसाक के मत में नागदत्त शायद किसी नाग वंश से सम्बन्धित नहीं था। मथुरा के समीप कुछ ऐसे सिक्के मिले हैं जिनके नाम के अन्त में शदत्त है। डॉ. वासुदेव उपाध्याय का अनुमान है कि नागदत्त उन्हीं दत्त सामन्त राजाओं से सम्बन्धित रहा होगा, जो मथुरा के निकटवर्ती प्रदेश में राज्य करते थे।

4. चन्द्रवर्मन – इस राजा के सम्बन्ध में भी अनेक मत हैं। कतिपय विद्वान इसे बाँकुड़ा (पूर्वी बंगाल) के निकट सुसुनिया पर्वत पर प्राप्त शिलालेख के चन्द्रवर्मन से मिलाते हैं, जो पुष्करणा का राजा था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

245

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

246

डॉ. एस. के. चटर्जी, डॉ. भण्डारकर, डॉ. राय चौधरी और डॉ. डी.सी. सरकार पुष्करणा को बाँकुड़ा जिले में सुसुनिया पर्वत से 25 मील दूर दामोदर नदी पर स्थित पोखरण गाँव से मिलाते हैं। पण्डित हरप्रसाद शास्त्री इसे मारवाड़ में स्थित पुष्करणा (वर्तमान पोखरण, जोधपुर राज्य) से समीकृत करते हैं। डॉ.



जायसवाल के अनुसार चन्द्रवर्मन सम्भवतया पूर्वी पंजाब में राज्य करता था। निष्कर्षतः चन्द्रवर्मन के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

5. गणपति नाग— गणपति नाग के जो सिक्के मिले हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वह पद्मावती और

ग्वालियर राज्य के नलपुर (वर्तमान नारवार) का नागवंशी राजा था।

6.

7.

8.

नागसेन नागसेन का पहले आक्रमण के समय वर्णन किया जा चुका है। द्वितीय आक्रमण में आर्यावर्त

—

के अन्य राजाओं की भाँति उसे भी युद्ध में पराजित कर उसका राज्य गुप्त साम्राज्य में मिला लिया

गया था।

अच्युत— अच्युत का भी पहले आक्रमण में वर्णन किया जा चुका है। द्वितीय आक्रमण में उसका राज्य भी विनष्ट कर गुप्त साम्राज्य में मिला लिया गया था।

नन्दि— नन्दि सम्भवतया कोई नागवंशीय राजा था। प्रो. डुब्युरिल के अनुसार पुराणों में उल्लिखित विदिशा (मध्य भारत) का नाम राजा शिवनन्दि तथा प्रशस्ति का नन्दि शायद एक ही व्यक्ति है।

9. बलवर्मन— बलवर्मन किस राजवंश का था और आर्यावर्त के किस प्रदेश का राजा था, यह ज्ञात नहीं

हो सका

द्य कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि प्रयाग प्रशस्ति का बलवर्मन शायद असम (कामरूप) का राजा था और हर्षवर्धन के समकालीन असम के राजकुमार भास्करवर्धन का पूर्वज तथा असम के राजवंश के संस्थापक का पोता

.

७

आटविक नरेश आर्यावर्त के राजाओं को विनष्ट करने के बाद समुद्रगुप्त ने प्रयाग प्रशस्ति के विवरणानुसार आटविक राजाओं पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपना परिचारक बनाया था। सम्भवतया विन्ध्य पर्वत, मध्य भारत और उड़ीसा से लगे जंगली प्रदेश आटविक राज्यों के क्षेत्र थे। बेतुल ताम्रपत्र में हस्तिन को दमाल (बुन्देलखण्ड व त्रिपुरी, जबलपुर) अष्टादश अटवी राज्यों का स्वामी कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि अटवी राज्य में बुन्देलखण्ड व जबलपुर से संयुक्त जंगली प्रदेश शामिल रहे होंगे। सम्भवतया बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, राँवा, छोटा नागपुर, छत्तीसगढ़ आदि अटवियों के राज्य रहे होंगे। डॉ. फ्लोट के कथनानुसार आटविक नरेश उत्तर प्रदेश के गाजीपुर से लेकर मध्य प्रदेश के जबलपुर तक फैले हुए थे! डॉ. भण्डारकर के अनुसार अटवी राज्य बघेलखण्ड से लेकर उड़ीसा के समुद्र तट तक प्रसारित थे।

सीमान्त राजाओं पर विजय उत्तरापथ, दक्षिणापथ और आटविकों पर विजय प्राप्त करने से समुद्रगुप्त के पराक्रम का प्रताप समस्त भारतवर्ष पर छा गया, जिससे सीमान्त राज्यों के नरेश एवं गणों के शासक भी उसके पराक्रम से भयभीत हो उठे और उन्होंने स्वयं समुद्रगुप्त के समक्ष आत्मनिवेदन हेतु प्रस्तुत होकर गुप्त सम्राट को सभी प्रकार के कर देना स्वीकार कर लिया। उन सभी नरेशों ने समुद्रगुप्त को अपना अधीश्वर स्वीकार कर प्रणाम करने और उसकी आज्ञा प्राप्त करने राजसभा में उपस्थित हुए। प्रशस्ति में दिए क्रमानुसार आत्मनिवेदन करने वाले सीमान्त राज्य एवं गण निम्नलिखित थे—

1. समतट— समतट पूर्वी बंगाल का समुद्रतटीय प्रदेश था। श्री भट्टसाली के अनुसार कोमिल्ला के निकट कर्मान्त इसकी राजधानी थी।

2.

दवाक दवाक के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। डॉ. बसाक के मतानुसार बंगाल का उत्तरी भाग और मैमनसिंह जिला दवाक में शामिल थे। श्री स्मिथ के अनुसार उत्तरी बंगाल के बोगरा, दीनाजपुर और राजशाही के जिले इसमें शामिल थे। डॉ. राजबली पाण्डे इसे ढाका के आस-पास की भूमि मानते हैं।

3. कामरूप— इसका आधुनिक नाम आसाम है।

4. नेपाल—

आधुनिक नेपाली समुद्रगुप्त का समकालीन जयदेव प्रथम नेपाल का शासक था, परन्तु प्रशस्ति में उसका नाम उल्लिखित नहीं है। इसी राजा के समय से नेपाल में गुप्त संवत् का प्रयोग

आरम्भ हुआ था।

कृ

5. कर्तृपुर श्री एलन ने इसे जालन्धर जिले के कर्तारपुर से मिलाया है। डॉ. वासुदेव उपाध्याय का अनुमान है कि इसमें कुमाऊँ, गढ़वाल और रुहेलखण्ड के प्रदेश शामिल थे।

6.

मालव गण— चौथी शताब्दी ई. पू. में जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था, मालव लोग पंजाब में रहते थे। समुद्रगुप्त के समय मालवा का गणराज्य शायद राजपूताना में था। मालवों के अनेक सिक्के जयपुर राज्य के नागर अथवा कारकोट नगर में प्राप्त हुए हैं। डॉ. जायसवाल के मतानुसार मालव गणराज्य आबू पर्वत से लेकर जयपुर तक विस्तृत था और कारकोट नगर उसकी राजधानी थी।

7. अर्जुनायन गण— डॉ. चौधरी का अनुमान है कि अर्जुनायन पाण्डव अर्जुन से सम्बन्ध रखते थे अर्थात्

अर्जुनायन, अर्जुन के वंशज थे। श्री स्मिथ के अनुसार अर्जुनायनों का प्रदेश आगरा—मथुरा के पश्चिम में पड़ता था और शायद यह जाति भरतपुर व अलवर राज्य में निवास करती थी, जहाँ उनके बहुत से सिक्के मिले हैं जिन पर

शर्जुनायनानां जयरुश लेख अंकित है।

8. यौधेय गण— महाभारत में (आदि पर्व) युधिष्ठिर के एक पुत्र का नाम यौधेय मिलता है। संभव है यौधेयों स्वयं को युधिष्ठिर के पुत्र यौधेय के वंशज मानकर यौधेय नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की हो । राजपूताना की भरतपुर रियासत में बयाना के निकट विजयगढ़ में प्राप्त एक अभिलेख में यौधेयों के गण के एक अधिपति (नेता) का उल्लेख है। इस अभिलेख के प्राप्ति-स्थान से प्रकट है कि भरतपुर में भी यौधेयों का एक गण था । यौधेयों के सिक्के भरतपुर से लेकर मुल्तान तक के प्रदेश में मिले हैं।

9.

मद्रक गण— मद्रक पश्चिमोत्तर भारत की एक प्राचीन जाति थी। झेलम और रावी के बीच का प्रदेश मद्रकदेश कहलाता था। लेकिन यदा-कदा मद्र राज्य की सीमा व्यास तक भी विस्तृत रही

द्य पंजाब में शासक या स्यालकोट मद्रों की राजधानी थी।

10. आभीर — पतंजलि के महाभाष्य में इन्हें शूद्रों के साथ गिनाया गया है। प्रो. राय चौधरी का अनुमान है कि आभीर सिन्धु की निचली घाटी और विनासन नदी के निकट पश्चिमी राजपूताना के प्रदेश में रहते थे जिसका नाम पैरिप्लस और टॉलमी के भूगोल में अविरोया दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि आभीर मूलतः सिन्ध, सौराष्ट्र व मालवा के रहने वाले थे। सम्भवतया आभीरों की एक शाखा झाँसी भिलसा के बीच के प्रदेश में भी जा बसी थीय जिस कारण यह प्रदेश आहिरवार

कहलाया ।

11. प्रार्जुन— श्री स्मिथ के अनुसार प्रार्जुन जाति मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर में निवास करती थी ।

12. सनकानीक — चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरी (पूर्वी मालवा) अभिलेख में उसके सामन्त सनकानीक महाराज का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि सनकानीक पूर्वी मालवा में निवास करते थे। समुद्रगुप्त की प्रभुता स्वीकार करने के बाद ही शायद सनकानीक गुप्त राज्य के सामन्त बन गए थे।

13. काक— चन्द्रगुप्त द्वितीय के साँची अभिलेख में काकनाद बिहार का उल्लेख है। काकनाद साँची

का ही पुराना नाम था। श्री स्मिथ के अनुसार काक लोग संभवतः काकनाद प्रदेश (साँची) से सम्बन्धित थे। श्री जायसवाल के अनुसार भिलसा से 20 मील उत्तर काकपुर काकों का नगर था।

14. खर्परिक— डॉ. भण्डारकर के अनुसार खर्परिक संभवतः बतिहागढ़ अभिलेख में उल्लिखित खरपर

जो मध्य प्रान्त के दमोह प्रदेश में निवास करते थे।

□

प्रत्यन्त (सीमान्त) नृपतियों का आत्मसमर्पण समुद्रगुप्त की दिग्विजय समाप्त

होने पर उसकी ख्याति सुदूर देशों में फैल गई पड़ोस के विदेशी राज्यों में इतनी शक्ति नहीं थी कि वे समुद्रगुप्त का सामना करते ।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

247

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

248

इसलिए समीपवर्ती राज्यों को बाध्य होकर समुद्रगुप्त से मित्रता की भीख माँगनी पड़ी। पड़ोस के विदेशी राज्यों से समुद्रगुप्त ने अधीन मैत्री कर ली। इस अधीन मैत्री की शर्तें थीं— (1) आत्मनिवेदन (समर्पण), (2) कन्योपायन (पूर्ण राजभक्ति और स्वामी— भाव प्रकट करने के लिए अपनी राजकुमारियाँ समुद्रगुप्त को अर्पित क), (3) दान (उपहार), (4) अपने विषय मुक्ति (राज्यों) में शासन करने के लिए गुप्तों की गरुत्मदंड (गरुड़ की मूर्ति से अंकित मुद्रा) स्वीकार करना आदि। इन विदेशी राजाओं के नाम प्रयाग प्रशस्ति में निम्नांकित प्रकार से उल्लिखित हैं—

—

1. देवपुत्र शाही — शाहानुशाही डॉ. एलन शदेवपुत्र शाही — शाहानुशाही उपाधि को किसी एक राजा की उपाधि की बजाय उसे तीन भिन्न राजाओं का बोधसूचक मानते हैं। डॉ. जायसवाल देवपुत्र और शाही को शाहानुशाही का विश्लेषण मानते हैं जिससे अभिप्राय कुषाण सम्राट से है। कई अभिलेखों में कनिष्क के नाम के साथ देवपुत्र की उपाधि का प्रयोग हुआ है। कनिष्क के अनुकरण पर हुविष्क और वासुदेव ने भी देवपुत्र उपाधि धारण की थी। इसी प्रकार महान कुषाण राजाओं के सिक्कों पर शाहानुशाही उपाधि भी अंकित मिलती हैं। अतः स्पष्ट है कि प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित शदेवपुत्र — शाही — शाहानुशाही से एक ही राजा का बोध होता है, जो सम्भवतः उत्तर—पश्चिमी तथा उत्तर भारत में राज्य करने वाले महान कुषाणों का वंशज था, जिन्हें हम किदार (छोटे) कुषाणों के नाम से जानते हैं। कुषाणों का भारतीय साम्राज्य नष्ट होने के बाद तीसरी—चौथी शताब्दी में वे भारत सीमान्त के प्रदेश काबुल की घाटी में राज्य करते थे।

कृ

2. शक नृपति संभवतरु वह अवन्ति और सौराष्ट्र का पश्चिमी क्षत्रप था। गुप्त सम्राट को आत्मसमर्पण करने वाला शक क्षत्रप संभवतः रुद्रसेन तृतीय था। सिक्कों पर अंकित तिथियों से मालूम होता है कि उसने लगभग 348 ई. से 378 ई. तक राज्य किया।

—

3. मुरुण्ड— श्री स्टेन नो के मत में मुरुण्ड शक भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ

प्राचीन भारतीय इतिहास

नृपति अथवा स्वामी होता है। अतः कुछ विद्वान् मुरुण्ड को शक का विश्लेषण मानते हैं। पुराणों के अनुसार मुरुण्ड विदेशी मूल की एक पृथक म्लेच्छ जाति थी। चीनी स्त्रोतों के विवरणानुसार तीसरी शताब्दी के मध्य के आस-पास भारत में मु-लुन (मुरुण्ड) नाम का राजा राज्य करता था। चीनी विवरण से यह भी पता चलता है कि पाटलिपुत्र उसकी राजधानी थी। जैन ग्रन्थों के अनुसार मुरुण्डराज कान्यकुब्ज में राज्य करता था और पाटलिपुत्र उसकी राजधानी थी। इससे प्रकट होता है कि मुरुण्ड, शकों से पृथक् थे और तीसरी शताब्दी के मध्य मुरुण्डराज आर्यावर्त का एक शक्तिशाली राजा था, जिसका राज्य कन्नौज से पाटलिपुत्र तक विस्तृत था।

4. सिंहल तथा अन्य द्वीप समुद्रगुप्त के पराक्रम से आतंकित होकर भारत के पड़ोसी सिंहल (लंका) तथा अन्य द्वीपों के शासकों ने भी समुद्रगुप्त के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। चीनी स्त्रोत से मालूम होता है कि समुद्रगुप्त का समकालीन लंका का राजा मेघवर्ण था। मेघवर्ण ने दो भिक्षुओं को बोध गया भेजा, किन्तु उनके ठहरने, भोजनादि की कोई व्यवस्था नहीं हुई अतः मेघवर्ण ने बहुत से उपहारों के साथ अपना दूत—मण्डल गुप्त सम्राट के पास भेजा और बोध गया में लंका के यात्रियों की सुविधा के लिए एक विहार बनवाने की अनुमति माँगी थी, जो स्वीकार कर ली गई थी। लंका के राजा ने बोध गया में महाबोधि संघाराम नामक विहार बनवाया। ह्वेनसांग ने इस बिहार का विशद वर्णन किया है।

सिंहल के अलावा अन्य द्वीप कौन से थे, प्रयाग प्रशस्ति में उनका कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। डॉ. जायसवाल का अनुमान है कि समुद्रगुप्त का प्रभाव सिंहल के अलावा चम्पा (कम्बोडिया), फुनान (इण्डोनेशिया), जावा, सुमात्रा व बर्मा तक फैल गया था। डी. सी. सरकार के मतानुसार प्रशस्ति में उल्लिखित अन्य द्वीपों से अभिप्राय संभवतः सुदूर-पूर्व के द्वीपों से है। कतिपय आधुनिक विद्वानों के अनुसार समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय द्वारा सिन्ध, अफगानिस्तान, कश्मीर व पंजाब से लेकर सिंहल व जावा, सुमात्रा आदि के द्वीपों पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। वस्तुतः प्रयाग प्रशस्ति का लेखक हरिषेण समुद्रगुप्त का एक उच्च अधिकारी था, अतः निःसन्देह उसका वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है। विदेशी शासकों द्वारा आतंकित होकर आत्मसमर्पण करना तथा अपनी कन्याओं को दान में देना अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण है। संभव है, समुद्रगुप्त के समय इन पड़ोसी विदेशी राज्यों के साथ भारत के घनिष्ठ राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो गए थे, जिससे समुद्रगुप्त और विदेशी राज्यों के शासकों से घनिष्ठ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गए तथा ये सम्बन्ध बराबर का मैत्री सम्बन्ध था, न कि श्वशुर-मैत्री का। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त का यशोगान ही उल्लिखित है। अतः प्रशस्ति के विवरण को अक्षरशः स्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रत्यर्पण की नीति समुद्रगुप्त ने श्वर्धर्म—विजयश नीति का अनुसरण कर जिस प्रकार दक्षिण के नरेशों, विदेशी राजाओं, गणों एवं आत्मसमर्पण करने वाले

नृपतियों को उनके राजपद पर कायम रखय उन्हें गुप्त साम्राज्य का अनुवर्ती बना दिया था, उसी प्रकार आर्यावर्त के उन्मूलित किए गए राजाओं के साथ भी, उनका आक्रोश शान्त करने के लिए राज्य का मित्र व अनुवर्ती बनाने के लिए उसने सौहार्द्रपूर्ण नीति का अवलम्बन किया था। समुद्रगुप्त की यह सनीति लोकानुग्रह प्रेरित थी, जिसके अनुसार उसने आर्यावर्त के अनेक उन्मूलित राजाओं को उनका निजी वैभव अथवा सम्पत्ति प्रत्यर्पित (वापस) कर दी थी। प्रत्यर्पण के इस कार्य को सम्पन्न करने का दायित्व आयुक्त नामक अधिकारी को सौंपा गया था। संभवतः आयुक्त अर्थ – विभाग का उच्चाधिकारी था, जिसका कार्य उन्मूलित राजा के निजी वैभव का लेखा-जोखा तैयार करना और तदनुसार उनकी सम्पत्ति उन्हें प्रत्यर्पित कर देना था। परिणामस्वरूप पराजित राजाओं के मन में समुद्रगुप्त के प्रति अवश्य ही सद्भावपूर्ण सहयोग के भाव उत्पन्न हो गए होंगे। यही कारण है कि हम आर्यावर्त के पराजित राजाओं द्वारा समुद्रगुप्त अथवा उसके उत्तराधिकारियों के समय विद्रोह की किसी चेष्टा का गुप्त लेखों में उल्लेख नहीं पाते। समुद्रगुप्त की यह लोकानुग्रह की नीति केवल राजनैतिक आवश्यकता से प्रेरित न थी, उसकी प्रेरणा का मुख्य स्रोत शास्त्र और स्मृतिकारों द्वारा मान्य राजधर्म के ये निर्देश थे, जिनका वह निष्ठा के साथ पालन करता रहा। कौटिल्य ने कहा है कि विजेता को विजित अथवा विनष्ट राजा की निजी भूमि, द्रव्य, पुत्र और दास का अपहरण नहीं करना चाहिए और समुद्रगुप्त की प्रत्यर्पण की नीति में इसी निर्देशन का पालन हुआ है।

द्य

अश्वमेध यज्ञ – प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार दिग्विजय की इस परम उपलब्धि के उपलक्ष में प्राचीन चक्रवर्तियों की परम्परानुसार समुद्रगुप्त ने क्षत्रियोचित अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। समुद्रगुप्त के पुत्रादि वंशजों के अभिलेखों में उसे चिरकाल से न होने वाले अश्वमेध यज्ञ का पुनः अनुष्ठान करने वाला कहा गया है। यद्यपि समुद्रगुप्त के पूर्व नाग वाकाटक आदि राजाओं ने भी अश्वमेध यज्ञ किए थे फिर भी समुद्रगुप्त को चिरकाल से न होने वाले अश्वमेध यज्ञ का पुनः अनुष्ठान करने वाला क्यों कहा गया ? यह सही है कि नाग वाकाटक राजाओं ने तथा उसके पूर्व पुष्पमित्र शुंग ने भी अश्वमेध यज्ञ किए थे, किन्तु वे वास्तविक चक्रवर्ती के समान सम्पूर्ण भारत को एकछत्र शासन के नीचे नहीं ला सके थे। वस्तुतः राजनैतिक अखण्डता के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात् दूसरा नृपति समुद्रगुप्त ही हुआ जो शताब्दियों के अन्तराल के बाद पुनः चक्रवर्ती पद को प्राप्त हुआ। गुप्त – राजकुमारी प्रभावती गुप्त के दान-पत्र में समुद्रगुप्त को अनेक अश्वमेध यज्ञ करने वाला कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त ने शायद एक से अधिक अश्वमेध यज्ञ संपादित किए हों। सम्भव है प्रथम अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान दक्षिणापथ की विजय करने पर और दूसरा सम्पूर्ण दिग्विजय के बाद किया गया था।

अश्वमेध के अवसर पर समुद्रगुप्त ने अनेक गौ और कोटियों हिरण्य (स्वर्ण के सिक्के) ब्राह्मणों को दान में दिए थे। समुद्रगुप्त के एरण अभिलेख में कहा गया



है कि वह स्वर्ण दान में शृपथु और राघवश से भी बढ़कर था। स्वर्णदान का यह उल्लेख सम्भवतः अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर दिए गए दान के सन्दर्भ में किया गया है। ३ समुद्रगुप्त के

पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र आदि के अभिलेखों में भी यह बात दुहराई गई है। इस यज्ञ के उपलक्ष्य में समुद्रगुप्त ने कोटियों प्रकार के विशेष स्वर्ण सिक्के ढलवाये थे, जिन्हें अश्वमेध –शैली के सिक्के कहा गया है। अश्वमेध – शैली के सिक्कों के एक तरफ यज्ञ सतम्प पर बँधे अश्व की मूर्ति चित्रित है और दूसरी तरफ हाथ में चामर लिए एक नारी की मूर्ति अंकित है, जिसे समुद्रगुप्त की प्रधान महिषी दत्तादेवी समझा जाता है यज्ञ में राजपनियों का भी मुख्य भाग हुआ करता था) तथा नीचे अश्वमेध पराक्रम अश्वमेध के योग्य पराक्रम वाला) अंकित है। लखनऊ के संग्रहालय में अवध

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

749

प्राचीन भारतीय इतिहास

से प्राप्त एक घोड़े की पाषाण मूर्ति रखी हुई हैं जिसके ऊपर प्राकृत में समुद्रगुप्त देय धम्मश लिखा है। श्री स्मिथ के अनुसार इसका सम्बन्ध भी समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ के अश्व से है।

छब्बै

मदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

250

समुद्रगुप्त का अश्वमेध सिक्का

कृ

समुद्रगुप्त का गरुडध्वजी सिक्का

समुद्रगुप्त का वीणावादक सिक्का

समुद्रगुप्त का चरित्र

समुद्रगुप्त विशाल समुद्र की तरह गम्भीर और गहन था। उसमें उदयन की कलाप्रियता, चन्द्रगुप्त मौर्य की साहसिकता, अशोक की दयालुता, पृथु रघु की दानशीलता तथा राजर्षि जनक की विद्याप्रियता के समस्त गुण समवेत रूप से विद्यमान थे। वह असाधारण योद्धा, अनेक समर विजेता एवं अजातशत्रु था। सभी राजाओं का उच्छेद करने से वह शसर्वराजोच्छेताश नाम से लोक प्रसिद्ध था। शत्रुओं और दुष्टों के लिए वह कोप करने में यम के समान था, किन्तु प्रजाजनों के लिए वह लोकानुग्रह का साक्षात् प्रतिरूप, कुबेर, वरुण और इन्द्र के समान था। उसका हृदय अनुकम्पा से पूर्ण था, जिसे मात्र भक्ति और मस्तक झुकाने (प्रणाम करने) से जीता जा सकता था। वह प्रजावत्सल राजा था, इसलिए उसका मन सदा कृपण, दीन, अनाथ व आतुरजनों के उद्धार के लिए

लालायित रहता था।

समुद्रगुप्त का राजादर्श और प्रजा के प्रति अनुकम्पा से पूर्ण व्यवहार भारतीय राजधर्म के आदर्शानुरूप था। इसलिए प्रशस्ति में उसे शास्त्रों का ज्ञाता और सुक्तमार्ग का अध्येयी कहा गया है। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को श्मर्मा प्राचीर – बन्धश् अर्थात् धर्म के भवन को घेरने वाला प्राचीर कहा गया है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह धर्म को मर्यादा को स्थापित करने वाला धर्म प्रवर्तक राजा था। धर्म की मर्यादा से अभिप्राय है— चारों वर्णों और चारों आश्रम के धर्माचरण की रक्षा। लोकानुग्रह के सन्दर्भ में प्रशस्ति में कहा गया है कि उसने प्रजा के हित में अनेक सुचिर एवं अद्भुत कार्य सम्पन्न किए थे। प्रशस्ति में उसे श्लोक धाम्नो देवस्यश् कहा गया है। कुछ विद्वान् इसका यह आशय निकालते हैं कि गुप्त राजा अपने राजत्व को दैवप्रद मानते थे। किन्तु यह प्राचीन भारतीय राजधर्म विशारदों के भाव के प्रतिकूल है। वस्तुतः समुद्रगुप्त राजपद के देव प्रदत्त माने जाने से देवता नहीं बल्कि वह प्रजा पर अनुग्रह करने के गुणों के कारण देवता था।

समुद्रगुप्त शास्त्रों का घनी ही नहीं बल्कि शास्त्रों में भी परम प्रवीण था। प्रयाग प्रशस्ति में कहा गया है कि शास्त्र ज्ञान में इन्द्र के गुरु बृहस्पति को और ललित (संगीत कला) में गांधर्वों एवं देवताओं के संगीताचार्य तुम्बरू व नारद को भी इस महान सम्राट ने अपनी निपुणता से लज्जित कर दिया था। समुद्रगुप्त एक महान कवि भी था जो अपनी काव्य निपुणता के कारण शकवियों का राजाश की ख्याति प्राप्त कर गया था। उसका संगीत प्रेम इसके वीणा शैली के सिक्कों से भी प्रकट होता है। इन सिक्कों पर पर्यंक पर बैठकर वीणा बजाते हुए समुद्रगुप्त की मूर्ति अंकित है। कला और साहित्य का मर्मज्ञ समुद्रगुप्त पंडितों एवं विद्वानों का आश्रयदाता भी था। प्रशस्ति के विवरण से ज्ञात होता है कि उसके समय में विद्वानों को अर्थ की दृष्टि से कोई अभाव नहीं रह गया था। इसलिए कुछ विद्वानों का कहना है कि उसके शासन में लक्ष्मी ने सरस्वती से वेर करना छोड़ दिया था। उसकी गरुड़ की मूर्ति से अंकित मुद्रा से मालूम होता है कि वह गरुड़वाहन विष्णु का भक्त था, परन्तु बौद्ध आदि दूसरे सम्प्रदायों का आदर करता था। दीर्घकालिक एवं यशस्वी शासन के बाद लगभग 375 ई. में समुद्रगुप्त ने अपनी जीवन लीला समाप्त की थी।

रामगुप्त

गुप्त अभिलेखों

समुद्रगुप्त के एरण अभिलेख से मालूम होता है कि समुद्रगुप्त के बहुत से पुत्र और पौत्र थे। में चन्द्रगुप्त द्वितीय के अलावा हमें समुद्रगुप्त के अन्य पुत्रों के नाम ज्ञात नहीं हो सके हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय को उसके पिता ने ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। गुप्त अभिलेखों से प्रकट है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय सम्भवतः ज्येष्ठ पुत्र नहीं था। कुछ विद्वानों ने साहित्यिक गाथाओं और कुछ बाद के ऐतिहासिक अभिलेखों के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि समुद्रगुप्त

प्राचीन भारतीय इतिहास

के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त सिंहासन पर बैठा था। विशाखदत्त द्वारा लिखित शदेवी चन्द्रगुप्तम् नाटक के अनुसार समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त गद्दी पर बैठा था। उसके गद्दी पर बैठते ही शकों (कुषाणों) ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। विवश होकर रामगुप्त को शंका से अत्यन्त ही अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी, जिसके अन्तर्गत रामगुप्त ने अपनी रानी ध्रुवदेवी शक राजा को समर्पित करने की शर्त स्वीकार कर ली। किन्तु रामगुप्त का छोटा भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय बड़ा साहसी और स्वाभिमानी था उसने ध्रुवदेवी के वेश में स्त्रीरूपधारी सैनिकों के साथ शक की सैनिक छावनी में प्रवेश किया तथा ध्रुवदेवी से आलिंगन करने के लिए व्याकुल शक राजा को मारकर शकों को गुप्त राज्य से भगा दिया। ध्रुवदेवी अपने पति के कायरतापूर्ण व्यवहार से लज्जित थी। धीरे-धीरे मेरे चन्द्रगुप्त द्वितीय से ध्रुवदेवी का प्रेम हो गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने रामगुप्त की हत्या करवा दी और ध्रुवदेवी से विवाह कर गुप्त साम्राज्य का शासक बन बैठा। शदेवी— चन्द्रगुप्तम् नाटक को प्रकाश में लाने का श्रेय एम. सिलवन लेवी को है। अनेक विद्वान इस साहित्यिक गाथा के आधार पर रामगुप्त के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु अन्य प्रमाणों से इस गाथा की पुष्टि होती है। इस गाथा का उल्लेख हमें बाणभट्ट के शर्षचरित में, राजशेखर की शकाव्य—मीमांसा में, संजन ताम्रपत्र में तथा राष्ट्रकूटों के सांधली ताम्रपत्र में भी मिलता है। इसके अतिरिक्त मालवा में रामगुप्त को मालवा का स्थानीय शासक बताया गया है। डॉ. श्री राम गोयल के अनुसार रामगुप्त अपने पिता के शासनकाल में पूर्वी मालवा का गवर्नर था। समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद शकों ने मालवा पर आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसकी रक्षा की तथा बाद में रामगुप्त की हत्या करवा दी और उसकी पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया। डॉ. गोयल का कथन काफी अंशों तक सत्य प्रतीत होता है।

बहुत से विद्वान रामगुप्त की ऐतिहासिकता को इस आधार पर स्वीकार नहीं करते कि गुप्त अभिलेखों में उसका कहीं उल्लेख नहीं है, किन्तु रामगुप्त का शासनकाल अत्यन्त ही संक्षिप्त रहा और उसे अपने नाम के सिक्के चलाने या दानपत्र व प्रशस्ति लिखवाने का अवसर नहीं मिला। रामगुप्त के बाद उसका छोटा भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठा था और गुप्तवंशावलियाँ पिता पुत्र के क्रम से चलती हैं। इसलिए गुप्त वंशवलियों में रामगुप्त को स्थान नहीं मिल सका।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (375 ई.-414 ई.)

चन्द्रगुप्त द्वितीय समुद्रगुप्त के पुत्रों में सबसे योग्य और श्रेष्ठ होने के कारण ही उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया था। निःसन्देह चन्द्रगुप्त द्वितीय एक महान पिता का महान पुत्र था। शासन प्रबन्ध एवं युद्ध— दोनों में उसकी ख्याति उसके पिता की भाँति ही सुप्रसिद्ध है। वह एक महान विजेता, अतुल पराक्रमी और धर्मनिष्ठ राजा था। उसने अनेक उपाधियाँ धारण की थीं। उसके विभिन्न सिक्कों में उसे देवश्री, विक्रम, विक्रमादित्य, नरेन्द्रचन्द्र सिंहविक्रम, नरेन्द्रसिंह, सिंहचन्द्र, परमभागवत, अजितविक्रम, विक्रमांक तथा अप्रतिरथ आदि उपाधियों से अलंकृत

किया गया है। सौँची अभिलेख के अनुसार चन्द्रगुप्त का दूसरा प्रिय नाम शदेवराजश् तथा वाकाटक अभिलेखों के अनुसार उसका एक और नाम शदेवगुप्तश् था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा स्तम्भ लेख के आधार पर इसका राज्यारोहण काल लगभग 375 ई. है। चन्द्रगुप्त अपनी युवा अवस्था से ही वीर और साहसी था। शक राजा को मारकर शकों को गुप्त राज्य से खदेड़ने में उसने अपने शौर्य और कूटनीति का परिचय दिया था। उसकी महत्वाकांक्षा का पता अपने भाई का राज्य और स्त्री अपनाने से लगता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का वैवाहिक सम्बन्ध— गुप्त अभिलेखों व मुहरों में चन्द्रगुप्त द्वितीय की प्रथम पत्नी का नाम ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी मिलता है। मिलसद पाषाण स्तम्भ लेख और बिहार पाषाण स्तम्भ

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

स्व-प्रगति के परीक्षण करें रु

1. गुप्त साम्राज्य के पतन के लिए कौन-कौन से कारण उत्तरदायी थे? किसी एक का उल्लेख करें।

भूमि के उपजाऊपन के आधार पर भूमि कितने प्रकार के थे?

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

251

भ्रायन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

252

लेख में ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त द्वितीय की महादेवी और कुमारगुप्त प्रथम की माता कही गई है। वैशाली की खुदाई में बहुत सी मिट्टी की मुहरें प्राप्त हुई थीं, जिनमें एक मोहर ध्रुवस्वामिनी को भी है, जिसमें वह चन्द्रगुप्त की पत्नी और गोविन्दगुप्त की माता कही गई है। अतः ध्रुवदेवी से चन्द्रगुप्त के दो पुत्र हुए थे— कुमारगुप्त प्रथम और गोविन्दगुप्त। अभिलेखों में चन्द्रगुप्त द्वितीय की दूसरी पत्नी का नाम कुबेरनागा मिलता है, जो पद्मावती अथवा मथुरा के नागकुल की राजकुमारी थी। चन्द्रगुप्त ने राजनैतिक दृष्टि से नागों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना लाभप्रद समझकर ही नाग राजकुमारी से विवाह किया था। कुछ विद्वानों का मत है कि समुद्रगुप्त ने पद्मावती के शासक गणपतिनाग को पराजित कर उसका राज्य विनष्ट कर दिया था और तत्पश्चात् प्रत्यर्पण नीति के अर्न्तगत गणपतिनाग के हो किसी वंशज को उसका राज्य पुनः लौटा दिया था। सम्भवतः इस नाग शासक ने कन्योपायन कर अपनी कन्या का विवाह युवराज चन्द्रगुप्त से किया। समुद्रगुप्त के एरण अभिलेख में उसे बहुपुत्र-पौत्र वाला कहा गया है। अतः सम्भव है कुमारगुप्त, गोविन्दगुप्त तथा कुबेरनागा से उत्पन्न कन्या प्रभावती गुप्त का जन्म समुद्रगुप्त के जीवनकाल में ही हो गया था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी दूसरी रानी कुबेरनागा से उत्पन्न राजकुमारी प्रभावती गुप्त का विवाह वाकाव राजा पृथ्वीषेण प्रथम के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ सम्पन्न कराया। इस प्रकार उसने नागों के ह्रास के पश्चात् गुप्तों के एकमात्र सम्भावित प्रतिद्वन्द्वी वाकाटकों को इस वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा अपने सहयोगी मित्रों व सम्बन्धियों में बदल दिया था। वाकाटकों से वैवाहिक सम्बन्ध उसके लिए लाभदायक सिद्ध हुए, क्योंकि वाकाटक जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के पश्चिमी भारत के विजय अभियान में व्यवधान उपस्थित कर सकते थे, वे उसके सहयोगी, सम्बन्धी और मित्र बन गए। रुद्रसेन द्वितीय का शासनकाल अत्यन्त ही अल्प रहा और उसकी मृत्यु के बाद उसके अल्पवयस्क उत्तराधिकारी दिवाकरसेन को संरक्षिका के रूप में प्रभावती गुप्त ने लगभग बीस वर्षों तक शासन का संचालन किया। उसके शासनकाल में वाकाटक शासन पर चन्द्रगुप्त द्वितीय का अत्यधिक प्रभाव रहा।

—

चन्द्रगुप्त द्वितीय की दिग्विजय— चन्द्रगुप्त के सामने बड़ी समस्या यह थी कि गुप्त साम्राज्य को दृढ़ और सुरक्षित कैसे बनाया जाय ? यद्यपि समुद्रगुप्त ने भारत में एक सार्वभौम साम्राज्य स्थापित किया था, किन्तु साम्राज्य में कई श्रृंखलाएँ ढोली रह गई थीं। समुद्रगुप्त ने आत्मसमर्पण करने वाले राजाओं और गणों को अधीन करके छोड़ दिया था, जो सार्वभौम सत्ता के निर्बल होने पर स्वतंत्र होने का प्रयास कर रहे थे। समुद्रगुप्त के भय से यद्यपि विदेशी कुषाण और शक (क्षत्रप) पड़ोसियों ने गुप्त सम्राट से अधीन — मैत्री कर ली थी, किन्तु अवसर प्राप्त होते ही वे भारत पर प्रहार करने को तैयार बैठे थे। शक्तिहीन एवं कायर पुरुष रामगुप्त के समय शकों के आक्रमण ने इस बात को सिद्ध कर दिया था। चन्द्रगुप्त साम्राज्य के इन व्यवधानों को दूर करना चाहता था। इसलिए चन्द्रगुप्त ने भी दिग्विजय की ओर प्रस्थान किया।

गणराज्यों का विनाश पश्चिमोत्तर भारत के कुषाण और अवंति के महाक्षत्रपों तथा गुप्त साम्राज्य के बीच में भद्र गण से लेकर स्वर्णरिक्त गण तक छोटे-छोटे गणों की एक पतली सी दीवार थी। ये गण यद्यपि स्वतंत्रता प्रेमी थे किन्तु वे किसी संगठित आक्रमण का सामना करने में असमर्थ थे। चन्द्रगुप्त ने सर्वप्रथम इन्हीं गणों पर प्रहार किया। वाकाटकों को अपना सहयोगी एवं मित्र बना लेने पर चन्द्रगुप्त के लिए मध्य और पश्चिमी भारत की विजय का कार्य सुगम हो गया था। डॉ. बसाक के अनुसार, मालवा और सौराष्ट्र की विजय में चन्द्रगुप्त को उसके दामाद, वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से सहायता मिली थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वाकाटकों को अपना मित्र बनाने और उनका सहयोग प्राप्त करने के बाद ही चन्द्रगुप्त मालवा और सौराष्ट्र की दिग्विजय के लिए निकला था और सम्भवतः मध्यप्रदेश के अवशिष्ट गणों को उन्मूलित करने के पश्चात् वह अपने पिता के समय की एरण सोमा को लौंघकर पूर्वी मालवा में प्रविष्ट हुआ, जहाँ उसने आगे के अभियानों की योजना निश्चित करने के लिए उदयगिरी अथवा विदिशा में शिविर स्थापित किया था। उदयगिरी गुहा

अभिलेख से प्रतीत होता है कि इस अभियान के दौरान पूर्वी मालवा के काक आदि गणों व गणपतिनाग के कुलों को भी उन्मूलित कर दिया गया था। यही कारण हैं कि चन्द्रगुप्त की इस दिग्विजय के पश्चात् गणों का भारतीय इतिहास में आगे हम फिर कोई उल्लेख नहीं पाते। चन्द्रगुप्त के कुछ ताम्र सिक्के मिले हैं, उनमें से कुछ सिक्कों के पृष्ठ पर गरुड़ मुख में सर्प को लिए हुए दिखाया गया है। शसर्पश नाग शासकों का राज्य चिन्ह तथा गरुड़ गुप्त शासकों का राज चिन्ह

था। अतः इस चित्रांकन से इस बात का संकेत मिलता है कि गुप्तों रूपी गरुड़ ने सर्प रूपी नागों को आत्मसात् कर लिया था अर्थात् चन्द्रगुप्त ने नाग राजाओं को विनष्ट कर उनका राज्य अपने साम्राज्य में मिला लिया था।

चन्द्रगुप्त का प्रमुख ध्येय विदेशी शकों को विनष्ट करना था। किन्तु सौराष्ट्र के शकों को उन्मूलित करने के लिए पश्चिमी मालवा पर अधिकार करना आवश्यक था। अतः सम्भव है कि विदिशा और धार के बाद चन्द्रगुप्त ने अवन्ति व मन्दसौर पर विजय स्थापित की थी। पश्चिमी मालवा की विजय से सम्बन्धित यद्यपि कोई अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु दासपुर (मन्दसौर) में प्राप्त नरवर्मन के अभिलेख से अनुमान होता है कि चन्द्रगुप्त ने पश्चिमी मालवा पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

शक क्षत्रपों का अन्त – मालवा पर अधिकार करने के बाद चन्द्रगुप्त की दिग्विजय का प्रमुख लक्ष्य विदेशी शकों को उन्मूलित कर पश्चिमी भारत को स्वाधीन कराना था। शक वीरसेन उदयगिरी लेख से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त अपने मन्त्रियों, सेनापतियों एवं सामन्तों के दलबल के साथ पृथ्वी की जय हेतु ही उदयगिरी पहुँचा था, जहाँ शकों के उन्मूलन के लिए योजना तैयार की गई थी। शकों पर आक्रमण की यह योजना सफल हुई और पश्चिमी भारत का क्षत्रप राज्य गुप्त साम्राज्य में मिला लिया गया था। शक पर विजय की महान उपलब्धि से प्रेरित होकर ही संभवतः वीरसेन ने उदयगिरी अभिलेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए अपनी अन्तर्ज्योति से सूर्य और चन्द्र की तरह आभासित होने वाला अद्भुत व्यक्ति कहा है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के दुर्लभ रजत सिक्कों से भी प्रमाणित होता है कि उसने शकों का अन्त कर सौराष्ट्र प्रदेश (गुजरात और काठियावाड़) अपने अधिकार में कर लिया था। इन रजत सिक्कों की बनावट और शैली क्षत्रप सिक्कों के अनुकरण पर मिलती है। किन्तु रजत सिक्कों के सामने की तरफ शक-शैली पर सम्राट के पीछे बायीं तरफ तिथि का वर्ष शक संवत् की बजाय गुप्त संवत् में दिया गया है तथा पीछे की तरफ क्षत्रपों के चौत्य की जगह पंख फैलाये गरुड़ की मूर्ति अंकित है। इससे प्रतीत होता है कि ये सिक्के पश्चिमी भारत के लिए शकों की राजकीय सत्ता समाप्त करने पर प्रचलित किए गए थे।

—

शक क्षत्रप जो चन्द्रगुप्त से पराभूत हुआ, वह संभवतः महाक्षत्रप स्वामी



सत्यसिंह का लड़का रुद्रसिंह तृतीय था। रुद्रसिंह तृतीय क्षत्रप वंश का अन्तिम नृपति प्रतीत होता है। रुद्रसिंह तृतीय के 38 ई. तक के सिक्के मिलते हैं। इसके बाद का कोई सिक्का नहीं मिलता। रुद्रसिंह के पूर्व तीन महाक्षत्रप शक सिंहासन पर बैठ चुके थे और चन्द्रगुप्त के मालवा अभियान से शकों की स्थिति अत्यधिक अस्थिर हो गई थी। संभवतः मालवा हस्तगत करने के तुरन्त बाद शकों पर गुप्त आक्रमण आरम्भ हो गए थे और अन्त में चन्द्रगुप्त द्वारा रुद्रसिंह तृतीय के मारे जाने पर सौराष्ट्र गुप्त साम्राज्य में मिला लिया गया था।

ने

पूर्वी प्रत्यन्त राज्यों का अन्त मेहरौली लोह स्तम्भ लेख (दिल्ली में कुतुबमीनार के पास) से मालूम होता है कि गुप्त साम्राज्य के शत्रु प्रत्यन्त नृपति सम्राट, दबाक और कामरूप के राजा बंगाल में गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करने को इकट्ठे हो गए थे। समतट, दबाक और कामरूप के नृपतियों को सम्राट समुद्रगुप्त पराभूत किया था। अतः प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त के गद्दी पर बैठते ही इन नृपतियों ने गुप्तों की अधीनता से मुक्त होने के प्रयत्न आरम्भ कर दिए थे। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप गुप्त सम्राट के विरुद्ध वे एक हो गए थे तथा बंगाल में गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने बलपूर्वक इन नृपतियों को पराजित कर दिया। इससे गुप्त साम्राज्य की सीमा अब सीधी आसाम तक पहुँच गई थी।

पश्चिमोत्तर भारत पर आधिपत्य — पश्चिमोत्तर भारत पर कुषाणों के वंशज अभी तक शासन कर रहे थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा अभिलेख से स्पष्ट है कि मथुरा प्रदेश जो पहले शक कुषाणों की शक्ति का केन्द्र रहा, अब पूरी तरह से गुप्त साम्राज्य में मिला लिया गया था। चन्द्रगुप्त द्वारा पश्चिमी क्षत्रपों का अन्त किए जाने पर पश्चिमोत्तर कुषाण शासकों ने गुप्त शक्ति से आतंकित होकर बंग के शासकों की तरह विद्रोह कर दिया था। मेहरौली के लोह स्तम्भ लेख से मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त ने सिन्धु और उसकी सात सहायक नदियों को पार कर वाहिकों को पराजित किया। इस अभियान के दौरान उसने शत्रुओं को जीतकर शक कुषाणों की शक्ति का प्रमुख केन्द्र तक के प्रदेश पर विजय स्थापित की। सौँची

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

253

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

254

अभिलेख में उल्लिखित उसकी राजकीय सत्ता का द्योतक देवराज (इन्द्र) विरुद्ध उत्तर पश्चिम के देवपुत्रों पर विजय स्थापित करने का परिचायक है। कई

शताब्दियों से शक भारतीय राजनीति की विकट समस्या बने हुए थे, उन्हें पराजित करने वाले का बड़ा यश माना जाता है। प्राचीनकाल में उज्जयिनी के किसी पराक्रमी राजा ने शकों को परास्त करके श्विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी तथा उसी काल से (अर्थात् 57 ई.) विक्रम संवत् भी चलाया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी पश्चिम व पश्चिमोत्तर भारत के शकों को पराजित कर श्विक्रमादित्य का विरुद्ध धारण किया। अतः वह शकादि विक्रमादित्य भी कहा गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के जो रजत सिक्के मिले हैं, उनमें से कुछ पर शपरमभागवतश महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य लिखा है। कुछ रजत सिक्कों पर श्री गुप्तकुलस्य महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त विक्रमांकस्य लेख भी अंकित मिलता है। संभव है ये सिक्के चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भारत के पश्चिमी एवं पश्चिमोत्तर अंचल को विदेशी दासता से मुक्त कराने के बाद विक्रमादित्य का विरुद्ध धारण कर प्रसारित किए थे।

—

मेहरौली लौह स्तम्भ लेख और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सन्धिविग्रह मंत्री वीरसेन के उदयगिरी अभिलेख के वर्णनों से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अनेक राजाओं को अपना दास बनाया था। उसके पुत्र कुमारगुप्त प्रथम के बिलसद पाषाण स्तम्भ लेख और उसके पौत्र स्कन्धगुप्त के बिहार पाषाण स्तम्भ लेख में उसे अप्रतिरथ को उपाधि से अलंकृत किया गया है, जिसका अर्थ है कि पृथ्वी पर उसका प्रतिरोध करने वाला कोई नहीं था। प्रभावती गुप्त ने भी अपने दान-पत्र में चन्द्रगुप्त द्वितीय को शसर्वराजोच्छेताश के विरुद्ध से अलंकृत किया है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अनेक स्वाधीन राज्यों को जीतकर उनका उन्मूलन किया था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को जीतने के बाद शासन की सुव्यवस्था के लिए उज्जयिनी को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। उज्जयिनी के राजधानी होने की प्रामाणिकता महाकवि राजशेखर के वर्णन से सिद्ध होती

उज्जयिनी को राजधानी बनाने का रहस्य यह था कि यह नगरी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्य के केन्द्र में स्थित थी। अतः इस केन्द्र स्थान से शासन करने में पाटलिपुत्र की अपेक्षा अधिक सुविधा थी। यहीं से विजित शक-राज्य पर दृढ़ता से शासन किया जा सकता था। अतः उज्जयिनी को राजधानी बनाकर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चतुरता का परिचय दिया था।

सम्राट् शचन्द्रश का विवाद— दिल्ली में कुतुबमीनार के समीप मेहरौली में एक लौह स्तम्भ पर एक लेख उत्कीर्ण मिला है, जिसमें हमें एक विष्णु भक्त एकाधिराज के विक्रम और विजयों का यशपूर्ण वर्णन मिलता है, जिसका नाम शचन्द्रश था। यह चन्द्र कौन था? फ्लोट महोदय का अनुमान है कि यह प्रथम गुप्त महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम अथवा मिहिरकुल का अनुज था। डॉ. श्री राम गोयल का मत है कि यह समुद्रगुप्त है तथा समुद्रगुप्त का मुख, चन्द्र के समान होने के कारण इस लौह स्तम्भ लेख में उसे शचन्द्रश नाम दिया गया है। कुछ विद्वान् उसे समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के चन्द्र वर्मा व सुसुनिया अभिलेख के

प्राचीन भारतीय इतिहास

पुष्करणाधिपति चन्द्रवर्मन से मिलाते हैं। अतः इस विषय में पुरातत्ववेत्ताओं में गहरा मतभेद है।

चन्द्रगुप्त प्रथम अपने वंश का प्रथम महाराजाधिराज हुआ, यह तो सही है, किन्तु पूर्व में बंगाल, पश्चिम में मथुरा तथा पंजाब और उत्तर पश्चिम भारत एवं बलख तक उसने एकाधिपत्य स्थापित किया, यह ज्ञात साक्ष्यों के सामने स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि चन्द्रगुप्त प्रथम ने इतनी विशाल दिग्विजय की होती तो उसके उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त को आर्यावर्त के अनेक राजाओं को उन्मूलित करने, उत्तर के नृपतियों का आत्मनिवेदन प्राप्त करने तथा दक्षिण के नृपतियों पर धर्म – विजय स्थापित करने की आवश्यकता क्यों हुई? प्रयाग प्रशस्ति से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त के समय में ही गुप्त राज्य सत्ता का वास्तविक विस्तार हुआ। अतः एकछत्र राज्य स्थापित करने वाला सार्वभौम सम्राट् श्चन्द्रश् जिसका प्रभुत्व सिन्धु प्रदेश से लेकर दक्षिण समुद्र तक विस्तृत था, चन्द्रगुप्त प्रथम नहीं हो सकता। यही बात मिहिरकुल के अनुज पर भी लागू होती है। मेहरौली स्तम्भ लेख का श्चन्द्रश् समुद्रगुप्त भी नहीं हो सकता, क्योंकि समुद्रगुप्त के किसी भी अभिलेख या सिक्के पर उसे चन्द्र के समान मुख वाला नहीं कहा गया है। इसके विपरीत चन्द्रगुप्त द्वितीय के पर्यटक शैली के सिक्कों में सामने की ओर विक्रमादित्य विरुद के साथ पर्यक के नीचे श्रुपाकृतिश् भी लिखा है। श्री एलन के अनुसार श्रुपाकृति शब्द चन्द्रगुप्त द्वितीय की शारीरिक पूर्णता को व्यंजित करता

पुष्करणाधिपति चन्द्रवर्मन को प्रयाग प्रशस्ति में आर्यावर्त के कतिपय सामान्य राजाओं के साथ उल्लिखित चन्द्र वर्मा से भी मिलाया जाता है, जिसे समुद्रगुप्त ने पराजित कर विनष्ट किया था। प्रशस्ति का चन्द्र वर्मा एक साधारण राजा था, जिसे हम मेहरौली के महाराजाधिराज श्चन्द्रश् से समीकृत नहीं कर सकते। उक्त अभिलेख की लिपि और समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति की लिपि में बहुत कुछ समानता है, जो कि चौथी-पाँचवीं शती में उत्तर- भारत में प्रचलित थी। चौथी – पाँचवीं शती में गुप्तवंश में दो ही महान दिग्विजेता हुए एक समुद्रगुप्त और दूसरा उसका पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य। अतः मेहरौली अभिलेख में उल्लिखित एकाधिपतिश् समुद्रगुप्त या उसके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसा ही व्यक्ति हो सकता है। चूँकि एकाधिपत्य प्राप्त करने वाले का नाम श्चन्द्रश् दिया गया है, अतः उससे अभिप्राय समुद्रगुप्त से नहीं बल्कि उसके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से ही है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कुछ ताम्र सिक्के मिले हैं जिनमें सामने की ओर श्श्री चन्द्रश् और पीछे तरफ श्गुप्तश् लिखा हुआ है। कुछ ऐसे भी सिक्के मिले हैं जिनमें सामने की तरफ केवल श्चन्द्रश् लिखा है तथा पीछे की तरफ कलश। इन ताम्र सिक्कों से प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का वास्तविक नाम शायद श्चन्द्रश् था और श्गुप्तश् विरुद के रूप में जोड़ा गया था। श्री राध ककुमुद मुकर्जी के अनुसार उसके सिंह शैली के सिक्कों पर उसका विरुद श्चनरेन्द्र चन्द्रश् और श्शसिंह चन्द्रश् से भी यह प्रकट होता है कि सम्राट् का निजी नाम केवल श्चन्द्र था। अतः मेहरौली श्का श्चन्द्रश् केवल चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

ही हो सकता है।

साम्राज्य विस्तार आर्यावर्त को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधने का महान कार्य समुद्रगुप्त ने प्रारम्भ किया था, उसे उसके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पूरा कर दिखाया। समुद्रगुप्त ने गुप्त साम्राज्य की सीमा मध्य भारत की तरफ एरण तक पहुँचा दी थी, किन्तु उसके पुत्र ने सम्पूर्ण मालवा को जीतकर समस्त मध्य भारत (गुजरात, सौराष्ट्र और राजपूताना के भाग) को गुप्त साम्राज्य में मिलाया और गुप्त साम्राज्य की सीमा पश्चिम तक पहुँचा दी थी। पूर्व में उसने बंग प्रदेश को जीतकर गुप्त सीमा को पूर्वी समुद्र तट तक पहुँचा दिया था। उत्तर-पश्चिम में उसने मथुरा से आगे बढ़कर पंजाब के शासकों और उसके आगे उत्तर प्रदेश के शक कुषाणों को पराजित कर बल्ख तक गुप्त साम्राज्य का प्रभाव स्थापित कर दिया। भारतीय इतिहास में पहले चन्द्रगुप्त मौर्य ऐसा भारतीय सम्राट हुआ जिसने उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों को जीतकर भारत की सीमा को हिन्दुकुश तक पहुँचाया था, किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उससे भी बढ़कर कार्य किया और काबुल एवं अफगानिस्तान को दबाकर बल्ख तक के प्रदेशों को भारतीय साम्राज्य का अंग बना दिया। किन्तु प्रतीत होता है कि उत्तर-पश्चिम प्रदेशों की विजय स्थायी नहीं हो सकी, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद वे प्रदेश गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित नहीं मिलते।

कृ

राजपानियाँ— वसुबन्ध की जीवन कथा के लेखक परमारथ के अनुसार विक्रमादित्य नाम के एक राजा की राजधानी अयोध्या थी। समुद्रगुप्त के गया अभिलेख में भी अयोध्या को उसका स्कन्धावार (शिविर) कहा गया है। प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने पाटलिपुत्र को खेल ही खेल में स्वाधीन कर लिया था। अतः पाटलिपुत्र व अयोध्या चन्द्रगुप्त द्वितीय के पिता के समय से ही राजधानी व मुख्य नगर होने का गौरव प्राप्त कर चुके थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के साँची और उदयगिरी अभिलेखों से मालूम होता है कि पूर्वी मालवा विजय करने से पूर्व संभवतः उसने भिलसा (उदयगिरी के निकट) को अपनी पश्चिमी राजधानी बनाया, किन्तु बाद में सम्पूर्ण मालवा और सौराष्ट्र जीत लेने के बाद साम्राज्य की पश्चिमी राजधानी होने का गौरव उज्जयिनी को प्रदान किया गया। संस्कृत साहित्य में भी विक्रमादित्य नाम के राजा को पाटलिपुत्र व उज्जैन दोनों का अधिपति कहा गया है।

अश्वमेध— भारत के जो उत्तरी-पश्चिमी और पूर्वी भाग समुद्रगुप्त के समय गुप्त शासन में नहीं आ सके थे, वे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय गुप्त साम्राज्य के अंग बन गए। मध्यभारत के गणों व नागों, सौराष्ट्र, पंजाब, अफगानिस्तान व बल्ख के शक कुषाणों तथा पूर्व के विद्रोही बंग शासकों को पराजित कर वह समस्त उत्तरी भारत का एकछत्र सम्राट बन गया था। सम्भवतया अपनी इस महान दिग्विजय के उपलक्ष्य में उसने अपने पिता की भाँति अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। काशी के नगवा गाँव में एक घोड़े की प्रतिकृति मिली है,



जिस पर चन्द्रगुप्त लिखा है। अनुमान लगाया जाता है कि यह मूर्ति उसी घोड़े की है जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अश्वमेध यज्ञ में काम आया था। राजकुमारी प्रभावती गुप्त के प्राचीन भारतीय इतिहास छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

255

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

256

पूजा – दानपात्र में चन्द्रगुप्त द्वारा अनेक गौ और कोटि सहस्र स्वर्ण दान में दिए जाने का उल्लेख है। यह दान सम्भवतः अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मणों को दिया गया था।

शासन प्रबन्ध – लगभग सम्पूर्ण भारत पर आधिपत्य स्थापित करने के बाद गुप्त शासन प्रबन्ध को संगठित करने का श्रेय भी चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही है। समुद्रगुप्त और रामगुप्त को इसके लिए अवसर नहीं मिला था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन प्रबन्ध चन्द्रगुप्त की प्रशंसा चीनी यात्री फास्यान ने भी की है इसका वर्णन यथास्थान पर गुप्त शासन के अन्तर्गत किया जायेगा। सुव्यवस्थित शासन से देश की आर्थिक स्थिति और व्यापार की उन्नति हुई।

से

मूल्यांकन— चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की दिग्विजय से स्पष्ट है कि सम्राट समुद्रगुप्त के समान ही उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय भी वीर तथा प्रतापी राजा था। उसने अनेक पदवियाँ धारण की थीं। उसके शिलालेखों पर उसकी उपाधियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनसे उसके पराक्रम का अनुमान लगाया जा सकता है। उसके शरीर की बनावट भी बड़ी सुन्दर थी। चन्द्रगुप्त के सिक्कों पर उसके शरीर का चित्र अंकित है, उसको देखने मालूम होता है मानों वीर रस ही साक्षात् शरीर धारण किए हो। उसके सिक्कों पर वीरता सूचक अनेक वाक्य अंकित मिलते हैं। कूटनीति एवं व्यवहार कुशलता में चन्द्रगुप्त की तुलना शिवाजी से की जा सकती है। वह पात्रानुकूल व्यवहार करता था। शक राजा जैसे नीच प्रस्ताव करने वाले का उसने ध्रुवदेवी के वेश में जाकर वध किया वह सर्वथा नीतिसंगत था। गुप्त साम्राज्य की रक्षा व सुख-समृद्धि के लिए अपने भाई रामगुप्त का वध कियाय उसे भी न्यायपूर्ण कहा जा सकता है। युद्ध के साथ-साथ यह अन्य साधनों का भी सहारा लेता था। नागों एवं वाकाटकों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके उसने अपने सहयोगी एवं समर्थकों की वृद्धि कर ली। यह उसकी दूरदर्शिता एवं राजनीतिक पटुता का परिचायक है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य वैष्णव धर्म का अनुयायी था, किन्तु वह धर्म साहिष्णु था। वह बड़ा उदार था तथा उसका किसी भी धर्म के प्रति द्वेष नहीं था। उसने कभी

भी अपने विपरीत धर्मानुयायियों को कष्ट नहीं दिया, बल्कि उनके प्रति सहिष्णुता का भाव प्रकट कर उस धर्म को प्रोत्साहन दिया। इतना ही नहीं, उसने अन्य धर्मोपासकों को दान भी दिया। उदयगिरी अभिलेख में वर्णित चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के मंत्री वीरसेन ने भगवान शिव की पूजा के निमित्त एक गुफा का उत्सर्ग किया था। वीरसेन शिव का परम भक्त होते हुए भी सम्राट के सन्धिविग्रह विभाग का मंत्री था। मथुरा-अभिलेख में एक शैव आयोदिताचार्य का उल्लेख मिलता है, जिसमें उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर की दो शिवलिङ्गों की स्थापना अपनी पुण्य वृद्धि के लिए की थी। साँची के अभिलेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के यहाँ एक बौद्ध अम्रकार्दव नामक पदाधिकारी किसी बड़े सैनिक पद पर था। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य वैष्णव होते हुए भी अन्य मतावलम्बियों का आदर करता था। चीनी यात्री फाह्यान ने भी इसकी दानशीलता तथा धर्म सहिष्णुता की प्रशंसा की है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य विद्या प्रेमी भी था। उसके दरबार में राजकवियों का जमघट लगा रहता था। महाकवि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार को अपनी उपस्थिति से अलंकृत करते रहे तथा अपनी मधुर कविता से सम्राट को सदैव आनन्द के सागर में डुबोया करते थे। शिलालेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कालिदास केवल राजकवि ही नहीं बल्कि अनेक राजकीय कार्यों का सम्पादन भी किया करते थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार का वीरसेन नामक मंत्री व्याकरण, न्याय, मीमांसा और लोक-नीति में निपुण था। इससे सिद्ध होता है कि सम्राट विद्वानों एवं कवियों का संरक्षक था। उसके सिक्कों पर तथा समस्त शिलालेखों पर उत्कीर्ण संस्कृत छन्दों से उसका संस्कृत के प्रति अनुराग पता चलता

वास्तव में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एक महान शासक था, जिसके राज्यकाल में भारत ने चहुँमुखी उन्नति की थी। श्री मजूमदार ने लिखा है, चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राजनैतिक महानता और सांस्कृतिक पुनर्जीवन के नवीन युग को उन्नत स्थिति तक पहुँचाया तथा लोक हृदय में अपना स्थान बना लिया। ८

कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य (414 ई. – 456 ई.)

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की लगभग 414 ई. में मृत्यु हो गई। उसके बाद महादेवी ध्रुवस्वामिनी से उत्पन्न उसका ज्येष्ठ पुत्र कुमारगुप्त प्रथम गुप्त सिंहासन पर बैठा। कुमारगुप्त के सिक्कों में उसे महेन्द्र, अश्वमेध

महेन्द्र, अजित महेन्द्र, महेन्द्रसिंह, महेन्द्र क्रमाजित, महेन्द्रादित्य आदि उपाधियों से अलंकृत किया गया है और अभिलेखों में उसे शपरमभागवत महाराजाधिराज कहा गया है। उसके सिक्कों की प्रचुरता व उनके प्रकारों की बहुलता तथा उसके अभिलेखों की विस्तीर्ण प्राप्ति स्थानों से स्पष्ट होता है कि उसके समय में गुप्त साम्राज्य की सीमाएँ अखण्ड रूप से उसी तरह विस्तृत एवं कायम रहीं जैसी कि उसके पिता के समय थीं। उसके समय के अभिलेखों से प्रकट होता है कि गुप्त साम्राज्य के मध्यवर्ती जनपद, जिनमें प्रयाग, अवध, काशी आदि प्रदेश शामिल थे, पूर्ववत् उसके शासनाधिकार में बने रहे। करमदण्डा-लेख से

प्राचीन भारतीय इतिहास

यह भी प्रकट है कि कुमारगुप्त का मंत्री पृथ्वीषेण अवध प्रदेश का महाबलाधिकृत व महासेनापति नियुक्त कर दिया गया था। हुमायूँ— अभिलेख (ईसागढ़ जिला— ग्वालियर) से मालूम होता है कि कुमारगुप्त के समय घटोत्कच गुप्त पूर्वी मालवा का गोप्ता अथवा गवर्नर था। उसके समय में गुप्त साम्राज्य में हिमालय से नर्मदा तक और पूर्व में बंगाल की खाड़ी से पश्चिम में अरब सागर तक समस्त उत्तरी भारत सम्मिलित था। संभवतः रु भारत के वे प्रदेश भी जो उसके सीधे शासन में नहीं थे, उसका स्वामित्व स्वीकार करते थे। मन्दोर— शिलालेख में दशपुर के सामन्त— बन्धुवर्मा ने लिखा है कि उसके साम्राज्य के चारों ओर चतुस— समुद्रान्त की मेखला शोभायमान थी, सुमेरु और कैलाश पर्वत उसके साम्राज्य के पयोधर थे और वनान्त में खिलने वाले कुसुमों का हास उसके साम्राज्य की स्थिति (मुस्कान) थी। ८

—

कुमारगुप्त की सामरिक विजयों का कोई विवरण हमें प्राप्त नहीं हो सका, फिर भी उसकी सामरिक शक्ति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि उसके समय में विस्तृत गुप्त साम्राज्य की सीमाएँ अखण्ड रूप से यथावत् रहीं। शान्ति, स्थिरता और व्यवस्था के कारण गुप्त साम्राज्य इस समय अपनी समृद्धि की चरम सीमा पर था। यह बात इस समय के सिक्कों की विशुद्धता और सौन्दर्य, स्थापत्य और मूर्तिकला के विकास तथा आर्थिक एवं व्यापारिक उन्नति से सिद्ध होती है।

—

अश्वमेष— कुमारगुप्त प्रथम ने अपने पितामह के अनुकरण पर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। इस अवसर के लिए ब्राह्मणों को दक्षिणा देने के निमित्त विशेष प्रकार के सिक्के ढलवाये थे, जिनमें सामने की तरफ शजयत्ति दिवं कुमारश् अभिलेख है तथा पीछे की तरफ शअश्वमेध महेन्द्रश् अंकित है। इससे प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त ने महेन्द्रश् की उपाधि अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करने पर ही धारण की थी। उसके अश्वमेध— शैली के सोने के सिक्के भी मिले हैं, जिन पर एक तरफ यज्ञ के खम्भे से बँधा हुआ अश्व और दूसरी ओर हाथ में चौवर लिए राजमहिषी की मूर्ति है।

पुष्यमित्रों का आक्रमण— पुष्यमित्र मध्यभारत की एक शासक जाति का नाम था, जिसका वर्णन वायुपुराण तथा जैन कल्पसूत्र में मिलता है। डॉ. जायसवाल के अनुसार यह जाति अवन्ति में शासन करती थी। कुमारगुप्त प्रथम के जीवन के अन्तिम दिनों में उसकी वृद्धावस्था एवं रुग्णावस्था का लाभ उठाते हुए पुष्यमित्र बहुत दिनों से गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे थे। प्रतीत होता है कि पुष्यमित्रों की तैयारी का गुप्त प्रशासन के अधिकारियों को बोध नहीं हो सका था। यह तथ्य गुप्तचर व्यवस्था की शिथिलता एवं शासन की असतर्कता को प्रकट करता है। पुष्यमित्रों ने अप्रत्याशित बबण्डर के रूप में गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया। किन्तु राजकुमार स्कन्दगुप्त के हाथों उन्हें बुरी तरह पराजित होना पड़ा। फलतः पुष्यमित्रों की शक्ति का बबण्डर सदा के लिए

शान्त हो गया। यही कारण है कि इस पराजय बाद भारत के इतिहास में पुष्यमित्रों का फिर कोई उल्लेख नहीं मिलता।

हूणों का आक्रमण— पुष्यमित्रों से कहीं बड़ा संकट हूणों के आक्रमण से उपस्थित हुआ। हूण पहले से ही भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से टकरा रहे थे। हूणों ने गुप्त शासन की शिथिलता की गन्ध पाकर भारत पर आक्रमण कर दिया। भित्तरी – लेख की 15वीं पंक्ति में हूणों के साथ हुए घरा कम्पित करने वाले समर का उल्लेख है। इस आक्रमण से गुप्तों की शकुल— लक्ष्मीश् विचलित हो गई थी। हूणों के आक्रमण का सामना करने के लिए राजकुमार स्कन्दगुप्त को भेजा गया। स्कन्दगुप्त ने हूणों के विरुद्ध ऐसा भीषण युद्ध किया कि श्वरा कम्पित हो उठी। इस युद्ध के दौरान स्कन्दगुप्त को कभी—कभी पृथ्वी पर बिना बिस्तर ही सोना पड़ा। इस युद्ध में स्कन्दगुप्त विजयी हुआ, जिससे गुप्तवंश की शक्ति और प्रतिष्ठा फिर स्थापित

हुई

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

257

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिपदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

258

गुप्त साम्राज्य की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करने के बाद जब स्कन्दगुप्त वापस राजधानी लौटा तो उसके पिता कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु हो गई।

कुमारगुप्त प्रथम अपने पितामह और पिता की भाँति पराक्रमी नहीं था। कुमारगुप्त के हाथों न तो किसी के पराजित होने का वर्णन मिलता है और न दिग्विजय का ही विवरण उपलब्ध होता है। वस्तुतः इस शत्रु काल तक गुप्तों का प्रताप सूर्य मध्य स्थान पर पहुँच गया था। कुमारगुप्त भी वैष्णव धर्म का अनुयायी था, किन्तु दूसरे धर्मों के प्रति उसने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। इसके शासनकाल में बौद्ध बुद्ध मित्र ने भगवान बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की। इसके अतिरिक्त उसने नालन्दा में बौद्ध विहार का शिलान्यास किया। उसके राज्य में बुद्ध, शिव और सूर्य की पूजा होती थी।

स्कन्दगुप्त (455 ई. –467 ई.)

कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा। कुछ विद्वानों का मत है कि कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के बाद स्कन्दगुप्त को सहज रूप से सिंहासन प्राप्त नहीं हुआ था तथा उत्तराधिकार के लिए उसे अपने सौतेले भाई पुरुगुप्त से संघर्ष करना पड़ा था। इस कथन के प्रमाण में कहा जाता है कि कुमारगुप्त द्वितीय की भित्तरी— मुद्रा में कुमारगुप्त प्रथम की महादेवी का नाम अनन्तदेवी और उससे उत्पन्न पुत्र का नाम पुरुगुप्त दिया गया

प्राचीन भारतीय इतिहास

है जो अपने पिता के बाद गद्दी पर बैठा था। इसके अतिरिक्त जूनागढ़ – लेख में कहा गया है कि, पृष्य लक्ष्मी ने सम्राट के अन्य पुत्रों को छोड़कर स्कन्द का वरण किया। ८ किन्तु यह कथन विवेचना की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। जूनागढ़ अभिलेख से स्पष्ट है कि कुमारगुप्त के सभी पुत्रों में एकमात्र स्कन्दगुप्त ही योग्य और श्रेष्ठ था। हमें स्मरण रखना चाहिए कि चन्द्रगुप्त प्रथम के समय से गुप्त राजाधिकार का निर्णय ज्येष्ठता की बजाय योग्यता एवं क्षमता पर निर्धारित होने की परम्परा चल गई थी। अतः स्कन्दगुप्त सहज उत्तराधिकारी न भी रहा हो। लेकिन अभिलेखों आदि से स्पष्ट है कि वह अपने सभी भाइयों में सर्वाधिक योग्य और श्रेष्ठ था। जूनागढ़ अभिलेख तथा भित्ति-लेख के विवरण से यह अर्थ निकालना कि पिता के स्वर्गवास होने पर जिन शत्रुओं को दबाकर अपना स्वामित्व स्थापित किया था वे शत्रु इसके भाई ही थे, सरासर गलत निष्कर्ष निकालना है। स्कन्दगुप्त ने जिन शत्रुओं को कुचलकर अपने शासन तथा गुप्त वंश की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की थीय वे शत्रु राज परिवार के भ्रातृगण अथवा सम्बन्धी नहीं थे, बल्कि हूण आदि म्लेच्छ थे। इसके अतिरिक्त कुमारगुप्त प्रथम के निधन और स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण के बीच, समय का कोई अन्तराल नहीं रहा है। अतः स्कन्दगुप्त अपने पिता के सहज उत्तराधिकारी के रूप में निर्विघ्न गुप्त सिंहासन पर आसीन हुआ था। संभव है स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त के बीच सम्बन्ध कटु रहे हों, जिस कारण पुरुगुप्त के उत्तराधिकारियों के भित्ति – मुद्रालेख में स्कन्दगुप्त का उल्लेख नहीं किया गया और अनन्तदेवी को सम्मानार्थ ही उसमें श्महादेवी कहा गया है, जैसा कि प्रभावती गुप्त ने पूना – ताम्रलेख में अपनी माता कुबेरनागा को, जो द्वितीय रानी थी, महादेवी कहा है। अभिलेखों के साथ बौद्ध ग्रन्थ मंजुश्री – मूलकल्प के अनुसार भी कुमार गुप्त प्रथम का तात्कालिक उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त था। मंजुश्रीमूलकल्प के अनुसार स्कन्दगुप्त देवराज नाम से प्रसिद्ध था। हूणों के साथ संघर्ष – हूण मध्य एशिया की एक खूंखार भ्रमणशील जाति थीं, वहीं से चौथी – पाँचवीं शती में ये लोग जब दो शाखाओं में बँटकर नये स्थानों की खोज में निकले तो एक शाखा यूरोप की ओर बढ़ी और दूसरी ने वक्षु (बने) की घाटी में प्रवेश किया। यूरोप, हूणों की बढ़ती रोक न सका। हूणों की दूसरी शाखा ने ईरान अथवा फारस को दबाया और फिर पूरी शक्ति के साथ भारत पर आक्रमण कर दिया। स्कन्दगुप्त सिंहासन पर आसीन हुए अभी अधिक दिन नहीं हुए थे कि साम्राज्य पर फिर विपत्ति के बादल बिर आये। भित्ति – लेख के विवरण से मालूम होता है कि हूण आक्रमण की विध्वंसकारी बाद रोकने के लिए स्कन्दगुप्त ने भीषण प्रचण्डता से उनका सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया था। स्कन्दगुप्त द्वारा हूणों पर विजय प्राप्त करने के सम्बन्ध में जूनागढ़ लेख में कहा गया है कि, “उसने शत्रुओं का दर्प इस तरह आमूल भग्न कर दिया था कि म्लेच्छ देशों में भी उसके रिपुगण (हूण) उसकी विजय का सुयश उद्घोषित किया करते थे। ८ हूणों को खदेड़ता हुआ स्कन्दगुप्त उनके एशियाई प्रदेशों में भी घुस गया और उनके मूल प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर ली। इस प्रकार जिन

खूँखार हूणों के सामने ईरान व रोम (यूरोप में) ने सहज ही घुटने टेक दिए थे, उन्हीं की दूसरी शाखा को भारत में स्कन्दगुप्त के सामने घुटने टेकने पड़े। स्कन्दगुप्त ने हूणों के आक्रमण को रोककर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट होने से बचा लिया था। स्कन्दगुप्त की हूणों पर विजय निश्चय ही उसकी एक महान उपलब्धि थी। इस महान विजय के उपलक्ष्य में उसने भित्तरी में भगवान विष्णु की मूर्ति स्थापित की और उसके मन्दिर के विजय ध्वज भित्तरी-स्तम्भ पर अपना लेख अंकित करवाया। जूनागढ़ – लेख की छठी पंक्ति से मालूम होता है कि हूणों की शक्ति को कुचल दिए जाने के बाद भी उनका पश्चिमी भारत पर खतरा बना ही रहा। अतः स्कन्दगुप्त ने पश्चिम व पश्चिमोत्तर भारत के सभी प्रान्तों में सुयोग्य, सक्षम और बलवान गोप्ता (सैनिक प्रान्तीय शासकों) की नियुक्ति की। उसके लेखों से मालूम होता है कि पश्चिम में सौराष्ट्र (काठियावाड़) से लेकर पूर्व में बंगाल और उत्तर भारत से मध्यप्रदेश तक सभी प्रान्त अक्षुण्ण रूप से उसके राज्य में थे।

मूल्यांकन— स्कन्दगुप्त अपने महान वंश का अन्तिम महान सम्राट था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की तरह उसके लोक में श्विक्रमादित्यश्च व शदेवराजश्च की उपाधियों से प्रसिद्धि प्राप्त की। स्कन्दगुप्त, चंगेज खाँ व नेपोलियन की भाँति नृशंस व क्रूर साम्राज्यवादी विजेता नहीं था। वह एक उच्चादर्शी धर्म-विजेता था जिसने पराजित शत्रुओं के प्रति हमेशा दयाभाव से प्रेरित होकर व्यवहार किया। जूनागढ़-लेख में उसे यथार्थतः श्रुपति गुणः निकेत घोषित किया है और मंजूश्रीकल्प के लेखक ने उसे श्रेष्ठ, बुद्धिमान और उस अधर्म युग का धर्मवत्सल नृपति कहा है। राष्ट्र की सुरक्षा व शान्ति के लिए वह जीवनपर्यन्त पुरुषार्थ व पराक्रम करता रहा, इसीलिए उसके बहुत से सिक्कों में उसे शर्माजीतश्च व शर्मादित्यश्च विरुदों से अलंकृत किया गया है।

स्कन्दगुप्त ने पर्णदत्त नाम के व्यक्ति को सौराष्ट्र देश का गोप्ता नियुक्त किया था तथा पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को गिरिनार का नगरपाल नियुक्त किया। चक्रपालित के समय वर्षाकाल में मौर्यकालीन सुदर्शन झील, जिसे चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रान्तीय शासक पुष्यगुप्त ने निर्मित करवाई थी और जिस झील से अशोक के राज्यपाल तुशाष्य ने नहर निकलवाई थी, अतिवृष्टि के कारण एक दिन खण्डित हो गई। इस घटना से पूर्व 150 ई. में भी उज्जयिनी के महाक्षत्रप रुद्रदामन के समय अतिवृष्टि के कारण झील का बाँध टूट गया था, जिसका उसने जीर्णोद्धार करवाया था। चक्रपालित के समय पर झील के खण्डित होने से चारों ओर जल ही जल फैल गया था। इस अवसर पर चक्रपालित ने राज्य तथा नगर की प्रजा की सुरक्षार्थ, निष्ठा के साथ अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। चक्रपालित ने अत्यधिक धन व्यय करके इस झील का पुनर्निर्माण कराया। सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण होने पर चक्रपालित उसके निकट गिरिनार के ऊपर चक्रभूत (चक्र धारण करने वाले) नाम से विष्णु भगवान के एक विशाल मन्दिर का भी निर्माण करवाया।

स्कन्दगुप्त अपने पूर्वजों की भाँति विष्णु का उपासक था। विष्णु के साथ-साथ

प्राचीन भारतीय इतिहास

अन्य देवी-देवताओं की भी पूजा प्रचालित थी। ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ दूसरे धर्मों को समान रूप से राज्य की तरफ से पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी। स्कन्दगुप्त के काहीम (गोरखपुर जिले में) लेख के अनुसार मद्र ग्राम के एक जैन पण्डित ने काहीम ग्राम में जैन तीर्थकरों की पाँच भव्य मूर्तियाँ (आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर) स्थापित की थीं।

यद्यपि स्कन्दगुप्त ने अपने शासन के आरम्भ में हूणों को भारत से खदेड़ दिया था किन्तु हिन्दुकुश के दक्षिण में हूणों का जमघट हो गया था, जिससे एक स्थायी संकट उत्पन्न हो गया था। स्कन्दगुप्त के मिश्र धातु के सिक्कों से पता चलता है कि पश्चिमोत्तर सीमा पर उनकी बाढ़ को रोकने के लिए उसे पानी की तरह धन बहाना पड़ा। आन्तरिक एवं बाह्य कठिनाइयों के बावजूद वह अपने साम्राज्य की रक्षा करने में समर्थ रहा। उसकी मृत्यु 467 ई. के लगभग हुई गुप्तों का अवसान काल

महान गुप्त वंश के दिग्जिवयी, यशस्वी एवं श्रेष्ठ सम्राटों की श्रृंखला में स्कन्दगुप्त अन्तिम सम्राट हुआ। दुर्भाग्य से स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी राजाओं में पूर्ववर्ती गुप्त सम्राटों जैसा कोई नहीं हुआ। फलस्वरूप उनके समय में सौराष्ट्र तथा पश्चिमी मालवा साम्राज्य से निकल गए। स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों की भीतरी दुर्बलता तथा बाहरी आक्रमणों के कारण गुप्तों की शक्ति क्षीण होने लगी। कुछ विद्वानों का मत

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

2.59

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

260

है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु के साथ ही गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। किन्तु यह सही नहीं है। स्कन्दगुप्त के उत्तरकालीन गुप्त राजाओं के अभिलेखों व सिक्कों से प्रकट होता है कि सौराष्ट्र और पश्चिमी मालवा निकल जाने पर भी शेष प्रदेश छठी शती के प्रारम्भ तक गुप्तों के शासनाधिकार में ही रहे। परवर्ती गुप्त सम्राटों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

पुरुगुप्त (467 ई. – 468 ई.) स्कन्दगुप्त के बाद उसका सौतेला भाई पुरुगुप्त सिंहासन पर आसीन हुआ। जब पुरुगुप्त सिंहासन पर बैठा तो वह वृद्धावस्था को पहुँच चुका था। सम्भवतः इसी कारण उसका राज्यकाल बहुत ही अल्पकालीन रहा। पुरुगुप्त के समय में सौराष्ट्र व पश्चिमी मालवा गुप्त शासन से निकल गए। मन्दसौर— अभिलेख से ज्ञात होता है कि मालवा के उपरि गोविन्दगुप्त ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर पुरुगुप्त को सम्राट मानने से इन्कार कर दिया। गोविन्दगुप्त गुप्तकाल का राजकुमार तथा कुमारगुप्त प्रथम का अनुज था। अतः

स्पष्ट हैं कि स्कन्दगुप्त के बाद पुरुगुप्त व उसके पुत्र नरसिंहगुप्त के समय में गुप्त राजपुत्रों के आंतरिक विद्रोहों से गुप्तों की केन्द्रीय शक्ति निर्बल पड़ने लग गई जिसके फलस्वरूप वाकाटकों की बन आयी और नरेन्द्रसेन तथा उसके पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय ने गुप्तों के मालवा व गुजरात आदि प्रदेशों पर आधिपत्य स्थापित कर लिया । बालाघाट – ताम्रपत्रों में नरेन्द्रसेन को कोसल, मेकल व मालवा का अधिपति घोषित किया गया है, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय तक गुप्त साम्राज्य के अंग थे । वाकाटकों के विद्रोह से प्रोत्साहित होकर गुजरात में काठियावाड़ का गुप्त सेनापति भटार्क भी स्वतंत्र हो गया तथा वल्लभी में अपने मैत्रकवंश का वंशानुगत शासन कायम कर दिया । इससे स्पष्ट है कि दूर प्रान्तों में असन्तोष और स्वतंत्र होने की भावना बलवती होती जा रही थी । पुरुगुप्त के सिक्कों पर प्रकाशादित्यश् और श्री विक्रमश् उपाधियाँ पायी जाती हैं ।

□

नरसिंहगुप्त बालादित्य (468 ई.— 472 ई.) पुरुगुप्त के बाद उसका पुत्र नरसिंहगुप्त गद्दी पर बैठा । उसके सिक्कों पर उसकी शबालादित्यश् उपाधि मिलती है । नरसिंहगुप्त बालादित्य का कोई अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिए उसके राज्यकाल का कोई वृत्तान्त उपलब्ध नहीं है । गुप्त वंश का वह पहला राजा था, जिसने बौद्ध धर्म ग्रहण किया । कुछ विद्वानों ने पुरुगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त बालादित्य और ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित हूणराज मिहिरकुल के विजेता बालादित्य को एक ही व्यक्ति माना है, किन्तु नरसिंहगुप्त बालादित्य और ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित बालादित्य दो पृथक् व्यक्ति थे । बालादित्य मानुगुप्त बालादित्य था जो नरसिंहगुप्त से लगभग पचास वर्ष बाद गुप्त सिंहासन पर बैठा था ।

—

कुमारगुप्त द्वितीय (472 ई.—475 ई.) भित्तरी — मुद्रा व मंजुश्रीमूलकल्प के अनुसार नरसिंहगुप्त बालादित्य के पश्चात् उसको महादेवी मित्रदेवी से उत्पन्न पुत्र कुमारगुप्त सिंहासन पर बैठा । उसके सिक्कों पर के लेख से ज्ञात होता है कि उसकी उपाधि शर्मादित्यश् थी । कुमारगुप्त द्वितीय के समय गुप्त साम्राज्य पश्चिम में मालवा और पूर्व में गौड़ (बंगाल) तक विस्तृत था । कुमारगुप्त द्वितीय के सिक्के बिहार व उत्तरप्रदेश की अपेक्षा बंगाल में अधिक संख्या में मिले हैं । बन्धुवर्मन के मन्दसौर— अभिलेख के विवरण से प्रकट होता है कि मालवा प्रदेश भी कुमारगुप्त द्वितीय के प्रभुत्व में रहा था । इस अभिलेख के अनुसार कुमारगुप्त प्रथम के समय दासपुर में बसे रेशम के बुनकरों की श्रेणी ने वहाँ एक विशाल सूर्य—मन्दिर बनवाया था । कुमारगुप्त प्रथम के बाद अन्य राजाओं (स्कन्दगुप्त, पुरुगुप्त व नरसिंहगुप्त) के समय में उसके जीर्णोद्धार का कार्य कुमारगुप्त द्वितीय के समय सम्पन्न हुआ । कुमारगुप्त का पिता यद्यपि बौद्ध धर्म को मानने वाला था, किन्तु वह स्वयं अपने पूर्वजों की तरह वैष्णव धर्म को मानने वाला था । इसीलिए भित्तरी — मुद्रा लेख में उसके नाम के साथ श्परमभागवतश् की उपाधि प्रयुक्त हुई है ।

प्राचीन भारतीय इतिहास

विष्णुगुप्त (475 ई.- 477 ई.) कुमारगुप्त द्वितीय का एक अभिलेख सारनाथ में मिला है, जिससे प्रकट होता है कि वह 473-74 ई. में राज्य करता था। नालन्दा में प्राप्त एक मुद्रा से यह भी ज्ञात होता है कि उसके बाद उसका पुत्र विष्णुगुप्त (सिक्कों पर उल्लिखित चन्द्रादित्य) सिंहासन पर बैठा था। सारनाथ – अभिलेख से ज्ञात होता है कि 477 ई. में गुप्त राजा बुद्धगुप्त राज्य करता था। इस विवरण से स्पष्ट है कि बुद्धगुप्त से पूर्व 473 ई. से 477 ई. के बीच कुमारगुप्त द्वितीय और उसके पुत्र विष्णुगुप्त ने मिलकर राज्य किया। इसके अतिरिक्त विष्णुगुप्त का हमें कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता है।

बुद्धगुप्त (477 ई.-495 ई.) विष्णुगुप्त के पश्चात् बुद्धगुप्त सिंहासन पर बैठा था। नालन्दा में प्राप्त बुद्धगुप्त की राजमुद्रा से प्रकट होता है कि नरसिंहगुप्त की तरह वह भी पुरुगुप्त का ही पुत्र था। सारनाथ – अभिलेख तथा बनारस-अभिलेख से प्रकट होता है कि कुमारगुप्त द्वितीय के समय में सम्भवतया काशी गुप्त साम्राज्य की प्रमुख नगरी थी और काशी जनपद गुप्तों का मुख्य गृह-प्रान्त था। बुद्धगुप्त के अभिलेखों व सिक्कों पर अंकित विवरण से स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त राजाओं में बुद्धगुप्त प्रमुखतः एक शक्तिशाली राजा हुआ, जिसका राज्य मध्यभारत में पूर्वी मालवा से लेकर पूर्व में पुण्ड्रवर्धन अथवा उत्तरी बंगाल तक प्रसारित था और साम्राज्य के मध्यवर्ती प्रदेश काशी, अयोध्या कौशाम्बी व प्रयाग उसके शासनाधीन थे। उत्तरवर्ती गुप्त राजाओं में बुद्धगुप्त लड़खड़ाते गुप्त साम्राज्य को पुनः एकता के सूत्र में आबद्ध व संगठित करने में यथेष्ट सफल रहा। सारनाथ व बनारस के अतिरिक्त बुद्धगुप्त के समय के अभिलेख पहाड़पुर (उत्तरी बंगाल), दामोदरपुर (उत्तरी बंगाल), नन्दपुर (मुंगेर) तथा एरण (सागर – मध्यप्रान्त) में प्राप्त हुए हैं। सम्भवतया बुद्धगुप्त की उपाधि Γ श्रक्राशादित्य थी।

वैण्यगुप्त (495 ई.-508 ई.) बुद्धगुप्त के बाद वैण्यगुप्त गद्दी पर बैठा। बुद्धगुप्त और वैण्यगुप्त के बीच क्या सम्बन्ध था, इसका हमें पता नहीं चलता। गुनैधर (पूर्वी बंगाल के समतर प्रान्त में) ताम्रपत्र के अनुसार वैण्यगुप्त ने बुद्धगुप्त के बाद और भानुगुप्त के पूर्व राज्य किया। ह्वेनसांग के अनुसार बुद्धगुप्त के पश्चात् राज्य करने वाले जिस तथागत गुप्त का उल्लेख किया गया है उससे अभिप्राय वैण्यगुप्त से ही है। तथागतगुप्त नाम से अनुमान होता है कि शायद वैण्यगुप्त ने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर यह नाम धारण किया हो, यद्यपि उसके बौद्ध होने का कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वैण्यगुप्त के सिक्कों से मालूम होता है कि वह भी गुप्त सम्राटों की पंक्ति में प्रमुख स्थान रखता है। उसके सिक्कों पर गरुडध्वज अंकित है जिससे उसका वैष्णव होना अनुमानित होता है प्रमाण किन्तु गुनैधर लेख में उसे शैव कहा गया है। प्रतीत होता है कि गरुडध्वज राजचिन्ह के रूप में सिक्कों पर अंकित किया गया है। अतः गरुडध्वज का अंकन उसके वैष्णव होने का प्रमाण नहीं माना जा सकता।

भानुगुप्त बालादित्य (508 ई.-530 ई.) एरण स्तम्भ – अभिलेख में वैण्यगुप्त अथवा ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित तथागत गुप्त के पश्चात् भानुगुप्त गुप्ता सिंहासन पर बैठा । ह्वेनसांग ने तथागतगुप्त के उत्तराधिकारी का नाम बालादित्य राज दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शबालादित्यश राजा का नाम नहीं, उपाधि थी। सम्भवतः भानुगुप्त ने अपने पूर्वज नरसिंहगुप्त बालादित्य के अनुकरण पर बालादित्य उपनाम उपाधि के रूप में ग्रहण किया था। अतः ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित बालादित्य से अभिप्राय मानुगुप्त बालादित्य से है। बुद्धगुप्त के पाषाण स्तम्भ लेख तथा हूण राजा तोरमाण के एरण में प्राप्त पाषाण – वराह-अभिलेख से प्रकट होता है कि पूर्वी मालवा वैण्यगुप्त या भानुगुप्त के समय गुप्तों के अधिकार से निकलकर हूणों से अधिकार में चला गया था । वैण्यगुप्त के अभिलेखों में हूणों का कोई संकेत नहीं मिलता। अतः वैण्यगुप्त के बाद ही हूण मध्य भारत में घुसे थे। गोपराज के पाषाण-अभिलेख के विवरणानुसार सामन्त राजा गोपराज ने भानुगुप्त के साथ शत्रुओं से युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त की थी। ये शत्रु हूण थे जो तोरमाण के नेतृत्व में मध्य भारत तक घुसे आये थे। दुर्भाग्य से भानुगुप्त का प्रतिरोध सफल नहीं हो सका, फलस्वरूप पूर्वी मालवा पर हूणों का आधिपत्य हो गया। तोरमाण की विजय के फलस्वरूप भानुगुप्त को शायद उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार कर लेनी पड़ी, क्योंकि ह्वेनसांग ने लिखा है कि बालादित्य (भानुगुप्त) मिहिरकुल (तोरमाण का पुत्र व उत्तराधिकारी) को राजस्व दिया करता था। मंजुश्रीमूलकल्प के विवरण से भी प्रकट होता है कि हूण मालवा विजय के पश्चात् मगध तक बढ़ गए थे। गोपराज के एरण-स्तम्भ लेख से मालूम होता है कि तोरमाण ने पूर्वी मालवा पर 510-511 ई. में आधिपत्य किया था। लगभग 512-13 ई. में तोरमाण की मृत्यु हो गई तोरमाण के बाद उसका पुत्र मिहिरकुल राजा हुआ। मिहिरकुल के ग्वालियर अभिलेख से मालूम होता है कि 513 ई. से 528 ई. तक मिहिरकुल का मध्य भारत पर पूर्ण आधिपत्य रहा और उस समय उत्तरी भारत में गुप्तों की जगह वही एकमात्र सर्वशक्तिशाली राजा था । ह्वेनसांग ने लिखा है कि हूणों के अत्याचारों से तंग आकर बालादित्य ने हूणराज को राजस्व देने से इनकार कर दिया। भानुगुप्त के सैनिकों ने मिहिरकुल को बन्दी बनाकर बालादित्य के समक्ष उपस्थित किया। बालादित्य ने

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसि-प्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

261

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसि-प्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

262

मिहिरकुल को मरवाने का निश्चय किया, किन्तु राजमाता ने बीच-बचाव कर

प्राचीन भारतीय इतिहास

उसे मुक्त करवा दिया। मुक्त होने पर मिहिरकुल कश्मीर चला गया जहाँ के राजा ने हूणराज का स्वागत किया। कुछ साल बाद मिहिरकुल ने कश्मीर के राजा को मार डाला और उसका पूरा राज्य ही अपने अधिकार में कर लिया ! राजतरंगिणी में भी मिहिरकुल को कश्मीर का राजा बताया गया द्य भानुगुप्त ने मिहिरकुल को पराजित कर यद्यपि मालवा, मध्यभारत और मगध में हूणों की सत्ता समाप्त कर दी थी, किन्तु वह गुप्त राजशक्ति को पुनः संगठित करने तथा गुप्त साम्राज्य को विघटित होने से नहीं बचा सका ।

गुप्त साम्राज्य की समाप्ति – गुप्त साम्राज्य के अवसानकालीन शासकों में वज्र का नाम सबसे अन्तिम स्थान पर दिया जाता है। ह्वेनसांग के अनुसार वज्र अथवा गोपचन्द्र भानुगुप्त बालादित्य का लड़का था। सम्भवतः वज्र, भानुगुप्त के बड़े लड़के प्रकटादित्य का छोटा भाई था। यशोवर्मन विष्णुवर्द्धन के मन्दसौर – अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यशोवर्मन एक अद्वितीय दिग्विजेता हुआ, जिसकी प्रचण्डता के समक्ष हूणों के साथ-साथ गुप्तों की राजश्री भी हतप्रभ हो चली थी तथा लड़खड़ाता हुआ गुप्त साम्राज्य उसकी विजय के वेग से दबकर छिन्न-भिन्न हो गया। सम्भवतः अन्तिम गुप्त सम्राट जिसे यशोवर्मन के हाथों पराजित होना पड़ा वह ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित भानुगुप्त का पुत्र वज्र अथवा गोपचन्द्र ही था। यशोवर्मन के हाथों पराजित होने पर भी गुप्त राजवंश का पुराना गौरव कुछ समय तक टिमटिमाता रहा। परिव्राजक वंश के महाराजा संक्षोम के खोह – ताम्रपत्र– अभिलेख (529–30 ई.) तथा उच्चकल्प महाराज शर्व्वनाथ के अभिलेख (534 ई.) में हम गुप्तों का सार्वभौमिक सत्ता के रूप में उल्लेख पाते हैं। अतः स्पष्ट है कि 534–35 ई. तक गुप्त राजाओं का उत्तरी भारत के राज्यों पर कुछ-न-कुछ प्रभाव बना ही रहा। साथ ही दामोदरपुर – ताम्रपत्र– अभिलेख (544 ई.) में एक गुप्त सम्राट का स्पष्ट उल्लेख है, फिर भी अब गुप्त साम्राज्य के दिन समाप्त होने पर थे। फलतः 550 ई. तक गुप्तों की सत्ता पूर्णतया समाप्तप्रायः हो गई और उनकी जगह उत्तरी भारत में तीन नये राजवंश उदित हो गए – (1) मगध व मालवा का परवर्ती गुप्त राजवंश, (2) कान्यकुब्ज व जौनपुर के मौखरी, तथा (3) थानेश्वर व कन्नौज के पुष्यभूति द्य गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण

चन्द्रगुप्त प्रथम ने जिस साम्राज्य की स्थापना की थी, वह साम्राज्य समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सतत परिश्रम तथा कार्यकुशलता के कारण उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच गया था। स्कन्दगुप्त योग्य गुप्त सम्राटों की श्रृंखला में अन्तिम नरेश था, जिसके प्रताप का सूर्य समस्त उत्तरी भारत पर चमकता रहा। यद्यपि विदेशी आक्रमणकारी हूणों ने उसे निर्बल समझ कर गुप्त साम्राज्य पर प्रहार किया, किन्तु स्कन्दगुप्त ने इन विदेशी आक्रमणकारियों को साम्राज्य से बाहर खदेड़ दिया तथा विरासत में मिले अपने साम्राज्य को ज्यों-का-त्यों बनाये रखा। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद गुप्त साम्राज्यों की अवनति प्रारम्भ हो गई। पाँचवीं शती के मध्य तक गुप्तों की सुविस्तृत साम्राज्य

की प्रभा क्षीण होने लगी तथा स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी धीरे-धीरे अपना साम्राज्य खोने लगे। अन्तिम समय में उनका राज्य मगध में सीमित रह गया। ऐसे शक्तिहीन एवं अकर्मण्य राजाओं का अन्त स्वाभाविक ही था। अतः उन कारणों पर विचार समीचीन होगा, जिनसे गुप्त साम्राज्य का अन्त हुआ। गुप्त साम्राज्य के पतन के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे—

1. बाह्य आक्रमण राजनीति का यह एक साधारण सिद्धान्त है कि शत्रु किसी शासक पर उसी समय आक्रमण करता है जब वह उसे शक्तिहीन समझता है। शक्तिशाली राज्य पर आक्रमण कर अपना विनाश कोई मोल नहीं लेता। अतः राजनीति के इस सिद्धान्त के अनुसार बाहरी शत्रु का आक्रमण उस राज्य की निर्बलता का सूचक है। स्कन्दगुप्त के समय गुप्त साम्राज्य पर हूणों ने आक्रमण किया, किन्तु उस शक्ति सम्पन्न गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण कर हूणों ने भूल की। फलस्वरूप स्कन्दगुप्त के हाथों उन्हें पराजित होना पड़ा। किन्तु स्कन्दगुप्त के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों के समय में आन्तरिक विद्रोह से गुप्त राजसत्ता के कमजोर पड़ने पर हूणों ने पुनः भारत की सीमाओं का अतिक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। भानुगुप्त और बालादित्य के समय हूण राजा तोरमाण का

आक्रमण हुआ। एरण नामक स्थान पर भानुगुप्त व तोरमाण की सेनाओं में भीषण संग्राम हुआ, जिसमें भानुगुप्त का सामन्त गोपराज मारा गया तथा भानुगुप्त पराजित हुआ। फलस्वरूप पूर्वी मालवा पर हूणों का अधिकार हो गया। मन्जुश्रीमूलकल्प के अनुसार हूण मालवा की विजय के पश्चात् मगध तक बढ़ गए थे। तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल के ग्वालियर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि 513 ई. से 528

तक मिहिरकुल का मध्यभारत पर पूर्ण आधिपत्य रहा और उस समय उत्तरी भारत में गुप्तों की जगह, वही एकमात्र सर्वशक्तिशाली राजा था। यद्यपि भानुगुप्त ने लगभग 529-30 ई. में हूणों को पुनः पराजित कर दिया, किन्तु वह गुप्त राजशक्ति को पुनः दृढ़ व संगठित करने तथा गुप्त साम्राज्य को विघटित होने से नहीं बचा सका। इन विवरणों से ज्ञात होता है कि हूणों तथा गुप्तों में सर्वदा शत्रुता का भाव रहा। हूणों के निरन्तर आक्रमणों से गुप्त साम्राज्य की नींव खोखली हो गई तथा उनके आक्रमणों ने गुप्त साम्राज्य के पतन में योगदान दिया।

2. आन्तरिक दुर्बलता गुप्त सम्राट पूर्व में शूरवीर थे तथा उनका प्रताप सर्वत्र व्याप्त था। समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की दिग्विजय के कारण समस्त भारतीय शासकों को उनका लोहा मानना पड़ा था। स्कन्दगुप्त ने छोटी अवस्था में ही अपने बल का परिचय दिया था। ऐसे वंश में उत्पन्न होने पर भी स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों की स्थिति में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रबल हो गई और सामन्त तथा प्रान्तीय शासक स्वतंत्र होने लगे। सेनापति भट्टारक ने बल्लभी (सौराष्ट्र में भावनगर के निकट) में स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर मैत्रकवंश की नींव डाल दी

प्राचीन भारतीय इतिहास

और उसके उत्तराधिकारियों ने गुप्त साम्राज्य से अपना सम्बन्ध—विच्छेद कर लिया। इसी प्रकार सामन्त लक्ष्मणगुप्त के लेख में गुप्त सम्राट का उल्लेख नहीं है। सम्भवतः उसने भी 478 ई. के लगभग गुप्त सम्राट से अपना सम्बन्ध—विच्छेद कर लिया था। सामन्त परिव्राजक महाराज हस्तिन भूमिदान—पत्र अपने नाम से प्रेषित करने लगा तथा उसने अपने नाम के सिक्के भी चला दिए। हस्तिन के पुत्र संक्षोम के खोह — ताम्रपत्र (529 ई.) में तथा सामन्त राजा उच्चकल्प महाराजा शर्ववनाथ के खोह — ताम्रपत्र (513 ई.) में गुप्त सम्राट का उल्लेख नहीं है। अतः हूणों का आक्रमण गुप्त साम्राज्य के आंतरिक कलह और विद्रोह से उत्पन्न दुर्बलता का ही प्रतिफल था। मालवराज यशोवर्मन ने हिमालय प्रदेश से लेकर पश्चिम में समुद्र पर्यन्त समस्त देश पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस यशोवर्मन के हाथ अन्तिम गुप्त सम्राट व भी पराजित हुआ। कन्नौज के मौखरियों ने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली। बंगाल में गौड़ वंश के शासक स्वतंत्र हो गए तथा दक्षिण में वाकाटक राज्यों पर भी गुप्तों के प्रभाव की इतिश्री हो गई। गुप्त सम्राटों की शक्ति इतनी क्षीण हो गई कि वे पुनः सँभल हो न सके। इस दुर्बलता का शत्रुओं ने लाभ उठाया और गुप्त साम्राज्य का अन्त हो गया।

3. कुशल पर राष्ट्र नीति का अभाव— किसी भी साम्राज्य की अखण्डता एवं सार्वभौमिकता शासक की कुशल पर राष्ट्र नीति पर भी निर्भर करती है। नीति के आचार्य चाणक्य ने राजकुमारों के लिए राजनीति की शिक्षा को एक आवश्यक अंग बताया है। अतः किसी भी शासक के लिए नीति तथा पर — राष्ट्र नीति में परिपक्व होना, राज्य संचालन के लिए आवश्यक होता है। पूर्व के गुप्त सम्राटों ने इस सिद्धान्त का समुचित रूप से पालन किया। समुद्रगुप्त ने पर राष्ट्र नीति का प्रयोग भिन्न—भिन्न प्रकार से किया। दक्षिणापथ के राज्यों को विजय करके भी उसने उनको अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया, कितने ही नष्ट राज्यों को पुनः स्थापित किया और पड़ोसी विदेशी राज्यों से मित्रता स्थापित की। इस नीति के कारण समुद्रगुप्त का प्रभाव सुदूर देशों तक विस्तृत हो गया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी मालवा व सौराष्ट्र एवं कुंतल नरेशों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। फलस्वरूप गुप्त साम्राज्य न केवल सुरक्षित हो गया बल्कि उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। उसके उत्तराधिकारी कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त ने अपने पूर्वजों की नीति का अवलम्बन कर अपने पैतृक साम्राज्य की रक्षा की। किन्तु स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों में इन गुणों का अभाव था। वे न तो शक्तिशाली थे और न नीति—निपुण। शक्ति और नीति— दोनों के अभाव में गुप्त साम्राज्य लड़खड़ाने लगा। अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित सम्बन्धों को स्थायी रखना तो दूर रहा, उत्तरवर्ती गुप्त राजाओं ने उनसे शत्रुता मोल ले ली। वाकाटक नरेश नरेन्द्रसेन द्वितीय, चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

‘मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

263

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

‘मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

264

गुप्त का पौत्र था। नरेन्द्रसेन तथा मालव नरेश के साथ शत्रुता का व्यवहार हो गया था। वाकाटक राजाओं ने जिस समय मालवा पर विजय प्राप्त की, उस प्रदेश का शासक संभवतः गुप्त वंशज था। इससे स्पष्ट है कि कालान्तर में गुप्त नरेशों का व्यवहार सौहार्द्रपूर्ण नहीं रहा, जिसके फलस्वरूप साम्राज्य में भीतर ही जगह-जगह गुप्त राजाओं के शत्रु प्रकट होने लगे। सीमा पर स्थित शासकों के प्रति भी ऐसी ही नीति का अवलम्बन किया गया, जिससे बाहरी आक्रमणों का मार्ग प्रशस्त हो गया। अतः स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों की पर – राष्ट्र नीति ने गुप्त साम्राज्य के पतन में योगदान दिया।

4. सीमा रक्षा की अवहेलना – स्कन्दगुप्त के काल में हूणों ने भारत पर चढ़ाई की थी, किन्तु स्कन्दगुप्त ने हूणों की बलशाली सेना को हराकर भगा दिया। डॉ. जायसवाल के अनुसार इस घटना के बारह वर्ष बाद हूण, शक और पारसनों ने भारत पर पुनः आक्रमण किया, किन्तु वे पुनः पराजित हुए और स्कन्दगुप्त ने तीनों जाति शासकों को बन्दी बनाकर मरवा डाला। इस कथानक से यह संकेत मिलता है कि स्कन्दगुप्त को हूणों से एक से अधिक बार युद्ध करना पड़ा था, किन्तु सबमें वह विजयी रहा। जूनागढ़ अभिलेख की छठी पंक्ति से मालूम होता है कि कुचल दिए जाने पर भी हूणों का पश्चिमी भारत पर खतरा बना ही रहा जिस कारण स्कन्दगुप्त को पश्चिमी भारत के लिए सुयोग्य, सक्षम और बलशाली गोप्त (गवर्नर) नियुक्त करने पड़े ताकि साम्राज्य की सीमा की रक्षा की जा सके। किन्तु स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों ने कभी भी सतलज के पार पश्चिमी प्रदेशों को जीतने का प्रयत्न ही नहीं किया और न उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की सुरक्षा के लिए कोई ठोस कार्यवाही की। फलस्वरूप भानुगुप्त के समय हूणों को पुनः भारत पर आक्रमण करने का अवसर मिल गया। अतः गुप्त शासकों की सीमा रक्षा की अवहेलना के कारण देश हूणों की बर्बरता का शिकार हुआ। सीमा रक्षा की अवहेलना के कारण सीमान्त प्रान्त के शासक स्वतन्त्र होने की चेष्टा करने लगे, इससे गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और अन्त में मालवराज यशोवर्मन के प्रहार से ध्वस्त हो गया।

कृ

5. बौद्ध धर्म का प्रभाव— भारतीय इतिहास में गुप्तकाल हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए विख्यात है। गुप्त सम्राटों ने प्राचीन वैदिक धर्म को पुनः जागृत किया। विदेशी शकों को पराजित कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शिविक्रमादित्यश का प्राचीन विरुद्ध धारण किया। समुद्रगुप्त व चन्द्रगुप्त द्वितीय ने वैदिक धर्म के अनुकूल अश्वमेध यज्ञ भी किए। गुप्त शासकों की यह विशेषता थी कि वे वैष्णव

प्राचीन भारतीय इतिहास

धर्म के अनुयायी थे। गुप्त-अभिलेख व सिक्कों में उनके लिए शपरमभागवतः की उपाधि मिलती है। वैष्णव धर्म के अनुयायी होते हुए भी वे अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु थे। वैष्णव धर्म के अनुयायी होने के कारण वे सभी सामरिक प्रवृत्ति के मनुष्य थे। किन्तु स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद वैष्णव धर्म राजधर्म नहीं रह गया। भित्ती- राजमुद्रा में उल्लिखित वैष्णव उपाधि शपरमभागवतः के अनन्तर किसी भी लेख में इस पदवी का प्रयोग नहीं हुआ है। संभव है स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ने लग गया था। नरसिंहगुप्त बालादित्य, बुद्धगुप्त तथा वैष्णवगुप्त (तथागतगुप्त) ने तो बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। बौद्ध धर्म को स्वीकार करने से उन पर अहिंसा का गहरा प्रभाव पड़ा तथा उनकी सामरिक प्रवृत्ति नष्ट होने लगी। सामरिक प्रवृत्ति का ह्रास होने से उनमें दुर्बलता आने लगी। फलस्वरूप विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। आन्तरिक दुर्बलता एवं विदेशी जातियों के आक्रमण ने गुप्त साम्राज्य की अट्टालिका को ध्वस्त करने में अद्वितीय योगदान दिया।

6. योग्य उत्तराधिकारियों का अभाव— किसी भी साम्राज्य की स्थिरता शासक की योग्यता एवं व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। जब तक शासक शक्तिशाली रहता है साम्राज्य की कोई शक्ति सिर उठाने का साहस नहीं कर सकती। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। ऐसे विशाल साम्राज्य को बनाये रखने के लिए केन्द्रीय शक्ति का दृढ़ होना आवश्यक है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तराधिकारी कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त पर्याप्त शक्तिशाली थे, अतः गुप्त साम्राज्य की अखण्डता बनी रही। किन्तु स्कन्दगुप्त के बाद जितने भी गुप्त शासक हुए वे सर्वथा अयोग्य एवं दुर्बल थे। उनमें अपने पूर्वजों के साम्राज्य को बनाये रखने की सामर्थ्य नहीं थी। गुप्त शासकों को अयोग्यता एवं दुर्बलता से उत्साहित होकर वाकाटकों ने अपनी राज्य प्रसारण नीति को आगे बढ़ाया, पुष्यमित्रों के विद्रोह से लाभ उठाकर मालवा के गवर्नर घटोत्कच गुप्त ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी तथा 467-68 ई. के लगभग मालवा के उपरि गोविन्दगुप्त ने भी अपने को स्वतंत्र घोषित कर पुरुगुप्त को सम्राट मानने से इन्कार कर दिया। स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों में इतनी योग्यता और क्षमता नहीं थी कि वे इन विद्रोहियों को कुचल सकें। वस्तुतः इन विद्रोहियों ने अपना सिर तभी उठाया जबकि उन्होंने देख लिया कि गुप्त सिंहासन पर अयोग्य शासक आसीन है। अतः स्कन्दगुप्त के पश्चात् योग्य उत्तराधिकारियों के अभाव के कारण भी गुप्त साम्राज्य अपनी अखण्डता बनाये नहीं रख सका।

इस प्रकार जिस गुप्त साम्राज्य का प्रभाव शताब्दियों तक समस्त भारत पर विस्तृत था, उसका छठी शताब्दी के मध्य भाग तक पतन हो गया। गुप्त साम्राज्य के पतन के उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य भी छोटे-छोटे कारण हैं, जिन्होंने इस कार्य में सहयोग दिया। गुप्तों में उत्तराधिकार का कोई मान्य नियम नहीं था, अतः शासक की मृत्यु के बाद सिंहासन-प्राप्ति के लिए संघर्ष छिड़ जाता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय व रामगुप्त में संघर्ष हुआ और कुछ विद्वानों के

अनुसार स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त में भी कलह हुआ। ये गृहकलह साम्राज्य के लिए बड़े घातक सिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त गुप्त साम्राज्य अत्यन्त विशाल था तथा राज्य में पर्याप्त आवागमन के साधनों का अभाव था। अतः दीर्घकाल तक साम्राज्य में सुरक्षा और शान्ति बनाये रखना सुलभ कार्य नहीं था। अतः जब केन्द्र में दुर्बल शासकों की श्रृंखला आरम्भ हुई तो उनके लिए विशाल साम्राज्य पर आधिपत्य बनाये रखना असम्भव हो गया। फलस्वरूप गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

फाह्यान

प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल में भारत आया था। फाह्यान जब तीन वर्ष की आयु का था तभी उसे बौद्ध बना दिया गया था। उसका मूल नाम कुंग था। फाह्यान उसका धार्मिक नाम था, जिसका अर्थ होता है श्धर्मप्रकाश। फाह्यान ने अपने जीवनकाल में अनेक बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उसकी बचपन से ही भारत भ्रमण की तीव्र इच्छा थी। अन्त में 65 वर्ष की आयु में चांगन से वह भारत की यात्रा के लिए निकल पड़ा। बौद्ध ग्रन्थों की खोज तथा उनके अध्ययन हेतु उसने यह यात्रा की थी। उसके साथ नौ या दस भिक्षु और भी थे। गोबी मरुस्थल को पार कर वह खोतान, पामीर, स्वात और गान्धार होता हुआ पेशावर पहुँचा। वहाँ उसने अनेक बौद्ध स्मारक देखे, फिर पंजाब में प्रविष्ट हुआ और मथुरा, कन्नौज, श्रावस्ती, रामग्राम, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली, पाटलिपुत्र, नालन्दा आदि नगरों का भ्रमण करता रहा। फिर दक्षिणी भारत होते हुए एक व्यापारी जहाज द्वारा लंका के लिए प्रस्थान किया। कुछ दिनों पश्चात् वह सुमात्रा और जावा होता हुआ, चौदह वर्ष पश्चात् समुद्री मार्ग से अपने देश लौट गया। उसके कुछ साथी वापस लौट गए थे, कुछ की मृत्यु हो गई थी और कुछ भारत में ही रह गए थे। केवल फाह्यान ही मार्ग में तूफान आदि की तमाम मुसीबतों का सामना करता हुआ अपनी यात्रा पर आगे बढ़ता रहा था। अपने भ्रमण काल में फाह्यान ने अनेक बौद्ध ग्रन्थों की खोज की, कई हस्तलिखित लिपियों की नकल की तथा अनेकों का अनुवाद किया। अपनी इस भारत यात्रा की समाप्ति के पश्चात् उसने अपनी यात्राओं का वर्णन लिखा। वस्तुतः वह अपने कार्य में इतना तल्लीन रहा कि कई अन्य वस्तुओं की ओर उसका ध्यान ही नहीं गया यहाँ तक कि उसने अपने यात्रा – विवरण में तत्कालीन सम्राट के नाम तक का उल्लेख नहीं किया है। फिर भी फाह्यान का यह यात्रा वर्णन मध्य एशिया भारत और हिन्द महासागर के भूगोल, वहाँ के रीति-रिवाजों और इतिहास का तत्कालीन वर्णन है, जिससे हमें भारत की तात्कालिक राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक दशा का ज्ञान प्राप्त होता है।

1. राजनैतिक दशा— फाह्यान ने चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की राजनैतिक दशा का अत्यन्त ही सुन्दर वर्णन किया है। वह लिखता है कि प्रजा समृद्ध एवं सुखी थी तथा अतिशासन के प्रतिबन्धों से मुक्त थी। लोगों को अपने गृह की रजिस्ट्री नहीं करानी पड़ती थी और न मजिस्ट्रेटों के यहाँ हाजिरी ही देनी पड़ती थी।



प्रजा के आवागमन में राजा किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था । यदि वे कहीं जाना चाहें तो जाते हैं, यदि वे कहीं रुकना चाहें तो रुकते हैं । व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था । दण्ड विधान चीनी पद्धति के मुकाबले नरम था । शासन प्रबन्ध उदार नियमों

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

265

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

266

पर आधारित था । अपराधी अपने अपराधों के अनुपातों में भारी अथवा हल्का शुल्क अथवा जुर्माने से दण्डित होते थे । अपराधियों को शारीरिक यंत्रणाएं नहीं दी जाती थीं । यह महत्त्व की बात है कि प्राणदण्ड सर्वथा उठा दिया गया था । देशद्रोह के अपराधों को तथा बार-बार दस्युकर्म करने पर अंग-भंग का दण्ड अर्थात् अपराधी का दाहिना हाथ काट दिया जाता था । इसलिए राज्य में अपराधों बहुत ही कम होते थे । फाह्यान लिखता है कि उसने हजारों मील की यात्रा भारत में की, किन्तु कहीं भी उसको चोर और डाकू नहीं मिले । अतः राज्य के मार्ग सुरक्षित थे । कर अत्यन्त ही साधारण थे और प्रजा उन्हें सरलता से दे सकती थी । अर्थ का आधार भूमि-कर था, जो उपज का एक भाग लिया जाता था । किसान इस भूमि कर को अपनी इच्छानुसार नकद या धान के रूप में अदा कर सकते थे । राज्य कर्मचारी वैतानिक थे । साधारण और थोड़े मूल्य के चुकाने में कौड़ी का प्रयोग होता था । फाह्यान यह भी लिखता है कि प्रजा को सभी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध थीं । स्थान-स्थान पर धर्मशालाएँ तथा विश्रामगृह बने हुए थे, जहाँ यात्रियों के लिए भोजन आदि का यथोचित प्रबन्ध था । फाह्यान के विवरण से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित था । प्रजा शांति के वातावरण में सुखी थी । यद्यपि साधारण जनता की स्थिति संतोषजनक थी तथापि गया, कुशीनगर, कपिलवस्तु और श्रावस्ती नगर, जो कभी अपने वैभव का गौरव देख चुके थे, अब उजड़ गए थे ।

है

2. धार्मिक दशा— फाह्यान भारत में बौद्ध हस्तलिपियों के संग्रह तथा बुद्ध के सम्पर्क से पुनीत तीर्थों की यात्रा करने आया था । अतः उसके तात्कालिक धार्मिक दशा का स्वाभाविक रूप से उत्साहपूर्ण उल्लेख किया है । उसके कथनानुसार पूर्वी तुर्किस्तान, खोतान और काबुल में बौद्ध धर्म पूर्णतया प्रचलित था । पूर्वी तुर्किस्तान के लोग हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी थे । काबुल के लोग महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे । अतः फाह्यान ने मार्ग में हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों के भिक्षुओं को देखा था, जो मठों में अत्यन्त ही

अनुशासनपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। इन मठों की व्यवस्था के लिए भूमि दान में दी जाती थी तथा लोगों की इस धर्म के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। फाह्यान के अनुसार बंगाल और पंजाब में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार था। मथुरा में तो उसे पश्चिमी भारत के सभी जनपदों से अधिक बौद्ध धर्म के अनुयायी मिले। मथुरा में उसने बीस बिहार देखे, जिनमें तीस हजार से अधिक भिक्षु रहते थे। पश्चिम में स्थित भारतीय प्रदेशों के सभी राजा बौद्ध धर्म के कट्टर अनुयायी हैं। भिक्षुओं को भेंट चढ़ाते समय वे अपने ताज उतार लेते हैं तथा राज-परिवार और अपने मन्त्रियों सहित वे भिक्षुओं को अपने हाथों से भोजन परोसते हैं।¹⁶ किन्तु मध्य प्रदेश में यह धर्म लोकप्रिय नहीं था, क्योंकि इसके प्रमुख नगरों में उसने केवल एक या दो बिहार देखे और कहीं-कहीं तो उनका सर्वथा अभाव था। मध्य प्रदेश में ब्राह्मण धर्म का प्रभाव था और राजा स्वयं वैष्णव (परमभागवत) धर्मावलम्बी था, किन्तु वह अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु था और लोगों के धार्मिक आचार-व्यवहार में हस्तक्षेप नहीं करता था। ब्राह्मणधर्मियों तथा बौद्ध मतावलम्बियों में साधारणतः परस्पर मेल था और कभी किसी प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता दृष्टिगोचर नहीं होती थी। फाह्यान के इस कथन की पुष्टि चन्द्रगुप्त द्वितीय के अभिलेखों से भी होती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उच्च पदाधिकारी शाबवीरसेन तथा आम्रकादेव क्रमशः शैव तथा बौद्ध थे। लोगों का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा था और वे समाज-सेवा कार्य में सदैव तत्पर रहते थे। पुरे उत्तर भारत में स्थान-स्थान पर औषधालय और चिकित्सालय बने हुए थे, जहाँ रोगियों की मुफ्त चिकित्सा होती थी और औषध, पथ्य आदि बिना मूल्य के मिलते थे। अध्यापकों को भूमिदान और वृत्तियाँ मिलती थीं तथा सार्वजनिक – दान की व्यवस्था थी।

3. सामाजिक दशा— फाह्यान के वृत्तान्त से हमें मध्यदेश की सामरिक स्थिति की भी कुछ झलक मिलती है। जनता साधारणतः शाकाहारी थी और अहिंसा के सिद्धान्त का आचरण करती थी। बाजारों में मांस तथा मद्य की दुकानें नहीं थीं। लोग सूअर तथा मुर्गे नहीं पालते थे। चाण्डालों के अतिरिक्त कोई मांस, मछली और लहसुन व प्याज तक नहीं खाते थे। यहाँ पर हमें जैन, बौद्ध और वैष्णव धर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। चाण्डाल समाज से बहिष्कृत समझे जाते थे और वे नगर और गाँव के छोर पर रहते थे। चाण्डाल आखेट कर सकते थे तथा मांस बेच सकते थे। नगर व गाँव बाले चाण्डालों का स्पर्श भी नहीं करते थे। नगर और गाँव में आने के समय ये लोग लकड़ी बजाते

प्राचीन भारतीय इतिहास

थे, जिससे लोग इनसे अलग हट जाँ और उनकी छाया मात्र से अपवित्र न हो जायें। वास्तव में

श्र

अस्पृश्यता का वह विकृत रूप था, जो आज भी हिन्दुत्व के ऊपर काला धब्बा है और स्वतंत्र भारत में उसे अवैधानिक घोषित किया गया है।

4. आर्थिक दशा— फाह्यान के विचरण से स्पष्ट हैं कि उस समय प्रजा सुखी थी अर्थात् वह समृद्धि का युग था। किसानों व मजदूरों की स्थिति अच्छी थी। कृषि उन्नत अवस्था में थी तथा मजदूरों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। कई प्रकार के उद्योग प्रचलित थे। सोने, चाँदी और मणि की मूर्तियाँ बनाने का उद्योग उन्नत अवस्था में था। इसके अतिरिक्त पीतल व काँसे की मूर्तियाँ भी बनती थीं। उद्योग के साथ-साथ व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। फाह्यान एक व्यापारी जहाज में बैठकर लंका गया था। इससे ज्ञात होता है कि ताम्रलिपि बन्दरगाह से नियमित रूप से व्यापारी जहाज जाते थे, जिनमें दो सौ व्यक्ति एक साथ बैठ सकते थे। जिन-जिन स्थानों का नाम फाह्यान ने अपने वर्णन में दिया है, उन्हीं मार्गों से भारत और चीन का व्यापार हुआ करता था। इण्डोनेशिया तथा इण्डोचीन भारत के व्यापारिक क्षेत्र से जुड़े हुए थे। थोड़े मूल्य की वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए कौड़ियों का प्रयोग होता था। इस प्रकार फाह्यान के विवरण से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में आर्थिक स्थिति अच्छी थी और प्रजा को किसी प्रकार के आर्थिक संकट का सामना नहीं करना पड़ता था।

5. पाटलिपुत्र— फाह्यान साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में तीन वर्ष रहकर संस्कृत सीखता रहा। उसने

लिखा है कि नगर में अशोक के स्तूप के पास ही दो विशाल और सुन्दर विहार थे, जिनमें से एक हीनयान और दूसरा महायान था और दोनों में छह-सात सौ विद्वान भिक्षु निवास करते थे। इन भिक्षुओं की विद्वत्ता इतनी असाधारण थी कि देश के सुदूर प्रान्तों से धर्म और आचार के जिज्ञासु उनके पास ज्ञान प्राप्त करने उपस्थित होते थे। अशोक के राजप्रासाद का वैभव देखकर फाह्यान चकित हो उठा। उसने लिखा है, इस नगर के तमाम महल देवी-देवताओं ने बनाये हैं। प्राचीर और मेहराब पत्थर के बने हुए हैं और जिनके ऊपर संगतराशी और शिल्पकारी किसी भी मनुष्य के हाथों से नहीं हुई है। फाह्यान मगध की सम्पत्ति और समृद्धि से बड़ा प्रभावित हुआ था। वह लिखता है कि इस प्रदेश के निवासी धर्म तथा दान के आचरण में परस्पर स्पर्द्धा करते थे। प्रतिवर्ष दूसरे मास (वैशाख) की अष्टमी को बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियों को सजाकर उनका जुलूस निकालते थे। मूर्तियाँ प्रायः बीस रथों पर निकाली जाती थीं और ये रथ यद्यपि एक ही नमूने के होते थे, किन्तु उनकी सजावट विभिन्न होती थी। ब्राह्मण बुद्ध की मूर्तियों का स्वागत करते थे। वैश्य कुलों के कुलपति नगर में धर्मार्थ औषधालय खोले रहे थे, जिनमें तमाम गरीब, बेघर-बार, अपंग और रोगी उपचार के लिए जा सकते थे। दरिद्र रोगियों को निःशुल्क भोजन तथा औषधियाँ वितरित की जाती थीं।

फाह्यान के उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त उसके द्वारा अशोक के स्तम्भों पर अंकित आदेशों का वर्णन उस युग

के इतिहास की एक महत्वपूर्ण सामग्री है। फाह्यान ने सम्राट कनिष्क द्वारा उत्तरी भारत में बनायी बौद्ध-स्मृतियों का भी वर्णन किया है। उसने उन्हें बहुत ही

अच्छी हालत में देखा था, यद्यपि आज उनके अवशेष भी अप्राप्य हैं। फाह्यान ने जिन-जिन नगरों का भ्रमण किया, उन नगरों का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। फाह्यान का यह विवरण गुप्तकालीन भारत की सुख-समृद्धि एवं सम्पन्नता का परिचायक है।

गुप्त शासन प्रबन्ध

मौर्य वंश के शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में जैसा परिचय हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मिलता है, वैसा परिचय गुप्त शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। मेगस्थनीज जैसा कोई विदेशी यात्री भी इस काल में भारत नहीं आया। यद्यपि चीनी यात्री फाह्यान चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में भारत आया था, किन्तु उसे राज्य शासन के सम्बन्ध में कोई दिलचस्पी नहीं थी, क्योंकि वह तो बौद्ध धर्म के तीर्थ स्थलों तथा धार्मिक ग्रन्थों की खोज व अध्ययन के लिए आया था। अतः उसके यात्रा विवरण में हमें गुप्त शासन का कुछ भी परिचय नहीं मिलता। फिर भी हमारे पास अनेक ऐसे साधन हैं, जिनसे हम गुप्त

छल्लै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

267

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

26A

शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। गुप्त सम्राटों के जो शिलालेख व सिक्के मिले हैं, वे गुप्त शासन के विषय में महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत सभी प्रदेशों पर गुप्त सम्राटों का सीधा शासन नहीं था। समुद्रगुप्त ने अनेक राजाओं को अपने अधीन करके उन्हें अपने राज्यों के शासन के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया था। मौर्य विजेता की तरह उसने समस्त विजित प्रदेशों को केन्द्र में एकीभूत नहीं किया और अपना राज्य एवं आधिपत्य आर्यावर्त तक सीमित रखा। अतः उसके साम्राज्य के अर्न्तगत अनेक ऐसे सामन्त राज्य विद्यमान थे, जिनके शासकों को अपने राज्य के आन्तरिक शासन में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। सामन्तों को उनके राज्य और शक्ति के अनुसार नृप, महाराज व उपरिक – महाराज कहते थे। सभी सामन्तों की स्थिति भी एक समान नहीं थी। आर्यावर्त या मध्यदेश के सामन्त गुप्त सम्राटों के अधिक प्रभाव में थे, तथापि जबकि सुदूरवर्ती सामन्त प्रायः स्वतंत्र स्थिति रखते थे, यद्यपि वे गुप्त सम्राटों की अधीनता को स्वीकार करते थे। साम्राज्य के सामन्त राजस्व व उपहारों द्वारा केन्द्रीय कोष की अभिवृद्धि में योगदान करते थे, युद्धों के अवसर पर सैनिक सहयोग प्रदान करते थे और राजकीय उत्सवों आदि पर राजधानी में उपस्थित होकर सम्राट के वैभव और शक्ति को प्रदर्शित करते थे। सामन्त राज्यों की यह स्थिति साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई थी, क्योंकि

प्राचीन भारतीय इतिहास

स्कन्दगुप्त के बाद उसके उत्तराधिकारियों के समय में सामन्त राजाओं ने केन्द्र से पृथक् और स्वतन्त्र होने की चेष्टाएँ प्रारम्भ कर दी थीं।

कृ

राजतथ्य का सिद्धान्त गुप्तवंश के अनेक राजा चक्रवर्ती हुए और चक्रवर्ती आदर्शानुरूप भारत को एक राजनैतिक सूत्र में आबद्ध रखा। अपनी इस व्यापक प्रभुता के अनुरूप गुप्त राजाओं ने उच्चतम राजकीय उपाधियों धारण की थीं। अभिलेखों व सिक्कों आदि में उनकी उपाधियाँ – महाराजाधिराज, परमदैवत, परमभट्टारक, परमेश्वर, पृथ्वीपति, एकाधिराज, राजाधिराज आदि मिलती हैं। डॉ. मजूमदार व श्री डी.सी. सरकार के अनुसार चूँकि प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम के समान ही नहीं, बल्कि श्लोक में रहने वाला देवता कहा गया है, इसलिए गुप्त राजा राजत्व को दैवप्रद और राजा को देवरूप मानते थे, किन्तु इन उपाधियों से यह अनुमान करना गलत होगा कि गुप्त राजा राजत्व को दैवप्रद मानते थे। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के लिए यह भी कहा गया है कि वह शास्त्र का ज्ञाता था, वह धर्म की मर्यादा रखने वाला था और वह शास्त्र निहित मार्ग पर चला करता था तथा वह लोक नियमों का पालन करने वाला था। इस विवरण से स्पष्ट है कि शास्त्र, धर्म व लोक-नियमों के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने वाला समुद्रगुप्त, लुई चौदहवें की भाँति अपने को श्दैवश् मानकर शासन का संचालनकर्ता नहीं समझता था बल्कि शासन संचालन में वह शास्त्रसम्मत मार्ग का ही अनुशीलन किया करता था। अतः प्रयाग प्रशस्ति में उसे श्लोक में रहने वाला राजत्व के दैवप्रद सिद्धान्त के आधार पर नहीं, उसके सुचरित्र से अलंकृत अनेक गुणों के कारण कहा गया है। उस युग में राजत्व की महिमा उसके दैवत्व पर नहीं शास्त्रसम्मत होने से स्तुत्य मानी जाती थी। गुप्तों का उत्तराधिकार नियम भी इस बात का प्रमाण है कि गुप्त सम्राट राजपद को दैवप्रद नहीं, गुणों अथवा योग्यता पर आधारित समझते थे। चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को तथा समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त द्वितीय को गुणों के आधार पर ही अपना उत्तराधिकार सौंपा था। उत्तराधिकार का यह नियम गुप्तों की कोई मौलिक देन नहीं थी, क्योंकि योग्यता के आधार पर राजपद निर्धारित करने का सिद्धान्त चन्द्रगुप्त मौर्य के महामंत्री कौटिल्य के अर्थशास्त्र में निर्दिष्ट है।

केन्द्रीय शासन— गुप्त साम्राज्य का शासन सम्राट में केन्द्रित था। एकतान्त्रिक शासन प्रणाली के अर्न्तगत सम्राट राज्य का सर्वोपरि अधिकारी था और राज्य की अन्तिम सत्ता उसी के हाथ में थी। वह प्रशासन सम्बन्धी विभिन्न कार्यों का प्रतिदिन निर्धारित समय पर स्वयं निरीक्षण व संचालन किया करता था। . कालिदास के नाटकों में राजा की समय-सारिणी के विवरण से प्रकट होता है कि राजा का अधिकतम समय राज्य के कार्यों के सम्पादन में ही व्यतीत होता था। अतः राजपद एक महान दायित्व था, जिसे निभाने के लिए राजा को निजी सुख-सुविधाओं से विरक्त रहकर सदैव जागरूकता के साथ राज-कर्म में तल्लीन रहना पड़ता था।

यद्यपि सम्राट शासन और सेना दोनों का सर्वोच्च अधिकारी होता था, किन्तु वह मंत्री, सचिव व अमात्य आदि की सलाह ही नहीं लेता था वरन् राज्य के नीति विषयक प्रमुख कार्यों को वह मंत्री व मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा से ही किया करता था। यद्यपि गुप्त अभिलेखों में श्मन्त्रीश उपाधि का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु कुमारगुप्त प्रथम के करमदण्डा – अभिलेख में शिखर स्वामी और उसके पुत्र पृथ्वीषेण को कुमारभात्य के अलावा मन्त्री भी कहा गया है। गुप्तकाल में कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनीति का प्रमुख

सिद्धान्त ग्रन्थ था। अतः मौर्य के समय में जिस प्रकार की मन्त्रिपरिषद् थी, उसी प्रकार की गुप्तों के समय में थी। यद्यपि इसकी रचना और कर्तव्यों के बारे में पूरा उल्लेख नहीं मिलता तथापि गुप्त सम्राटों के उत्कीर्ण लेखों से मन्त्रियों के पद नामों का पता चलता है। जैसे— सन्धिविग्रहिक (युद्ध और सन्धि का मंत्री तथा परराष्ट्र मन्त्री), महाबलाधिकृत (सुरक्षा व सेना का मन्त्री), महाक्षपटलिक (राजकीय कागज-पत्रों का मन्त्री, जिसके सहायक अधिकारी को अक्षपटलाधि कृत कहते थे), आयुक्त (राजकोष का मन्त्री) आदि। इनकी सहायता से सम्राट शासन करता था। विशेष राजनैतिक परिस्थिति में कई मन्त्रियों के हाथ में शासन और सेना दोनों के अधिकार होते थे। कालिदास ने मन्त्री को राजा का दाहिना हाथ कहा है। जब कभी किन्हीं कारणों से राजा शासन कार्य स्वयं देखने में असमर्थ होता अथवा युद्ध अथवा यात्रा पर जाते समय वह अपना कार्यभार मन्त्री को सौंप जाता था। गुप्तयुगीन गंगाघार पाषाण-अभिलेख में मन्त्री को राजा का तृतीय नेत्र कहा गया है (राजस्तृतीय चक्षु) मन्त्रिपरिषद् की कार्यवाही व मन्त्रणा का कार्य बहुत गुप्त रखा जाता था।

समस्त केन्द्रीय शासन कई विभागों में संगठित था, जिन्हें श्रद्धाधिकरण कहते थे और जिनका प्रबन्ध मन्त्री, अमात्य, कुमारामात्य, युवराज— कुमारभात्य आदि अधिकारी करते थे। प्रत्येक अधिकरण की अपनी-अपनी मुद्रा (सील) होती थी। प्रान्तीय शासन— शासन की सुविधा के लिए समस्त गुप्त साम्राज्य कई इकाइयों में बँटा हुआ था। शासन की सबसे बड़ी इकाई प्रान्त थी जिसे शुक्ति, देश अथवा भोग कहते थे। गुप्तकालीन शिलालेखों में तीर भुक्ति (तरहुत), पुण्डुवर्धन भुक्ति (दीनाजपुर, राजशाही आदि), मगण भुक्ति आदि विविध भुक्तियों का उल्लेख मिलता है। प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति सम्राट करता था। प्रान्तीय शासक को गुप्त लेखों में गोप्तृ या गोप, उपरिक या उपरिक महाराज, भौगिक तथा लोकपाल कहा जाता था। इन पदों पर गुणवान और उच्चकुल के सम्प्रान्त व्यक्तियों, राजकुल के कुमारों व सामन्त नृपतियों को नियुक्त किया जाता था। ये प्रान्तीय शासक बाहरी आक्रमणों तथा आन्तरिक विप्लवों से रक्षा करने के लिए उत्तरदायी होते थे। अपनी

राज्य-सीमा में शान्ति स्थापित करके सार्वजनिक हितों के कार्य करना प्रान्तीय शासक का कर्तव्य समझा जाता था। प्रान्त की सुरक्षा के विचार से कभी-कभी गोप्ता या उपरिक को सामरिक रूप से सहायता देने के लिए सैनिक अधिकारी भी नियुक्त किए जाते थे जैसे—सौराष्ट्र में पर्णदत्त को गोप्ता नियुक्त किए जाने



के कुछ समय बाद सेनापति भट्टारक को सैनिक कार्यों के लिए सौराष्ट्र भेज दिया गया था। गुप्तों के समय में मन्त्रियों की तरह उपरि वंशानुगत भी हुआ करते थे।

कृ

जितने भी शासन विभाग साम्राज्य की राजधानी में होते थे, सम्भवतः वे सभी प्रान्तों की राजधानी में भी हुआ करते थे। प्रान्तीय शासन की रचना सम्भवतः केन्द्रीय शासन के नमूने के आधार पर की गई थी। प्रान्तीय शासक अपने अधीनस्थ अधिकारियों की नियुक्ति करता था।

जिले का शासन प्रत्येक प्रान्त अनेक जिलों में विभाजित था। जिलों के लिए श्विषयश् शब्द का प्रयोग किया गया है। एक श्वभुक्तिश् के अर्न्तगत कई श्विषयश् होते थे। श्विषयश् के शासक को यद्यपि सामान्यतः श्विषयपतिश् कहते थे, किन्तु उसे कुमारामात्य अथवा आयुक्तक भी कहा जाता था और साधारणतया उसकी नियुक्ति श्वगोप्तृश्, श्वउपरिक महाराजश् अर्थात् प्रांतपति किया करता था। कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि कभी-कभी विषय की राजनैतिक व सामरिक विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए सम्राट स्वयं विषयपति नियुक्त करते थे। विषयपति का नगर कार्यालय श्वअधिष्ठान अधिकरणश् कहा जाता था। दामोदरपुर के ताम्रपत्र से पता लगता है कि विषय के प्रशासन में विषयपति को सहायता एवं परामर्श देने के लिए एक महासमिति होती थी, जिसके सभासद श्विषय महत्तरश् (जिले के बड़े लोग) कहलाते थे। इस महासमिति में निम्नांकित सदस्य होते थे—

प्रमुख,

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

1.

नगर श्रेष्ठी— नगर के प्रधान सेठ अथवा श्रेणी

2.

सार्थवाह — व्यापारियों के निगम या समिति का मुखिया,

3.

प्रथम कुलिक— प्रधान शिल्पी अथवा शिल्प संघ का मुखिया,

4.

प्रथम कायस्थ — प्रधान लेखक या मुख्य कर्णिक (क्लर्क),

कृ

5. पुस्तपाल— राजकीय कागज पत्रों को सुरक्षित रखने वाला अधिकारी।

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

269

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

कृ

इन सभी अधिकारियों का कार्यकाल कम-से-कम पाँच वर्ष अवश्य होता था। ये सभी अधिकारी चुने जाते थे या नामजद होते थे या ज्ञात नहीं होता। विषय शासन में लोकमत का भी कुछ हाथ रहता था। विषयपति के अधीन दण्डपाशिक (पुलिस कर्मचारी), चौरौद्धरणिक (खुफिया पुलिस) य आरक्षाधिकृत (जनता के रक्षार्थ नियुक्त कर्मचारी) और दण्डनायक (जिले की सेना का अधिकारी) रहते थे।

ग्राम शासन— ग्राम उस समय के शासन प्रबन्ध की सबसे छोटी इकाई था। ग्राम का मुख्य अधिकारी ग्रामाध्यक्ष अथवा भोजक कहलाता था। गुप्त-लेखों से ज्ञात होता है कि गाँवों के शासन प्रबन्ध के लिए पंचमण्डली अथवा पाँच सदस्यों की एक पंचायत होती थी। दामोदरपुर — ताम्रपत्र से विदित होता है कि गाँवों के शासन प्रबन्ध के लिए जो पंचायत होती थीय उसके महत्तर (गाँव के मुख्य अथवा वृद्ध व्यक्ति), अष्टकुलाधिपति (आठ कुलों के मुखिया), ग्रामिक (गाँव का प्रबन्धक) और कुटुम्बिन (कृषक) सदस्य होते थे। इस पंचायत के अधीन एक से अधिक गाँव होते थे। यह गाँव की सुरक्षा का ध्यान रखती थी, गाँव वालों के मुकदमों का निर्णय करती थी, भूमिकर एकत्र कर राजकोष में जमा करती थी तथा ग्रामवासियों के सार्वजनिक हित के कार्य करती थी। ग्राम पंचायत के सदस्यों का निर्वाचन किस प्रकार किया जाता थाय इसका विवरण हमें उपलब्ध नहीं होता। संभवतः विभिन्न वर्गों के वयोवृद्ध जनों को, जो अपनी आयु अपने अनुभव और चरित्र के कारण जनता में लोकप्रिय होते थे, लोकमत द्वारा ग्राम पंचायत का सदस्य मनोनीत कर दिया जाता था। ग्राम शासन की सुविधा की दृष्टि से ग्राम पंचायत उप समितियाँ का भी निर्माण करती थी। कृषि उद्यान, सिंचाई, मन्दिर आदि के प्रबन्ध के लिए भिन्न-भिन्न समितियाँ होती थीं। गाँवों की सीमाओं का निर्धारण प्रायः दीवालों और नालियों द्वारा होता था। ग्राम पंचायतों को राज्य की ओर से सम्मानपूर्ण स्थिति प्राप्त थी।

—

नगर— शासन— स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि नगरों को सुरक्षा और प्रशासनिक व्यवस्था पर समुचित ध्यान रखा जाता था। नगर रक्षक अधिकारी का कर्तव्य नगर की समृद्धि बढ़ाना, नगर को मानवों से परिपूर्ण रखना और ब्राह्मणों के भगवद्-भजन द्वारा नगर को पापों एवं दुर्भिक्ष से मुक्त रखना था। वैष्णवगुप्त के गुनैघर ताम्रपत्र के आधार पर श्री मुखर्जी का कहना है कि नगर का अध्यक्ष अथवा मेयर श्पुरपाल कहलाता था। पहाड़पुर ताम्रपत्र लेख में नगर के मुख्य अधिकारी को आर्य नगर श्रेष्ठी और नगरपालिका कार्यालय को अधिष्ठान अधिकरण कहा गया है। अधिष्ठान अधिकरण अथवा नगरपालिका सभा में संभवतः चार सदस्य होते थे— मुख्य पुरपाल या आर्य नगर श्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथम कुलिक तथा प्रथम कायस्थ। नगरपालिका को परिषद् भी कहा जाता था। इस परिषद् के कार्यों के बारे में पता नहीं चलता,

प्राचीन भारतीय इतिहास

किन्तु भूमि का क्रय-विक्रय परिवर्तन आदि इसी के सहारे होता था ।

शासन के प्रमुख विभाग— गुप्त शासन को समुचित ढंग से संचालित करने के लिए शासन कई विभागों में संगठित था। शासन के प्रमुख विभाग निम्नलिखित थे—

—
—

1. राजस्व विभाग — राज्य की आय के साधन प्रचुर और विभिन्न थे। गुप्त काल में करों की संख्या अठारह थी जिनमें भूमि — कर प्रधान था। भूमि का नियमित माप होता था तथा खेतों के स्वामी व खेतों की सीमा का विवरण रखा जाता था। भूमि के उपजाऊपन के आधार पर भूमि के कई प्रकार थे (1) नाल (खेतिहर भूमि), (2) खिल (परती), (3) वास्तु (बस्ती), (4) अप्रहत (बिना जोती हुई), (5) अप्रदा (जिससे सरकार को कोई आय नहीं होती थी)। कुछ स्थानों में भूमिकर के लिए श्भाग कर और कुछ स्थानों में श्उदंगश शब्द का प्रयोग हुआ है। भूमि के उपजाऊपन के आधार पर भूमि कर सोलह प्रतिशत से लेकर पच्चीस प्रतिशत तक लिया जाता था। भूमि-कर अन्न के रूप में अधिक लिया जाता था और मुद्रा के रूप में अपेक्षाकृत कम चुंगी द्वारा भी राज्य को पर्याप्त आय होती थी। जंगल राजकीय आय का प्रमुख स्रोत समझा जाता था जिसका प्रबन्ध श्गौल्मिकश नामक कर्मचारी के अधीन होता था। व्यापारियों और शिल्पियों से जो कर वसूल किया जाता था, उसे गुप्त — लेखों में श्शुल्कश कहा गया है। नशीली वस्तुओं पर भी कर लगाया जाता था, किन्तु इस कर से राज्य को न्यून ही आय होती रही होगी, क्योंकि फाह्यान के अनुसार तात्कालिक समाज में मद्यपान का अधिक प्रचार नहीं था। न्याय, शुल्क, अर्थदण्ड, माण्डलिक राजाओं से उपहार आदि भी राजस्व में सम्मिलित थे। सरकारी कार्यों में स्वर्ण, रजत आदि सिक्कों का प्रयोग होता था। किन्तु फाह्यान के अनुसार छोटे-छोटे क्रय-विक्रय में कौड़ियों का प्रयोग भी होता था।

2.

न्याय विभाग— गुप्तकालीन नारद स्मृति के अनुसार न्यायालय चार प्रकार के होते थे (1) कुल, (2) श्रेणी, (3) गण और (4) राजकीय न्यायालय। प्रथम तीन न्यायालय जनता के तथा चौथा सरकारी था। छोटे न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील ऊपर के न्यायालयों में हो सकती थी। जन न्यायालयों में संतोष न होने पर लोग राजकीय न्यायालय में जाते थे सम्राट का न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय था तथा सम्राट के हाथ में न्याय का अन्तिम अधिकार था। वैशाली — मुद्रा — लेख के अनुसार न्याय विभाग के मुख्य अधिकारी को श्विनय-स्थिति-स्थापकश कहा जाता था। गुप्त काल में दण्ड विधान उत्पन्न ही उदार था। फाह्यान के अनुसार उस समय अपराध कम होते थे तथा दण्ड कोमल दिया जाता था। प्राणदण्ड और शारीरिक यंत्रणाएँ नहीं दी जाती थीं। अपराध के अनुसार कम या अधिक अर्थदण्ड दिया जाता था। बार-बार राजद्रोह करने पर अपराधी का दाहिना हाथ काट दिया जाता था। इस विवरण

से प्रतीत होता है कि गुप्तकालीन न्याय-व्यवस्था उदार थी तथा लोग नियमों का पालन करते थे।

3. लोकोपकारी कार्य विभाग— गुप्तयुगीन साहित्य एवं अभिलेखों से गुप्त सम्राटों का उच्चतम चरित्र चित्रित मिलता है। महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्यों व नाटकों में बहुत संभव है गुप्तवंशीय सम्राटों के आदर्श स्वरूप को प्रतिबिम्बित किया है। कालिदास के विवरणों से प्रकट होता है कि गुप्त काल में कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनीति का प्रमुख सिद्धान्त था। कौटिल्य ने कहा है कि प्रजा का उत्थान, कार्यानुशासन और प्रजा का हित—सुख ही राजा का व्रत, यज्ञ और हित—सुख है। गुप्त शासक इसी आदर्श का अनुशीलन करते रहे। उन्होंने देश में आवागमन की सुविधा के लिए सड़कें बनवाय, राज्य की ओर से सिंचाई का प्रबन्ध किया तथा सुदूर सौराष्ट्र जैसे प्रान्तों में भी पानी की झीलें और पोखर बनवाये और पुरानों का जीर्णोद्धार करवाया। फाह्यान ने लिखा है कि सारे उत्तर भारत में स्थान-स्थान पर औषधालय और चिकित्सालय बने हुए थे, जहाँ रोगियों को मुफ्त चिकित्सा होती थी। शिक्षा और विद्या के प्रचार के लिए राज्य की ओर से अध्यापकों को भूमिदान और वृत्तियाँ मिलती थीं।

4. सेना विभाग— गुप्तयुगीन मैत्रक वंश के राजा महाराज धारसेन द्वितीय के मालिया — ताम्रपत्र अभिलेख में चतुरंगिणी सेना का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त गुप्त लेखों में दुर्ग और स्कन्धवार तथा अस्त्र-शस्त्रागार का भी उल्लेख मिलता है। सेना विभाग के मुख्य अधिकारी को सन्धिविग्रहिक कहते थे। उसके अधीन महासेनापति, बलाधिकृत (सैनिकों को नियुक्ति करने वाला अधिकारी), रणभाण्डागारिक (सैनिक सामानों का अधिकारी), भटाश्वपति (पैदल और घुड़सवारों का अध्यक्ष) आदि अधिकारी होते थे। सेना का कार्यालय श्वलाधिकरण कहलाता था। सेना के परम्परागत चार अंग थे— हस्ति, अश्व, रथ और पदाति। प्रतीत होता है कि गुप्तों के समय रथ का स्थान महत्वपूर्ण नहीं रह गया था। रथ भारी और मन्थर पड़ते थे अतः उनका स्थान द्रुतगामी अश्वों ने ले लिया था। समुद्रगुप्त के एरण अभिलेख में केवल हाथी और अश्व का उल्लेख दिया गया है। गुप्त युग में नौ सेना भी सेना के विशिष्ट अंगों में स्थान रखती थी। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त द्वारा सिंहल तथा भारतीय समुद्र के अन्यान्य द्वीपों की विजय का उल्लेख है, जो बिना जहाजी बेड़े के सम्भव नहीं थी। कुछ गुप्त — सिक्कों पर अश्वारोही धनुर्धर के रूप में चित्रित किए गए हैं। इससे प्रतीत होता कि गुप्तों की अश्वसेना में धनुर्धर शामिल थे। गुप्त सम्राटों के अधीन अनेक सामन्त राज्य थे, जो आवश्यकता पड़ने पर सम्राट को सैनिक सहायता दिया करते थे। गुप्त राजा सामन्तीय सेना का विपुलता से प्रयोग करते थे।

5. आरक्षा विभाग— देश में आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए आरक्षा विभाग का संगठन किया गया था। इस विभाग के मुख्य अधिकारी को दण्डपाशाधिकारी कहते थे। उसके अधीन चोरोद्धरणिक (चोरों को पकड़ने वाला पुलिस अधिकारी), दण्डपाशिक (लाठी और रस्सी वाले सिपाही) आदि अधिकारी होते थे। गुप्त साम्राज्य में सुरक्षा का यथेष्ट प्रबन्ध था। इसलिए



प्राचीन भारतीय इतिहास

फाह्यान लिखता है कि उसने भारत में हजारों मील की यात्रा की किन्तु कहीं भी उसको चोर-डाकू नहीं मिले।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

‘मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

271

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

‘मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

272

सारांश (नउउंतल)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मौर्यों के बाद गुप्तों ने एक निश्चित योजना के अनुसार आदर्श शासन व्यवस्था स्थापित की थी। इसमें प्रजा सुखी थी तथा कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो धर्म से च्युत रहा हो, जो दरिद्रता से आर्त रहा हो, जो व्यसनी अथवा लोभी हो और दण्डनीय होने पर जिसे अत्यन्त पीड़ित किया गया हो। इस शासन प्रणाली से चीनी यात्री फाह्यान भी अत्यधिक प्रभावित हुआ था। इतिहासकार वी. ए. स्मिथ ने तो यहाँ तक लिखा है कि इससे अच्छा शासन भारत में कभी हुआ ही नहीं। स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

1. बाह्य आक्रमण राजनीति का यह एक साधारण सिद्धान्त है कि शत्रु किसी शासक पर उसी समय आक्रमण करता है जब वह उसे शक्तिहीन समझता है। शक्तिशाली राज्य पर आक्रमण कर अपना विनाश कोई मोल नहीं लेता। अतः राजनीति के इस सिद्धान्त के अनुसार बाहरी शत्रु का आक्रमण उस राज्य की निर्बलता का सूचक है। स्कन्दगुप्त के समय गुप्त साम्राज्य पर हूणों ने आक्रमण किया, किन्तु उस शक्ति सम्पन्न गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण कर हूणों ने भूल की। फलस्वरूप स्कन्दगुप्त के हाथों उन्हें पराजित होना पड़ा। किन्तु स्कन्दगुप्त के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों के समय में आन्तरिक विद्रोह से गुप्त – राजसत्ता के कमजोर पड़ने पर हूणों ने पुनः भारत की सीमाओं का अतिक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। भानुगुप्त और बालादित्य के समय हूण राजा तोरमाण का आक्रमण हुआ ! एरण नामक स्थान पर भानुगुप्त व तोरमाण की सेनाओं में भीषण संग्राम हुआ, जिसमें भानुगुप्त का सामन्त गोपराज मारा गया तथा भानुगुप्त पराजित हुआ। फलस्वरूप पूर्वी मालवा पर हूणों का अधिकार हो गया। मन्जुश्रीमूलकल्प के अनुसार हूण मालवा की विजय के पश्चात् मगध तक बढ़ गए थे। तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल के ग्वालियर अभिलेख से ज्ञात होता है कि 513 ई. से 528 ई. तक मिहिरकुल का मध्यभारत पर पूर्ण आधिपत्य रहा और उस समय उत्तरी भारत में गुप्तों की जगह, वही एकमात्र सर्वशक्तिशाली राजा था। यद्यपि भानुगुप्त ने लगभग 529-30 ई. में हूणों को पुनरु पराजित कर दिया, किन्तु वह गुप्त राजशक्ति को पुनः दृढ़ व संगठित करने तथा गुप्त साम्राज्य को विघटित होने से नहीं बचा सका। इन विवरणों से ज्ञात होता है कि

हूणों तथा गुप्तों में सर्वदा शत्रुता का भाव रहा। हूणों के निरन्तर आक्रमणों से गुप्त साम्राज्य की नींव खोखली हो गई तथा उनके आक्रमणों ने गुप्त साम्राज्य के पतन में योगदान दिया।

2. भूमि के उपजाऊपन के आधार पर भूमि के कई प्रकार थे

(1) नाल (खेतिहर भूमि), (2) खिल (परती), (3) वास्तु (बस्ती), (4) अप्रहत (बिना जोती हुई), (5) अप्रदा (जिससे सरकार को कोई आय नहीं होती थी)। कुछ स्थानों में भूमिकर के लिए ३ भाग – कर ३ और कुछ स्थानों में ३ उदंग ३ शब्द का प्रयोग हुआ है। भूमि के उपजाऊपन के आधार पर भूमि कर सोलह प्रतिशत से लेकर पच्चीस प्रतिशत तक लिया जाता था।

स्वपरीक्षण करें (जमेज ल्वनतेमसा)

1. समुद्रगुप्त की विजयों तथा उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।

2.

3.

प्रयाग प्रशस्ति लेख तथा तत्कालीन सिक्कों के आधार पर समुद्रगुप्त की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।

समुद्रगुप्त की उपलब्धियों के आधार पर क्या उसे भारत का नेपोलियन कहना उचित होगा? 4. समुद्रगुप्त का चक्रवर्ती राजा था। इस कथन की समीक्षा कीजिए।

5. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मुख्य उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।

6. गुप्त साम्राज्य के संगठन एवं विकास में चन्द्रगुप्त द्वितीय के योगदान की समीक्षा कीजिए।

7. चन्द्रगुप्त द्वितीय से लेकर स्कन्दगुप्त के काल तक की महत्वपूर्ण राजनैतिक घटनाओं का उल्लेख कीजिए।

8. स्कन्दगुप्त गुप्तवंश का अन्तिम महान् शासक था। इस कथन की समीक्षा कीजिए।

9. गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों का विवेचन कीजिए।

10. फाह्यान के वर्णन के आधार पर तत्कालीन भारत की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्थिति का वर्णन कीजिए।

अध्याय

इकाई 14

गुप्तकालीन समाज एवं अर्थव्यवस्था

परिचय

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सामाजिक जीवन, धार्मिक जीवन, आर्थिक जीवन

□ कृषि एवं राजस्व व्यवस्था, उद्योग धन्धे, व्यापार, साहित्य एवं विज्ञान

प्राचीन भारतीय इतिहास

ललित कलाएँ, संगीत कला, अभिनये कला, चित्रकला, स्थापत्य एवं मूर्तिकला
ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म का पुनरुत्थान,

अध्ययन उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

□ कृषि एवं राजस्व व्यवस्था सहित गुप्तकालीन समाज एवं अर्थ
व्यवस्था

स्थापत्य एवं मूर्तिकला

ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म का पुनरुत्थान!

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

273

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

274

परिचय (पदजतवकनबजपवद)

गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है। इसे श्वलासिक युग (सैंपबंस | हम) को संज्ञा भी दी गई है। श्वलासिक युग से अर्थ एक ऐसे युग से है जिसमें कला एवं साहित्य श्रेष्ठता के उस स्तर को छू ले कि वे आदर्श या प्रतिमान बन जाएं और आने वाले युगों के लिए वे अनुकरणीय बन जाते हैं। गुप्त युग के सर्वतोमुखी उत्कर्ष को देखते हुए उसे श्वर्णयुग की संज्ञा देना नितान्त उपयुक्त होगा। इस काल में भारतीय जन-जीवन सभी क्षेत्रों में अभिव्यक्त और समुन्नत दिखाई पड़ता

है। गुप्तकाल को स्वर्ण युग मानने के कुछ आधार हैं जैसे— (1) दिग्विजयी, मेघावती, प्रजावत्सल एवं धार्मिक दृष्टि से उदार गुप्त सम्राट, (2) देश की सुदृढ़ राजनीतिक एकता, विदेशी शक्तियों का उन्मूलन तथा बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा, (3) लोक कल्याणकारी आदर्श प्रशासन, (4) सुखी, सम्पन्न एवं उल्लासापूर्ण जन-जीवन, (5) विदेशियों एवं विदेशी संस्कृति का भारतीय संस्कृति में आत्मसात्करण, (6) समाज में नारी का सम्माननीय स्थान (7) आर्थिक समृद्धि, उद्योगों एवं शिल्पों में विशेषज्ञता, स्वर्ण मुद्राओं का प्रचुर प्रचलन, उन्नत व्यापार एवं वाणिज्य, (8) विभिन्न धर्मों के बीच समन्वयशीलता के आधारों का सृजन एवं सर्वग्राही हिन्दू-धर्म का पुनरुद्धार (9) गणित, ज्योतिष, रसायनशास्त्र, आयुर्वेद आदि में विपुल वैज्ञानिक प्रगति, (10) साहित्य की बहुमुखी एवं अभूतपूर्व श्रीवृद्धि तथा श्रेष्ठतम साहित्य का सृजन एवं (11) कला का भारतीयकरण एवं विकास, मूर्तिकला व चित्रकला का उत्कर्ष इन आधारों पर गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल कहा जाता है। किन्तु डॉ. रोमिला थापर का मानना है कि, श्वर्णयुग की धारणा यथार्थ पर आधारित प्रतीत नहीं

होतीय कम-से-कम जनसाधारण के लिए तो नहीं ही होती। उनकी इस मान्यता का कोई ठोस एवं व्यापक आधार नहीं दिखाई देता बल्कि इस अवधारणा के विपरीत, फाह्यान के यात्रा – विवरण एवं अन्य साक्ष्यों से जन-सामान्य का जीवन प्रायः सुखी एवं समृद्ध दिखाई देता है तथा उनके जीवन में उल्लास तथा आनन्द की झलक मिलती है।

८

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि कुषाण सम्राटों के पतन के बाद तथा गुप्त सम्राटों के उत्कर्ष के पूर्व भारत में राष्ट्रीयता की भावना का उदय और बौद्धिक विकास हुआ था। कुछ तो विदेशियों के आधिपत्य की प्रतिक्रियास्वरूप और कुछ बौद्ध धर्म के लिए इस भावना का प्रादुर्भाव हुआ था। सर्वप्रथम नाग राजाओं ने विदेशियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ा और कुछ अंशों तक सफलता भी प्राप्त की। तत्पश्चात् वाकाटकों ने हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान करने का प्रयास किया। इन्हीं वाकाटकों के संरक्षण में भारतीय संस्कृति दक्षिण में प्रवेश करने लगी थी। तत्पश्चात् गुप्त सम्राटों ने हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार के आन्दोलन को शिखर तक पहुँचा दिया। इस प्रकार हिन्दू धर्म और सांस्कृतिक पुनरुद्धार का आन्दोलन नाग राजाओं ने प्रारम्भ किया, वाकाटकों ने इसका स्रोत अविरल गति से बहने दिया और गुप्त सम्राटों ने इसे अपनी चरम सीमा तक पहुँचा दिया। नाग- वाकाटकों ने भारतीय धर्म, भाषा और संस्कृति तथा भारतीय जन-जीवन का आत्मगौरव पुनरु

प्रतिस्थापित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया। भारशिव नाग व वाकाटकों के आर्यावर्त के राजनैतिक मंच से हटने पर, उत्तर भारत की राज – शक्ति गुप्तों ने ग्रहण कर ली। इस महान् गुप्त राजवंश के उदार चक्रवर्तियों के अधिनायकत्व में विद्या, कला, व्यापार आदि विभिन्न क्षेत्रों में जो अनुपम उन्नति की तथा गुप्त सम्राटों के आदर्शपूर्ण सुचरित्र एवं सुकपो से अनुप्रेरित होकर भारतीय नागरिकों के जीवन में सांस्कृतिक एवं नैतिक दृष्टि से जो सौम्यता विकसित हुई, उन सबके कारण गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णिम युग माना जाता है।

लेकिन हमें इस बात से भ्रमित नहीं होना चाहिए कि गुप्तकाल का स्वर्णयुग, हिन्दू नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण का काल था। वस्तुतः वह हिन्दू नवाभ्युत्थान का काल नहीं था, बल्कि हिन्दूओं का पूर्ण विकसित, परिप्लावित दैदीप्यमान युग था। गुप्तकाल में जो धार्मिक क्षेत्र में जो प्रगति हुई उसे मेक्समूलर जैसे विद्वानों ने हिन्दू – नवाभ्युत्थान कहा है। लेकिन इस युग में हिन्दू-धर्म के नवाभ्युत्थान जैसी कोई घटना घटित नहीं हुई क्योंकि मौर्यों के पतन और गुप्तों के अभ्युदय के मध्यकाल में हिन्दू-धर्म मरणासन्न नहीं था। उस मध्यवर्ती काल में भी हिन्दू धर्म में ऐसी जीवन-शक्ति और चौतन्य था कि विदेशी लोग भी उससे अत्यधिक आकर्षित और प्रभावित होते थे। पुष्यमित्र शुंग और गौतमीपुत्र शातकर्णी जैसे सम्राट वैदिक विधियों और क्रियाओं को करने में अपना गौरव समझते थे। अतः गुप्तकाल में हिन्दू-धर्म का नवाभ्युत्थान

का प्रश्न ही नहीं उठता। हम कुमारस्वामी के इस निष्कर्ष को स्वीकार कर सकते

प्राचीन भारतीय इतिहास

हैं कि गुप्तकाल में हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार नहीं हुआ, अपितु वह अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था।

सामाजिक जीवन

अन्य युगों की भाँति गुप्त काल में भी समाज की आधारशिला वर्ण-व्यवस्था थी। बाजी, यवनस, शक, पहव, ऋषिक, कुषाण आदि विदेशी जातियाँ इस काल से पहले ही भारतीय धर्मों से प्रभावित हो चुकी थीं, किन्तु उनका पृथक् अस्तित्व बना हुआ था। लेकिन भारतीय समाज की आत्मसात् करने की विलक्षण शक्ति के कारण धीरे-धीरे वे वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के अर्न्तगत पूर्णतः भारतीय समाज में मिला ली गई तथा उनका स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया। गुप्त काल के उत्कीर्ण लेखों में जातियों की चर्चा कम और वर्णों के उल्लेख अधिक मिलते हैं। चीनी यात्री फाह्यान के विवरण और गुप्त काल के लेखों से उस काल की सामाजिक व्यवस्था की झलक मिलती है। चीनी यात्री लिखता है कि लोग सद्गुण सम्पन्न, धनाढ्य और समृद्ध थे। बहुसंख्यक लोग शाकाहारी थे और अहिंसा के सिद्धान्त पर आचरण करते थे। बाजार में मद्य की दुकानें नहीं थीं, घरों में सूअर और मुर्गे नहीं पालते थे और वे मांस, लहसुन व प्याज भी नहीं खाते थे। चाण्डाल या शूद्र ही, जो समाज से बहिष्कृत थे, आखेट करते और माँस खाते थे। फाह्यान का यह कथन कि वह बिना किसी उपद्रव के मार्गों में स्वच्छन्दता से भ्रमण कर सका यह प्रमाणित करता है कि जनता में सामान्यतः किसी बात का अभाव न था और न उनमें अपराध करने की भावना ही थी। कुछ अभिलेखों से यह प्रकट होता है कि इस युग के कतिपय विख्यात नरेशों ने जाति-व्यवस्था को निर्दिष्ट करने और जातियों को उनके कर्तव्य क्षेत्रों के अन्तर्गत रखने के प्रयत्न किए, किन्तु इस दिशा में किए गए प्रयत्न सदैव सफल नहीं हो सके। ब्राह्मण और शिल्पी जातियों के सदस्य सेनानी का कार्य करते थे और क्षत्रिय जाति के लोग व्यापारी बनकर प्रतिष्ठा पा रहे थे। इस युग में शूद्रों का काम तीनों वर्णों की सेवा करना नहीं था। वे व्यापारी, शिल्पी और कृषक का काम कर सकते थे। धन्धे व व्यवसाय जाति द्वारा ही कठोरता से निर्दिष्ट नहीं होते थे। जाति प्रथा ने अभी वह दृढ़ता और अपरिवर्तनशीलता धारण नहीं की थी, जो अर्वाचीन युग में अन्तर्जातीय विवाह, खान-पान और धन्धों तथा व्यवसाय के लिए है। केवल चाण्डाल और हीनवृत्ति वाली घुमक्कड़ जंगली और असभ्य जातियाँ ऐसी थीं, जिन्हें समाज में अच्छी तरह नहीं मिलाया गया था और वे अपने आचरण एवं व्यवहार के कारण समाज के छोर पर रहती थीं। फाह्यान लिखता है कि नगर और गाँव वाले इन जातियों से सामाजिक सम्बन्ध नहीं रखते और इनका स्पर्श भी नहीं करते। नगर और गाँव में आने के समय ये लोग लकड़ी बजाते हैं, जिससे लोग इनसे अलग हट जायें। गुप्तकाल के स्मृति ग्रन्थ अन्तर्जातीय विवाहों और भोजन-पान के सम्बन्ध में अनुमति नहीं देते, किन्तु वैवाहिक नियम अभी भी परिवर्तनशील थे और विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों और वंशों के लोगों में अन्तर्जातीय विवाह अज्ञात नहीं थे। यद्यपि समाज में सवर्ण विवाह ही होते थे, किन्तु असवर्ण विवाहों को भी वैध माना

जाता था। अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे। विभिन्न वर्गों के अतिरिक्त विभिन्न जातियों में भी विवाह होते थे। बहुसंख्यक विदेशियों के आने से, जिनमें से कतिपय जाति-व्यवस्था के ढाँचे में प्रविष्ट कर लिए गए थे, जाति प्रथा में जटिलता आ गई थी। लेकिन इस समय तक यह विचार दृढ़ नहीं हुआ था कि हिन्दू समाज में प्रवेश केवल जन्म के आधार पर ही हो सकता हिन्दू धर्म से जो भी प्रभावित होता था, वह हिन्दू आचार-विचार और संस्कार ग्रहण करके एक पीढ़ी में विवाह द्वारा हिन्दू समाज का अभिन्न अंग बन जाता था। रूढ़िवादी कट्टर ब्राह्मण भी विदेशियों से विवाह सम्बन्ध करना अपवाद नहीं समझते थे। इस प्रकार हिन्दू समाज में दूसरी जातियों को अपने में विलीन करने की सामर्थ्य गुप्त युग तक प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी।

—

गुप्तकालीन समाज में दास प्रथा विद्यमान थी। युद्धबन्दियों को दास बनाने की प्रथा का प्रचलन था। जो ऋण अदा नहीं कर पाते थे, उन्हें अपने ऋणदाता की दासता स्वीकार करनी पड़ती थी। हारे हुए जुआरी को भी दास बन जाना पड़ता था। ऋणकर्ताओं, जुआरियों और युद्धबन्दियों को अपनी दासता से मुक्त होने का अधिकार था। दासों के प्रति कठोर व्यवहार नहीं किया जाता था। गुप्तकाल का हिन्दू समाज सम्मिलित कुटुम्ब प्रणाली पर आधारित था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

275

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

276

गुप्तकालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति पिछले युगों की अपेक्षा कुछ गिरी हुई प्रतीत होती है। स्त्रियों के विवाह की आयु घटा दिए जाने से उनके लिए शिक्षा का द्वार बन्द हो गया था। पिता के लिए अनिवार्य था कि वह अपनी कन्याओं का विवाह उनके यौवन के पूर्व ही कर दे। कुछ स्मृति ग्रन्थों में तो यहाँ तक लिखा है कि जो पिता कन्या का विवाह उसके रजस्वला होने से पूर्व नहीं करता है, उसे नरक में जाना पड़ता है। उच्च कुल की स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी। ललित कलाओं में स्त्रियों की निपुणता के उल्लेख गुप्तकालीन साहित्य-ग्रन्थों में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। समाज में विधवा-विवाह का प्रचलन था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने अग्रज की विधवा पत्नी से विवाह किया था। संभवतः समाज में सती-प्रथा का भी प्रचलन था। कालिदास के नाटकों में सती प्रथा का उल्लेख मिलता है। पर्दा प्रथा कुछ सीमा तक अवश्य विद्यमान थी, किन्तु यह प्रथा विशेष कठोर नहीं थी।

गुप्तकाल के साहित्यिक ग्रन्थों और कलाकृतियों से इस समय के वस्त्राभूषण पर

प्राचीन भारतीय इतिहास

यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। पुरुषों का वस्त्र साधारणतया एक अधोवस्त्र (धोती) तथा उत्तरीय होता था। पुरुषों द्वारा सिर पर पगड़ी पहनने की सूचना भी मिलती है। साड़ी तथा पेटीकोट उस काल की स्त्रियों के सामान्य वस्त्र थे। बाघ की गुफाओं में स्त्रियों को साड़ी और चोली पहने हुए दिखाया गया है। जैकट, ब्लाउज और फ्राकों का प्रयोग विदेशी सिथियन स्त्रियाँ करती थीं। नाचने वाली भारतीय लड़कियाँ सिथियन लड़कियों की पोशाक पहन लेती थीं। फाह्यान के विवरण से मालूम होता है कि भारतीय ऊनी और रेशमी कपड़ों का प्रयोग भी किया करते थे। स्त्री-पुरुषों के आभूषण भी विविध प्रकार के होते थे। स्त्रियों के लिए स्वर्ण हार, कड़ों, अंगूठियाँ, नूपुर आदि आभूषण प्रचलित थे। स्त्रियों को अपने केश अलंकृत करने का अत्यधिक शौक था। अजन्ता के चित्रों में स्त्रियों के केश विन्यास को देखकर आधुनिक युग की फैशन – परस्त महिलाएँ भी दंग रह जाती हैं।

गुप्तकालीन समाज में शाकाहार तथा मांसाहार दोनों का ही प्रचलन था। फाह्यान के विवरणानुसार लोग मांस-मदिरा का प्रयोग नहीं करते थे तथा प्याज और लहसुन तक नहीं खाते थे। किन्तु फाह्यान का यह कथन संभवतः देश की बौद्ध प्रजा के लिए ठीक माना जा सकता है, किन्तु हिन्दुओं में प्याज व लहसुन के अतिरिक्त मांस तक खाने का रिवाज था। इसमें कोई संदेह नहीं कि वैदिक धर्म के अनुयायी और क्षत्रियों ने मांसाहार त्याग दिया, किन्तु क्षत्रियों में फिर भी सुरा सेवन का प्रचार बना रहा। भारतीयों के जीवन में आमोद-प्रमोद के साधन भी पर्याप्त थे। आखेट और द्यूत-क्रीड़ा, आमोद-प्रमोद का प्रमुख साधन था। साधारण जनता को भेड़ों, मैसों तथा हाथियों की परस्पर लड़ाइयों से मनोरंजन होता था। समाज के सुशिक्षित और शिष्टजनों का मनोरंजन नृत्य, गायन, वादन तथा नाटकों द्वारा होता था। सामाजिक उत्सव इस काल में आमोद-प्रमोद के सबसे महत्वपूर्ण साधन थे। फाह्यान के यात्रा विवरण में रथ यात्रा उत्सव का बड़ा ही सुन्दर वर्णन मिलता है जिसमें समाज के सभी वर्ग के लोग सामूहिक रूप से सम्मिलित होते थे। इस काल के साहित्य और कला से भारतीय समाज के इस पक्ष पर काफी प्रकाश पड़ता है। इस काल में राजाओं तथा सामन्तों का जीवन अधिकतर भोगविलास का ही जीवन था। इस काल के दो ग्रन्थों शृंगार शतक तथा श्रुतसंहार द्वारा गुप्त काल के विलासमय जीवन का विवरण प्राप्त होता है।

धार्मिक जीवन

भारत सदैव धर्मपरायण देश रहा है तथा धार्मिक सहिष्णुता यहाँ के निवासियों की विशेषता रही है, किन्तु गुप्त काल का इन बातों के लिए विशेष महत्व है। गुप्त सम्राटों की धार्मिक उदारता वस्तुतः प्रशंसनीय थी। प्रो. राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार गुप्त सम्राटों ने आर्य वंश की प्रत्येक शाखा को अपनी साम्राज्य-सीमा में फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया। धार्मिक सहिष्णुता की यह भावना केवल ब्राह्मण धर्म में ही विद्यमान न थी, वरन् जैन और बौद्ध धर्म में भी इसका प्रसार था। गुप्तकाल के धार्मिक जीवन का अध्ययन हम निम्नांकित शीर्षकों के

अन्तर्गत कर सकते हैं—

1. वैदिक धर्म यद्यपि गुप्तकाल में वैष्णव और शैव धर्मों का अधिक प्रचार था, तथापि वैदिक धर्म समाज में एक सबल शक्ति के रूप में था। गुप्त युग में जिस हिन्दू-धर्म का विकास हुआ, वह समन्वयवादी था, क्योंकि इसमें भक्तिवादी शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के तत्व वैदिक यज्ञों के साथ

मिले हुए थे। गुप्त-युग के साहित्य द्वारा इस काल के समन्वय-प्रधान हिन्दू धर्म का परिचय प्राप्त

होता है। महाकवि कालिदास शैव थे, किन्तु उन्होंने श्रृग्वंश में वैदिक संस्कारों और यज्ञों का सच्ची सहानुभूति के साथ वर्णन किया है। ब्राह्मणों को दान देना वैदिक धर्म का एक प्रमुख तत्व है और गुप्त-लेखों से इस बात की प्रचुर सूचना मिलती है कि उस समय ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणाएँ दी जाती थीं। उस समय आर्य पण्डित वैदिक धर्म को पुनः जागरूक करने में संलग्न थे। फलतः यज्ञों की परिपाटी का पुनर्स्थापन होने लगा और वैदिक धर्म बल पकड़ने लगा। अभिलेखों व मुद्राओं द्वारा उत्तरी और दक्षिणी भारत में वैदिक यज्ञ, विशेषकर अश्वमेध यज्ञ किए जाने के उल्लेख बहुतायत से प्राप्त होते हैं। प्रतापी गुप्त सम्राटों ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। डॉ. अल्तेकर का कहना है कि हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हो जाने के बाद तीसरी और चौथी शतियों में यज्ञों की जितनी अधिक लोकप्रियता थी, उतनी और कभी नहीं थी। साधारण लोगों के हृदय में पंच-महायज्ञों के प्रति काफी श्रद्धा थी और वैदिक धर्म के प्रति आदर का भाव था।

2. वैष्णव धर्म— गुप्त सम्राट वैष्णव धर्म के अनुयायी होने के कारण उनके संरक्षण में यह धर्म निर्बाध गति से उन्नति करने लगा था। गुप्त-लेखों में गरुड़ व लक्ष्मी के चिन्ह इस बात को सूचित करते हैं कि गुप्त सम्राट वैष्णव धर्म के उत्साही अनुयायी थे। इस युग में अनेक वैष्णव मन्दिरों का निर्माण हुआ। सम्राटों के साथ सामन्तों की भी वैष्णव धर्म के प्रति आस्था थी। एरण अभिलेख में बुद्धगुप्त के सामन्त मातृ विष्णु को श्मशान विष्णु का एक महान् भक्त कहा गया है। विष्णु के दस अवतारों में वराह और कृष्ण की पूजा का प्रचलन इस काल में विशेष रूप से हुआ। यद्यपि महाकवि कालिदास ने राम को विष्णु का अवतार माना है तथापि प्रतीत होता कि गुप्त युग में छठी शताब्दी तक राम-पूजा का प्रचलन नहीं हुआ था। किन्तु डॉ. डी.सी. सरकार ने इस मत को स्वीकार नहीं किया है। गुप्तकालीन अभिलेखों में विष्णु और उनके अवतारों से सम्बन्धित पौराणिक कथाओं का कई स्थानों पर उल्लेख किया गया है।

कृ

कृ

3. शैव धर्म— गुप्तकाल में शैव धर्म का भी काफी प्रचार था। यद्यपि गुप्त सम्राट स्वयं वैष्णव धर्मावलम्बी थे तथापि उन्होंने शिव पूजा के प्रचलन में कोई बाधा उपस्थित नहीं की। उनके मंत्री, सेनानायक और उच्च पदाधिकारी शैव थे। समुद्र गुप्त का इलाहाबाद पाषाण स्तम्भ लेख का रचयिता महादण्डनायक,

प्राचीन भारतीय इतिहास

सन्धिविग्रहिक मन्त्री हरिषेण शिव का उपासक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा पाषाण स्तम्भ लेख के विवरण से पता चलता है कि मथुरा की तरफ माहेश्वर सम्प्रदाय का, जो कि शैवों की ही एक शाखा थी, प्रचार-प्रसार था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के दूसरे उदयगिरी – लेख में उसके सन्धिविग्रहिक मन्त्री शाव वीरसेन द्वारा शिव के मन्दिर के रूप में गुफा निर्माण किए जाने का उल्लेख है। कुमारगुप्त प्रथम मिलसद स्तम्भ लेख में ध्रुवशर्मा नामक एक ब्राह्मण के द्वारा स्वामी महासेन के मन्दिर में श्रतलीश के निर्माण और छत्र आदि की स्थापना का उल्लेख है। कुमारगुप्त प्रथम के करमदण्ड – लेख में उसके मन्त्री पृथ्वीषेण द्वारा भगवान महोदय के शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है। गुप्त युग की तक्षण कला में शिव मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जिनसे पता चलता कि इस समय एकमुख या चतुर्मुख शिव की पूजा का प्रचलन था। त्रिशूल और नन्दी के अनेक चिन्ह भी प्राप्त हुए हैं।

4. बौद्ध धर्म गुप्तकाल के बौद्ध साहित्य और चीनी यात्री फाह्यान के यात्रा वर्णन से बौद्ध धर्म पर काफी प्रकाश पड़ता है। गुप्तकाल में हीनयान और महायान दोनों ही सम्प्रदाय फल-फूल रहे थे, किन्तु हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या कम थी। महायान के अनुयायियों ने बुद्ध की सर्वशक्तिमता में विश्वास कर उनको ईश्वर का पद दे डाला था और बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ चौत्यों में स्थापित होने लगी थीं। स्तुति, अर्चन और पूजा की प्रथा का भी प्रचलन चल गया था। महायान का यह रूप वैदिक भक्ति मार्ग के अधिक निकट था। अतः दोनों का समन्वय तेजी से हो रहा था। फाह्यान ने अनेक नगरों और स्थानों में बौद्ध स्तूप, विहार, चौत्य आदि देखे थे, किन्तु इस काल के उत्कीर्ण लेखों और उसके यात्रा वर्णन से स्पष्ट है कि वैदिक धर्म अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ा रहा था, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि बौद्ध धर्म लुप्त हो रहा था।

मनकुँवार (इलाहाबाद

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

277

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

278

जिला) लेख में बुद्धमित्र द्वारा भगवान बुद्ध की प्रतिमा स्थापित किए जाने का उल्लेख है। इस प्रकार गुप्त युग के लगभग दस अभिलेख बौद्ध धर्म से सम्बन्धित पाये गए हैं। बौद्ध धर्म की दृष्टि से इस समय आन्ध्र देश का महत्त्व बढ़ गया था। आचार्य नागार्जुन ने इसी भूमि को अपना प्रथम क्षेत्र चुना था। नागार्जुनी कोंडा नामक विहार में हजारों की संख्या में बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। कांची और वल्लभी में भी कुछ बौद्ध विहार थे जो बौद्ध दर्शन, धर्म और शिक्षा के

केन्द्र थे। राजा और प्रजा दोनों ही इनकी सहायतार्थ उदारतापूर्वक दान दिया करते थे। गुप्त सम्राटों की धार्मिक नीति अत्यन्त उदार थी। अतः गुप्त सम्राटों ने वैष्णव धर्म के अनुयायी होते हुए भी बौद्ध धर्म पर न तो किसी प्रकार का अत्याचार किया और न इसे अपने यहाँ प्रश्रय देन से वंचित रखा। कुछ विद्वानों का मत है कि हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के कारण गुप्त काल में बौद्ध धर्म क्षीण हो गया था। डॉ. अल्टेकर ने सबल तर्कों के आधार पर यह लिखा है कि इस समय बौद्ध धर्म काफी समृद्ध अवस्था में था।

5. जैन-धर्म— जैन-धर्म के इतिहास की दृष्टि में गुप्तकाल का अत्यधिक महत्त्व है। कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल के उदयगिरी गुप्त-लेख से विदित होता है कि उत्तरीय जनपद के वीर रिपूघ्नशंकर ने उदयगिरी गुफा के मुख पर जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की थी। गोरखपुर के काहोम स्थान में प्राप्त स्कन्दगुप्त के समय का जैन-शैल स्तम्भ लेख में मद्र नामक व्यक्ति द्वारा पंच तीर्थंकरों की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। वल्लभी की प्रसिद्ध जैन-संगीति (महासभा) गुप्तकाल में थी। इस सभा में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्तों को लेख-बद्ध किया गया। भद्रबाहु द्वितीय ने महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं। इस समय मगध जैन धर्म का केन्द्र था। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में इसका प्रचार अधिक हुआ। उत्तरी भारत में जैन धर्म के राज्याश्रय प्राप्त नहीं हो सका, किन्तु दक्षिण में कई राजवंशों ने इसका पोषण किया। मथुरा और वल्लभी श्वेताम्बर जैन-धर्म प्रमुख केन्द्र थे, जबकि उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्धन तथा दक्षिणी भारत में कर्नाटक और मैसूर में दिगम्बर जैन मत के केन्द्र थे। किन्तु वैदिक धर्म का वैष्णव सम्प्रदाय जैन-धर्म को धीरे-धीरे आत्मसात् कर रहा था।

के
आर्थिक जीवन

गुप्तकाल में जितनी प्रगति सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हुई थी उतनी ही आर्थिक क्षेत्र में भी हुई। गुप्तों की उदार शासन व्यवस्था ने आर्थिक उन्नति को सबल प्रोत्साहन प्रदान किया। आवागमन के साधनों का विकास होने से कृषि, उद्योग-धन्धे और व्यापार आदि को अत्यधिक उन्नति हुई।

कृषि एवं राजस्व व्यवस्था— गुप्तकालीन आर्थिक व्यवस्था कृषि पर अवलम्बित थी। गुप्तकाल में कृषि का पारम्परिक अनुकरण होता रहा। गुप्तकालीन अभिलेखों और साहित्य में कृषि सम्बन्धी अनेक क्रियाओं का वर्णन मिलता है! बैलों से हल चलाये जाते थे। जो बैल हल और गाड़ी दोनों खींचते थे, वे अधिक अच्छे माने जाते थे। अच्छे हल को श्शुहलश् तथा खराब हल को श्दुर्हलश् कहा जाता था। जोती जाने वाली भूमि को श्हल्याश् तथा जोती हुई भूमि को श्शीत्यश् कहा जाता था। खेतों में कभी-कभी दो पदार्थ एक साथ बोये जाते थे। उड़द और तिल बहुधा एक साथ बोने का उपक्रम किया जाता था। यद्यपि अधि

प्राचीन भारतीय इतिहास

सकतत कृषि वर्षा पर निर्भर करती थी, तथापि भूमि की उर्वरता हेतु तथा कृषि की उन्नति हेतु राज्य की ओर से सिंचाई की व्यवस्था भी की जाती थी। सिंचाई के निमित्त नदी, झील व बाँध, दीर्घिका (बड़ा तालाब), वापी (छोटा तालाब या बावड़ी) और कूप आदि से नहरें निकालकर खेतों में पानी पहुँचाया जाता था। गंगधर – अभिलेख में पश्चिमी मालवा के गुप्त सामन्त विश्ववर्मन द्वारा सिंचाई के लिए वापी, तड़ाग, दीर्घिका और कूप के निर्माण का उल्लेख मिलता है। स्कन्दगुप्त के समय गिरनार के नगरपाल चक्रपालित द्वारा सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराने का भी उल्लेख मिलता है। सिंचाई की पर्याप्त सुविधा के कारण उपज की मात्रा अत्यधिक बढ़ गई थी। समयानुसार कृषकों को बीज और कर्ज भी प्राप्त होते थे। कृषकों की देखभाल के लिए राज्य की ओर से अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। अन्न की विभिन्न फसलों के अतिरिक्त देश में भाँति-भाँति के फलों तथा शाकों (सब्जियाँ आदि) की भी उपज होती थी। वस्तुतः गुप्तकाल में कृषि अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई थी। शान्ति एवं सुव्यवस्था का युग होने के कारण इस काल में कृषि एवं पशुपालन का बहुमुखी विकास हुआ।

र

कृ

गुप्तकाल में राजस्व का मुख्य स्रोत भूमि-कर था। भूमि कर की व्यवस्था भूमि के स्वामित्व पर निर्भर होती थी। गुप्तकाल में जागीरदारी प्रथा नहीं थी। अतः भूमि पर व्यक्तियों या परिवारों का समूहगत अधिकार था। समय-समय पर राज्य द्वारा भूमि, गाँव आदि ब्राह्मणों, श्रमणों, मन्दिरों और विहारों को दान में भी दी जाती थी, इससे भूमि पर राज्य के स्वामित्व का संकेत भी मिलता है, लेकिन व्यावहारिक रूप से भूमि अलग-अलग व्यक्तियों एवं परिवारों के अधिकार में थी। राजतंत्र और साम्राज्य के विकास के साथ-साथ भूमि पर राजा और राज्य का स्वामित्व बढ़ने लगा जिससे व्यक्तियों एवं उसके समूहों का भूमि पर अधिकार निर्बल हो गया था। राज्य की समस्त भूमि पर राज्य का अधिकार माना जाता था तथा कृषि भूमि की सुरक्षा करने के कारण राजा उपज का केवल अपना श्भागश् लेने का अधिकारी था, जो भूमि-कर होता था। भूमि कर की वसूली के लिए श्ग्राम भोजकश् नामक अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। सामान्यतः राजा उपज का छठा भाग प्राप्त करता था, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर राजा उपज का चौथा भाग भी ले सकता था। राजकीय भूमि पर जो किसान खेती करते थे उनसे उपज का आधा भाग राज्य को प्राप्त होता था। भूमि की उपयुक्तता तथा सिंचाई के साधनों की सम्पन्नता को दृष्टि में रखकर भूमि-कर की व्यवस्था की जाती थी। भूमि – कर प्रायः देश और काल के अनुसार निश्चित किया जाता था। भूमि पर स्थायी रूप से रहने वाले किसानों से लिया जाने वाला कर श्उद्रंगश् कहलाता था। भूमि पर अस्थायी निवास करने वालों से लिया जाने वाला कर श्उपरि कहलाता था। राजा अपनी प्रजा से जब फल-फूल, शाक आदि कर के रूप में प्राप्त करता था, तब वह श्प्रतिभागश्

कहलाता था ।

विभिन्न प्रकार के करों की वसूली करने वाले अधिकारी को शसमाहर्ता कहते थे। कौटिल्य ने तेरह प्रकार के राजकरों का उल्लेख किया है, जो सम्भवतः गुप्तकाल में भी राज्य द्वारा प्राप्त किए जाते थे। व्यापारियों की वस्तुओं पर लगने वाला कर शशुल्क कहलाता था। शशुल्क वसूल करने वाले अधिकारी को शशुल्काध्यक्ष कहा जाता था। कौटिल्य ने कुछ ऐसी वस्तुओं का उल्लेख किया है जिन पर शुल्क नहीं लिया जाता था। जो वस्तुएँ विवाह कार्य के उपयोग के लिए होती थीं, जो सामान नव-विवाहिता वधू पिता के घर से अपने पति के घर ले जा रही होती थी अर्थात् जो सामान उपहारस्वरूप मिला होता था तथा यज्ञ के लिए दही, दूध जैसी वस्तुओं पर शुल्क नहीं लगता था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यही व्यवस्था गुप्तकाल में प्रचलित रही होगी। व्यापारियों को मार्गों पर सुरक्षा प्रदान करने पर भी राज्य की ओर से व्यापारियों से शुल्क लिया जाता था। अपराधियों एवं कर्तव्यविहीन व्यक्तियों से दण्डस्वरूप जुर्माना भी वसूल किया जाता था। इस सम्बन्ध में ब्राह्मण, स्त्रियों व बालकों से कर ग्रहण नहीं किया जाता था। इस प्रकार गुप्त सम्राटों को विभिन्न करों से पर्याप्त आय होती थी। अतः गुप्तकाल आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्धि का काल था। गुप्तकालीन स्वर्ण मुद्राएँ इस युग की समृद्धि की ओर संकेत करती हैं। उद्योग धन्धे

—

कृ

गुप्तकाल में उद्योग-धन्धों की स्थिति भी समृद्धिपूर्ण और संतोषजनक थी। वस्त्र — उद्योग शबहुत ही उन्नत था। सूती, ऊनी और रेशमी — सभी प्रकार के वस्त्र तैयार किए जाते थे। गुप्त अभिलेखों व कालिदास के काव्यों से मालूम होता है कि रेशमी वस्त्र सर्वाधिक लोकप्रिय थे। चीन से भी रेशमी वस्त्रों का आयात होता था। वस्त्र चित्रित और रंग-बिरंगे भी बनते थे। कुमारगुप्त प्रथम और बंधुवर्मन के मन्दसौर अभिलेख से पता चलता है कि लाट विषय और मालवा में रेशमी वस्त्र का शिल्प अत्यन्त ही उन्नत अवस्था में था। लाट से रेशम के शिल्पकारों व बुनकरों की श्रेणी के बहुत से लोग दशपुर में जाकर बस गए थे, जहाँ रेशमी वस्त्र उद्योग से विपुल धनराशि अर्जित कर एक विशाल सूर्य मन्दिर का निर्माण करवाया था। वस्त्र उद्योग के साथ ही लौह उद्योग भी उन्नत अवस्था में था। कृषि, गृहस्थी व युद्धों में काम आने वाले औजार व शस्त्र लोहे के बनते थे। गुप्त युग के लौह उद्योग का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण मेहरौली का लौह स्तम्भ है। इसके लोहे में कुछ ऐसी धातुओं का मिश्रण है कि उस पर आज तक वर्षा, पानी आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। ताँबे व काँसे से बर्तन व मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। सुल्तानगंज में प्राप्त ताँबे की बुद्ध प्रतिमा उस समय की ताम्रकला का अनुपम उदाहरण है। उत्तर प्रदेश व बिहार में बुद्ध की कांस्य मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। शरीर सज्जा और श्रृंगार के लिए गुप्तकाल में अनेक प्रकार की प्रसाधन सामग्रियों का भी उत्पादन किया जाता था। इस युग में तेल



उद्योग भी संगठित व्यवसायों में स्थान रखता था। स्कन्दगुप्त के इन्दौर ताम्रपत्र— लेख से मालूम होता है कि इन्द्रपुर (बुलन्दशहर जिला) में तेल उद्योग वालों

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

स्व-प्रगति का परीक्षण करें रु

1. वैदिक धर्म से आप क्या समझते

हैं?

2. गुप्तकालीन सभ्यता एवं संस्कृति का वितरण ललित कलाओं के वर्णन के बिना किस प्रकार पूर्ण किया जा सकता है? स्पष्ट करें।

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

279

प्राचीन भारतीय इतिहास

की तैलक श्रेणी बनी हुई थी। गुप्तकाल में विविध प्रकार के आभूषणों का प्रयोग किया जाता था, जिससे ज्ञात होता है कि स्वर्णकार का व्यवसाय समृद्ध अवस्था में था !

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

280

इस काल के उद्योगी और व्यवसायी श्रेणियों और गणों में संगठित थे। अपने-अपने व्यवसाय के संचालन के लिए उनके अपने नियम थे। वे आधुनिक बैंक का भी कार्य करते थे, ऋण ब्याज पर देते थे और निधियाँ ब्याज पर अपने पास जमा रखते थे। इनके द्वारा व्यापार और शिल्प को प्रोत्साहन प्राप्त होता था ।

व्यापार— कृषि एवं उद्योग-धन्धों की समृद्धि ने व्यापार की उन्नति को अनिवार्य बना दिया था। गुप्त-लेखों से इस समय के आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार पर काफी प्रकाश पड़ता है। देश में व्यापार की सुविधा के लिए राजमार्गों और जलमार्गों की समुचित व्यवस्था थी राज्यों की सीमाओं पर जो व्यापार शुल्क लगता था वह समाप्त हो गया था, जिससे आन्तरिक व्यापार को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। गुप्तों के सुशासन में मार्गों पर चोर डाकुओं का भय समाप्त हो गया था जिससे व्यापारी सुरक्षापूर्वक सर्वत्र यात्राएँ कर सकते थे। इस समय जलमार्ग व्यापार की दृष्टि से अधिक सुविधाजनक और कम खर्चीला था। गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी नदियों द्वारा व्यापार होता था। इसके लिए बड़ी-बड़ी नौकाएँ बनायी जाती थीं। नगरों में व्यापार कर्म करने वाले घनिक व्यापारी श्रेष्ठी या नगर श्रेष्ठी कहलाते थे।

श्र

गुप्तकाल में विदेशी व्यापार भी काफी विकसित अवस्था में था। बाहरी देशों के साथ व्यापार को जाने वाले व्यापारी वर्ग का मुखिया सार्थवाह कहलाता था।

विदेशों से स्थल व जल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। स्थल मार्ग द्वारा पूर्व में तिब्बत तथा चीन और पश्चिम में ईरान और अरब से व्यापार होता था। पूर्व में ताम्रलिप्ति का बन्दरगाह प्रमुख था। चीन, लंका, जावा, सुमात्रा आदि देशों को भारतीय इसी बन्दरगाह द्वारा जाते थे। गुप्तकाल में पश्चिमी देशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध काफी पुराना हो चुका था। जिस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने काठियावाड़ के बन्दरगाहों पर अपना अधिकार कर लिया, भारत के पश्चिमी व्यापार को प्रबल प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। लोंग और चन्दन की लकड़ी लंका पहुँचाई जाती थी और वहाँ से उसका निर्यात पश्चिमी देशों को किया जाता था। मोती, बहुमूल्य पत्थर, सुगन्धित पदार्थ, कपड़े, मसाले, नील, औषधियाँ, नारियल आदि निर्यात की प्रमुख सामग्री थीं। इन वस्तुओं के बदले में विदेशों से सोने के सिक्कों का आयात होता था। गुप्त युग में घोड़ों का आयात उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त, अरब, फारस और अफगानिस्तान से किया जाता था।

साहित्य एवं विज्ञान

उ

गुप्त-काल संस्कृत साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्व का युग था। इस काल में संस्कृत भाषा और साहित्य की अपूर्व उन्नति हुई। कुछ विद्वानों का तो कहना है कि इस काल में संस्कृत साहित्य का पुनर्जन्म हुआ था। किन्तु यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि संस्कृत में सृजन का स्त्रोत कभी पूर्ण रूप से शुष्क नहीं हुआ था। अशोक ने धार्मिक प्रचार का माध्यम पालि भाषा को बनाया था, किन्तु शुङ्गों ने उसे संस्कृत कर दिया। पालि भाषा को जो राज्याश्रय प्राप्त हुआ वह कुषाणों के समय तक जारी रहा, फिर भी संस्कृत साहित्य की बाढ़ रुकी नहीं। कुषाणों के बाद भारशिवों और वाकाटकों द्वारा संस्कृत पुनः राजकीय व्यवहार का माध्यम बन गई। गुप्तकाल तो संस्कृत साहित्य के सृजन का स्वर्णकाल था। गुप्तकालीन अभिलेख और सिक्के इस उन्नति का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। गुप्त अभिलेखों में संस्कृत काव्य का उत्कृष्ट रूप मिलता है। प्रयाग प्रशस्ति का रचयिता हरिषेण, गद्य और पद्य दोनों ही सुगमता से लिख सकता था। इस प्रकार मन्दसौर – प्रशस्ति का रचयिता वत्सभट्टि महान् कवि था। उसकी वर्णन शैली काव्यमयी और अलंकारमयी है, किन्तु आडम्बर से दूर है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मेहरौली-स्तम्भ लेख से पता चलता है कि इसका रचयिता भी कोई साधारण कवि नहीं था। महाकवि कालिदास गुप्तकाल की ही विभूति थे। महाकवि कालिदास तो विश्व के सर्वोत्कृष्ट कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जिस विषय पर भी महाकवि की लेखनी चली उसमें कोई दूसरा उनकी समता नहीं कर सका। उनके ग्रन्थों में कौनसा ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ है, नहीं कहा जा सकता। शकुमारसम्भवम् और शरद्विंशम् महाकवि के दो महाकाव्य हैं, शमेघदूतम् और शृङ्गार संहारश्च उनके दो खण्ड-काव्य हैं और शविक्रमोर्वशीयम्, शमालविकाग्निमित्रम् तथा शअभिज्ञान शाकुन्तलम् उनके तीन नाटक हैं। इन ग्रन्थों का अध्ययन करते समय हृदय इतना आनन्दित हो उठता है कि

प्राचीन भारतीय इतिहास

समालोचना कुछ

समय के लिए मूक हो जाती है। शूद्रक गुप्त युग के दूसरे साहित्यकार हैं जिन्होंने शृच्छकटिकम् नामक एक उत्कृष्ट नाटक लिखा। इस नाटक की विशेषता यह है कि नाटककार ने समाज में निम्न कहे जाने वाले लोगों को भी अपने नाटक का पात्र बनाया है और सहानुभूति के साथ उनके चरित्र की विशेषताएँ प्रदर्शित की हैं। श्मुद्राराक्षसश् का रचयिता विशाखदत्त भी गुप्तकाल में ही हुआ था। श्मुद्राराक्षसश् नाटक में चाणक्य का चरित्र बड़ा ही प्रभावशाली है। विशाखदत्त ने श्देवी चन्द्रगुप्तम् नाटक भी लिखा था, किन्तु यह नाटक अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। सुबन्धु इस काल के प्रसिद्ध लेखक थे जिन्होंने श्वासवदत्ताश् नामक ग्रन्थ की रचना की थी। रीतिशास्त्र काव्यालंकार के लेखक भामह भी इसी युग में हुए थे। संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ शृचतंत्रश् की रचना भी गुप्तकाल में ही हुई थी।

गुप्तकाल में धार्मिक साहित्य का सृजन भी हुआ था। यद्यपि पुराणों की रचना गुप्तयुग के कई सौ वर्षों पूर्व हो चुकी थी, किन्तु आज वे जिस रूप में प्राप्त हैं, उनको वह रूप अधिकांशतः गुप्तकाल में ही दिया गया था। वैदिक संस्कारों एवं भक्तिवादी तत्वों के समन्वय का सर्वप्रथम प्रयास पुराणों में ही किया गया है। मनुस्मृति के आधार पर इस युग में स्मृतियाँ भी लिखी गईं। याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन और बृहस्पति ने अपने स्मृति ग्रन्थों का प्रणयन इसी युग में किया था। याज्ञवल्क्य की स्मृति में आचार (रीति—रिवाज और संस्कार), व्यवहार (सिविल कानून) और प्रायश्चित्त — इन तीनों पर समुचित ध्यान दिया गया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से पता चलता है कि गुप्तकाल में न्याय सम्बन्धी नियमों का भी विकास हो रहा था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर गुप्त युग में कामन्दक ने शनीति—सारश् की रचना की थी।

गुप्त युग में दार्शनिक साहित्य का भी प्रचुर मात्रा में सृजन हुआ। हिन्दुओं, बौद्धों और जैनियों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। सांख्य दर्शन पर सबसे पहले टीका लिखने वाले ईश्वरकृष्ण थे, जिन्होंने श्सांख्यकारिकाश् नामक ग्रन्थ लिखा। न्याय — दर्शन पर भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। वात्स्यायन ने न्याय सूत्रों पर एक टीका लिखी। बौद्ध और जैन धर्मों में भी दार्शनिक साहित्य का सृजन हुआ। बौद्ध आचार्य वसुबन्धु ने हीनयान और महायान दोनों पर ग्रन्थ लिखे, जिनमें श्अभिधर्मकोषश् इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति है। बौद्ध आचार्य दिगनाग के प्रमाण समुच्चयश् और श्न्याय प्रवेशश् महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। बौद्ध दार्शनिक बुद्धघोष ने श्सुमंगलविलासिनीश् नामक विख्यात ग्रन्थ की रचना की।

गुप्तकाल में जैन ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया गया तथा जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। प्रसिद्ध जैन आचार्य सिद्धसेन ने दिगनाग की भाँति न्याय दर्शन पर ग्रन्थ लिखे। श्न्यायावतारश् जैन न्याय का सबसे प्रामाणिक और प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है। सिद्धसेन ने श्तत्त्वानुसारिणी तत्त्वार्थ टीकाश्

नामक मौलिक ग्रन्थ की रचना भी की।

७

गुप्त युग के प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह ने शअमरकोश का प्रणयन किया, जो संस्कृत का सबसे प्रसिद्ध कोष है। चान्द्र नामक कश्मीर निवासी बौद्ध विद्वान् ने एक व्याकरण ग्रन्थ लिखा जो कश्मीर, तिब्बत, नेपाल और श्रीलंका में बड़ा प्रसिद्ध और लोकप्रिय था। दक्षिण में हिन्दू-धर्म के दो भक्तिवादी सम्प्रदायों ने तमिल साहित्य को प्रभावित किया। वैष्णव आलवारों ने तथा शैव नयनचारों ने तमिल भाषा में भक्ति से ओतप्रोत पदों की रचना की।

गुप्तकाल में विज्ञान की भी अत्यधिक उन्नति हुई ज्योतिष और गणित के क्षेत्र में गुप्त-कालीन विज्ञान की महत्त्वपूर्ण देन है। दशमलव पद्धति का विकास गुप्त युग में ही हुआ था, जो विश्व सभ्यता को भारत की

प्रमुख देन है। गुप्त युग में चिकित्सा विज्ञान का भी विकास हुआ। छठी शताब्दी के प्रारम्भ में प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य वाग्भट्ट ने शअष्टांग हृदय नामक ग्रन्थ की रचना की। प्राचीन साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा में विद्यमान नवरत्नों में धन्वन्तरी भी एक था। धन्वन्तरी आयुर्वेद का मुख्य आचार्य माना जाता है तथा वैद्य लोग उसे अपने विज्ञान का देवता मानते हैं। गुप्तकाल की एक अन्य चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तक शनवनीतकम्ह पूर्वी तुर्किस्तान में मिली है। पालकाप्य नामक एक पशु-चिकित्सक ने शहस्त्युपवेदश नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसमें हाथियों के रोग, उनके निदान और चिकित्सा का विस्तृत वर्णन है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छठे

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

281

प्राचीन भारतीय इतिहास

छठे

“मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

282

गणित और ज्योतिष विज्ञान की भी इस काल में बहुत उन्नति हुई। आर्यभट्ट और वराहमिहिर जैसे प्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिषी इसी युग में हुए थे। आर्यभट्ट का ग्रन्थ शआर्यभट्टीयम्ह गणित सम्बन्धी ज्ञान को भली-भाँति प्रकट करता है। इसमें अंकगणित, बीजगणित तथा रेखागणित के सिद्धान्तों व सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है। आर्यभट्ट ने पृथ्वी की परिधि की अनुमानतः जो माप की थी, वह आज तक प्रायः सही मानी जाती है। पृथ्वी गोल है तथा अपनी धुरी पर चलती है, आदि सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का श्रेय आर्यभट्ट को है। उसने सूर्य और चन्द्र के विषय में पौराणिक धारणा का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया कि ग्रहण में राहु और केतु का कोई स्थान नहीं है बल्कि चन्द्रमा तथा पृथ्वी की छाया का फल है। वराहमिहिर गुप्तकाल का प्रसिद्ध

प्राचीन भारतीय इतिहास

ज्योतिषी था । उसने पाँच पुस्तकें लिखी थीं जिनमें श्वृहत्संहिता नामक ग्रन्थ ज्ञान-विज्ञान का विशाल कोष है। इस ग्रन्थ में नक्षत्रों की गति तथा मनुष्य पर उनके प्रभाव का वर्णन किया गया है ब्रह्मगुप्त भी गुप्तकाल के प्रसिद्ध ज्योतिषी थे जिन्होंने श्वृह्म सिद्धान्त नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

ललित कलाएँ

—

गुप्तकालीन सभ्यता एवं संस्कृति का विचरण ललित कलाओं के वर्णन के बिना पूर्ण नहीं माना जा सकता, क्योंकि गुप्तकालीन जीवन की स्वर्णिमता और समाज की सम्पन्नता को शललित के द्वारा हो आँका जा सकता है। संगीत के विभिन्न अंग नृत्य और वाद्य के साथ-साथ अभिनय व चित्रकला भी ललित कला के अंग हैं। इसलिए महाकवि कालिदास ने इन सबका समवेत रूप में रघुवंश में शललितकला के नाम से उल्लेख किया है। शमालविकाग्निमित्र नाटक की नायिका मालविका को महाकवि ने नृत्य गीत व अभिनय में निपुण होने के कारण ललितकला में पारदर्शी कहा है। ललित कलाएँ मनोरंजन के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास का साधन मानी जाती थीं। सांसारिक जीवन की कठोर शुष्कता को दूर करने और जीव और जगत् के बीच रागात्मक तथा भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में संगीत बड़ा साधन माना जाता

था।

कृ

संगीत कला गुप्तकालीन साहित्य के अतिरिक्त गुप्त-अभिलेखों और सिक्कों से प्रकट होता है कि उस समय संगीत कला अत्यन्त लोकप्रिय थी। सम्राट समुद्रगुप्त तथा उसके वंशज स्वयं ललित कलाओं के मर्मज्ञ, पारखी च उपासक थे। प्रयाग प्रशस्ति में संगीत विद्या को शगान्धर्व-ललित तुम्बरु और देव संगीतज्ञ नारद से भी बढ़कर घोषित किया गया है। संगीत के प्रेम से प्रेरित होकर समुद्रगुप्त ने वीणा-शैली के सिक्के प्रचलित किए थे जिनमें वह सामने की तरफ पर्यंक पर आसीन वीणा बजाता हुआ दिखाया गया है तथा पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी की मूर्ति अंकित है। ये सिक्के समुद्रगुप्त की संगीत मर्मज्ञता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के पर्यंक शैली के सिक्कों पर उत्कीर्ण श्रुपाकृति अभिलेख से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय भी कला-मर्मज्ञ और शललित का प्रेमी था। स्कन्दगुप्त के मित्तरी पाषाण स्तम्भ लेख में उसके संगीत — शास्त्र के ज्ञान का उल्लेख है। पवाया (ग्वालियर) में प्राप्त द्वार के अग्रभाग पर बने गुप्तयुगीन शिल्प में संगीत नृत्य में भाग लेने वाली दस सुन्दर नारियाँ चित्रांकित की गई हैं, इनमें से एक लाल कमल लिए बैठी हैं और शेष पीठों अथवा मयूरकों पर आसीन हैं, जिसमें कोई वीणा, कोई वेणु, कोई मृदंग और कोई झल्लरी बजा रही है। इस चित्रांकन से स्पष्ट है कि संगीत नृत्य लोकप्रिय कला थी। इसी प्रकार सारनाथ में प्राप्त एक प्रस्तर खण्ड पर भी ऐसा दृश्य उत्कीर्ण है।

—

श्र

अभिनय कला

अभिनय अथवा नाट्यकला भी गुप्तकाल में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी। यह महाकवि कालिदास की रंगमंचीय नाट्य-कृतियों से निर्विवाद है। प्रयोग-प्रधान दृश्य-काव्य होने से नाटक के पात्रों के अभिनय कौशल पर विशेष ध्यान रखा जाता था तथा पात्रों का चयन गुण और योग्यता के आधार पर किया जाता था, ताकि अभिनय कौशल से विद्वान प्रेक्षकों को संतोष प्राप्त हो सके। तात्कालिक विद्वान् आलोचकों ने नवोदित कवि कालिदास की काव्य-मर्मज्ञता को पहचान कर ही पुराने नाटककारों की जगह उनकी काव्य-रचना मालविकाग्निमित्र का रंगमंच पर आदर किया था। अतः कालिदास के नाटकों का उस समय में सफलतापूर्वक अभिनीत किया जाना यह प्रमाणित करता है कि गुप्त युग में भारतीय नाट्य कला पूर्णतया विकसित हो चुकी थी। भरत मुनि नाट्यशास्त्र के आदि आचार्य माने जाते हैं और वे देव-लोक के नाट्याचार्य व नाट्य निर्देशक थे। कालिदास की नाट्य कला भरत मुनि के

□

नाट्यशास्त्र के विधान पर आधारित थी। नाटकों का एक प्रकार गीत-नृत्य नाट्य था। मालविकाग्निमित्र में चतुष्पदीय छलिकश नामक नाटक के प्रयोग का उल्लेख है। इसमें चतुष्पदी पहले गायी जाती थी और गान समाप्त करने के बाद अभिनेत्री तथा अभिनेता गीत के बोलों में निहित भावों को अपने अंगों द्वारा सम्यक् रूप से व्यक्त करते थे। अभिनय का यह प्रकार श्लिक अभिनय कहा जाता था। इसमें भाग लेने वाले पात्रों के लिए अधिक साज-श्रृंगार वर्जित था, ताकि वे अभिनय के समय अपना सम्पूर्ण अंग-सौष्टव ठीक-ठीक अभिव्यक्त कर सकें।

चित्रकला – गुप्तकालीन साहित्य से पता चलता है कि इस युग में चित्रकला भी अपने परम गौरव को प्राप्त कर चुकी थी। कालिदास के ग्रन्थों में चित्रकला से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख मिलता है जैसे— चित्र, चित्रशाला, चित्र—फलक, वर्तिका (खाना बनाने की पैसिल), तूलिका (रंग भरने का ब्रश), वर्णिका करण्डक (रंग की मंजूषा), उन्मीलित (रंग से भरना) आदि। कालिदास ने शमेघदूत में अलका के राजप्रासादों को ललित लीलाओं के चित्रों से सचित्रित बतलाया है। शरघुवंश में अयोध्या के राजप्रासाद की भित्तियों पर बने चित्रों का उल्लेख है। इन चित्रों में एक चित्र में हाथियों का आलेखन इतना सजीव था कि कालिदास के शब्दों में क्रोधित सिंहों ने उन्हें सचमुच का समझा और नखों से उनके मस्तक विदीर्ण कर दिए। भित्तियों के अलावा प्रासाद के द्वारों और स्तम्भों पर बने चित्रों का भी महाकवि ने वर्णन किया है। मालविकाग्निमित्र में एक समूह — चित्र फलक का भी उल्लेख है। कालिदास के ग्रन्थों में गुप्तयुग की चित्रकला की सजीवता व आकर्षण के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। मालविकाग्निमित्र में महाकवि ने मालविका के प्रति अग्निमित्र के हृदय में प्रथम आकर्षण उत्पन्न होने के उपादान चित्र को बताते हुए रानी की सेविका कुमुदनी से कहलवाया था कि सुन्दर आकृतियों (चित्रों) के प्रति मन खिंच ही जाता है

प्राचीन भारतीय इतिहास

अथवा प्रेम उत्पन्न हो ही जाता है।

—

बाघ

गुप्तकाल की चित्रकारिता के वास्तविक नमूने तो हमें प्राप्त नहीं हो सके हैं, किन्तु अजन्ता और बाघ की गुफाओं के भित्ति चित्रों को देखकर गुप्तयुगीन चित्रकला के स्वरूप का दर्शन किया जा सकता और अजन्ता के चित्रों का चित्रण — काल 5वीं व 7वीं सदी के भीतर माना जाता है। अजन्ता की गुफाएँ संख्या में 19 हैं। इनमें बने भित्ति चित्र ई. पू. की पहली दूसरी सदी से लेकर सातवीं सदी तक के माने जाते हैं। सम्भवतः अजन्ता के अधिकांश चित्र 5वीं सदी के प्रारम्भ और 7वीं सदी के मध्य के आस-पास तक चित्रांकित किए गए थे। गुप्तों के समय अजन्ता का प्रदेश वाकाटकों के सीधे शासन में रहा तथा सातवीं सदी में उस पर चालुक्यों का आधिपत्य था। अतः यह माना जाता है कि अजन्ता के भित्ति — अजन्ता की गुफाएँ और भित्ति चित्र अधिकांशतः वाकाटकों के संरक्षण में चित्रित किए गए थे। यद्यपि उनके निर्माण में कला की जो शैली अपनाई गई वह तिब्बती इतिहासकार के अनुसार मध्यप्रदेश की कला — शैली अथवा आर्यावर्त की नागर-शैली ही थी। अजन्ता के चित्रों से यह ज्ञात होता है कि भारतीय कलाकारों ने मानव-जीवन का कोई क्षेत्र अछूता नहीं छोड़ा था। अजन्ता के चित्रों में श्मरणासन्न राजकुमारीश् चित्र की भावाभिव्यक्ति इतनी गम्भीर है कि इसे देखकर चित्त प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। श्माताशपुत्रश् नामक चित्र भी अजन्ता की चित्रकला का अद्भुत नमूना है। अजन्ता की चित्रकारी में जुलूसों के दृश्य भी बड़े रमणीय तथा चित्ताकर्षक हैं। बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित चित्रों में श्महाभिनिष्क्रमणश् का चित्र बड़ा ही प्रभावशाली है। इस चित्र के विषय में निवेदता कहती है, 'यह चित्र सम्भवतः भगवान् बुद्ध का सबसे महान् कल्पनात्मक चित्रण है जिससे संसार ने आज तक उत्पन्न नहीं किया है। ऐसी अद्वितीय कल्पना पुनः उत्पन्न नहीं की जा सकती।' ८

अजन्ता के चित्रों की जितनी अधिक प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। श्रीमती हेरिन्डम का कथन है कि अजन्ता के चित्रों के कारण भारत मानवता की श्रद्धा का अधिकारी है। चित्रों में विविध प्रकार का अंग — विन्यास, मुख-मुद्रा, भाव-भंगिमा, वेशभूषा, अलंकार, विविध केश विन्यास, अंग-प्रत्यंग, रूप-रंग आदि अति सुन्दरता से चित्रित हैं। सुन्दर कल्पना, रंगों की प्रभा, प्रशंसनीय रेखाओं का लालित्य और अभिव्यक्ति की सम्पन्नता के कारण इन भित्ति चित्रों में अद्वितीय आकर्षण और सौन्दर्य है। अजन्ता की चित्रकारी इतने उत्कृष्ट दर्जे की थी कि वास्तव में उसका कोई अनुकरण नहीं कर सकता।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छात्र

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

283

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिन्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

स्थापत्य एवं मूर्तिकला

भारतीय वास्तुकला के इतिहास में गुप्तों के शासन ने एक नये युग का आविर्भाव किया। गुप्तकाल के पूर्व भवन अधिकांशतः बाँस और काष्ठ जैसी शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं से बनाये जाते थे। गुप्तकालीन निर्माताओं ने पत्थर और ईंटों से भवनों तथा मन्दिरों का निर्माण करवाया। अतः वास्तुकला के क्षेत्र में गुप्त युग की उपलब्धियाँ निःसन्देह प्रशंसनीय हैं। गुप्त युग के राजप्रासाद अथवा भवनों के कोई अवशेष हमें उपलब्ध नहीं हुए हैं, किन्तु गुप्तकालीन साहित्य एवं अभिलेखों से गुप्तकालीन महलों व भवनों की विशालता तथा भव्यता का अनुमान किया जा सकता है। कुमारगुप्त प्रथम के मिलसद – लेख में स्वामी महासेन के मन्दिर के वर्णन से पता चलता है कि देव प्रासाद अत्यन्त भव्य और विशाल होते थे। मन्दिर मुख्य भवन के साथ साधुओं का निवास गृह तथा धर्मशालाएँ भी होती थीं। मन्दसौर— अभिलेख से पता चलता है कि इस काल में गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से युक्त कई वैभवशाली नगर भी विद्यमान थे। गुप्तकालीन साहित्य में भी ऊँचे और शानदार महलों का उल्लेख किया गया है।

के

.

—

गुप्तकाल में अनेक मन्दिरों का भी निर्माण कराया गया। इन मन्दिरों में प्रवेश के लिए मुख्य द्वार अथवा प्रतोली बनी होती थी, जिसमें स्वर्ग सोपान जैसी सीढ़ियों लगी होती थीं। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में चक्रभृत विष्णु के मन्दिर के विवरण से पता चलता है कि यह मन्दिर पहाड़ से उत्थित हुआ प्रतीत होता था और उसकी भव्यता ऐसी प्रतीत होती थीय मानो नगर के मस्तक पर वह अपना प्रभुत्व प्रकट कर रहा हो। इस समय बचे हुए प्रमुख मन्दिरों में तिगवा (जबलपुर जिले में) का विष्णु मन्दिर, नागौद राज्य में भूमरा का शिव मन्दिर, नचना कुठार का पार्वती मन्दिर, बौद्ध गया के बौद्ध मन्दिर, देवगढ़ का दशावतार मन्दिर तथा खोह (नागौद राज्य में) के मन्दिर मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त भिटार गाँव में एक ईंटों का मन्दिर है जिसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अच्छे ढंग का मेहराब है जो कि भारत की भवन निर्माण कला में प्रयुक्त मेहराब का प्राचीनतम नमूना है। इसके अतिरिक्त यह मन्दिर अपनी दीवारों पर उत्कीर्ण कलाकृतियों सहित गुप्त स्थापत्य एवं शिल्प के अच्छे नमूने प्रस्तुत करता है। विष्णु, शिव, सूर्य और अग्निदेव से सम्बन्धित मन्दिरों की कुछ मुहरें भी प्राप्त हुई हैं। संभवतः ये मुहरें मन्दिर के प्रबन्धकों द्वारा मन्दिर के अधिष्ठातृ देवता के नाम पर शासन प्रेषित करने के प्रयोग में लाई जाती थीं।

कृ

□

प्राचीन भारतीय इतिहास

मूर्तिकला मूर्तिकला के क्षेत्र में गुप्त युग के शिल्पियों ने भारत की मूर्तिकला में एक नूतन युग को जन्म दिया। गुप्तों से पूर्व कुषाण काल में भारत की मूर्तिकला ग्रीक शैली से प्रभावित थी, किन्तु गुप्त के समय में भारतीय मूर्तिकला धीरे-धीरे ग्रीक प्रभाव से मुक्त होकर सम्पूर्णतरु भारतीय परिवेश ग्रहण कर गई थी। अतः गुप्तकाल की मूर्तिकला विशुद्ध भारतीय मानी जाती है। गुप्तयुगीन मूर्तिकला भावपूर्ण ओजस्विता, आध्यात्मिक प्रभावोत्पादकता, सहज प्राकृतिकता, अंग सौष्ठवता, कलात्मक सुन्दरता तथा शिल्पीय कुशलता में

अनुपम है। गुप्त-युग

में बनी सर्वाधिक मूर्तियाँ सारनाथ में प्राप्त हुई हैं अतः यह अनुमान होता है कि गुप्तों के समय सारनाथ मूर्ति निर्माण कला का प्रमुख केन्द्र रहा होगा। सारनाथ में प्राप्त मूर्तियों में ब्रह्मा, बौद्ध और जैन प्रतिमाएँ सम्मिलित हैं। इनमें सबसे अधिक संख्या बौद्ध-मूर्तियों की है। कुमारगुप्त प्रथम के समय की एक बुद्ध प्रतिमा प्रयाग के समीप मनकुंवार में मिली है। यह मूर्ति अभय मुद्रा में सिंहासन पर आसीन है। कमर तक मूर्ति नग्न है लेकिन कमर से घुटनों के नीचे तक अधोवस्त्र है। उसके दोनों तरफ एक-एक साधु-पुरुष ध्यान लगाये बैठे हैं तथा दोनों तरफ दोनों में सिंह की प्रतिमाएँ हैं। यह मूर्ति पूर्णतया कुषाण-शैली की है। इस बुद्ध प्रतिमा तथा सारनाथ की प्रसिद्ध बुद्ध प्रतिमा को मिलाकर देखने से गुप्तकाल की विशिष्टता प्रत्यक्ष आँकी जा सकती है। सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा प्रभावोत्पादक, ओजस्वी और भावपूर्ण हैं। जबकि मनकुंवार की बुद्ध प्रतिमा में ऐसा कोई लक्षण दृष्टिगत नहीं होता। गुप्त-शैली की प्रस्तर व धातु की मूर्तियाँ बिहार में भी मिली हैं। बिहार में प्राप्त गुप्तयुगीन मूर्तियों को डॉ. बनर्जी ने पाटलिपुत्र – शैली का नाम दिया है। भागलपुर जिले के सुल्तानगंज में प्राप्त बुद्ध की ताम्र-प्रतिमा साढ़े सात फुट ऊँची है। भिलसा के समीप उदयगिरी गुहा में विष्णु के वराह अवतार की मूर्ति मिली है। इस मूर्ति का शरीर मनुष्य रूप का है और मुख वराह का एरण में भगवान् चतुर्भुज विष्णु की खड़ी प्रतिमा मिली है। देवगढ़ के विष्णु मन्दिर में भगवान् विष्णु शेषनाग के पयक पर शयन करते दिखाये गए हैं और लक्ष्मी उनके पाँच दबा रही है। अनन्तशायी विष्णु की यह मूर्ति गुप्तकला के उत्कृष्ट प्रतीकों में स्थान रखती

□

है।

है। मथुरा

में वर्धमान महावीर की मूर्ति प्राप्त हुई जिसमें महावीर पद्मासीन तथा ध्यानावस्थित हैं। इनके अतिरिक्त काशी से उपलब्ध हुईय गोवर्द्धनधारी कृष्ण की मूर्ति, कौशाम्बी की सूर्य मूर्ति, भगवान् कार्तिकेय

कृ

की मूर्ति जो भारतीय कला भवन, काशी में सुरक्षित हैं तथा भरतपुर में रूपवास

नामक स्थान से प्राप्त बलदेव और लक्ष्मीनारायण की मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें बलदेव मूर्ति की ऊँचाई सत्ताईस फीट से भी अधिक है तथा लक्ष्मीनारायण की मूर्ति की ऊँचाई करीब दस फीट है।

पत्थर की मूर्तियों के अतिरिक्त इस काल में ईंटों एवं मिट्टी की मूर्तियों का भी प्रचलन था। सारनाथ के संग्रहालय में भगवान बुद्ध की विभिन्न मुद्राओं वाली अनेक मृण्मयी मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। इसी संग्रहालय में एक हिन्दू देवल की मृण्मयी मूर्ति रखी है जिसके गले में माला है और वक्षस्थल पर श्रीवत्स है। गुप्त काल की बनी शिव-पार्वती की एक मृण्मयी मूर्ति भीटा से प्राप्त हुई है। देवताओं के अतिरिक्त मिट्टी से मानव मूर्तियाँ भी बनायी जाती थीं। भीय और सहेत महेत में गुप्त युग की बनी पुरुष व नारी की अनेक मृण्मयी मूर्तियाँ मिली हैं। अहिच्छत्र से प्राप्त स्त्री के सिर के जूड़े की सजावट का विन्यास अत्यन्त कलात्मक है। मिट्टी की मूर्तियाँ अधिक संख्या में सारनाथ, कौशाम्बी, राजघाट, मथुरा, श्रावस्ती आदि प्राचीन स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। मिट्टी की मूर्तियों में जनसाधारण की रुचि के अनुसार छोटी-बड़ी मूर्तियाँ, जानवरों की मूर्तियाँ, खिलौने आदि का निर्माण भी होता था।

—

मुद्राकला गुप्त शासकों के सिक्के भी गुप्तयुगीन कलाकृतियों के सुन्दर उदाहरण हैं। गुप्त राजाओं ने अनेक शैलियों के स्वर्ण सिक्के प्रचलित किए थे, जिनमें सामने की तरफ प्रेषित करने वाले

गुप्त सम्राट को प्रतिकृति बनी रहती थी और पृष्ठ पर विभिन्न देवी-देवताओं की प्रतिकृति बनी होती थी। उनके ऊपर संस्कृत के छन्दों में राजाओं की कीर्ति और विरुद का उल्लेख होता था। गुप्तकालीन सोने के सिक्के दो प्रकार के थे एक रोमन तोल के शदीनारश् और दूसरे भारतीय तोल के शसुवर्णश् गुप्त मुद्राओं का कलात्मक स्वरूप कुमारगुप्त प्रथम के समय में देखने को मिलता है। अपने पूर्वजों की भाँति कुमारगुप्त प्रथम ने अनेक प्रकार के स्वर्ण सिक्के प्रचलित किए थे जैसे— धनुर्धारी, कृपाणधारी, अश्वमेधी, अश्वारोही, सिंह— हंता, व्याघ्र — हंता आदि। उसके मयूर शैली के सिक्के कला की दृष्टि से सुन्दरतम माने जाते हैं। इन सिक्कों में सामने की तरफ कुमारगुप्त प्रथम की आकृति बनी है जो दायें हाथ में फलों का गुच्छा लिए मयूर को चुगा रहे हैं। दूसरी तरफ मयूर पर बैठे कार्तिकेय दिखाये गए हैं। स्वर्ण के अलावा गुप्त राजाओं ने रजत और ताम्र सिक्के भी प्रचलित किए थे। कुमारगुप्त प्रथम ने मध्य भारत के लिए रजत सिक्के प्रेषित किए, जिन पर मयूर की आकृति है। स्कन्दगुप्त ने भी गरुड़ वाले रजत — सिक्के प्रेषित किए थे। गुप्तयुगीन ताम्र— सिक्के बहुत ही कम संख्या में प्राप्त हुए हैं। ताम्र— सिक्कों का प्रचलन संभवतः समुद्रगुप्त ने किया था। बर्दवान के कटवा नामक स्थान से समुद्रगुप्त के दो ताम्रन सिक्के प्राप्त हुए हैं जिस पर सामने कौ तरफ शीर्ष पर गरुड़ की आकृति है और नीचे शसमुद्रश् लिखा है। ताँबे के सबसे अधिक सिक्के चन्द्रगुप्त द्वितीय के मिले हैं। सभी सिक्कों के अग्रभाग पर राजा की आकृति और पृष्ठ पर गरुड़ का खड़ा चित्र है

प्राचीन भारतीय इतिहास

। कुमारगुप्त प्रथम के ताम्र- सिक्के बहुत ही कम प्राप्त हुए हैं। इसके एक ताम्र-सिक्के के अग्रभाग पर सम्राट की आकृति है। जो वेदी में हवि डाल रहा है और पृष्ठ पर खड़े व पंख फैलाये गरुड़ की आकृति हैं। कुमारगुप्त प्रथम के बाद गुप्त राजाओं के ताम्र-सिक्के नहीं मिले हैं। डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी के अनुसार ताम्र- सिक्कों के न्यूनतम प्रचलन का कारण- जैसा कि फाह्यान के विवरण से ज्ञात होता है, छोटे-छोटे विनिमय के लिए मुद्रा के रूप में कौड़ियों का प्रयोग किया जाना था।

ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म का पुनरुत्थान

—

ब्राह्मण धर्म और भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान में गुप्तवंशीय राजाओं का महान योगदान रहा है। अशोक के समय में प्रायः समस्त देश में बौद्ध धर्म का प्रचार होने के कारण ब्राह्मण धर्म सुषुप्त हो गया था। अशोक के उत्तराधि-कारियों ने भी बौद्ध धर्म व जैन-धर्म को ही प्रोत्साहित किया। अतः मौर्य काल तक देश में बौद्ध धर्म का ही प्रभुत्व रहा तथा ब्राह्मणवंशी शुंग राजाओं ने बौद्ध धर्म के स्थान पर वैदिक हिन्दू धर्म को पुनर्जागरित एवं प्रोत्साहित किया। अशोक के समय में वैदिक प्रक्रिया वाले यज्ञ और अनुष्ठान बन्द हो गए थे, किन्तु शुंगों के समय में वे प्रचलित हो गए। महाभारत काल के बाद पुष्यमित्र शुंग ने ही सर्वप्रथम अपनी विजयों के उपलब्ध में अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था और संस्कृत को राज्य की

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

285

प्राचीन भारतीय इतिहास

छल्लै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

ज्ञ6

ओर से राष्ट्रीय भाषा की मान्यता प्रदान की थी। पतंजलि का महाभाष्य उसी के समय की रचना है। शुंगों के पश्चात् उत्तर में कण्वों और दक्षिण में आन्ध्र के सातवाहन राजाओं ने भी बौद्ध और जैन धर्म के स्थान पर ब्राह्मण धर्म को प्रोत्साहित किया, किन्तु इन प्रयत्नों के बावजूद ब्राह्मण धर्म का विकास, जो मौर्यों के समय अवरुद्ध हो गया था, पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सका। इसका कारण यह था कि मौर्यों और शुंगों के पश्चात् मगध साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने पर यवन, शक और कुषाण ने जब उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित किया तो उन्होंने भी वैदिक धर्म के विपरीत बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया। कुषाण सम्राट कनिष्क के समय में महायान सम्प्रदाय में बुद्ध की मूर्ति पूजा का प्रचलन आरम्भ हो गया था। अतः मूर्ति पूजा बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार से ब्राह्मण धर्म को भारी आघात पहुँचा और उसका प्रभाव क्षेत्र अत्यन्त

ही संकुचित हो गया। फलस्वरूप शुंगों के बाद गुप्तों के अभ्युदय के बीच की पाँच शतियों में हिन्दू-धर्म को राज्य का संरक्षण न मिलने से वैदिक आचार-विचार, वर्ण तथा वर्णाश्रम व्यवस्था और ब्राह्मणों के यज्ञ-अनुष्ठान सभी समाप्त प्रायः हो गए थे। वस्तुतः शक-कुषाण काल में ब्राह्मण-धर्म पूरी तरह दब गया था और उसकी जगह बौद्ध धर्म ने ले ली थी। शक कुषाण राजाओं की नीति का ही प्रतिफल था कि ब्राह्मण-धर्म सुषुप्त हो चला था। ब्राह्मण-धर्म में निहित श्वराज्य और श्राष्ट्रयिताश के भावों के कारण ही विदेशी शासकों ने ब्राह्मण धर्म को कभी राज्याश्रय नहीं दिया।

कृ

—

गुप्तों के अभ्युदय के साथ ही उपर्युक्त स्थिति बदल गई। नाग-वाकाटकों की भाँति गुप्त सम्राट भारत और भारतीयता के प्रबल पोषक एवं समर्थक हुए। अतः गुप्त सम्राटों का संरक्षण प्राप्त कर ब्राह्मण ने बौद्ध और जैन-धर्म को पृष्ठ में धकेलकर पुनः गौरवपूर्ण स्थान को प्राप्त कर लिया और उनके काल में ब्राह्मण-धर्म राष्ट्र का प्रमुख धर्म बन गया। इसलिए गुप्त अभिलेखों में बौद्ध व जैन धर्म की अपेक्षा ब्राह्मण-धर्म का ही विवरण अधिक मिलता है। गुप्तों को ब्राह्मण धर्म की श्रेष्ठता का अभिमान था। उनकी रगों में आर्य सभ्यता का रक्त द्रुत गति से प्रवाहित हो रहा था। अतः उन्होंने हिन्दू धर्म और संस्कृति के तीन मूल तत्वों के द्वारा हिन्दू संस्कृति की स्थापना का निश्चय किया था। ये तीन तत्व थे—देश, भाषा और धर्म इन तीनों तत्वों में हिन्दुत्व का रंग भरकर उन्होंने भारत में हिन्दू-धर्म और संस्कृति को स्थापित करने की दिशा में महान् कदम उठाया था। इन्हीं तीन तत्वों के आधार पर उन्होंने स्वदेश, स्वभाषा और स्वधर्म का नारा दिया। स्वदेश से तात्पर्य भारतवर्ष से था तथा भारत को विदेशी जातियों से मुक्त कर सम्पूर्ण देश में भारतीय शासन व्यवस्था के अनुसार शासन स्थापित करना था। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भारत में स्थित विदेशी जातियों को उखाड़ फेंका तथा पूरे देश को एक ध्वज के नीचे लाकर अपनी श्वदेश की कल्पना को मूर्तरूप प्रदान किया।

कृ

—

श्वभाषा के नारे द्वारा वे पुनः संस्कृत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहते थे। अतः गुप्त सम्राटों ने संस्कृत भाषा को राजभाषा व राष्ट्रीय भाषा के रूप में गौरवान्वित किया। गुप्तों के संरक्षण में संस्कृत भाषा और उसका साहित्य जिस रूप से विकसित हुआ वह अद्वितीय था। गुप्तों के सभी अभिलेख संस्कृत में हैं। उनके अध्ययन से यह प्रकट होता है कि गुप्त काल के पण्डित व साहित्य सेवी संस्कृत पद्य और गद्य दोनों के रचना — शिल्प में सिद्धहस्त और कुशल-काव्यकार थे। प्रयाग प्रशस्ति से प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त शास्त्रों का ज्ञाता था और स्वयं एक महान् कवि था। उसने अपने न्याय के साथ शकविराजशब्द प्रतिष्ठित किया था। अशोक के पूर्व महात्मा बुद्ध ने संस्कृत के स्थान पर पालि

प्राचीन भारतीय इतिहास

एवं प्राकृत भाषा को ही प्रोत्साहन दिया था। अतः गुप्त सम्राटों के पहले तक के सभी नरेशों ने अपने अभिलेख पालि एवं प्राकृत भाषा में लिखवाने आरम्भ कर दिए थे, इससे संस्कृत को बड़ा भारी आघात लगा था किन्तु गुप्त सम्राटों ने अपनी संस्कृति के इस अनिवार्य अंग को पुनर्स्थापित किया। गुप्त सम्राटों ने संस्कृत को प्रोत्साहित करने के लिए अपनी प्रशस्तियाँ संस्कृत में लिखवाय तथा मुद्राओं पर भी संस्कृत में छन्दबद्ध लेख लिखवाये। गुप्त सम्राटों ने वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रति न केवल सम्मान प्रदर्शित किया बल्कि इन ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित विचारों को भी मूर्तरूप देने के अपने अधिकारों का प्रयोग किया। गुप्त सम्राट स्वयं संस्कृत के महान् विद्वान् थे। अतः स्वभाषा संस्कृत को पुनः देश में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। गुप्त सम्राटों के संरक्षण और प्रोत्साहन के फलस्वरूप इस युग में संस्कृत भाषा की शैली अत्यन्त सुघड़, सुन्दर और ललित हो गई तथा भाषा सुरम्य व अलंकारपूर्ण हो गई। संस्कृत भाषा की पुनर्स्थापना ने हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में महान् योगदान दिया।

—

—

श्वधर्मश के नारे द्वारा गुप्त सम्राट ब्राह्मण धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते थे। बौद्ध धर्म के उत्थान के साथ ही ब्राह्मण धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया था। अशोक और उसके उत्तराधिकारियों ने वेदों के इस धर्म को प्रश्रय भी नहीं दिया। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक एवं परवर्ती नरेशों ने हिन्दू-धर्म के प्रमुख तत्व अश्वमेध यज्ञ द्वारा अपनी सार्वभौमिकता भी प्रकट नहीं की। अतः राज्याश्रय के अभाव में ब्राह्मण धर्म को पतन के दिन देखने पड़े, किन्तु गुप्त सम्राटों को ब्राह्मण धर्म की श्रेष्ठता का अभिमान था। अतः गुप्त सम्राटों ने ब्राह्मण-धर्म के विभिन्न तत्वों को प्रतिष्ठापित करने वाले हिन्दू धर्म को अपने प्राचीन गौरवपूर्ण भव्य आकार में उपस्थित करने का निश्चय किया। गुप्तों ने वैष्णव धर्म को स्वीकार किया। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद पाषाण स्तम्भ लेख में उल्लिखित सभी देवगण कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम तथा पशुपति – शिव एवं गंगा आदि हिन्दू देव परिवार के हैं। इस लेख का रचयिता हरिषेण भी अपने स्वामी की भौति ब्राह्मणधर्मी शिव का उपासक था। समुद्रगुप्त का एक एरण स्तम्भ लेख— स्पष्टतः हिन्दू भाव का है। चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरी गुफा – लेख वैष्णव धर्म से सम्बन्धित है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के गढ़वा – लेख में ब्राह्मणों के दान गृह को दस दोनार दान दिए जाने का उल्लेख है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मेहरौली लौह-स्तम्भ लेख को इस लेख में श्विष्णुध्वजश कहा गया है। कुमारगुप्त प्रथम का घनैदह ताम्रपत्र भी हिन्दू-धर्म हिन्दू धर्म से सम्बन्ध रखता है और इसमें गुप्तों के किसी अधिकारी द्वारा सामवेदिन ब्राह्मण वाराहस्वामी को कुछ भूमि दान में देने का उल्लेख है। स्कन्दगुप्त का जूनागढ़-लेख भगवान् विष्णु की अभ्यर्थना से प्रारम्भ होता है। इसके अतिरिक्त गुप्तों के काल में अनेक हिन्दू मन्दिरों की भी स्थापना हुई थी। स्कन्दगुप्त के प्रान्तपति चक्रपालित द्वारा उर्जयत पहाड़ी पर श्चक्रभूत भगवान् विष्णु के मन्दिर का निर्माण करवाया गया। बनारस के राजघाट की खुदाई में

बहुत-सी मुद्राएँ मिलती हैं, जिन पर शिव के अनेक नाम अंकित हैं। विष्णु और शिव के बाद हिन्दुओं का तीसरा प्रमुख देवता सूर्य था। गुप्त-अभिलेखों से पता चलता है कि सूर्य की उपासना के लिए अनेक स्थानों पर मन्दिर बने हुए थे। कुमारगुप्त प्रथम के मालवा के गोप्ता बन्धुवर्मा के समय में दशपुर में रेशमी पट्ट बुनने वालों को श्रेणी ने शसूर्य मन्दिर का निर्माण करवाया था। स्कन्दगुप्त के समय में इन्द्रपुर नगर में भी शसूर्य मन्दिर का निर्माण हुआ था। गुप्त काल की बनी अनेक सूर्य – प्रतिमाएँ भी मिली हैं। गुप्त युग में विष्णु का वाराह अवतार सर्वाधिक लोकप्रिय रहा था। गुप्त सम्राटों की शपरमभागवत उपाधि से प्रकट है कि वे भगवान् विष्णु अथवा वासुदेव के परमभक्त थे। अतः उनकी राजकीय मुद्राओं व सिक्कों पर हम विष्णु के वाहन गरुड़ और विष्णु भार्या लक्ष्मी को अंकित पाते हैं। गुप्तों की ध्वजा भी गरुड़ प्रतीक युक्त थी।

गुप्त-युग में यद्यपि भक्ति धर्म सर्वाधिक लोकप्रिय था तथा जनसाधारण अपने-अपने देवी-देवताओं के लिए मन्दिर खड़े कर उनकी आराधना में ही अभिरुचि रखता था, किन्तु इसके साथ ही वैदिक परम्परा के अनुसार अनेक तरह के यज्ञों का अनुष्ठान भी हुआ करता था। स्कन्दगुप्त और उसके पौत्र कुमारगुप्त प्रथम ने वैदिक रीति के अनुसार अश्वमेध यज्ञ किए थे। कुमारगुप्त प्रथम के एक मंत्री ने बिहार में एक यज्ञ – स्तम्भ स्थापित किया। कुमारगुप्त प्रथम के दामोदरपुर ताम्रमन्त्र – लेखों में अग्निहोत्र और पंच – महायज्ञों का उल्लेख है। स्कन्दगुप्त के इन्दौर – अभिलेख में एक ब्राह्मण देव विष्णु का उल्लेख है, जो अग्निहोत्र यज्ञ के छन्दों का सतत पाठ किया करता था। दामोदरपुर ताम्रपत्र – लेख तथा गुप्त के सामन्त राजा सर्वनाथ के अभिलेखों में पंच-महायज्ञों में से तीन – बलि, चरु और सत्र का उल्लेख है। बलि से अभिप्राय देवता पशु चढ़ाना था, चरु से अभिप्राय प्रसाद का वितरण अथवा अतिथियों को भोजन व स्थान देना था।

को

कृ

कृ

कृ

ऊपर दिए गए विवरण से प्रकट है कि गुप्त युग में जैन-धर्म का प्रचार-प्रसार बहुत कम हो गया था। जैन-धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म का प्रभाव क्षेत्र अधिक व्यापक था। किन्तु इन दोनों के विपरीत ब्राह्मण धर्म के उन्नायक गुप्त सम्राटों का प्रश्रय और संरक्षण प्राप्त कर हिन्दू-धर्म सर्वाधिक रूप से व्यापक, प्रभावशाली और लोकप्रिय हो गया था। गुप्त सम्राटों ने प्राचीन ब्राह्मण धर्म के मुख्य तत्वों को पुनः स्थापित कर देश में हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति का जाज्वल्यमान दीपक प्रज्वलित किया। इस दीपक का प्रकाश इतना अधिक प्रस्फुटित हुआ कि आज भी भारत उसी की चकाचौंध से चकित है।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छठवें

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

287

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसिन्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

288

यह हिन्दू धर्म का नवाम्युत्थान नहीं था बल्कि हिन्दू धर्म के उत्कर्ष की पराकाष्ठा थी, क्योंकि भारत में हिन्दू-धर्म का कभी पूर्ण रूप से पतन नहीं हुआ था। वैदिक युग के बाद हिन्दू-धर्म की लौ किसी-न-किस तरह टिमटिमाती रही थी, जिसे पूर्ण जाज्वल्यमान गुप्त सम्राटों ने किया था।

सारांश (नउउंतल)

निष्कर्षतः गुप्त काल में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र ने अभूतपूर्व उन्नति की थी। इस सर्वतोन्मुखी एवं सर्वांगीण उन्नति के कारण ही गुप्त काल भारतीय इतिहास का स्वर्ण काल कहलाता है। गुप्त काल में हम वैसी सर्वोपरि आभा, सर्वोपरि आकर्षण एवं सर्वोपरि चमक-दमक पाते हैं जैसी कि स्वर्ण धातु में परिलक्षित होती है। अतः भारत की सीमाओं से परे विदेशी भू-भाग पर भी हमारी एकछत्रता स्थापित की थी। दक्षिणी पूर्वी एशिया तो भारतीय संस्कृति की भव्यता पर लड्डू हो गया था।

स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

1. वैदिक धर्म यद्यपि गुप्तकाल में वैष्णव और शैव धर्मों का अधिक प्रचार था, तथापि वैदिक धर्म समाज में एक सबल शक्ति के रूप में था। गुप्त युग में जिस हिन्दू-धर्म का विकास हुआ, वह समन्वयवादी था, क्योंकि इसमें भक्तिवादी शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के तत्त्व वैदिक यज्ञों के साथ

मिले हुए थे। गुप्त-युग के साहित्य द्वारा इस काल के समन्वय प्रधान हिन्दू धर्म का परिचय प्राप्त

होता है। महाकवि कालिदास शैव थे, किन्तु उन्होंने शरघुवंश में वैदिक संस्कारों और यज्ञों का सच्ची सहानुभूति के साथ वर्णन किया है। ब्राह्मणों को दान देना वैदिक धर्म का एक प्रमुख तत्व है और गुप्त-लेखों से इस बात की प्रचुर सूचना मिलती है कि उस समय ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणाएँ दी जाती थीं। उस समय आर्य पण्डित वैदिक धर्म को पुनः जागरूक करने में संलग्न थे। फलतः यज्ञों की परिपाटी का पुनर्स्थापन होने लगा और वैदिक धर्म बल पकड़ने लगा। अभिलेखों व मुद्राओं द्वारा उत्तरी और दक्षिणी भारत में वैदिक यज्ञ, विशेषकर अश्वमेध यज्ञ किए जाने के उल्लेख बहुतायत से प्राप्त होते हैं। प्रतापी गुप्त सम्राटों ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। डॉ. अल्तेकर का कहना है कि हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हो जाने के बाद तीसरी और चौथी शतियों में यज्ञों की जितनी अधिक लोकप्रियता थी, उतनी और कभी नहीं थी। साधारण लोगों के हृदय में पंच-महायज्ञों के प्रति काफी श्रद्धा थी और वैदिक धर्म के प्रति आदर का भाव था।

2. ललित कलाएँ गुप्तकालीन सभ्यता एवं संस्कृति का विवरण ललित कलाओं

के वर्णन के बिना पूर्ण नहीं माना जा सकता, क्योंकि गुप्तकालीन जीवन की स्वर्णिमता और समाज की सम्पन्नता को शलितकला के द्वारा ही आँका जा सकता है। संगीत के विभिन्न अंग नृत्य और बाह्य के साथ-साथ अभिनय व चित्रकला भी ललित कला के अंग हैं। इसलिए महाकवि कालिदास ने इन सबका समवेत रूप में रघुवंश में शलितकला के नाम से उल्लेख किया है। शालविकाग्निमित्र नाटक की नायिका मालविका को महाकवि ने नृत्य गीत व अभिनय में निपुण होने के कारण ललितकला में पारदर्शी कहा है। ललित कलाएँ मनोरंजन के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास का साधन मानी जाती थीं। सांसारिक जीवन की कठोर शुष्कता को दूर करने और जीव और जगत् के बीच रागात्मक तथा भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में संगीत बड़ा साधन माना जाता था।

—

स्वपरीक्षण करें (ज्मेज ल्वनतेमर्सा)

1. गुप्तकाल के सामाजिक और आर्थिक जीवन की विवेचना कीजिए।
2. गुप्तकालीन धार्मिक जीवन में विभिन्न धर्मों की स्थिति का विवरण दीजिए।
3. गुप्तकाल में साहित्य एवं विज्ञान की प्रगति की विवेचना कीजिए।
4. गुप्तकालीन कला पर एक निबन्ध लिखिए।
5. गुप्तकाल में साहित्य, कला और विज्ञान की प्रगति का विवरण दीजिए।
6. ८ गुप्तकाल प्राचीन भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग था। १८ इस कथन की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

इकाई 15

अरबों एवं गजनवियों के समय समाज एवं राजनीति

☐ परिचय

☐ सिंध में मुसलमानों का आगमन

मुहम्मद बिन कासिम के आगमन के पूर्व का सिंध

मुहम्मद बिन कासिम का आगमन व उसका विजय अभियान

सिंध में छोटे अरब शासन घरानों की उत्पत्ति

अरबों की सिंध विजय के आर्थिक व सामाजिक प्रभाव

सिंध में इस्माइली मौजूदगी

पश्चिमी दक्षिण व भारत में अरब विस्तार

भारत में गजनवियों का आगमन व उनके अभियान

☐ हिंदूशाही व गजनवी

उत्तरी भारत के राजपूत राज्य व गजनवी

10वीं शताब्दी में भारतीय समाज पर अलबरूनी के विचार

अध्ययन उद्देश्य रू

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप समर्थ होंगे

☐ अरबों एवं गजनवियों के समय समाज एवं राजनीति

सिंध में मुसलमानों का आगमन।



मुहम्मद बिन कासिम का आगमन व उसका विजय अभियान द्य
अरबों के सिंध विजय के आर्थिक एवं सामाजिक प्रभाव द्य
10वीं शताब्दी में भारतीय समाज पर अलबरूनी के विचार द्य
प्राचीन भारतीय इतिहास
छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

289

प्राचीन भारतीय इतिहास

छब्बै

मसि-पदेजतनबजपवदंस डंजमतपंस

290

परिचय (पदेजतवकनबजपवद)

8वीं से 12वीं शताब्दी के बीच, भारतीय उपमहाद्वीप कई महत्वपूर्ण राजनैतिक परिवर्तनों का गवाह रहा। इस समय कई छोटे-छोटे क्षेत्रीय राज्यों का उत्थान विकास व पतन हुआ। उपमहाद्वीप का इतिहास मुसलमानों के आगमन के साथ एक नया मोड़ लेने वाला था। परंतु यह परिवर्तन एक लम्बे समय तक चलने वाली प्रक्रिया का नतीजा था और मुसलमानों के आरंभिक चरण धीमे थे, जिसका न्यूनतम राजनैतिक प्रभाव पड़ा। परंतु इनकी उपस्थिति महत्वपूर्ण थी। इस्लाम के अभ्युदय व विस्तारवादी नीति के कारण अरबों का भारतीय उपमहाद्वीप में आगमन हुआ। 643 ई. इस्लामी फौजों ने फारस पर विजय पाकर अपनी स्थिति काफी मजबूत कर ली थी। 712-13 ई. तक मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर कब्जा कर लिया था। परंतु अगले 200 वर्षों तक भारत में मुसलमानों का विस्तार एक धीमी प्रक्रिया में बाधा की सृष्टि की।

750 ई. में अरब शक्ति का पतन हुआ और बगदाद में अब्बासी खलीफाओं का अभ्युदय हुआ। खलीफाओं के विस्तारवादी नीति के कारण उत्तर व पश्चिमी फारस पर इस्लामी फौजों का कब्जा हुआ। इस विस्तारवादी नीति के कारण कई तुर्की कबीले इस्लाम के दायरे में आ गए। इसी के साथ विस्तार का अगला चरण आरंभ हुआ। इस समय पर गजनवी व अन्तत गौरी वंश का अभ्युदय हुआ। ये दोनों वंश तुर्की मूल के थे। भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास में 9वीं शताब्दी का समय एक महत्वपूर्ण मोड़ था। यही वह समय था जब खलीफाओं की विस्तारवादी नीति के कारण घुमक्कड़ तुर्की कबीले इस्लाम के दायरे में आए। मध्य व पश्चिमी एशिया की दिशा में तुर्क लगातार आक्रमणकारी अभियान चला रहे थे। उसने उदय के थोड़े ही समय के अन्दर उन्होंने कई बड़ी शक्तियों को मात दी और 10वीं शताब्दी तक भारतीय उपमहाद्वीप के द्वार पर आ पहुँचे।

भारत पर हुए गजनवी आक्रमण व अन्ततः गौरी अभियान ने भारत में तुर्कों की शक्ति को मजबूती प्रदान की। शीघ्र ही तुर्कों ने उत्तरी भारत में स्वयं को स्थापित पर प्रारंभ में लाहौर और अन्ततः दिल्ली में अपनी राजधानी कायम कर ली।

सिंध में मुसलमानों का आगमन

भारतीय इतिहास में सातवीं शताब्दी को महत्वपूर्ण मोड़ माना जा सकता है। (सीमित ही सही)। यहाँ वह समय था जिस समय भारतीय दुनिया के उपमहाद्वीप में इस्लाम का आगमन हुआ। इस्लामी दुनिया की गतिविधियों के साथ-साथ इस समय के उत्तरी भारत में हो रही राजनैतिक घटनाओं की जानकारी आवश्यक है। फारस पर विजय ने इस्लामी फौजों के मनोबल की वृद्धि की। इसी कारण खलिफाओं के सक्रिय समर्थन के साथ भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर पश्चिमी क्षेत्रों में इस्लामी फौजों ने कई आक्रमण किए –

थाने मुम्बई के निकट को जीतने के उद्देश्य से पहला समुद्री अभियान खलीफा – उमर ने 636 ई. में भेजा। यह असफल रहा। इसके तुरंत पश्चात ठततंबी & बरौज व देवाल की खाड़ी (सिंध के खिलाफ पहला समुद्री अभियान) में दो महत्वपूर्ण अभियान हुए

659 ई. हारस के नेतृत्व व खलीफा अली (656–61 ई.) के समर्थन में एक अभियान, आरंभिक सफलता के बावजूद इस्लामी फौजों को नुकसान हुआ। उनके नेता का अभियान के दौरान मारा जाना मनोबल के लिए थोड़ा नकारात्मक रहा, उन्हें सिंध में क़िफान जैसे क्षेत्रों व खोरासन में हार का सामना करना पड़ा। उम्मईद खलीफा – मुआविया (661–80 ई.) के समय, अरबों ने क़िफान, मुल्तान व काबुल के मध्यवर्ती क्षेत्र कन्दाहर व मकरान पर कब्जा करने हेतु पाँच बार आक्रमण किए। इन आक्रमणों को कामयाबी तो नहीं मिली परंतु अरबों ने मकरान पर कब्जा कर लिया। मकरान विजय के पश्चात, देवाल पर दो अभियान चलाए गए। ये अभियान असफल रहे। इन अभियान के सेनानायक – उबैदुल्ला व बुदैल मारे गए।

मुहम्मद बिन कासिम के आगमन के पूर्व का सिंध

मुहम्मद बिन कासिम के आगमन से पूर्व 632 ई. तक सिंध में राजपूतों का शासन था। राजा साहसी ५ सिंध के अंतिम राजपूत शासक थे। इन के बाद चच् ने राज्यभार संभाला और 68 वर्षों तक शासन किया। मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के समय दाहिर सिंध के शासक थे।

चच् व दाहिर के शासनकाल में अत्याचार की वृद्धि हुई और इन शासकों के दमन की नीति अपनाई इस कारण जनता में काफी रोब उत्पन्न हो गया था। अतः मुहम्मद बिन कासिम को बौद्धों, जाट व मेद जातियों का समर्थन प्राप्त था। असंतोष की इसी भावना का लाभ मुहम्मद बिन कासिम ने उठाया।

मुहम्मद

बिन कासिम का आगमन व उसका विजय अभियान

मकरान के विजय अभियान के पश्चात मुहम्मद कासिम को अरब सेना के नेतृत्व की जिम्मेदारी दी गई उसके कुशल नेतृत्व में अरबों ने निरून (पाकिस्तानी हैदराबादी), शाहबान (सिवीस्तान), सिसाम और सिंध के अन्य सीमावर्ती क्षेत्रों पर जीत हासिल की, 713 ई. तक मु. बिन कासिम ने अलरूट (अलोर) और मुल्तान पर जीत हासिल की और पहली बार सिंध अरबों के नियंत्रण में आ

प्राचीन भारतीय इतिहास

गया।

सिंध पर विजय के राजनैतिक प्रभाव का भारतीय उपमहाद्वीप पर दूरगामी प्रभाव नहीं पड़ा। समकालीन इस्लामी दुनिया के राजनैतिक उथल-पुथल ने अरब विजय के काफी प्रभावित किया और इन घटनाक्रमों ने अरबों को अपने विजय के लाभ से वंचित कर दिया। 715 ई. को मुहम्मद बिन कासिम को वापस बुला लिया गया और बाद में मुसलमान गवर्नर, हालात पर अपना नियंत्रण नहीं रख पाए।

सिंध में छोटे अरब शासन घरानों की उत्पत्ति

सिंधी राजनैतिक घटनाक्रमों पर इस्लामी दुनिया की उथल-पुथल का प्रभाव पड़ा। मुहम्मद बिन कासिम के सफलताओं के बावजूद उसे वापस बुला लिया गया और सिंध में राजनैतिक उथल-पुथल शुरू हो गई। खलीफा द्वारा नियुक्त गवर्नर स्थिति पर नियंत्रण नहीं रख पाए। 715–750 ई. में 9 गवर्नरों की नियुक्ति और बरखास्ती की गई

उम्मायद शासन वंश के पतन के पश्चात् अच्चासी शासन वंश का अभ्युदय हुआ। सिंध के अब्बासी साम्राज्य का हिस्सा बन गया। खलीफाओं का प्रभाव धीरे-धीरे घट रहा था। इस समय बारमख परिवार का अभ्युदय हुआ। इस परिवार के कई महत्वपूर्ण काबिल प्रशासकों ने सिंध पर गवर्नर के पद पर कार्य किया। जिनमें मूसा बारमख व उमर बारमख शामिल थे। बारमख परिवार कश्मीरी मूल के बौद्ध थे। मध्यकाल में बलख में आकर बस गए थे और मुसलमान बनने के पश्चात् इन्होंने बगदाद में कई महत्वपूर्ण प्रशासनिक पदों पर कार्य किया। 9वीं व 10वीं शताब्दी में सिंध पर अरब नियंत्रण कमजोर हो चला था। यहाँ के नियुक्त गवर्नर खलीफाओं को केवल नाम मात्र ही स्वीकारते थे और इस समय तक काफी हद तक स्वतंत्र रूप से शासन कर रहे थे। 855 ई. में हिबारी परिवार का अभ्युदय हुआ। 1010 ई. में अर्थात् महमूद गजनवी के आक्रमण काल तक इनका प्रभाव बना रहा। इनके समय में सिंध के प्रशासक पूर्णतया स्वतंत्र हो गए। इस समय सिंध में दो इकाईयों का अभ्युदय हुआ

1. पहली प्रशासनिक इकाई जिसकी राजधानी मुल्तान थी।
2. दूसरी प्रशासनिक इकाई जिसकी राजधानी मनूसर थी।

इतिहासकार मो. हबीब के अनुसार इस्लामी दुनिया के सीमाक्षेत्र की स्थिति वैसी ही थी जैसी वह अम्मायद वंश के समय पूर्व थी। किसी भी नारा क्षेत्र को इस्लामी फौज अपने नियंत्रण में लाने में असक्षम रहा। अंदरूनी राजनैतिक व आर्थिक व सामाजिक उथल-पुथल दुनिया के एकता को प्रभावित कर रही थी और फूट की स्थिति उत्पन्न किए हुई थी।

अरबों की सिंध विजय के आर्थिक व सामाजिक प्रभाव

सिंध पर अरब विजय के कई महत्वपूर्ण आर्थिक व सामाजिक प्रभाव पड़े

कृ

इस विजय ने भारत के सुदूर पश्चिमी सिंधु के क्षेत्र में इस्लाम का प्रचार-प्रसार

किय। 664 ई. में काबुल व आसपास के क्षेत्रों में परिवर्तन मुसलमान मौजूद थे। अलोर, निरुन, देवाल व मुल्तान के विजय के पश्चात् मोहम्मद बिन कासिम द्वारा नियुक्त किए गए प्रशासकों ने इस्लाम का प्रचार-प्रसार किया।

अल विलादरी ने फतक उल – बूलदान में इस तथ्य का जिक्र किया है कि खलीफा उमर ने कई भारतीय राजाओं को मुसलमान बनने का न्यौता दिया था।

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

191

प्राचीन भारतीय इतिहास

छव्जै

“मसिप्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

292

कई गणितज्ञ व दार्शनिक इस समय बगदाद मार और ख्याति हासिल की। कहा जाता है कि गंगा व मनन नामक दो चिकित्सा विशेषज्ञों ने हारून उल रशीद का इलाज किया था।

देवाल, सेहवान, अरोर, मुल्तान व मनसूरा जैसे शहरों की समृद्धि शीर्ष पर पहुँची और महत्वपूर्ण वाणिज्यिक केन्द्र के रूप में उभरे।

सिंध में इस्माइली मौजूदगी

इस्माइली मौजूदगी के विवरण के बिना सिंध का इतिहास अधूरा है। इस्माइली घरा की उत्पत्ति एक समय पर शियो मत के सबसे बड़े पंथ के रूप में हुई थी। 10 वीं से 12 वीं शताब्दी के बीच फातिमियाई खलीफा शक्ति के अभ्युदय के समय महत्वपूर्ण घटक के रूप में प्रभावशाली रहे। 985 ई. में फातिमिई खलीफा अब्दुल अजीज बिल्लाह ने जलाम बिन शाबान को इस्माइली धारा की स्थापना हेतु कार्यों से मुल्तान भेजा। मकरान व मनसूरा के शासन घरानों व सिंध के सूमरा परिवार ने इस्लाइली पंथ को स्वीकार कर लिया। अतः इस्लाइली शीघ्र ही महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरे औ इनकी राजधानी मुल्तान में थी। फातिमियाई खलीफाओं के पतन के पश्चात सिंध के इस्लाइली था। येमेन स्थित इस्लामी केन्द्र की ओर झुके। इस्लामी कुछ समय तक प्रभावशाली रहे और शफतिमियाई दावश और बाद में निजारीदावाश के माध्यम से अपना प्रचार-प्रसार करते रहे।

श्र

इस्लामी प्रभाव का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि 1775 ई. में जब मुइजुद्दीन मुहम्मद ने सिंध पर आक्रमण किया उसके दमन की नीति अपनाई।

पश्चिमी दक्षिण व भारत में अरब विस्तार

समकालीन राजनैतिक और आर्थिक घटनाक्रमों ने दक्षिण व पश्चिमी भारत में अरब विस्तार को प्रभावित किया। इनमें निम्नलिखित मुख्य थे



कृ

भारत, चीन व भूमध्यसागर को जोड़ने वाली युफ्रेटिस फारस की खाड़ी मार्ग के स्थान पर अधिक मुश्किल छपसम व लाल सागर के मार्ग का प्रयोग ।

632–647 ई. बीच सीरिया, मिस्र, इरान व त्रिपोलीताना पर विजय ।

फुफा व बसरा जैसे शहरों की समृद्धि और युफ्रेटिस फारस की खाड़ी के समुद्री मार्ग का पुनः खुल जाना । वाणिज्यिक व व्यावसायिक कारणों से अरब पश्चिमी व दक्षिणी भारत में बस गए । समय के साथ इस क्षेत्र में अरब महत्वपूर्ण घटक के रूप में उभरे । इसके कई कारण थे

=

चेस वंश के पतन के पश्चात् इस क्षेत्र में किसी महत्वपूर्ण शक्ति का उदय नहीं हुआ था । राष्ट्रकूट राजा बलहारा व चालुक्य शासक जयसिंह की प्रोत्साहक नीति ।

मालाबार ने मनजूर शहर में अरब कौलनी का विकास द्य

समसामयिक प्रशस्तियों और यात्रियों के हवाले इस क्षेत्र में अरब मौजूदगी की पुष्टि होती है । 1218–91 के बीच को कई प्रशस्तियां कैम्बे व पतन (गुजरात) और वेरावल, जूनागढ़ व प्रभासपतन (सौराष्ट्र) अरब उपस्थिति की पुष्टि करती है ।

.

भीमसेन प् (चालुक्य राजा 1178–1224 ई.) के समय की एक प्रशस्ति एक जामी मस्जिद के निर्माण की पुष्टि करता है ।

अल मसदी ने बल्लभ राय के राज्य के चौल शहर में बेथासाराहश मुसलमानों की मौजूदगी की पुष्टि की है ।

प्रख्यात इतिहासकार ताराचंद का मानना है कि मुसलमानों का आगमन दक्षिण व पश्चिमी भारत में

हुआ और कम समय में ही इन्होंने राजनीति व समाज में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया । अरब की मौजूदगी ने न केवल इस्लाम का प्रचार किया बल्कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान के जरिए भी खोले । अरबों ने स्थानीय बाशिंदों से वैवाहिक संबंध स्थापित किए, कई प्रशासनिक पदों पर आसीन हुए और समाज का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गए ।

—

9वीं से 11वीं शताब्दी के बीच मध्य व पश्चिमी एशिया की घटनाएँ व तुर्की का अभ्युदय 9वीं शताब्दी तक अब्बासी शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी और उसकी सीमाएँ कुस्तुन्तुनिया (ब्यदेजंदजपदवचसम) व मिश्र व मध्य एशिया के क्षेत्रों तक फैली हुई थीं । परन्तु 9वीं शताब्दी के अन्त तक अब्बासी शक्ति मध्य एशियाई तुर्कों के खिलाफ लगातार युद्धों के कारण क्षीण पड़ गई थी ।

तुर्क घुमक्कड़ कबीलाई श्रेणी के थे जो कि मूलतः मध्य एशिया व सिनकियांग के क्षेत्रों में रहते थे । 8वीं शताब्दी तक धीरे-धीरे तुर्क मवारा— उल — नहारा की ओर बढ़ रहे थे । उम्मयद के पतन के पश्चात् अब्बासी शक्ति ने 750 ई. के

समय से घुमक्कड़ तुकों की नियुक्ति दास व छोटे सैनिकों के रूप में की। तुकों का शीघ्र ही शस्त्रास्त्रीकरण व फारसीकरण हुआ और इन्होंने शीघ्र ही अपना एक राजनैतिक एजेण्डा बना लिया जिसके तहत इन्होंने गैर परिवर्तित के खिलाफ लड़ाई और भारतीय उपमहाद्वीप में विस्तार की नीति अपनाई।

शीघ्र ही तुर्क एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरे 1874 ई. तक अल्पतगीन के नेतृत्व में इन्होंने अब्बासी शक्ति के स्थान पर स्वयं को स्थापित कर लिया था। अल्पतगीन वस्तुतः एक तुर्की मूल का दास था जो कि समरकन्द का तत्कालीन गवर्नर था। इसके नेतृत्व में तुकों ने गजना में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की और समानि वंश का प्रवर्तक था (874–999 ई.) गजनवी वंश का उदय समानि वंश के पश्चात् हुआ और महमूद गजनवी ने कई बार भारत पर आक्रमण किए। पंजाब अन्ततः गजनवी साम्राज्य का हिस्सा बन

गया।

भारत में गजनवियों का आगमन व उनके अभियान

इससे पहले कि हम भारत में तुर्की के आगमन की चर्चा करें, यह अनिवार्य है कि उन सभी गैर-राजनैतिक कारणों की चर्चा की जाए, जिस कारण तुर्कों ने विस्तार की नीति अपनाई

एक कारण था कि तुर्कों के पास इस समय बेहतरीन प्रकार के उत्तम नस्ल के मध्य एशियाई घोड़े थे। इस कारण उनके विस्तार की नीति को महत्वपूर्ण सहायता मिली।

इस समय पश्चिम एशिय में शगाजीश की भावना काफी महत्वपूर्ण थी। इसने तुर्की की विस्तार की नीति को जरूरी सैद्धांतिक पुष्टि दी। तुर्क ने शगाजीश की भावना का प्रयोग कर गैर मुसलमानों के खिलाफ और अन्ततः भारत में अपने अभियान चलाए।

खुरासन व ईरान में तुर्की ने अपनी सैनिक शक्ति को शइक्ताश जैसे संरचनात्मक व्यवस्थाओं के माध्यम से सशक्त किया। यह एक व्यवस्था थी, जिसमें कि विजित प्रांत को एक सेनानायक को प्रशासनिक व्यवस्था के लिए दिया जाता था। इस सेनानायक को राजस्व वसूल करने का अधिकार दिया जाता था और वह केवल शइक्ताश का प्रशासनिक मालिक था व किसी भी प्रकार के अन्य श्मालिकाना अधिकार की माँग नहीं कर सकता था।

हिंदूशाही व गजनवी

999 ई. में महमूद गजनों की राजगद्दी पर आसीन हुआ। 1001 ई. से लगातार उसने कई सीमावर्ती क्षेत्रों पर आक्रमण किए। गजनवी शक्ति को उत्तर पश्चिमी क्षेत्र में हिंदूशाहियों का सामना करना पड़ा। तत्कालीन हिंदूशाही राजा जयपाल ने बहादुरी से साथ गजनवी शक्ति का मुकाबला किया। परन्तु अपनी राजधानी उद्मान्द्र (पेशावर) पर गजनवी कब्जे को रोक नहीं पाए। कुछ समय के लिए गजनवी पीछे हट गए। परन्तु महमूद ने लगातार आक्रमण कर सीमावर्ती क्षेत्रों में अपनी स्थिति मजबूत कर ली।

1006 ई. तक सिंधु नदी के ऊपरी क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया।



1009 ई. तक महमूद ने नंदना (हिंदुशाहियों की नई राजधानी) व भीमनगर नगरकोट के किले पर कब्जा कर लिया।

1015 ई. महमूद ने लाहौर पर चढ़ाई कर उसे लूटा व झेलम नदी तक अपनी सीमाएँ फैला ली थीं। अतः 990—1015 ई. तक अफगानिस्तान, पंजाब और मुल्तान पर गजनवी नियंत्रण हो गया। इसने गंगा के मैदान पर उनके विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया।

उत्तरी भारत के राजपूत राज्य व गजनवी

महमूद

गजनवी ने गंगा की घाटी पर कई अभियान चलाए, जिसने गजनवीयों को एक विस्तृत क्षेत्र का अधिकारी बनाया।

1015 ई. में हिमालय के निचले हिस्से को पार कर, यमुना पार करते हुए कालचुरी राजा कोकाला द्वितीय को हराकर मथुरा व वृन्दावन पर कब्जा कर लिया। इसके पश्चात् उसने प्रतिहार राजा को हराया। 1019—21 ई. के बीच महमूद ने पराजित किए हिंदूशाही (पिछला हिस्सा देखें) राजा के सहायता के लिए गठित चंदेल राजा (बुंदेलखंड)

कृ

चंदेल राजा द्वारा नियुक्त कन्नौज शासक

कृ

गवालियर राजा

समन्वित सेनाओं को हरा दिया।

उसने चंदेल राजा विद्याधर के खिलाफ अभियान चलाकर गवालियर को जीत लिया।

अतः 1021 ई. तक न केवल पंजाब बल्कि गंगा की घाटी व मध्य भारत का कुछ क्षेत्र महमूद के नियंत्रण में आ गया था।

1025 ई. में महमूद ने सोमनाथ के मंदिर पर आक्रमण पर प्रतिकूल क्षेत्रों में तुर्की की कामयाबी को साबित कर दिया परन्तु इन आक्रमणों की प्रकृति को लेकर समकालीन व आधुनिक इतिहासकारों के बीच विवाद बना हुआ है। एक ओर कुछ ने इन आक्रमणों को एक धार्मिक आक्रमण का हिस्सा माना है और महमूद को मूर्तियों को तोड़ने वाले की आख्या दी है। वहीं दूसरी ओर कुछों ने महमूद को एक काबिल योद्धा माना और उसके आक्रमण को गजनी के आर्थिक—सामाजिक कारणों से जोड़ा है। कुछ आधुनिक विशेषज्ञों का मानना है इन आक्रमण का मूल कारण यहाँ के लोगों को मानसिक तौर पर प्रभावित करने के उद्देश्य से प्रभावित माना ।

10वीं शताब्दी में भारतीय समाज पर अलबरूनी के विचार

अबू रैहान मुहम्मद बिन अहमद, अपने समकालीनों में अलबरूनी के नाम से परिचित का जन्म ख्वारिज्म या आधुनिक खिवा में 971 ई. में हुआ था।

अलबरूनी का गजनी में आगमन युद्धबन्दी के रूप में हुआ था। वह एक ज्योतिषज्ञ, इतिहासकार, तर्कशास्त्री व रेखागणितज्ञ था। वह महमूद गजनी के साथ भारत आया और कई वर्षों तक भारत में रहा। इस दौरान उसने संस्कृत का अध्ययन किया व कई संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद अरबी में किया।

उसकी रचना के माध्यम से हमें महमूद गजनी के आक्रमण के विषय में अलबरूनी की राय मिलती है। हालांकि अलबरूनी ने खुले तौर पर आक्रमणों की निंदा नहीं की है परन्तु वह इन आक्रमणों से खुश भी नहीं था। उसका कथन है कि उसने देश की समृद्धि को नष्ट कर दिया। स्थानीय लोगों के मन में मुसलमानों के लिए रोष की भावना की स्पष्टि की और भारतीय विज्ञान को ऐसे क्षेत्र में धकेल दिया जो कि विजित क्षेत्र से दूर हैं और जहाँ तक हमारे हाथ नहीं पहुँचते। उसका मानना था कि महमूद को इस्लाम पर आक्रमण करने का साहस नहीं है परन्तु वह अरबों पर आक्रमण करता है। अलबरूनी ने अरबों पर फारसी सभ्यता को नष्ट करने का इल्जाम लगाया है। अलबरूनी ने अपने दौर के समय भारतीय जीवन का निरीक्षण किया और उसने टिप्पणी भी की है। अपनी रचना किताब अल हिन्द में वह लिखता है कि हिन्दू हमसे हर नजरिए से अलग हैं। सर्वप्रथम प्रभेद भाषागत है— शब्दों व व्याकरणिक तौर पर संस्कृत एक वृहत् भाषा है। भारतीय एक ही वस्तु के लिए कई नामों का प्रयोग करते हैं और अगर किसी को बदलते संदर्भों का पता न हो तो शब्दों का सही तात्पर्य जानना संभव नहीं है, इसके व्यंजन वर्णों की ध्वनि अरबी व फारसी से मेल नहीं खाती। हिंदू अपने सभी दशमलव के वैज्ञानिक ग्रंथों की रचना इस तरह से करते हैं कि उन्हें रटा जा सके व उन्हें विकृति से बचाया जा सके। इसी कारण दशमलव की साहित्यिक अभिव्यक्ति संस्कृत को एक जटिल भाषा बना देती है। केवल भाषागत तौर पर ही नहीं हिंदू धर्म के क्षेत्र में भी हम से भिन्न हैं। क्योंकि हम किसी भी ऐसी चीज पर विश्वास नहीं करते, जिस पर वो विश्वास करते हैं। अलबरूनी कहता है कि वो शब्दों के लिए लड़ते हैं, परन्तु धार्मिक विवाद के क्षेत्र में वो आत्मा शरीर या संपत्ति को दाव पर नहीं लगाते। इसके विपरीत उनका समस्त कट्टरता विदेशियों के लिए है। जिन्हें वे म्लेच्छ कहते हैं और उनसे किसी प्रकार के संपर्क रखने से रोकते हैं। हिंदुओं में छूत की अवधारणा है और वो कभी नहीं चाहते कि अगर कोई वस्तु अशुद्ध हो और उनका शुद्धिकरण कर उन्हें पुनर्स्थापित किया जाए। उन्हें इस बात की आज्ञा नहीं है कि वे किसी ऐसे व्यक्ति को अपनाएँ जो उनका अपना न हो, फिर चाहे वह व्यक्ति उनके धर्म के प्रति कितनी ही रुचि क्यों न रखता हो।

उसने परंपरागत हिंदू समाज का वर्गीकरण श्वर्णश व श्रंत्यजश के आधार पर किया है। परन्तु उसने उच्च वर्ग द्वारा निम्न जातियों के सीधे उत्पीड़न की बात नहीं कही है। परन्तु स्पष्ट कहा है कि चारों वर्ण एक—दूसरे से भिन्न हैं, एक ही गाँव व शहरों में एक साथ नहीं रहा करते और न ही इनके रहने के मकान एक—साथ पाए जा सकते। अंत्यजों को आठ श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है जिन्हें गोष्ठी कहा जा सकता है। अपने व्यवसाय के आधार पर



एक-दूसरे से विवाह संबंध स्थापित कर सकते हैं। परन्तु वह धोबी, मोची व जुलाहों से संबंध नहीं स्थापित कर सकते। वे गाँवों व शहरों के करीब परन्तु इनसे बाहर रहते थे। अलबरूनी का कहना है कि वह क्रिया जिसे ब्राह्मणों का विशेषाधिकार माना गया है, जैसे कि पूजा-अर्चना, वेद मंत्रों का पाठ और अग्नि में आहुति देनाय वैश्य व शूद्रों के लिए वर्जित है। यहाँ तक कि अगर उनके खिलाफ वेद पाठ के सबूत मिलें, उन्हें ब्राह्मणों द्वारा राजा के समक्ष दोषी साबित कर उसकी जिह्वा काट ली जाती तत्कालीन हिंदुओं के विषय में वह लिखता है रु

षहिन्दुओं का मानना है कि कोई भी देश उनके देश जैसा, कोई भी राष्ट्र उनके राष्ट्र-सा, कोई भी राजा उनके राजाओं-सा, कोई भी धर्म उनके धर्म सा, कोई भी विज्ञान उनके विज्ञान जैसा नहीं हैं। वे घमंडी, मूर्ख, मिथ्याभिमानी व हठी हैं। जहाँ तक ज्ञान के संप्रेषण का सवाल है वे बेहद ही कुजूस हैं और हरसंभव प्रयास करते हैं कि इसी रक्षा दूसरी जातियों से की जाए और विदेशियों तक किसी भी हाल में इसे पहुँचने नहीं देते उनका घमंड इतना है कि अगर आप उन्हें किसी खोरासनी व फारसी विज्ञान व विद्वान के विषय में बताएं तो वे आपको मूर्ख व मिथ्यावादी बताएँगे। अगर वो अन्य देशों की यात्रा करें और अन्य देशों के साथ संपन स्थापित करें तो उनके नजरिये में बदलाव आ जाएगा, क्योंकि उनके पूर्वज उनकी तरह संकुचित नजरिए के नहीं थे।

गणितशास्त्र पर अलबरूनी का कहना है

जिस प्रकार हम अरबी भाषा में हिब्रू लिपि का प्रयोग संख्याओं को लिखने के लिए कहते हैं। हिंदू इसके विपरीत अपनी भाषा की लिपि का प्रयोग नहीं करते। जिस प्रकार भारत के विभिन्न हिस्से में अलग-अलग लिपियों का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार भारत में संख्याओं के लिए अलग-अलग संकेतों का प्रयोग किया जाता है जिन्हें अंक कहा जाता है। हम संख्याओं को लिखने के लिए जिन संकेतों का प्रयोग करते हैं, हिन्दू संकेतों की सूक्ष्म प्रकार से ली गई है। अरब हजार की गिनती पर ही रुक जाते हैं जो कि प्राकृतिक है परन्तु जो हिंदू हजार की गिनती के आगे जाते हैं उनका विकास या तो स्वतंत्र रूप से या फिर किसी विशेष शब्द व्युत्पत्ति के माध्यम से किया गया

अबू रैहान मुहम्मद बिन अहमद, अपने समकालीनों में अलबरूनी के नाम से परिचित का जन्म ख्वारिज्म या आधुनिक खिवा में 971 ई. में हुआ था। अलबरूनी का गजनी में आगमन युद्धबन्दी के रूप में हुआ था। वह एक ज्योतिषज्ञ, इतिहासकार, तर्कशास्त्री व रेखागणितज्ञ था। वह महमूद गजनी के साथ भारत आया और कई वर्षों तक भारत में रहा। इस दौरान उसने संस्कृत का अध्ययन किया व कई संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद अरबी में किया।

स्व-प्रगति का परीक्षण करे

1. वैदिक धर्म से आप क्या समझते हैं?
2. गुप्तकालीन सभ्यता एवं संस्कृति का वितरण ललित कलाओं के वर्णन के बिना किस प्रकार पूर्ण किया जा सकता है ? स्पष्ट करें।

उसकी रचना के माध्यम से हमें महमूद गजनवी के आक्रमण के विषय में अलबरूनी की राय मिलती है। हालांकि अलबरूनी ने खुले तौर पर आक्रमणों की निंदा नहीं की है परन्तु वह इन आक्रमणों से खुश भी नहीं था। उसका कथन है कि उसने देश की समृद्धि को नष्ट कर दिया। स्थानीय लोगों के मन में मुसलमानों के लिए रोष की भावना की स्पष्टि की और भारतीय विज्ञान को ऐसे क्षेत्र में धकेल दिया जो कि विजित क्षेत्र से दूर है और जहां तक हमारे हाथ नहीं पहुँचते। उसका मानना था कि महमूद को इस्लाम पर आक्रमण करने का साहस नहीं है परन्तु वह अरबों पर आक्रमण करता है। अलबरूनी ने अरबों पर फारसी सभ्यता को नष्ट करने का इल्जाम लगाया है। अलबरूनी ने अपने दौर के समय भारतीय जीवन का निरीक्षण किया और उसने टिप्पणी भी की :-

स्व-प्रगति के परीक्षण के उत्तर रू

1. सिंध में मुसलमानों का आगमन

भारतीय इतिहास में सातवीं शताब्दी को महत्वपूर्ण मोड़ माना जा सकता है। (सीमित ही सही)। यही वह समय था जिस समय भारतीय दुनिया के उपमहाद्वीप में इस्लाम का आगमन हुआ। इस्लामी दुनिया की गतिविधियों के साथ-साथ इस समय के उत्तरी भारत में हो रही राजनैतिक घटनाओं की जानकारी आवश्यक है। फारस पर विजय ने इस्लामी फौजों के मनोबल की वृद्धि की। इसी कारण खलिफाओं के सक्रिय समर्थन के साथ भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर पश्चिमी क्षेत्रों में इस्लामी फौजों ने कई आक्रमण किए। थाने मुम्बई के निकट को जीतने के उद्देश्य से पहला समुद्री अभियान खलीफा-उमर ने 636 ई. में भेजा। यह असफल रहा। इसके तुरंत पश्चात टततबीध बरौज व देवाल की खाड़ी (सिंध के खिलाफ पहला समुद्री अभियान) में दो महत्वपूर्ण अभियान। 659 ई. हारस के नेतृत्व व खलीफा अली (656-61 ई.) के समर्थन में एक अभियान, आरंभिक सफलता के बावजूद इस्लामी फौजों को नुकसान हुआ। उनके नेता का अभियान के दौरान मारा जाना मनोबल के लिए थोड़ा नकारात्मक रहा, उन्हें सिंध में किफान जैसे क्षेत्रों व खोरासन में हार का सामना करना पड़ा।

उम्माईद खलीफा मुआविया (661-80 ई.) के समय, अरबों ने किफान, मुल्तान व काबुल के मध्यवर्ती क्षेत्र कन्दाहर व मकरान पर कब्जा करने हेतु पाँच बार आक्रमण किए। इन आक्रमणों को कामयाबी तो नहीं मिली परन्तु अरबों ने मकरान पर कब्जा कर लिया। मकरान विजय के पश्चात्, देवाल पर दो अभियान चलाए गए। ये अभियान असफल रहे। इन अभियानों के सेनानायक — उबैदुल्ला



Notes

प्राचीन भारतीय इतिहास

व बुदेल मारे गए।

2. अरबों की सिंध विजय के आर्थिक व सामाजिक प्रभाव

सिंध पर अरब विजय के कई महत्वपूर्ण आर्थिक व सामाजिक प्रभाव पड़े। इस विजय ने भारत के सुदूर पश्चिमी सिंधु के क्षेत्र में इस्लाम का प्रचार-प्रसार किया। 664 ई. में काबुल व आसपास के क्षेत्रों में परिवर्तन मुसलमान मौजूद थे। अलोर, निरुन, देवाल व मुल्तान के विजय के पश्चात् मोहम्मद बिन कासिम द्वारा नियुक्त किए गए प्रशासकों ने इस्लाम का प्रचार-प्रसार किया।

अल बिलादरी ने फतक उल – बूलदान में इस तथ्य का जिक्र किया है कि खलीफा उमर ने कई भारतीय राजाओं को मुसलमान बनने का न्यौता दिया था। कई गणितज्ञ व दार्शनिक इस समय बगदाद मार और ख्याति हासिल की। कहा जाता है कि गंगा व मनन नामक दो चिकित्सा विशेषज्ञों ने हारून उल रशीद का इलाज किया था।

देवाल, सेहवान, अरोर, मुल्तान व मनसूरा जैसे शहरों की समृद्धि शीर्ष पर पहुँची और महत्वपूर्ण वाणिज्यिक केन्द्र के रूप में उभरे।

स्वपरीक्षण करें

1. भारत पर अरबों के आक्रमण पर निबंध लिखें।

2. मुहम्मद गजनवी और मुहम्मद गोरी के आक्रमणों के भारत पर क्या प्रभाव पड़े?

संदर्भ ग्रंथ सूची :-



1. आर.एस.शर्मा, प्राचीन इतिहास
2. उपिन्दर सिंह, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालिन भारत का इतिहास

MATS UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

UNIVERSITY CAMPUS: Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

RAIPUR CAMPUS: MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

T : 0771 4078994, 95, 96, 98 Toll Free ODL MODE : 81520 79999, 81520 29999

Website: www.matsodl.com

